आचार्यश्री तुलसी जीवन-गाथा

धर्मचक्र का प्रवर्तन

आचार्य महाप्रज्ञ

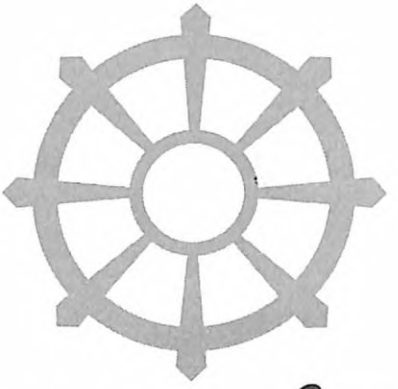

धर्मचक्र का प्रवर्तन

जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
पो. : लाडनूं (राज.) 341306
जिला : नागौर (राजस्थान)
फोन : 01581-222080/224671
फैक्स : 01581-223280
e-mail:secretariatldn@jvbharati.org

ISBN 978-81-7195-035-5

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

द्वितीय परिवर्धित संस्करण : नवंबर २०१२ ई. (प्रतियां ११००)
तृतीय संस्करण : अप्रैल २०१३ ई. (प्रतियां ११००)
चतुर्थ संस्करण : मार्च २०१४ ई. (प्रतियां ११००)

मूल्य : चार सौ पचास रुपये मात्र

आवरण एवं आकल्पन : अडिग

मुद्रक : सांखला प्रिंटर्स
विनायक शिखर, शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003

Dharmchakkar Ka Pravartan by Acharya Mahapragya ₹ 450

प्रस्तुति

आचार्यश्री तुलसी का व्यक्तित्व विरोधी युगलों से जटिल व्यक्तित्व है। उसमें अनेकान्तवाद ने अपनी सार्थकता सिद्ध की है। सूर्य जैसा प्रखर तेजस्वी और चांद से भी अधिक सौम्य–दोनों ही कोणों से उसे देखा जा सकता है। धार्मिक जगत् के इतिहास में वह इन शताब्दियों का एक दुर्लभ व्यक्तित्व है।

आचार्यश्री की जीवन-गाथा भारतीय चेतना का एक अभिनव उन्मेष है। इतना लंबा मुनि-जीवन, इतना लंबा आचार्यपद, इतनी लंबी पदयात्रा, इतना व्यापक जनसंपर्क, इतना जन-जागरण का प्रयत्न, इतना पुरुषार्थ, इतना आध्यात्मिक विकास, इतना साहित्य-सृजन, इतने व्यक्तियों का निर्माण वस्तुतः ये सब अद्भुत हैं। आचार्यश्री की जीवन-गाथा आश्चर्यों की वर्णमाला से आलोकित एक महालेख है। उसे पढ़कर मनुष्य नए उच्छ्वास, नई प्रेरणा और नई प्रकाश-शक्ति का अनुभव करता है।

पुरुषार्थ की इतिहास परम्परा में इतने बड़े पुरुषार्थी पुरुष का उदाहरण कम ही है, जो अपनी सुख-सुविधाओं को गौण मानकर जन-कल्याण के लिए जीवन जीए।

आचार्यश्री ने धर्म को एक नया रूप दिया है। इस वैज्ञानिक युग में उस धर्म की अपेक्षा है जो पदार्थवादी दृष्टिकोण से उत्पन्न मानसिक तनाव जैसी भयंकर समस्या का समाधान कर सके, पदार्थ से न मिलने वाली सुखानुभूति करा सके, नैतिकता की चेतना जगा सके। आचार्यश्री ने इस युगीन अपेक्षा को समझा और इसकी संपूर्ति के लिए अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान को प्रस्तुत किया। यह एक धर्मक्रांति है जो आर्थिक और राजनीतिक क्रांति के युग में भी अपने अस्तित्व को बनाए रखने में सक्षम है।

दूसरों की दृष्टि से उसमें विपर्यय भी हो सकता है। मैं न उनका संवाद चाहता हूं और न प्रतिवाद। मुझे अपने में संतोष है। मैं मानता हूं कि मैंने आचार्यश्री की देन का अतिक्रमण नहीं किया है। श्रद्धा भी उन्हीं से मिली है और तर्क भी उन्हीं से मिला है। वे दोनों में विश्वास करते हैं। मैं आचार्यश्री को केवल श्रद्धा की दृष्टि से देखता तो उनकी जीवन-गाथा के पृष्ठ दस से अधिक नहीं होते। उनमें मेरी भावना का व्यायाम पूर्ण हो जाता। आचार्यश्री को मैं केवल तर्क की दृष्टि से देखता तो उनकी जीवन-गाथा सुदीर्घ हो जाती लेकिन उसमें चैतन्य नहीं होता। श्रद्धा का विस्तार नहीं होता पर चैतन्य होता है। तर्क में विस्तार होता है पर चैतन्य नहीं होता। आचार्यश्री के जीवन में विस्तार की अपेक्षा चैतन्य अधिक है। परन्तु मैंने यह आचार्यश्री के लिए नहीं लिखी है। जनसाधारण के जीवन में चैतन्य की अपेक्षा विस्तार अधिक होता है। मैंने यह उनके लिए भी नहीं लिखी है। मेरी अपनी श्रद्धा का भी प्रश्न है। इसलिए इसमें विस्तार भी है, चैतन्य भी है।

आचार्यश्री विस्तार की अपेक्षा चैतन्य को अधिक पसंद करते हैं, अंकवृद्धि की अपेक्षा सत् की मात्रा को अधिक महत्त्व देते हैं। मैंने उन्हीं की रुचि का सम्मान किया है। इसीलिए जीवन-गाथा को बहुत थोड़े में गूंथा है। उन्होंने किया बहुत है। बहुत संघर्ष झेले हैं, चरित्र-विकास के लिए बहुत यत्न किये हैं, बहुत परिव्रजन किया है, बहुत चिंतन किया है और बहुत सारे कार्य भी। इन सारे बहुत्वों का विस्तार भी बहुत हो सकता है। पर मैं सर्वोपरि बहुत्व चैतन्य में देखता हूं इसीलिए मैंने शाब्दिक अल्पत्व में संतोष माना है।

आचार्यश्री ने मुझे जो दिया वह बहुत ही गुरु है। उसकी तुलना में मेरा प्रयत्न बहुत ही लघु है। पर कहीं-कहीं लघु गुरु से अधिक प्रिय होता है। मैं मानता हूं मेरी यह लघुतम श्रद्धांजलि जनता को गुरु से कम प्रिय नहीं होगी। गुरु में लघु का समावेश कभी आश्चर्यजनक नहीं होता परन्तु लघु में गुरु का समावेश अवश्य ही आश्चर्यजनक होता है।

आध्यात्मिक व्यक्ति का जीवन प्रायः घटनाबहुल नहीं होता। उसे बहुत थोड़े में रूपायित किया जा सकता है। आचार्यश्री का जीवन उस परम्परा का प्रतिवाद है। उसमें घटनाओं की शृंखला है। प्रत्येक घटना में जीवन्त व्यक्तित्व का स्पर्श है। उन सब घटनाओं का आकलन करना शक्ति की सीमा से परे की बात है। प्रस्तुत कृति का उद्देश्य केवल उनकी ओर अभिमुख हो जाना है।

आचार्यश्री के आचार्यपद के पचासवें वर्ष के अवसर पर उनकी जीवन-गाथा से परिचित होना, नए आलोक की नई रश्मियों से परिचित होना है। इस परिचय का अर्थ होगा अपने आपसे परिचित होना, अपनी समस्याओं से परिचित होना और उनका समाधान प्राप्त करना। वही जीवन वास्तव में मूल्यवान है, जिसकी ज्योति-किरणों से हमारी भूमि का कण-कण ज्योतिर्मय बन जाए।

प्रस्तुत जीवन-गाथा में अनेक स्रोतों से सामग्री का संकलन किया गया है। उसमें प्रमुख है–'आचार्यश्री तुलसी : जीवन और दर्शन।' यह पुस्तक धवल समारोह के अवसर पर मैंने लिखी थी। प्रस्तुत कृति को उसी का संवर्धित संस्करण कहा जा सकता है। इसकी संयोजना में मुनि सुमेरमलजी, श्रीचंदजी, दुलहराजजी और मुनि धनंजयजी ने समर्पित भाव से कार्य किया है।

जैन विश्व भारती
लाडनूं (राज.)
१० अगस्त, १९८६

–युवाचार्य महाप्रज्ञ

सम्पादकीय

सृजनात्मक दृष्टि, सकारात्मक चिन्तन, स्वच्छ भाव, सर्वोत्तम साध्य, सघन श्रद्धा, शुभंकर संकल्प, शिवंकर शक्ति, सम्यक् पुरुषार्थ, श्रेयस् अनुशासन, शुचि संयम, सतत ज्ञानोपयोग–इन सबके सुललित समुच्चय का नाम था आचार्यश्री तुलसी। वे बीसवीं शताब्दी को अपने विलक्षण व्यक्तित्व, अपरिमेय कर्तृत्व एवं क्रांतिकारी दृष्टिकोण से प्रभावित करने वाले युगद्रष्टा ऋषि थे। जितनी अलौकिक थी उनकी साधना, उतने ही अलौकिक थे उनके अवदान। नैतिक और चारित्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठा उनका जीवन-मिशन था। उन्होंने जहां एक ओर तेरापंथ धर्मसंघ में विकास के नए क्षितिज उन्मुक्त किए वहीं दूसरी ओर अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन कर अभिनव धर्मक्रांति की। उन्होंने धर्म को ग्रंथों, पंथों और धर्मस्थानों से निकाल कर जीवन व्यवहार का अंग बनाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया।

आचार्यश्री तुलसी का जीवन विलक्षण विविधताओं का समवाय था। वे कुशल प्रवचनकार, कवि और साहित्यकार थे। असाम्प्रदायिक धर्म के मंत्रदाता और आध्यात्मिक जीवनमूल्यों के अधिष्ठाता थे। व्यष्टि और समष्टि के हित के लिए वे सर्वतोभावेन समर्पित रहे। उनका कार्यक्षेत्र न केवल वैयक्तिक था और न केवल सामाजिक। उन्होंने व्यक्ति और समाज दोनों की शुद्धि के लिए तीव्र प्रयत्न किए। भारत की स्वतंत्रता के शैशव में उन्होंने चरित्र विकास की जो प्रेरणाएं दी, जनमानस में नैतिकता को जो आधार दिया, बढ़ती हुई अनैतिकता के विरुद्ध जो क्रांति की, उसका अपना इतिहास है। उन्होंने धरती का भगवान बनकर मानव मन के ताप, संताप और संत्रास का हरण किया। आचार्यश्री महाप्रज्ञ की इन पंक्तियों में इसी सत्य की प्रतिध्वनि है—

धरती का भगवान वही, जो
धरती का उद्धार करेगा
आंखों का भगवान वही, जो
आंखों का संताप हरेगा।
धरती के भगवान देव! तुम
तुमने वह विश्वास जगाया
धरती ऊंची स्वर्गलोक से
स्वर्ग मात्र धरती की छाया।

धर्मचक्र का प्रवर्तन उस महापुरुष की जीवन-गाथा है, जिसने धरती पर स्वर्ग के अवतरण की कल्पना की, सामाजिक कुरूढ़ियों के विरुद्ध जन-चेतना को जागृत किया, धर्म को जाति, वर्ग और सम्प्रदाय के घेरे

से मुक्त कर आत्म-शुद्धि के महान् अनुष्ठान के रूप में प्रस्थापित किया, मानव को सौहार्द एवं शांतिपूर्ण जीवन जीने की कला सिखाई।

प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान—आचार्यश्री तुलसी के शासनकाल की वे उपलब्धियां हैं, जो चिरकाल तक अशांत और तनाव ग्रस्त मनुष्यों के लिए वरदान तुल्य बनी रहेंगी। आगम संपादन का उनके वाचना-प्रमुखत्व में जो महार्घ्य कार्य हुआ है, वह प्राच्यविद्या की अनमोल धरोहर बन गया है। 'समण दीक्षा' का युगांतकारी अभिक्रम उनकी दूरदर्शिता और क्रांतदृष्टि का जीवन्त प्रमाण है। आचार्यपद का विसर्जन उनकी अनासक्त और निःस्पृह चेतना का स्वयंभू साक्ष्य है। सत्ता, अधिकार और पद-लिप्सा के युग में वह एक आदर्श बोधपाठ बना रहेगा।

परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ को आचार्यश्री तुलसी का यशस्वी उत्तराधिकारी होने का गौरव मिला। आचार्यश्री तुलसी ने इन शब्दों में अनेक बार यह भावाभिव्यक्ति की—'मैंने योग्य, योग्यतर ही नहीं, योग्यतम उत्तराधिकारी पाया है।' आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने मनसा, वाचा, कर्मणा आचार्यश्री तुलसी के सपनों और कल्पनाओं को आकार देने का दायित्व निभाया। ये दोनों महापुरुष सदा अद्वैत की भूमिका में रहे, गुरु-शिष्य के आदर्श संबंधों को जीया। इनका जीवन द्वैत में अद्वैत का दुर्लभ निदर्शन है।

परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ आचार्यश्री तुलसी के अंतरंग व्यक्तित्व से जितने परिचित रहे, उतना कोई नहीं रहा। आचार्यश्री तुलसी को जितनी निकटता से आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने देखा, उतना और कोई नहीं देख पाया, इसीलिए उनके द्वारा आलेखित 'धर्मचक्र का प्रवर्तन' में आचार्यश्री तुलसी के निर्मल और पारदर्शी जीवन-बिम्ब का साक्षात्कार होता है।

सन् १९८५ में आचार्यश्री तुलसी के शासनकाल के पचास वर्ष की संपन्नता पर अमृत महोत्सव का आयोजन किया गया। उस आयोजन के सूत्रधार थे युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ। अमृत महोत्सव वर्ष के अवसर पर आचार्यश्री तुलसी के जीवन-दर्शन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व को समग्रता से प्रस्तुत करने का संकल्प प्रस्फुटित हुआ। उस संकल्प की निष्पत्ति थी–**धर्मचक्र का प्रवर्तन**। यह मेरे जीवन का चिरस्मरणीय प्रसंग है कि इस ग्रंथ की संरचना के क्षणों में मैंने परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ के साहित्यिक कार्यों में सर्वात्मना जुड़ने का अवदान पाया।

देवगढ़ (सन् १९८५) में आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने प्रस्तुत ग्रंथ के आलेखन के लिए नौ दिवसीय प्रवास किया। पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी उन दिनों मेवाड़ के छोटे-छोटे गांवों की यात्रा करते हुए जन-कल्याण का महान् कार्य कर रहे थे। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने देवगढ़ में ग्रंथ का आलेखन प्रारम्भ किया। आचार्यवर अविराम बोलते जाते और मैं अवधारित कर लिपिबद्ध करता चला जाता। १५ मार्च, १९८५ को आचार्यवर की मंगल सन्निधि और पवित्र आभावलय में बैठकर इस ग्रंथ के पहले पन्ने का लिपिकार होने का सौभाग्य मिला। वह सौभाग्य परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ के जीवन के अंतिम दिन तक अखण्ड बना रहा।

'धर्मचक्र का प्रवर्तन' ग्रंथ का लोकार्पण सन् १९८६ में अमृत महोत्सव के समापन के अवसर पर हुआ। इस ग्रंथ का प्रथम संस्करण अतिशीघ्र समाप्त हो गया। इसके पुनर्मुद्रण और प्रकाशन की मांग अनेक बार उभरी किन्तु वह पूरी नहीं हो सकी। पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी के महाप्रयाण के पश्चात् प्रस्तुत ग्रंथ को परिवर्धित/परिष्कृत करना अपेक्षित हो गया। इस अपेक्षा की पूर्ति से पूर्व आचार्यवर ने पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी के जीवन-दर्शन पर महाकाव्य के निर्माण का संकल्प किया और तुलसी यशोविलास की रचना

शुरू हो गई। उस महाकाव्य का प्रथम भाग सन् २००५ में प्रकाशित हुआ। जिस उदात्त और अनाविल भाव-भूमि पर 'धर्मचक्र का प्रवर्तन' ग्रंथ का प्रणयन हुआ, उसी उदात्त और अनाविल भाव भूमि पर तुलसी यशोविलास महाकाव्य का निर्माण हुआ। काव्य-मर्मज्ञ और श्रद्धासिक्त मानस—दोनों के लिए समादरणीय और पठनीय उस महाकाव्य की प्रस्तुति के उन अंशों को उद्धृत करना यहां अप्रासंगिक नहीं होगा, जिनमें प्रस्तुत ग्रंथ के प्राण-तत्त्व का भी दर्शन होता है—

''हर व्यक्ति की जीवन कहानी जन्म, परिवार, पारिपार्श्विक वातावरण और आर्थिक स्थिति से शुरू होती है। आचार्य तुलसी का जन्म स्वाभाविक रीति से हुआ। घर का वातावरण भी साधारण, पारिपार्श्विक वातावरण भी साधारण, आर्थिक स्थिति भी साधारण, सब कुछ साधारण। हमारी विचित्र मनोवृत्ति है कि हम साधारण में असाधारण को खोजना चाहते हैं। यदि कोई भक्त नहीं होता तो दुनिया में कोई भगवान नहीं बनता, यदि कोई भक्त नहीं होता तो दुनिया में कोई भी साधारण असाधारण नहीं बनता। हम असाधारण को साधारण से विच्छिन्न कर जीवन की पूरी कहानी न कभी कह पाते और न कभी लिख पाते। अस्तित्व जीव का साधारण गुण है और चैतन्य उसका विशिष्ट गुण। हम अस्तित्व को छोड़कर केवल चैतन्य के आधार पर जीव के समग्र स्वरूप को नहीं समझ सकते। समग्रता से समझने के लिए अस्तित्व और चैतन्य को एक साथ देखना आवश्यक है। व्यक्ति में विशिष्टता उपजती है, साधारणता सहजता के धागे में निरंतर पिरोई हुई रहती है।

मैंने आचार्यश्री तुलसी को हर स्थिति में सहज पाया। असहजता के दर्शन प्रायः नहीं हुए। मैं सहजता में विश्वास करता हूं। आचार्यश्री तुलसी भी सहजता में विश्वास करते थे। उनकी जीवन-शैली भी सहजता से ओत-प्रोत थी। सब कुछ सहज ही सहज। मैंने सहज भाव से सहज शब्दों में लिखने का प्रयत्न किया है। इसलिए मुझे किसी असहज की शरण में जाने की जरूरत नहीं पड़ी। मेरी कठिनाई भी दूर हो गई और किसी विदग्ध के वैदग्ध्य से आहत होने का अवसर भी नहीं मिला।

यदि मैं कहता—मैं किसी बड़े आदमी का जीवनवृत्त लिखने जा रहा हूं तो मुझे उस बड़े आदमी के अहंकार को झेलना पड़ता और पता नहीं मेरा अहंकार उस अहंकार को कितना झेल पाता। मुझे प्रसन्नता है कि मैं एक साधारण व्यक्ति की जीवन-गाथा को लेकर चला और कहीं भी कंटकाकीर्ण पथ पर चलकर पैरों को विद्ध करने का क्षण नहीं देखना पड़ा। इसे मैं अपनी विशेषता मानूं, वृत्तनायक की विशेषता मानूं, दोनों की विशेषता मानूं अथवा अंतरिक्ष से फैलने वाली वृहस्पति की रश्मियों का विकिरण मानूं। कुछ भी मानूं, मैं सहजता को छोड़कर असहजता की भूमिका पर अपने चरण नहीं रख सका, उसे अपना सौभाग्य अवश्य मानता हूं।

अनेक असाधारण व्यक्ति उनके पास आए, सन्निधि में बैठकर साधारण बन गए। असाधारण के पास असाधारण आता है तो अहं की टकराहट होती है। साधारण के पास असाधारण आता है तो उसका अहं विगलित हो जाता है और वह साधारण बन जाता है। विधान परिषद् के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र बाबू आए, जयप्रकाश नारायण आए, ऐसा नहीं लगा कि आचार्यश्री तुलसी असाधारण व्यक्ति से बात कर रहे हैं और उन्हें भी ऐसा नहीं लगा कि हम किसी ऊपर के तल पर जाने का प्रयत्न कर रहे हैं। साधारण से साधारण बात करे तभी तादात्म्य हो सकता है। एक ओर असाधारण दूसरी ओर साधारण हो तो उनमें तादात्म्य का तार कभी नहीं जुड़ सकता।

ज्ञान से ज्ञान का संपर्क एक साधारण भूमिका है। चरित्र से चरित्र का संपर्क एक साधारण भूमिका है। जब होता है ज्ञान से ज्ञान के अहंकार का मिलन और जब होता है चरित्र से किसी पद के अहंकार का मिलन, तब होता है द्वंद्व, संघर्ष और टकराहट।

आचार्य तुलसी ने अहंकार-विलय की साधना की थी। उनकी विनम्रता की झोंपड़ी में जो आता, वह झुककर ही आता और कोई-कोई अहंकार की टोपी पहनकर आता तो जाते समय खुले सिर ही जाता। स्वेच्छाकृत विनम्रता व्यक्ति को महान् बनाती है। इसका हमने प्रत्यक्ष अनुभव किया है। प्रस्तुत चरित्र का पाठक इसका अनुभव किए बिना नहीं रहेगा।'' (तुलसीयशोविलास, प्रस्तुति पृ. ४, ५, ८-११)

आचार्यवर ने आचार्यश्री तुलसी की बहुआयामी जीवन-गाथा की प्रस्तुति के साथ उनके क्रांत वैचारिक दर्शन की प्रस्तुति का संकल्प संजोया। उस संकल्प की निष्पत्ति थी 'तुलसी विचार दर्शन' का प्रणयन। वह आचार्यश्री तुलसी के वैचारिक अवदान का प्रामाणिक दस्तावेज है।

'तुलसी विचार दर्शन' के निर्माण के पश्चात् आचार्यवर ने **'धर्मचक्र का प्रवर्तन'** ग्रंथ के परिष्कार/परिवर्धन की ओर ध्यान केन्द्रित किया। आचार्यवर ने प्रस्तुत ग्रंथ का प्रायः आलेखन कार्य संपन्न करवाया तथा अवशेष कार्य के संदर्भ में यथोचित मार्गदर्शन भी प्रदान किया। किन्तु इस कृति का प्रकाशन उनकी विद्यमानता में नहीं हो सका।

परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाश्रमण के पावन अनुग्रह से सन् २०१२ में जैन विश्व भारती में दीर्घकालीन प्रवास का सुयोग मिला। 'धर्मचक्र का प्रवर्तन' ग्रंथ का संपादन प्राथमिक लक्ष्य बना और वह कृतार्थ हो गया। सहवर्ती संत मुनि अक्षयप्रकाशजी, मुनि आकाशकुमारजी और मुनि सुधांशकुमारजी की सेवा कार्य में निष्ठापूर्ण संलग्नता रही इसलिए मैं अन्यान्य कार्यों से प्रायः निवृत्त रहा। मैं इनके प्रति प्रमोद भाव व्यक्त करते हुए सर्वतोमुखी विकास की मंगलभावना करता हूं।

परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाश्रमणजी दो युगप्रधान आचार्यों—पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी एवं गुरुदेव महाप्रज्ञ की अद्वितीय कृति हैं। परम श्रद्धेय आचार्यवर के मार्गदर्शन में आचार्य तुलसी जन्म शताब्दी वर्ष के संदर्भ में अनेक महत्त्वाकांक्षी योजनाएं निर्धारित हो रही हैं। यह वर्ष तेरापंथ धर्मसंघ और मानव जाति के शुभ भविष्य का मंगल स्वस्तिक रचेगा, यह संभावना की जा सकती है। यह प्रसन्नता का विषय है कि परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ की इस महत्त्वपूर्ण कृति का लोकार्पण आचार्यश्री तुलसी के ९९वें जन्म दिवस पर परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाश्रमणजी की पावन सन्निधि में हो रहा है। आचार्य तुलसी जन्म शताब्दी के परिपार्श्व में प्रकाशित इस ग्रंथ में एक युगप्रधान आचार्य के ज्योतिर्मय व्यक्तित्व और कर्तृत्व का जीवन-स्पर्शी चित्रण है, जिसे पढ़कर पाठक महानता का स्रोत उपलब्ध कर सकता है।

२८ अक्टूबर, २०१२ **—मुनि धनंजयकुमार**
भिक्षु विहार
जैन विश्व भारती, लाडनूं

अनुक्रम

१. धर्म का नया क्षितिज १५-६४
- अथातो व्यक्तित्व जिज्ञासा १७
- एक स्वप्न १८
- यात्रा से पूर्व १९
- धर्मचक्र का प्रवर्तन : अणुव्रत आंदोलन १९
- अणुव्रत आंदोलन का सूत्रपात २१
- पहला अधिवेशन २३
- 'संघ' से 'आंदोलन' २४
- वीक्षा और समीक्षा २५
- सत्य का अणुव्रत २६
- नकारात्मक दृष्टिकोण २६
- शक्यता का प्रश्न २७
- जड़ की बात २७
- क्या सब नैतिक हो जाएंगे? २७
- विरोधी प्रतिक्रियाएं २७
- असाम्प्रदायिक अस्तित्व २८
- मैं अणुव्रती बन चुका था ३०
- नेतृत्व ३१
- समन्वय और एकरूपता ३१
- संख्या या गुण ३२
- आंदोलन की सफलता व विफलता ३२
- सहानुभूति और समर्थन ३३
- अणुव्रत आंदोलन के आयाम ३७
- वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में धर्म का प्रयोग ३९
- जातिवाद और धर्म ३९
- चुनाव और धर्म ४१
- व्यापार और धर्म ४३
- नारी जागरण ४४
- परदा ४५
- नया मोड़ ४५
- अणुव्रत की पृष्ठभूमि ४६
- मिलन और विचार-विनिमय ४८
- डॉ. सातकौड़ी मुखर्जी ४९
- शिवाजी भावे ४९
- फादर एच. विलियम्स ४९
- बेकनवान ब्लम्वर्ग ५०
- जगदीश काश्यप और हजारीप्रसाद द्विवेदी ५१
- शिवाजी भावे और तेरापंथ का तत्त्वज्ञान ५१
- हंस कोइस्टर ५१
- नोरमन ब्राउन ५१
- आचार्य कृपलानी के साथ ५२
- आचार्यश्री और गांधीजी ५४
- राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन के साथ ५४
- डॉ. राधाकृष्णन् के साथ ५५
- डॉ. लोहिया के साथ ५५
- नंदा के साथ ५५
- चर्च के प्रांगण में ५५
- आचार्यश्री और स्पेंश ५६
- आचार्यश्री और वुडलैंड क्हेलर ५७
- डानेल्ड दम्पती की भेंट ५८
- बर्टन और वेल्स ५९
- दलाईलामा से मिलन ६१
- ग्लाजनप के साथ ६१
- लंका के बौद्ध भिक्षुओं के साथ ६२
- काका कालेलकर के साथ ६३
- रविशंकर महाराज ६४

२. महान् परिव्राजक ६५-१२०
- यात्रा : नैतिकता जागरण का अभियान ६७
- महान् परिव्राजक ६७
- आशु गति ६८
- दर्शक भी, दृश्य भी ६८
- क्वासि-क्वासि ६९
- आचार्यश्री और विनोबा का प्रथम मिलन ७३
- व्यापक यात्रा : व्यापक कार्यक्रम ७३
- अविराम और विराम ७३
- तीर्थयात्रा ७४
- गांव और नगर : समस्या दोनों की ७४
- जयपुर से दिल्ली ७५
- दिल्ली-यात्रा का उद्देश्य ७६
- कोलकाता यात्रा ८१
- कानपुर से कोलकाता ८४
- कोलकाता-प्रवास ८६
- मुंबई यात्रा ९९
- संकल्प-बल ९९
- विविधा १००
- अतीत की स्मृतियां १०२
- कच्छ-यात्रा के विविध प्रसंग १०२
- दक्षिण यात्रा १०५

- व्यक्तित्व का संक्रमण १०६
- एकात्मा : सर्वात्मा १०६
- साम्यवाद और विसर्जन ११२
- विसर्जन का सूत्र ११३
- दक्षिण यात्रा : विहंगावलोकन ११७
- बिम्ब-प्रतिबिम्ब ११९

३. तेरापंथ के आचार्य १२१-१९३

- पारिवारिक स्थिति १२३
- संस्कारों के बीज १२४
- कसौटी १२८
- मुनि-जीवन १२८
- विरक्ति के निर्मित्त १२९
- आशु-तोष १३०
- भावी का संकेत १३०
- जीवन-सूत्र १३१
- शिक्षा-लाभ १३१
- शिक्षा-दान १३२
- महान् उपलब्धि १३२
- अर्हता १३४
- युवाचार्य १३५
- आचार्यपद का अभिषेक १३७
- पहला संदेश १३८
- नया युग : नए आचार्य १३९
- राजनीतिक वातावरण १३९
- सामाजिक वातावरण १३९
- आर्थिक वातावरण १३९
- धार्मिक वातावरण १३९
- भविष्य के संकेत १४०
- उपकृति की रेखाएं १४१
- तेरापंथ के आचार्य : पहला वर्ष १४२
- व्यक्ति-निर्माण १४५
- संस्कृत विकास का इतिहास १४५
- ऐकाह्निक शतक १४८
- संस्कृत में वक्तव्य १४८
- आशुकवित्व १४९
- समस्यापूर्ति १४९
- निबन्ध और कहानियां १४९
- साहित्य साधना १४९
- प्राकृत की दिशा में प्रस्थान १५०
- हिन्दी का स्पर्श १५०
- शिक्षा-क्रम १५१
- अवधान १५१
- हस्तलिखित पत्रिकाएं १५२
- महान् स्वप्नद्रष्टा १५२
- प्रवेश एक नए क्षितिज में १५४
- अशान्त विश्व को शांति का संदेश १५४
- प्रार्थना और वंदना १५५
- आदर्श साहित्य संघ की स्थापना १५५
- मेरा पंथ १५६
- तेरापंथ की व्याख्या १५६
- तेरापंथ और आचार्यश्री की व्याप्ति १५६
- अनुशासन और व्यवस्था १५७
- संघ व्यवस्था का प्रतीक : मर्यादा महोत्सव १५८
- त्रिवेणी-संगम १५९
- अर्थ से अलिप्त १५९
- महान् दार्शनिक का पथ १५९
- हृदय-परिवर्तन १६०
- अहिंसा की आराधना १६०
- करवट १६०
- युग-धर्म के व्याख्याकार १६१
- प्रस्थान : समभाव की दिशा में १६२
- फलित १६४
- एकता के पथ पर १६५
- समन्वय : एक गतिशील प्रक्रिया १६९
- आलोचना और प्रतिक्रिया १७१
- व्यवस्था में परिवर्तन १७४
- विहार-क्षेत्र का विकास १७६
- दीक्षा १७६
- व्यक्ति-निर्माण १७७
- शिष्य-संपदा १७८
- तपस्या १७८
- संघ-व्यवस्था और अनुशासन १७९
- निकाय व्यवस्था १८०
- साध्वीप्रमुखा की नियुक्ति १८१
- युवाचार्य की नियुक्ति : पृष्ठभूमि १८३
- युवाचार्य की नियुक्ति : कार्यक्रम १८४
- उत्सुकता चरम सीमा पर १८४
- उत्तराधिकारी नियुक्त करना है १८४
- उत्तराधिकार-पत्र १८६
- एक सार्थक भविष्यवाणी १८८
- जैन आचार्य १८९
- युगप्रधान की पूर्व भूमिका १९०
- युगप्रधान की समायोजना १९१
- जन धर्म प्रवचनकार १९१
- संप्रदाय और साम्प्रदायिकता १९२

४. संघर्ष की वेदी पर १९५-२५०

- संतुलन १९७
- दीक्षा को चुनौती १९७
- विरोध का विचित्र रूप २०४
- संघर्षों की पृष्ठभूमि २०६

- विशाल दृष्टिकोण २०७
- अणुव्रत आंदोलन २०७
- पारमार्थिक शिक्षण संस्था २०८
- संघर्ष की स्थिति का परिपाक २०८
- अस्पृश्यों का पहला स्पर्श २०८
- अणुव्रत प्रार्थना २०९
- बस्ती-बस्ती में २०९
- घर-घर में २१०
- बराबर कैसे बैठें? २११
- आंतरिक संघर्ष २१२
- भूचाल और बवंडर २२१
- संघर्ष सांप्रदायिकता का : बहाना अग्निपरीक्षा का २२२
- घोषणा शांति के लिए २२३
- प्रवचन पण्डाल २२९
- रायपुर से प्रस्थान २३२
- विश्लेषण २३४
- अपनी बात २३५
- रायपुर आंदोलन के निष्कर्ष २३६
- संघर्ष की वेदी पर २३९

५. सृजनात्मक दृष्टियां : रचनात्मक प्रवृत्तियां २५१-२७९

- साहित्य : नव उन्मेष—नए आयाम २५४
- महान् साहित्यकार २५४
- आगम साहित्य का संपादन २५७
- आगम-संपादन : सत्यनिष्ठा और असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति २६०
- कला का विकास २६२
- प्रेक्षाध्यान २६२
- जीवन विज्ञान २६४
- जीवन विज्ञान : प्रशिक्षक प्रशिक्षण २६४
- जैन विद्या परिषद् २६६
- अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद् की स्थापना २६६
- अखिल भारतीय तेरापंथ महिला मंडल की स्थापना २६७
- जैन विश्व भारती २६७
- अहिंसा सार्वभौम २६७
- श्रावक सम्मेलन २६७
- समण दीक्षा २६८
- पल्लवित संस्थाएं २६९
- वर्तमान युग को आचार्यश्री का अवदान २७०
- तेरापंथ को अवदान २७०
- जैन धर्म को अवदान २७०
- भारतीय दर्शन तथा चिंतन को अवदान २७१
- आयोजन : नव उन्मेष : नई दिशाएं २७१
- स्थिरवास शताब्दी समारोह २७१
- तेरापंथ द्वि-शताब्दी समारोह २७१
- मर्यादा महोत्सव शताब्दी समारोह २७२
- भगवान् महावीर का पचीससौवां निर्वाण जयन्ती समारोह २७२
- कालूगणी जन्म-शताब्दी समारोह २७५
- जयाचार्य निर्वाण-शताब्दी समारोह २७५
- मघवा निर्वाण शताब्दी समारोह २७६
- अभिवंदना और नियोजन २७६
- धवल समारोह २७६
- षष्टिपूर्ति समारोह २७६
- दीक्षा-कल्याणक समारोह २७७
- अमृत महोत्सव २७७
- योगक्षेम वर्ष २७८

६. विचार मंथन २८१-३०९

- व्यक्तित्व की प्रतिमा २८३
- आस्था २८३
- अनुशासन २८३
- आप हिन्दू हैं या जैन? २८४
- समस्या समाज की : समाधान अध्यात्म का २८६
- अध्यात्म क्या और किसलिए? २८७
- अध्यात्म और विज्ञान २८८
- अध्यात्म और व्यक्ति २८८
- अध्यात्म और परिस्थिति २८९
- सह-अस्तित्व की नीति २८९
- संघर्ष और शांति २९०
- सत्य की दिशा में २९५
- युवक की भाषा २९५
- जैन मंदिर : हरिजन प्रवेश २९५
- शिक्षा का नया आयाम—जीवन-विज्ञान २९८
- अणुव्रत विचारगोष्ठी २९८
- चिन्तन हिंसा की समस्या पर २९९
- डायरी : आत्म-मंथन के कुछ चित्र ३०१
- विरोधी युगलों का संगम ३०१
- प्रायोगिक जीवन ३०२
- स्तवना में खुश न होने की साधना ३०२
- असमर्थता की अनुभूति ३०२
- उदार दृष्टिकोण का परिणाम ३०३
- द्रुतगामी पाद-विहारी ३०४
- सिद्धान्त और समझौतावादी दृष्टिकोण ३०४
- मौन की साधना ३०५
- साधु-साध्वियों का निर्माण ३०६
- आस्था का आलोक ३०७
- अपराजेय मनोवृत्ति ३०८
- सिद्धान्त-विरोधी प्रवृत्ति में असहिष्णुता ३०९

७. व्यक्तित्व ३११-३५६

- उभरता व्यक्तित्व ३१३
- व्यक्तित्व : मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण ३१३
- व्यक्तित्व : नीतिशास्त्रीय दृष्टिकोण ३१४
- व्यक्तित्व का उपयोग ३१५

• अभय ३१६
• शक्ति का सही प्रयोग ३१७
• विरोध के सामने झुका न जाए ३१७
• रोष में तोष ३१८
• व्यक्तित्व : आध्यात्मिक दृष्टिकोण ३१९
• आत्मालोचन : आत्मनिरीक्षण ३१९
• प्रायश्चित्त ३२१
• अपूर्णता में पूर्णता ३२१
• आस्था के विविध रूप ३२२
• पुरुषार्थ और समय-मर्यादा का द्वंद्व ३२४
• अन्तर्द्वंद्व ३२५
• व्यक्तित्व : व्यावहारिक दृष्टिकोण ३२६
• सौन्दर्य ३२६
• अनुशासन ३२७
• अनुशासनप्रियता ३२७
• विनम्रता ३२८
• विनोद और अंतर्दृष्टि ३२९
• आकिञ्चन्य ३३२
• वक्तृत्व ३३२
• संगीत और स्वास्थ्य ३३७
• दिनचर्या ३३८
• आहार के प्रयोग और तपस्या ३३८
• योगासन ३३९
• एकान्तवास ३४०
• मूल्यांकन ३४०
• राजस्थान समग्र सेवा संघ के अधिवेशन में पारित प्रस्ताव ३४७
• भारत ज्योति अलंकरण ३४७
• राष्ट्रीय एकता परिषद् में मनोनयन ३४८
• इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार ३४९
• 'वाक्पति सम्मान ३५३
• हकीम खां सूर सम्मान ३५५
८. विलक्षण जीवन : विलक्षण कार्य ३५७-४०८
• आचार्य पद-विसर्जन की पृष्ठभूमि ३५९
• निश्चिन्तता की अभिव्यक्ति ३५९
• अंतर्मंथन का महीना ३६०
• जटिल कार्य ३६१
• आचार्य-पद का विसर्जन ३६१
• सबसे महान् कार्य ३६२
• प्रतिक्रिया का आकलन ३६२
• उदात्तता और विलक्षणता ३६३
• विसर्जन का मूल्यांकन ३६४
• विकास महोत्सव ३६६
• विकास-महोत्सव : आधार पत्र ३६७
• विकास-महोत्सव का आधार ३६८
• विकास की दिशाएं ३६८
• नए इतिहास का सृजन ३६९
• विसर्जन अन्य कर्मों का ३६९
• ऐतिहासिक आलेख : अपूर्व निधि ३७०
• विसर्जन का प्रभाव ३७०
• तेरापंथ विकास परिषद् की कल्पना ३७०
• आचार्य पदाभिषेक ३७१
• आध्यात्मिक तिलक के द्वारा आचार्य-पदाभिषेक ३७३
• वर्तमान युग की समस्याएं ३७४
• धर्मसंघ की अपेक्षाएं ३७४
• रोहिणी का दायित्व निभाऊं ३७५
• जैन विश्व भारती में ३७५
• जीवन का संध्याकाल ३७७
• जीवन की अंतिम पदयात्रा ३७७
• संगम दो ध्रुवों का ३७८
• मिलन केशी और गौतम का ३७९
• सहवास पचास दिवस का ३८०
• चिन्ता मानवता की ३८०
• जीवन का अंतिम आहार ३८३
• स्वास्थ्य-मीमांसा ३८३
• जीवन का अंतिम प्रवचन ३८४
• वह दिन : वे क्षण ३८६
• प्रसन्नता और स्वास्थ्य की अनुभूति ३९५
• आत्मा का ऊर्ध्वारोहण ३९६
• शरीर का विसर्जन ३९७
• जाणै जाणणहार ३९७
• अनुत्तरित प्रश्न ३९७
• वे शब्द : वे क्षण ३९८
• महाप्रयाण यात्रा ३९९
• पूर्वाभास और भविष्य के संकेत ४००
• पहले कौन जाएगा? ४००
• श्याम परछाईं ४०१
• शुभू पटवा की प्रार्थना ४०१
• कल का क्या भरोसा? ४०१
• व्यक्त और अव्यक्त संकेत ४०२
• अंतर्मन के उद्गार ४०२
• ऐतिहासिक विहंगावलोकन ४०३
• क्षमा करें गुरुदेव! ४०४
• आचार्य तुलसी जन्म शताब्दी ४०८
९. परिशिष्ट ४०९-४२४
१. नामानुक्रम ४११
२. ग्रामानुक्रम ४१८
३. चातुर्मास ४२१
४. मर्यादा महोत्सव ४२२
५. प्रमुख साहित्यिक कृतियां ४२३

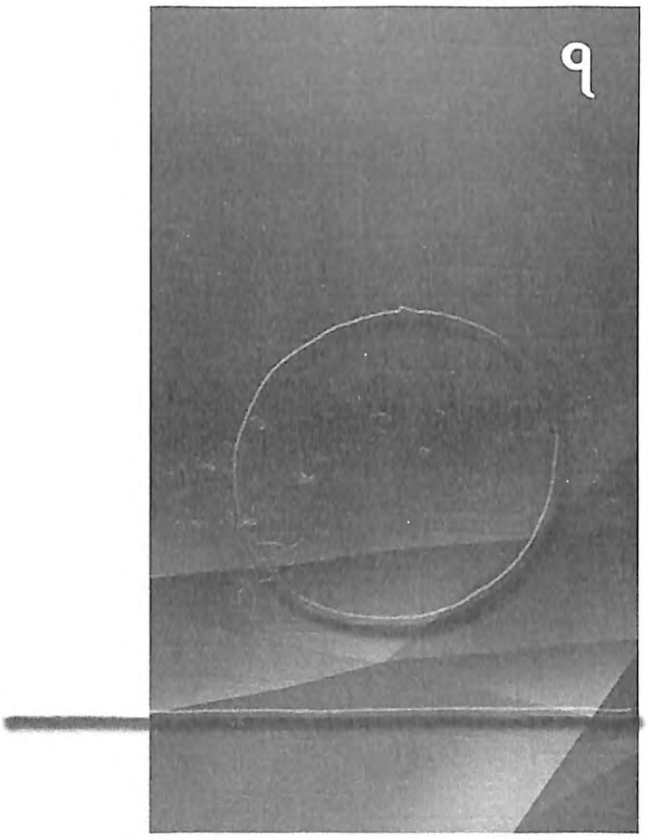

धर्म का नया क्षितिज

अणुव्रत की विकास-यात्रा के अनेक चरण हैं। सामयिक समस्या के संदर्भ में उसमें नए-नए उन्मेष आए हैं। हिन्दुस्तान का विभाजन साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण हुआ था। साम्प्रदायिक कट्टरता के कारण सब लोग आक्रांत थे। राजनीति के पहलवान साम्प्रदायिकता को उभार कर अपना स्वार्थ साध रहे थे। उस स्थिति में अणुव्रत ने जनता के सामने इस मंत्र को दोहराया–

- धर्म का स्थान पहला है, सम्प्रदाय का स्थान दूसरा है।
- सम्प्रदाय अनेक हो सकते हैं, धर्म सबका एक है।
- धर्म राजनीति से अलग है। उसमें राजनीति का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

धर्म का नया क्षितिज

अथातो व्यक्तित्व जिज्ञासा

दिल्ली में अणुव्रत आंदोलन का पहला अधिवेशन हुआ। समाचार पत्रों ने नैतिक क्रांति की चर्चा की, तब जनता के मन में जिज्ञासा उभरी। स्थान-स्थान से पूछा गया—आचार्यश्री तुलसी कौन हैं? कहां हैं? उनका आगे का कार्यक्रम क्या है? उन्हें बताया गया—आचार्यश्री तुलसी जैन धर्म के आचार्य हैं, अभी दिल्ली में हैं और वे नैतिक विकास के लिये अणुव्रत आंदोलन द्वारा जनता को नैतिक बनाना चाहते हैं। यह तब की बात है जब आचार्यश्री जनता के और जनता आचार्यश्री के सम्पर्क में नहीं थी।

एक समय वह आया, जब आचार्यश्री जनता से और जनता आचार्यश्री से अपरिचित नहीं रही। अपरिचित को परिचित कराना जितना कठिन नहीं है, उतना कठिन है परिचित को परिचित कराना।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

आचार्यश्री का व्यक्तित्व जिन रेखाओं से निर्मित था वे बहुत ही स्फुट थी। उन्हें श्लाघा के रंग में रंगने की कोई आवश्यकता नहीं है। वास्तव में जो था उसका लेखा अनुभूति में है, शब्दों में नहीं। फिर भी दृश्यलोक शब्द से मुक्ति नहीं पा सकता। इसीलिये हम बहुधा महान् को लघु में बांधने का यत्न करते रहे हैं। आचार्यश्री को परिचित कराने का प्रयत्न भी वैसा ही है।

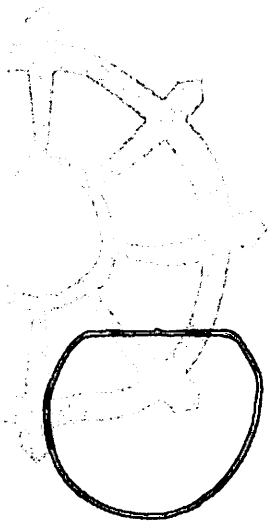

अन्तर्जगत् में आचार्यश्री आत्मवान् थे। आत्मा को समाहित कर वे आत्मवान् बने। जो आत्मवान् होता है, वही दूसरों का हृदय छू सकता है। आचार्यश्री ने जन-जन का मानस छुआ, उसका रहस्य यही है। शब्दों की दुनिया में आपका परिचय—'आपकी जन्म-भूमि लाडनूं (राजस्थान) है। वह राजस्थान जो शुष्क और ग्रीष्म-प्रधान होने के उपरान्त भी आध्यात्मिक-स्रोतों की सिंचाई से हरा-भरा है। आपका जन्म बीसवीं शताब्दी (२० अक्टूबर, १९१४, मंगलवार)[1] में हुआ। अपने पूर्वजों को अल्प-विकसित और अल्प-संस्कृत मानना इस शताब्दी की सबसे बड़ी विशेषता है। आचार्यश्री तब जन्मे जब हिंसा, घृणा से मनुष्यता, स्वार्थ से गुण और साम्प्रदायिकता से विराटता दबी जा रही थी। आचार्यश्री तब जन्मे जब जनतंत्र एकतंत्र को पछाड़ रहा था। आचार्यश्री तब जन्मे जब जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जीवन के शाश्वत मूल्यों पर आवरण डाला जा रहा था। आचार्यश्री तब जन्मे जब राजनीति के कठघरे में जन-जीवन बंधा जा रहा था। आचार्यश्री तब जन्मे जब दूसरों को सुधारने वाले अपने सुधार की उपेक्षा कर रहे थे।

१. विक्रम संवत् १९७१, कार्तिक शुक्ला २।

आप ग्यारह वर्ष की अवस्था में जैन मुनि बने, बाईस वर्ष की अवस्था में पूज्य कालूगणी ने तेरापंथ के आचार्यपद का भार सौंपा, चौंतीस वर्ष की अवस्था में अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया। बयासी वर्ष की अवस्था में महाप्रयाण कर चिर अनंत में विलीन हो गए।

गौर वर्ण, मझला कद, भव्य ललाट, तेजस्वी और दीर्घ आंखें, प्रलम्ब कान–यह था उनका प्रथम दर्शन में ही आकृष्ट करने वाला दृश्य व्यक्तित्व।

प्रसन्न मन, सहज ऋजुता, सबके प्रति समभाव, आत्मीयता की तीव्र अनुभूति, विशाल चिन्तन, विरोधी के प्रति अनुद्विग्न, जातीय, प्रान्तीय, साम्प्रदायिक और भाषाई विवादों से मुक्त–यह था उनका महान् व्यक्तित्व, जो अदृश्य होकर भी समय-समय पर दृश्य बनता रहा।

आचार्यश्री ने धर्म के शाश्वत सत्यों से युग को प्रभावित किया, इसलिए वे युगधर्म के व्याख्याता बन गए। अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन कर उन्होंने नैतिक क्रांति का नेतृत्व किया, इसलिये वे युगपुरुष और युगप्रधान कहलाए। वे संघर्षों की दीवारों को तोड़-तोड़ कर आगे बढ़े, इसलिए वे प्रगतिशील थे।

कठोर चर्या, भूख और प्यास से अविचलित रहकर वे गांव-गांव घूमते रहे। उन्होंने साठ हजार किलोमीटर से अधिक पदयात्राएं की, इसलिए वे महान् परिव्राजक थे।

सब वर्ग के लोगों ने उन्हें सुना, समझने का यत्न किया। वे सबके होकर ही सबके पास पहुंचे, इसलिये वे विशाल-दृष्टि थे।

अध्ययन, अध्यापन, स्वाध्याय और साहित्य-निर्माण–ये उनकी सहज प्रवृत्तियां थी, इसलिये वे जंगम विद्यापीठ थे।

उन्होंने अनेकांत का हृदय छुआ, इसलिए वे ध्रुव और परिवर्तन की मर्यादा के मर्मज्ञ थे।

अनेक मानवीय अल्पताओं के होते हुए भी वे महान् थे। उनकी गति महान् लक्ष्य की ओर रही। वे अपने को सिद्ध नहीं मानते थे। उनमें साध्य के प्रति अनुराग था, साधना के प्रति आस्था थी और सिद्धि में विश्वास था। आस्था ने ही उन्हें विलक्षण बनाया। उनकी जीवन-कहानी आस्था की ही कहानी है।

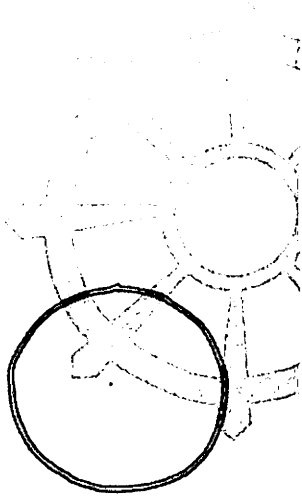

धर्मचक्र का प्रवर्तन

एक स्वप्न

विक्रम संवत् २००५ (सन् १९४८) की बात है। आचार्यश्री छापर में चातुर्मास बिता रहे थे। छापर बीकानेर डिवीजन का एक कस्बा है। वहां आस-पास में समुद्र नहीं है। बालू के टीले बहुत हैं। उनमें ऊर्मियों की रेखाएं इस प्रकार हैं जैसे कभी यहां पर समुद्र रहा हो। ऊर्मियां समुद्र में ही हों, यह कोई नियम नहीं है। मनुष्य के मन में भी ऊर्मियां होती हैं। जहां गहराई होती है, गति होती है, स्पन्दन होता है, वहां ऊर्मियां हो ही जाती हैं।

उस समय आचार्यश्री का मानस ऊर्मियों से भरा था। प्रत्यक्षदर्शी को लगता, यह क्या है? क्या धर्माचार्य जो होते हैं वे इस प्रकार सपने ही संजोया करते हैं या यथार्थता को भी पहचानने का प्रयत्न किया करते हैं? मैं उनका प्रिय शिष्य रहा हूं और समय-समय पर उनकी गहराई को नापने का यत्न करता रहा हूं। पर उस समय उनकी गहराई को नापने में विफल रहा, यह कहने में मुझे तनिक भी संकोच नहीं होता। यदा कदा प्रस्फुटित होने वाली आचार्यश्री की कल्पनाओं को सुनकर मुझे अचरज होता। मैं मन-ही-मन प्रश्न

करता कि इन आधारहीन कल्पनाओं का मूल्य क्या है? मुझे भलीभांति ज्ञात है–उस समय इस प्रश्न से मैं अकेला ही आंदोलित नहीं था, पूरा धर्मसंघ आंदोलित था।

यात्रा से पूर्व

विक्रम संवत् २००६ (सन् १९४९) का चातुर्मास जयपुर में था। इससे पूर्व बारह वर्ष तक आचार्यश्री का विहार केवल बीकानेर डिवीजन में हुआ। इसका कारण वही मान्यता है–पहले व्यक्ति को स्वयं उदित होना चाहिए, फिर दूसरों के उदय की चर्चा करनी चाहिए। आचार्यश्री उस समय जिस रूप में सामने आए, पहले वैसे नहीं थे। उनका शिष्य-समुदाय आज जैसा है, पहले वैसा नहीं था। आचार की बात मैं छोड़ देता हूं, विचार की दृष्टि से उन बारह वर्षों में कल्पनातीत विकास हुआ।

उस समय जयपुर का विहार एक विदेश-यात्रा जैसा लगता था। आचार्यश्री कोलकाता और मुम्बई की यात्रा करेंगे, ऐसी कल्पना करना भी क्रांति की पहली किरण और धर्म-क्रांति का पहला चरण था।

नये-नये व्यक्ति सम्पर्क में आए। विचार सुने। प्रश्न पूछा–'इतने दिन आप कहां थे?' आचार्यश्री ने विनोद की मुद्रा में उत्तर दिया–'मुझे जहां होना चाहिए, वहीं था।'

आचार्यश्री का बीकानेर डिवीजन का प्रवास दूसरे लोगों के लिए ईर्ष्या की वस्तु बन गया था। कुछ लोग भक्ति के आवेश में कह दिया करते–'आपको बीकानेर राज्य से मोह हो गया है।'

आचार्यश्री उनके आवेश को मधुर स्मित में परिणत कर देते। एक बार जयपुर की जनता प्रार्थना कर रही थी। साधुओं ने भी उसमें योग दिया। तब आचार्यश्री ने जो कहा वह उनके भावी कार्यक्रम की रूपरेखा थी। आचार्यश्री ने कहा–'तुम लोग वस्तु-स्थिति को नहीं आंकते। मैं यहां जो हूं इसका अर्थ इस प्रदेश से मोह नहीं है। मैं दूसरे प्रदेश के लोगों की उत्कंठा को भी समझता हूं। किन्तु जो करना था, वह मैं यहीं रहकर कर सका हूं। इस बारह-वर्षीय प्रवास को मैं सुदूर प्रवास की पृष्ठभूमि मानता हूं। मेरे मन में अध्यात्म के प्रसार की तीव्र भावना है। उसके लिए मैं स्वयं समर्थ बनूं और मेरा शिष्य-समुदाय भी समर्थ बने, यह मेरा लक्ष्य था। मैं उसमें सफल हुआ हूं।'

धर्मचक्र का प्रवर्तन

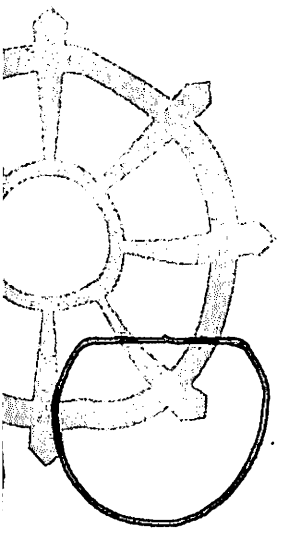

धर्मचक्र का प्रवर्तन : अणुव्रत आंदोलन

'भगवन्! तुम्हारी स्तुति करने में योगी भी समर्थ नहीं हैं और तुम्हारे गुणों के प्रति मेरा भी अनुराग कम नहीं है, फिर मैं तुम्हारी स्तुति क्यों न करूं?' आचार्य हेमचन्द्र के इन शब्दों में मैं अपना मार्ग देख पाता हूं। समूचे विश्व को सुधारने में बड़े-बड़े अवतार भी समर्थ नहीं हुए हैं और कर्तव्य-निष्ठा मेरी भी कम नहीं है, फिर चरित्र-विकास की प्रेरणा मैं क्यों न दूं? भावना के इन्हीं दीपों को संजोकर आचार्यश्री ने अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया।

शताब्दियों की परतंत्रता के बाद हिन्दुस्तान स्वतंत्र हुआ। कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने संयुक्त रूप से शासन सम्हाला। हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। इन दंगों में लाखों आदमी मौत के घाट उतरे। जातीयता का नग्न रूप सामने आया। स्त्रियों और बच्चों के साथ निर्दय व्यवहार किए गए। ऐसी स्थिति उत्पन्न की गई कि आखिर हिन्दुस्तान विभक्त हो गया।

पाकिस्तान बना। मुसलमान उधर गए, हिन्दू इधर आए। दोनों राष्ट्र शरणार्थियों से आक्रान्त हो गए। उनके पुनर्वास की समस्या जटिल हो गई।

हिन्दुस्तान का विधान बना और वह २६ जनवरी, १९५० को लागू हो गया। हिन्दुस्तान लोकतंत्र प्रणाली से शासित हो गया। संविधान ने सब वयस्कों को मत देने का अधिकार दिया। चुनाव हुए। विभिन्न राजनीतिक दलों ने भाग लिया। केन्द्र और लगभग सभी प्रान्तों में कांग्रेस ने शासन सम्हाला।

कांग्रेस सरकार ने समाजवादी समाज-व्यवस्था का लक्ष्य निश्चित किया। व्यापार और सम्पत्ति पर विभिन्न कर लगाए, देशी राज्यों का विलीनीकरण हुआ और जमींदारी का अन्त हुआ। अस्पृश्यता को अपराध माना गया।

खाद्यान्न की कमी थी। उस पर नियंत्रण किया गया। विकास की योजनाएं बनीं और उनके लिए बहुमुखी प्रयत्न होने लगे। ये स्थितियां शैशव में थीं। नया निर्वाचन, नया शासन, नया अनुभव और नई व्यवस्था।

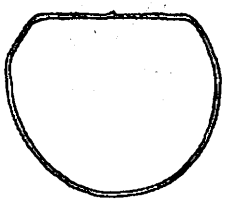

महात्मा गांधी इस संसार में नहीं रहे। दूसरे प्रमुख नेता अपने-अपने राजनीतिक दलों में फंस गये।

स्वतंत्रता के संघर्ष में जो एकता थी, वह टूट गई। आजादी के आकर्षण ने जिन मौलिक समस्याओं पर आवरण डाल रखा था, वे क्रमशः उभरती गईं।

जातिवाद, अस्पृश्यता, साम्प्रदायिकता, अमीरी, महंगाई, गरीबी और भिक्षावृत्ति–ये हिन्दुस्तान की मौलिक समस्याएं हैं। अनुशासनहीनता, पद की लालसा, महत्त्वाकांक्षा, प्रान्तीयता और भाषाई विवाद–ये स्वतंत्रता के बाद उपजी हुई समस्याएं हैं। इन व इन जैसी और-और समस्याओं से जनता का चरित्र विकृत और मानस उत्पीड़ित हो रहा था।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

शिक्षा बढ़ रही थी, बुद्धि का विकास हो रहा था। प्राचीन मान्यताएं शिथिल हो रही थीं। नये सिद्धान्त जन्म ले रहे थे। धर्मनेता बुद्धिवादियों को कोसते थे। बुद्धिवादी धर्म और धर्मनेताओं को अतीत की कहानी बनाने की सोच रहे थे।

कुल मिलाकर जो स्थिति बनी, उसमें ध्वंस अधिक था, निर्माण कम। उत्तेजना अधिक थी, चेतना कम। इससे संतुष्ट कोई नहीं था। सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय–तीनों क्षेत्रों में असंतोष व्याप्त था। चरित्र-पतन और अनुशासनहीनता से सभी का धैर्य विचलित हो रहा था। इन परिस्थितियों में 'अणुव्रत आंदोलन' सामने आया। यद्यपि इसमें कोई नया तत्त्व नहीं था। वे ही पुराने व्रत और वे ही पुरानी मान्यताएं। किन्तु परिस्थितियों का सही अंकन था। उसे वर्तमान रोग के निदान और समाधान के रूप में प्रस्तुत किया गया, इसलिए जनता ने उसे आश्वासन माना।

स्वतंत्रता आंदोलन के समय जन-मानस अहिंसा की शक्ति से परिचित हो गया था। महात्मा गांधी के ग्यारह व्रतों से भी असंख्य लोग परिचित हो गए थे। व्रत और नैतिकता भारतीय मानस के लिए कोई नई बात नहीं थी। फिर भी धर्म और नैतिकता के विभाजन के कारण व्रत का अवमूल्यन हो रहा था। हिन्दुस्तान में इन शताब्दियों में नैतिक विकास की गति मंद थी और स्वतंत्र भारत में उसके मंदतर होने की संभावना थी। इस संभावना को ध्यान में रखकर चरित्र-विकास या नैतिक विकास की एक आचार-संहिता प्रस्तुत की गई। उसमें श्रावक की व्रत-संहिता का सहारा लिया और उसे वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में नया रूप दिया गया। इसका राष्ट्रीय स्तर पर स्वागत हुआ और समर्थन भी मिला। अणुव्रत आंदोलन के माध्यम से पूरे देश में नैतिक विकास की गूंज हुई और सबने इसको एक राष्ट्रीय चरित्र-विकास के आंदोलन के रूप में स्वीकार किया।

अणुव्रत आंदोलन का सूत्रपात

आचार्य काल के दूसरे दशक का प्रारंभ नवनिर्माण की कल्पना के साथ हुआ। प्रथम स्वतंत्रता दिवस (१५ अगस्त, १९४७) पर आपने 'असली आजादी अपनाओ' का शंखनाद किया। असली आजादी का अर्थ है नैतिक विकास। उसका प्रायोगिक रूप है अणुव्रत आंदोलन। २ मार्च १९४९[1] में आचार्यश्री ने अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया। सरदारशहर का विशाल श्रीसमवसरण। हजारों-हजारों स्त्री-पुरुषों की उपस्थिति। प्रातःकाल की पावन वेला। आशा और निराशा की तैरती हुई तरंगों के बीच आचार्यश्री ने कहा–'अणुव्रत की आचार-संहिता के लिए कम से कम पचीस व्यक्ति मुझे मिले, यह मेरी आशंसा है। मुझे विश्वास है इससे नैतिकता का नया आयाम खुलेगा।' आचार्यश्री ने आह्वान कर जैसे ही विराम लिया वैसे ही अणुव्रती बनने की स्पर्धा शुरू हो गई। प्रथम आह्वान में ही इकहत्तर व्यक्ति अणुव्रती बने। अणुव्रत के प्रति आशावादी लोग प्रसन्न हो रहे थे, निराशावादी व्यक्ति इस संख्या को विस्मय के साथ सुन रहे थे। उनकी कल्पना थी कि पांच-दस व्यक्ति भी अणुव्रत के लिए समर्पित नहीं होंगे। अणुव्रतियों की प्रथम संख्या ने उनकी कल्पना को बदल दिया, इसलिए वे आश्चर्यचकित थे।

प्रथम बार अणुव्रती बनने वालों के नाम आचार्यश्री ने स्वयं अपने हाथ से लिखे। उस समय यह कल्पना नहीं थी कि अणुव्रत आंदोलन इतना व्यापक बनेगा और उसका इतना स्वागत होगा, किन्तु इसकी व्यापकता के पीछे संकल्प-शक्ति और श्रम का चमत्कार है।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

हमारे साधु-साध्वियों ने पांव-पांव चलकर अणुव्रत की भावना को गांव-गांव तक पहुंचाया। कुछ ही वर्षों में पूरे देश में अणुव्रत की लहर चल पड़ी। आचार्यश्री की पदयात्राओं ने उसे और अधिक शक्तिशाली बना दिया।

अणुव्रत की विकास-यात्रा के अनेक चरण हैं। सामयिक समस्या के संदर्भ में उसमें नए-नए उन्मेष आए। हिन्दुस्तान का विभाजन साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण हुआ था। साम्प्रदायिक कट्टरता के कारण सब लोग आक्रांत थे। राजनीति के पहलवान साम्प्रदायिकता को उभार कर अपना स्वार्थ साध रहे थे। उस स्थिति में अणुव्रत ने जनता के सामने इस मंत्र को दोहराया–

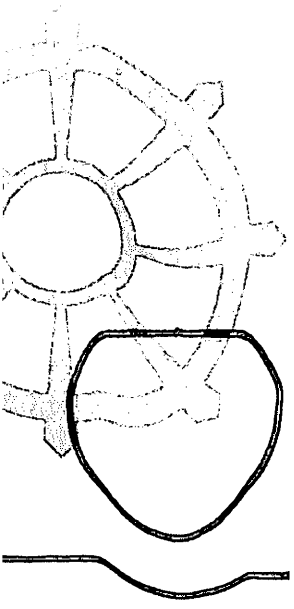

- धर्म का स्थान पहला है, सम्प्रदाय का स्थान दूसरा है।
- सम्प्रदाय अनेक हो सकते हैं, धर्म सबका एक है।
- धर्म राजनीति से अलग है। उसमें राजनीति का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

इस मंत्र ने जनमानस को झकझोरा और उससे धर्म और सम्प्रदाय की वास्तविकता को समझने की प्रेरणा मिली।

धार्मिक व्यक्ति का जीवन अनैतिक नहीं हो सकता। पर धर्म की धारणा परलोक के साथ जुड़ी हुई थी, इसलिए वर्तमान जीवन में स्वार्थ-साधना और परलोक को सुधारने के लिए धर्म की आराधना चल रही थी।

धार्मिक व्यक्ति अनैतिक व्यवहार कर रहे थे और उपासना के द्वारा उसके पाप से मुक्ति पा लेने की कल्पना से मन को आश्वासन दे रहे थे। उस वातावरण में अणुव्रत ने यह स्वर मुखर किया–

१. विक्रम संवत् २००५, फाल्गुन शुक्ला २।

- धर्म केवल परलोक सुधारने के लिए नहीं है। उससे वर्तमान जीवन सुधरना चाहिए।
- जिसका वर्तमान नहीं सुधरता, उसका परलोक कभी नहीं सुधरता।
- धर्म का चरित्र पक्ष मुख्य है, उपासना पक्ष गौण है।

इस विचारधारा ने एक नई स्थिति का निर्माण किया। स्वयं को नास्तिक मानने वालों को अपनी आस्तिकता का भान हुआ। जो स्वयं को आस्तिक मान कर चल रहे थे, उन्हें अपने आचरण में नास्तिकता का आभास मिला। प्रबुद्ध पत्रकार अक्षयकुमार जैन ने एक विचारगोष्ठी में कहा–'आचार्यश्री! आपने धर्म की जो परिभाषा दी है, उससे मुझे बल मिला है। अब मैं अपने मित्रों के बीच अपने आपको धार्मिक कह सकूंगा।'

उपासना पद्धति से जुड़ा हुआ धर्म अधिक आकर्षक होता है। अणुव्रत में कोई उपासना पद्धति नहीं है, केवल नैतिक आचरण का संदेश है, इसलिए इसमें आकर्षण कम है। फिर भी बौद्धिक मानस को इस आंदोलन ने काफी आकर्षित किया। संप्रदाय से भय खाने वाले इस निर्विशेषण धर्म के साथ अपनी भावना को जोड़ते चले गए। वह अनायास मानव-धर्म का मंच बनता चला गया।

राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने कहा–'आचार्यश्री! अणुव्रत आंदोलन हिन्दुस्तान के लिए बहुत उपयोगी है। आप इसकी जानकारी हमारे प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू को दें। वे इसका मूल्यांकन करेंगे और कार्य को आगे बढ़ाने में सहयोगी बनेंगे।'

आचार्यश्री–'आपकी बात ठीक है। पर पंडितजी से हमारा परिचय नहीं है।'

राष्ट्रपति–'मैं उन्हें पत्र लिखकर यह जानकारी दे दूंगा, फिर आपका उनसे मिलना हो जाएगा।'

आचार्यश्री–'ऐसा हो सकता है।'

राष्ट्रपति ने प्रधानमंत्री को पत्र लिखा–

'प्रिय प्रधानमंत्रीजी!

आचार्य तुलसीजी से आपका मिलना देश के हित में होगा। वे अभी दिल्ली आए हुए हैं। यदि संभव हो तो इस पर विचार करें।'

प्रधानमंत्री ने उत्तर में लिखा–

'प्रिय राष्ट्रपतिजी!

मुझे आचार्य तुलसी से मिलकर बड़ी प्रसन्नता होगी। मैं इन दिनों बहुत व्यस्त हूं। इसलिए आचार्यजी यदि प्रधानमंत्री निवास पर दर्शन दें तो बहुत कृपा होगी।'

राष्ट्रपति से पत्र का संवाद पाकर आचार्यश्री प्रधानमंत्री निवास पधारे। पूर्व व्यवस्थानुसार बरामदे में एक छोटा पट्ट बिछा हुआ था। उस पर आचार्यवर विराज गए। उससे सटे हुए आसन पर पंडित नेहरू बैठ गए। वार्तालाप का प्रारंभ करते हुए पंडितजी बोले–'कहिए आचार्यजी! आप क्या चाहते हैं?' आचार्यश्री–'मैं कुछ नहीं चाहता।' बातचीत चलने से पहले ही संपन्न हो गई। एक-दो क्षण वातावरण में मौन रहा। पंडितजी आचार्यवर की ओर देखते रहे। जब कोई मांग ही नहीं तो बात आगे कैसे बढ़े?

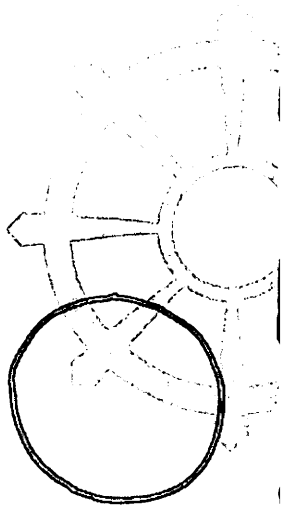

वातावरण की नीरवता को तोड़ते हुए आचार्यप्रवर ने कहा–'हम आपके पास कोई मांग लेकर नहीं आए हैं। हम कुछ देने आए हैं। आज राष्ट्र को नैतिक विकास की जरूरत है। हमने उस दिशा में कार्य शुरू किया है। आप उसे देखें, मूल्यांकन करें और उसका उपयोग करें।' प्रधानमंत्री ने गंभीरता के साथ इस बात को सुना। इस कार्य में अपना योग देने की बात कही। प्रथम वार्तालाप संपन्न हुआ।

प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू का अणुव्रत के साथ भावनात्मक संबंध हो गया।

पहला अधिवेशन

अणुव्रत आंदोलन एक अभाव की पूर्ति था, इसलिए थोड़े समय में ही वह बहुत प्रख्यात हो गया। जनता ने एक प्रकाश-रश्मि के रूप में उसका स्वागत किया। छोटे-छोटे गांवों में सैकड़ों की संख्या में लोग एकत्रित होते, आंदोलन के व्रतों को सुनते और उन्हें अपनाते।

जयपुर चातुर्मास में उसे और अधिक प्रसार मिला। उसका पहला वार्षिक अधिवेशन दिल्ली में हुआ। आंदोलन को सार्वजनिक रूप नहीं मिला। नये-नये आंदोलन के प्रति जो आकर्षण था, वह स्वयं अपनी अपेक्षा का साक्षी था।

उस समय आचार्यश्री का परिचय एक रूढिवादी धर्माचार्य और सम्प्रदाय-नेता के रूप में था। उनके द्वारा प्रवर्तित आंदोलन असाम्प्रदायिक हो सकता है, यह कल्पना भी लोग नहीं कर पा रहे थे। आंदोलन रचनात्मक नहीं है, केवल नकारात्मक है। अपने सम्प्रदाय को बढ़ाने के लिए यह एक जाल रचा गया है। इस कोटि की अनेक प्रतिक्रियाएं चल रही थीं। फिर भी पहले अधिवेशन में आंदोलन का जो रूप बना, वह कल्पनातीत सुखद था। उसी के आधार पर आचार्यश्री को यह विश्वास हो गया कि आंदोलन को स्वयं चलना है। जनता को भी इसकी अपेक्षा है। उसकी पूर्ति में थोड़ा-सा हमारा योग मिले, इतना पर्याप्त है।

दिल्ली नगर-निगम के प्रांगण में जब सैकड़ों व्यक्तियों ने समवेत स्वर में प्रतिज्ञाओं को दोहराया, तब लग रहा था कि युग करवट ले रहा है।

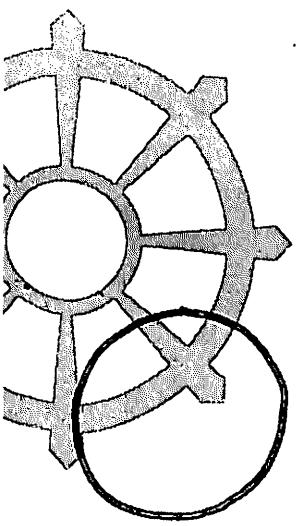

समाचार पत्रों ने उसे जो स्थान दिया वह किसी भी अराजनीतिक आंदोलन को संभवतः नहीं मिला।

विदेशी समाचार पत्रों ने भी आंदोलन का काफी स्वागत किया। न्यूयार्क के प्रसिद्ध साप्ताहिक टाइम (१५ मई, १९५०) में 'एटोमिक बॉम' शीर्षक से यह संवाद प्रकाशित हुआ–

'अन्य अनेक स्थानों के कुछ व्यक्तियों की तरह एक पतला, दुबला, ठिगना, चमकती आंखों वाला भारतीय संसार की वर्तमान स्थिति के प्रति अत्यन्त चिन्तित है। ३४ वर्ष की आयु का वह आचार्य तुलसी है जो जैन-तेरापंथ समाज का आचार्य है। यह अहिंसा में विश्वास करने वाला धार्मिक समुदाय है। आचार्य तुलसी ने सन् १९४९ में अणुव्रत आंदोलन की स्थापना की थी। ....जब समस्त भारत को व्रती बना चुकेंगे तब संसार को भी व्रती बनाने की उनकी योजना है।'

जापान में भी अणुव्रतों की चर्चा हुई। उन सब स्थानों की प्रतिक्रिया भी आचार्यश्री तक पहुंची। संक्षेप में वह यही थी कि आंदोलन के नियम भारतीय जीवन को दृष्टि में रखकर बनाए गए हैं। बहुत सारे नियम हमारे लिए उपयोगी नहीं हैं। तब आचार्यश्री ने व्रतों की रूपरेखा में परिवर्तन करने का निर्णय किया। यह आवश्यक भी था। वह रूपरेखा भारत और विशेषतः राजस्थान की परिस्थितियों के आलोक में बनी थी।

वह उसी जीवन-परम्परा से विशेष प्रभावित हो, यह अस्वाभाविक नहीं था। आंदोलन की व्यापकता के लिए उसे सर्वदेशीय रूप देना आवश्यक था इसलिए उसमें परिवर्तन किया गया।

परिवर्तन का दृष्टिकोण यह रहा कि असंभव की मौलिक प्रकृति सर्वदा और सर्वत्र एकरूप होती है, इसलिए उसके निवारक व्रतों को ही व्यापक रूप दिया जाए तथा शेष व्रत उन्हीं के अंतर्गत हों और देश-काल की आवश्यकतानुसार उनका निर्माण किया जाए–जब जहां जिस बुराई की मात्रा बढ़े, उसे रोकने के लिए व्रत-निर्माण किया जाए।

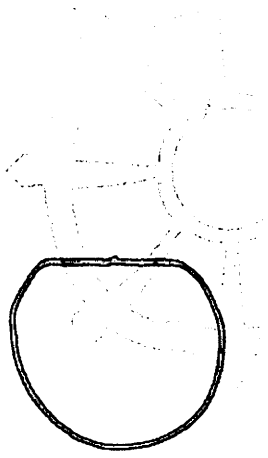

धर्मचक्र का प्रवर्तन

'संघ' से 'आंदोलन'

प्रारंभ में इस आंदोलन का नाम अणुव्रती संघ रखा गया। इसके व्रतों की संख्या चौरासी थी। जैसे-जैसे वह जनता तक पहुंचा, जैसे-जैसे अनुभव व्यापक हुआ, वैसे-वैसे उसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन होता रहा। मुंबई के चातुर्मास में उसकी रूपरेखा में परिवर्तन हुआ। तब तक यह आंदोलन पांच वर्ष की अवधि पार कर चुका था। हजारों व्यक्ति अणुव्रती बन चुके थे। लाखों व्यक्ति उसके समर्थक हो गए थे। करोड़ों तक उसकी भावना पहुंच चुकी थी। सचमुच जन-मानस में एक आंदोलन हो रहा था। आचार्यश्री के पास चिन्तन चला कि अब 'अणुव्रती-संघ' का नाम 'अणुव्रत-आंदोलन' कर दिया जाए। 'संघ' शब्द में एक सीमा की भावना है। आंदोलन अधिक मुक्त भावना का वाचक है। यह विचार रुचा और 'संघ' का नाम 'अणुव्रत आंदोलन' हो गया।

व्रतों की संख्या चौरासी से बयालीस हो गई। फिर परिवर्तन हुआ और व्रतों की संख्या ग्यारह हो गई। वर्तमान में वही प्रचलित है।

महान् अनुष्ठान, महान् प्रयत्न

अनुष्ठान अल्प हो और प्रयत्न महान् हो तथा अनुष्ठान महान् हो और प्रयत्न अल्प हो–ये दोनों मार्ग परिणाम-शून्य होते हैं। सफलता का मार्ग यही है कि अल्प अनुष्ठान के लिए अल्प प्रयत्न और महान् अनुष्ठान के लिए प्रयत्न भी महान् हों।

अणुव्रतों का प्रसार एक महान् अनुष्ठान था। महान् इस अर्थ में कि जन-जन को अणुव्रती बनाना था और इसलिए भी महान् कि जन-जन को असंयम से हटाकर संयम में स्थिर करना था। आचार्यश्री की इच्छा थी कि सब लोग अणुव्रती बनें। वे अणुव्रती कहलाएं या नहीं, यह उनकी इच्छा पर निर्भर है। किन्तु अणुव्रतों का संकल्प न हो तो अवश्य करें। कुछ बड़े कहलाने वाले लोग अणुव्रती बनने से झिझकते थे। उनकी झिझक को देख आचार्यश्री ने कई बार कहा–'बड़े कहलाने वाले लोग अपने आपको दूध से धुला मानते हैं। सचमुच वे ऐसे ही हैं तो अच्छी बात है, किन्तु मैं नहीं समझता कि वे व्रतों की आवश्यकता दूसरों के लिए ही क्यों मानते हैं?'

आचार्यश्री के इस तर्क ने बहुत प्रेरणा दी कि मनुष्य कहलाने का अधिकारी वही है जो सही अर्थ में अणुव्रती है। फिर चाहे वह सहज शुद्ध-भाव से अणुव्रती बना हो या आंदोलन से प्रेरणा पाकर। राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने जब कहा–'यदि आप मुझे कोई पद दें तो मैं अणुव्रत के समर्थक का पद लेना चाहता हूं।' आचार्यश्री ने इसके उत्तर में कहा–'मैं आपको अणुव्रती का पद देना चाहता हूं।'

जन-जन को अणुव्रती बनाने के लिए आचार्यश्री ने हजारों किलोमीटर की यात्राएं कीं। लाखों व्यक्तियों से आपका साक्षात्कार हुआ। एक-एक दिन में चार-चार पांच-पांच बार आपने प्रवचन किए। वार्तालाप और समझाने-बुझाने में आपका बहुत समय खपा। छोटे-से-छोटे व्यक्ति को आपने स्वयं समझाया। बड़े-बड़े शिक्षितों से भी आपने आंदोलन की चर्चा की। छोटे-छोटे गांवों में, जहां रवि और कवि दोनों ही कठिनाई से पहुंच पाते हैं, वहां आप पहुंचे। आपने अनेक कठिनाइयां झेलकर बड़े नगरों में प्रवास किया। आपने विरोध के तूफानों को सहकर भी जनता को प्रकाश देने का यत्न किया और प्रशंसा को पचाकर यथार्थ को अभिव्यक्ति दी। एक बार लखनऊ में आपने कहा–'अणुव्रत आंदोलन के प्रशंसक व समर्थक बहुत हैं। मैं प्रशंसा सुनते-सुनते ऊब चुका हूं। अब मैं समर्थक नहीं, अणुव्रती देखना चाहता हूं।' इस तड़प के पीछे एक ही उद्देश्य रहा–जन-कल्याण, चरित्र-विकास, आत्मोदय। इसी उद्देश्य की लौ जलाकर आप विद्यालयों, कार्यालयों, बाजारों, मोहल्लों आदि विभिन्न स्थानों में गए और अणुव्रत आंदोलन से जनता को अवगत कराया। लोगों ने कहीं आंदोलन को जीवन में स्थान दिया, कहीं नहीं भी दिया पर यह अनावश्यक है, ऐसा कोई कैसे कहता? चरित्र-विकास के विषय में कोई कैसे दो मत हो सकता है? और इस विषय में भी दो मत नहीं हो सकते कि आचार्यश्री ने चरित्र-विकास के लिए जितना तप तपा, उतना कम लोग ही तप सकते हैं। उनके शिष्य वर्ग ने भी इस दिशा में बहुत प्रयत्न किये। महान् अनुष्ठान के लिए आचार्यश्री को सामग्री भी महान् मिली। आचार्यश्री ने उसे महानता दी और उसकी महानता ने आचार्यश्री के महान् साध्य की पूर्ति में महान् योग दिया।

वीक्षा और समीक्षा

अणुव्रत आंदोलन युगीन समस्या का समाधान था इसलिए उसने युगचेतना को प्रभावित किया। युग के प्रबुद्ध चिन्तक उस पर अपनी समीक्षा करने लगे। किशोरलाल मश्रुवाला की तथ्यात्मक समीक्षा से चिन्तन का अवसर मिला। उन्होंने हरिजन में लिखा–'इस संघ (अणुव्रती संघ) में सबका प्रवेश हो सकता है; जाति, धर्म, रंग, स्त्री, पुरुष आदि कोई विचार नहीं किया जाता। इस संघ ने अपने सदस्यों के लिए सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि नाम देकर कुछ विभाग बनाये हैं और उनमें हर एक के अणुव्रत बताये हैं। कुछ नियम तो इतने प्रत्यक्ष हैं कि हर एक को मानना चाहिए। कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें और ज्यादा कसना चाहिए। लेकिन, सच तो यह है कि युद्ध के बाद दुनिया में मानव का इतना पतन हो गया है कि वह समाज के प्रति अपने मामूली कर्तव्य भी नहीं निभा रहा है। इसीलिए यदि यहां उनकी एक-एक करके गिनती की गई है, तो अच्छा ही है।

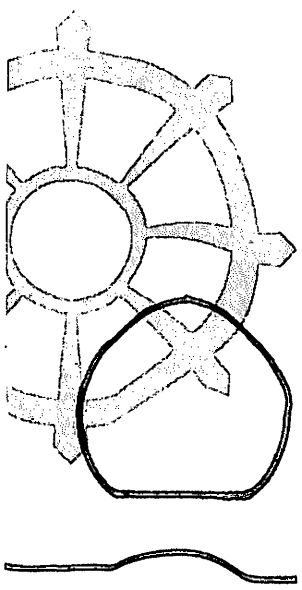

यद्यपि यह संघ समस्त धर्मों के मानने वालों के लिए खुला है और अहिंसा के सिवा बाकी सब व्रतों के नियम-उपनियम साम्प्रदायिकता से मुक्त सामाजिक कर्तव्यों पर निगाह रख कर बनाए गए हैं; लेकिन अहिंसा के नियमों पर पंथ के दृष्टिकोण की पूरी छाप है। उदाहरण के लिए शुद्ध शाकाहार, वह चाहे कितना ही वांछनीय हो भारत सहित मानव समाज की आज की हालत और रचना को देखते हुए मांस-मछली, अण्डा आदि से पूरा परहेज करने और उनसे संबंध रखने वाले उद्योगों से भी बचे रहने का व्रत जैनों और वैष्णवों की एक छोटी-सी संख्या ही ले सकती है। यही बात रेशम के उद्योग के लिए भी लागू है। (यह देखकर थोड़ा कुतूहल होता है कि मोती और मोतियों के व्यापार का उल्लेख नहीं किया गया है। यद्यपि उनमें भी उतनी ही हत्या होती है, जितनी कि रेशम में; हालांकि जैनों में यह व्यापार काफी फैला हुआ है।)

लेकिन, ये छोटी-मोटी खामियां छोड़कर इतना तो कहना ही चाहिए कि सिद्धांत और नियम के प्रति लापरवाह आज के रवैये के खिलाफ लोगों का विवेक जगाने की यह कोशिश प्रशंसनीय है।'

मांसाहार के निषेध में जैनों ने पहल की है, यह सही है। किन्तु आज यह विषय धार्मिक ही नहीं रहा है। शरीर-शास्त्र की दृष्टि से भी यह माना जाने लगा है कि मांस मनुष्य का खाद्य नहीं है। शाकाहार का समर्थन आज सभी देशों में हो रहा है, इसलिए इसे साम्प्रदायिक दृष्टिकोण नहीं कहा जा सकता।

आचार्यश्री ने यह सोचा कि अणुव्रती को मांस नहीं खाना चाहिए, पर मांस खाने वाले अणुव्रती बन ही नहीं सकते यह भी क्यों? जो व्यक्ति नैतिक व्रतों की साधना करना चाहे उनके लिए कोई मार्ग होना चाहिए। प्रवेशक अणुव्रती के व्रतों में मांसाहार-निषेध का व्रत नहीं रखा गया। इसे लेकर आचार्यश्री के परिपार्श्व में भी चर्चा हुई कि आचार्यश्री ने मांसाहार का व्रत उठा दिया। मांसाहार-निषेध का व्रत होना चाहिए, यह भी सही दृष्टिकोण है और मांसाहार करने वाले अणुव्रत आंदोलन के सदस्य न बन सकें, यह भी चिन्तनीय है। आचार्यश्री ने इन दोनों में सामंजस्य स्थापित किया। न मांसाहार-निषेध के व्रत को उठाया और न मांसाहार करने वालों को व्रत-साधना से वंचित ही रखा।

१. सत्य का अणुव्रत

आचार्य विनोबा भावे ने सत्य के अणुव्रत की आलोचना की। उनका अभिमत था कि अहिंसा का अणुव्रत हो सकता है, पर सत्य अखंड है, वह महाव्रत ही होगा। उसे विभक्त नहीं किया जा सकता। आचार्यश्री ने इस पर चिन्तन किया। किन्तु उक्त तर्क हृदय को न छू सका। सत्य अहिंसा से भिन्न नहीं है। जहां हिंसा है, वहां सत्य नहीं है। स्वरूपतः अहिंसा भी अखंड है और सत्य भी अखंड है। आचरण की शक्यता के आधार पर ये खंड किए गए हैं। ऊंचाई अविभक्त होती है, किन्तु मनुष्य एक ही डग में ऊपर चढ़ नहीं सकता। इसलिए सोपान विभक्त होते हैं। अणुव्रत आत्मा की ऊंचाई तक पहुंचने के सोपान हैं। वे जीवन के क्रमिक विकास और अभ्यास के लिए हैं।

२. नकारात्मक दृष्टिकोण

अनेक विचारकों ने आंदोलन के नकारात्मक स्वरूप की आलोचना की। उनका कहना था कि विधेय के बिना कोरा निषेध व्यक्ति में निरुत्साह पैदा करता है। आंदोलन का रूप रचनात्मक होना चाहिए।

आचार्यश्री ने इसे इस रूप में मान्य किया कि आंदोलन अपने ध्येय की दिशा में रचनात्मक है। चरित्र-निर्माण के जो प्रयत्न हैं, अभ्यास हैं, वे निषेध नहीं हैं। उनमें निषेध कोरा दुष्प्रवृत्ति का है, जो आंदोलन का बाह्य रूप है। उसके आंतरिक रूप में आत्मानुभूति की तीव्रता है, जो विधेय ही विधेय है।

यूनेस्को के प्रेस प्रतिनिधि श्री एलविरा ने १ दिसम्बर, १९५६ को आचार्यश्री से भेंट की।

आचार्यश्री–'क्या आपने अणुव्रत आंदोलन के नियम देखे हैं?'

एलविरा–'हां, मैंने उनको देखा है। वे मुझे अधिकतर निषेधात्मक प्रतीत हुए, ऐसा क्यों है?'

आचार्यश्री–'इयत्ता के लिए निषेध आवश्यक है। 'यह करो वह करो'–इसकी कोई सीमा नहीं है।'

एलविरा–'बाइबिल में भी अधिकांश नियम नकारात्मक हैं पर उसमें यह भी कहा गया है कि अपने पड़ोसी से प्रेम करो।'

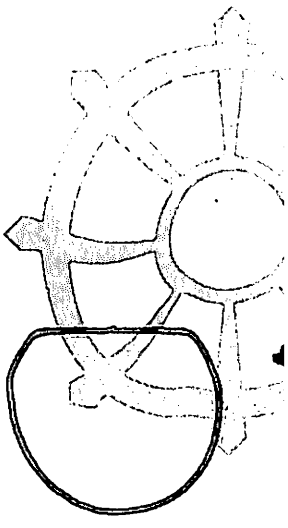

आचार्यश्री–'ऐसा उल्लेख तो इसमें भी है कि आपस में मैत्री रखो, पर यह नियम नहीं हो सकता, यह तो उपदेश हो सकता है।'

एलविरा–'भारत के लोग अहिंसा में विश्वास व श्रद्धा रखते हैं और अपने जीवन को उस आदर्श तक ले जाना चाहते हैं, क्योंकि आप जैसे प्रेरक यहां विद्यमान हैं। क्या इसका प्रचार पाश्चात्य देशों में भी हो सकता है?'

आचार्यश्री–'क्यों नहीं, पर इसके लिए आप लोगों का नैतिक सहयोग अपेक्षित है।'

एलविरा–'मैं तो आपकी सेवा में प्रस्तुत हूं।'

३. शक्यता का प्रश्न

कुछ आलोचकों ने कहा–'इसमें घूस न देने व आयकर देने में प्रामाणिकता रखने का कोई व्रत नहीं है।' यह अवश्य ही अखरने की बात है। किन्तु किया क्या जाए? आखिर शक्यता व सामाजिक मनोवृत्ति का प्रश्न है।

घूस लेने का त्याग करना अपना संयम है, पर देने का संबंध केवल अपने से नहीं है। इतनी मानसिक दृढ़ता सब लोगों में नहीं होती कि अनेक कठिनाइयों को सहकर भी घूस न दें। इस शक्यता की भावना को विचारकों ने बहुत ही व्यावहारिक और चल सकने वाला मार्ग बताया। श्री श्रीप्रकाशजी ने लिखा–'मानवीय प्रकृति की सीमा की दृष्टि से यह सर्वोत्तम है।'

४. जड़ की बात

कहीं-कहीं ऐसा उच्छ्वास मिला कि अणुव्रत आंदोलन जड़ की बात नहीं करता, वह केवल ऊपर को छूता है। आर्थिक समस्या का समाधान हुए बिना नैतिकता का विकास हो ही नहीं सकता। आचार्यश्री ने इसे एकान्तिक असत्य नहीं कहा, किन्तु वे इससे सहमत नहीं हुए कि जिनके सामने आर्थिक कठिनाई नहीं है, वे नैतिक ही हैं। नैतिकता को लोगों ने बहुत छोटी सीमा में बांध रखा है। आक्रमण का मनोभाव क्या अनैतिकता नहीं है? साम्राज्यवादी मनोवृत्ति क्या अनैतिकता नहीं है? अनाक्रमण, जीवित शांति और अपने अधिकार में संतुष्ट रहने की भावना का वातावरण पैदा करना आंदोलन की मुख्य प्रवृत्ति है। क्या यह जड़ की बात नहीं है?

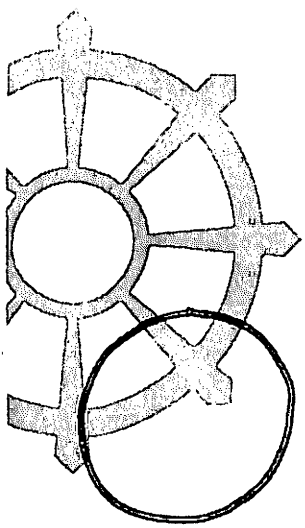

५. क्या सब नैतिक हो जाएंगे?

कुछ चिन्तनशील व्यक्तियों ने कहा–'भगवान् महावीर हुए, भगवान् बुद्ध हुए, महात्मा गांधी हुए, वे ही समूचे विश्व को नैतिक नहीं बना सके तो क्या अब आचार्यश्री उसे नैतिक बना देंगे?'

आचार्यश्री ने कहा–'मैं कब कहता हूं कि मैं समूचे संसार को नैतिक बना दूंगा। हमारा प्रयत्न इसी दिशा में होना चाहिए कि समूचा संसार नैतिक बने, नैतिकता की लौ जलती रहे। प्रयत्न करने पर भी न बने तो वह हमारे पुरुषार्थ का दोष नहीं होगा।'

६. विरोधी प्रतिक्रियाएं

जहां समुदाय है, वहां मति-भेद है। जहां मति-भेद है, वहां आलोचना है। इस सामुदायिक जीवन में ऐसा कोई व्यक्ति या तत्त्व नहीं है, जो आलोच्य न हो और जो आलोच्य ही हो। अणुव्रत आंदोलन

ने आलोचना के अनेक स्तर देखे, प्रवर्तक ने और अधिक। आचार्यश्री ने आंदोलन के बारे में स्वयं जनमत जानना चाहा था इसलिए अनेक विचारकों को आलोचना के लिए प्रेरित किया गया। ध्वंसात्मक आलोचना, जो कोरा मानसिक वेग होता है, से आंदोलन को कोई लाभ नहीं हुआ। तथ्यात्मक आलोचना ने अवश्य ही समय-समय पर दिशा-संकेत दिये।

अणुव्रत का कार्य आगे बढ़ा। जन-साधारण ने उसे उपादेय माना तो हमारी शक्ति प्रसार में अधिक लगी। एक नया ऊहापोह खड़ा हुआ। हमारे अनुयायी-जन ही कहने लगे–'आचार्यश्री जनता को जैन बनने पर बल नहीं देते। तेरापंथ के प्रचार की गति शिथिल कर दी है। उनका अधिकांश समय जनता के लिए बीतता है, अपने सम्प्रदाय के लिए वे बहुत थोड़ा करते हैं।'

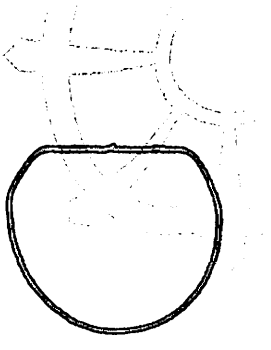

धर्मचक्र का प्रवर्तन

दूसरी ओर कुछ अजैन लोग यह कहने लगे कि आचार्यश्री अणुव्रत आंदोलन के माध्यम से सबको जैन बनाना चाहते हैं। एक ओर ये प्रतिक्रियाएं हुईं तो दूसरी ओर कुछ लोगों के सुझाव आये कि यह आंदोलन बहुत आवश्यक है। इसका प्रचार सतत और तीव्र गति से होना चाहिए। राजगोपालाचारी ने पहले अधिवेशन के अवसर पर लिखा था–'मेरी राय में यह जनता के नैतिक एवं सांस्कृतिक उद्धार की दिशा में पहला कदम है।'

सिन्ध के वयोवृद्ध आर्य नेता ताराचंद आर. डी. माजरा ने लिखा–'आपके विचार उत्कृष्ट हैं और आपका प्रयत्न उत्तम है। पर मैं अपना एक विनम्र सुझाव प्रस्तुत करना चाहूंगा। वह यह कि हमारे सभी अच्छे उद्देश्य इसलिए अपूर्ण रह जाते हैं कि उनके लिए काफी विस्तृत एवं तीव्र प्रचार नहीं किया जाता। मैं नम्रतापूर्वक निवेदन करूंगा कि यदि आप अपने ध्येय में सफल होना चाहें तो आप भारत और पाकिस्तान की सभी भाषाओं में लाखों की संख्या में पुस्तिकाएं व पर्चे प्रकाशित करें और इन दोनों देशों के स्कूलों में मुफ्त बंटवाएं।'

दूसरी ओर कुछ लोग इस प्रचार में लगे कि आचार्यश्री कोरे प्रचारक हो गए हैं। प्रशंसा की भूख जाग गई है। वे अणुव्रत आंदोलन के बहाने अपना सिक्का जमाना चाहते हैं।

इस प्रकार अनेक आलोचनाओं व प्रतिक्रियाओं के तटों के बीच आंदोलन प्रवाहित हुआ। उनसे कहीं-कहीं आंदोलन का कलेवर संकीर्ण भले ही हुआ, पर उनसे आंदोलन आगे बढ़ा इसमें कोई संदेह नहीं।

असाम्प्रदायिक अस्तित्व

आंदोलन का दृष्टिकोण आरम्भ से ही असाम्प्रदायिक था। यह जनता को जैन धर्म या तेरापंथ में दीक्षित करने का उपक्रम नहीं था। इसका विशुद्ध उद्देश्य था–चरित्र-विकास। आचार्यश्री की दृष्टि में चरित्र-विकास और जैनत्व भिन्न नहीं हैं। फिर भी यह सचाई है कि अणुव्रत आंदोलन का बाहरी रूप असाम्प्रदायिक और आंतरिक रूप साम्प्रदायिक कभी नहीं रहा।

आंदोलन का नाम जैन परम्परा से लिया गया। भगवान् महावीर ने अधिकारी-भेद से धर्म को दो भागों में विभक्त किया है–मुनि धर्म और श्रावक धर्म। मुनियों के लिए भगवान् ने पांच महाव्रतों की व्यवस्था की और श्रावकों के लिए पांच अणुव्रतों और सात शिक्षाव्रतों की। महात्मा बुद्ध ने मध्यम प्रतिपदा का विधान भिक्षुओं के लिए किया। भगवान् महावीर ने मध्यम-मार्ग का प्रतिपादन गृहस्थों के लिए किया। वह है अणुव्रत। वह हिंसा और अहिंसा के बीच का मार्ग है, यथाशक्य अहिंसा का मार्ग है।

हिंसा जीवन का पूर्ण असंयम है और अहिंसा जीवन का पूर्ण संयम। पूर्ण असंयम में रहना मनुष्य के लिए अहितकर है और पूर्ण संयम की साधना कठिन है। अणुव्रत इस चिन्तन का निष्कर्ष है कि मनुष्य पूर्ण संयम न कर सके तो न्यूनतम संयम अवश्य करे।

वह न्यूनतम संयम ही अणुव्रत है। नामकरण करते समय यह विकल्प उठा कि यह आंदोलन जैन-अजैन सभी के लिए है, तब इसका नाम अणुव्रत आंदोलन क्यों रखा जाए? लोग इसे असाम्प्रदायिक कैसे मानेंगे? और-और नाम सोचे गये, पर उपयुक्त नाम जचा नहीं। आचार्यश्री का यह विचार था कि नाम बहुत बड़ा और काम छोटा, यह नहीं चाहिए। अणुव्रत शब्द इस भावना का प्रतिनिधित्व करने में समर्थ है। छोटे-छोटे व्रतों से बड़ा काम हो सकता है, इस संकल्प की पृष्ठभूमि पर आंदोलन को 'अणुव्रत आंदोलन' की संज्ञा मिली।

लोग जब आचार्यश्री तुलसी को साम्प्रदायिक मानते थे, तो उनके आंदोलन को असाम्प्रदायिक कैसे मान लेते? प्रारंभ में आंदोलन सम्प्रदाय की दृष्टि से ही देखा जाता रहा। आंदोलन के पहले वर्ष में आचार्यश्री जयपुर में चातुर्मास बिता रहे थे। वहां डॉ. राजेन्द्रप्रसाद आए। उन दिनों वे भारतीय विधान परिषद् के अध्यक्ष थे। अणुव्रत आंदोलन की चर्चा चलने पर उन्होंने कहा–'इसका प्रसार तीव्र गति से होना चाहिए।' आचार्यश्री ने कहा–'हम भी यही चाहते हैं, पर अभी एक कठिनाई है।'

डॉ. राजेन्द्रप्रसाद–'वह क्या?'

आचार्यश्री–'यही कि दूध से जला हुआ छाछ को भी फूंक कर पीता है। लोग आंदोलन को अभी साम्प्रदायिक दृष्टि से देखते हैं।'

डॉ. राजेन्द्रप्रसाद–'यह दृष्टिकोण अपने आप मिट जाएगा, जैसे-जैसे लोग संपर्क में आएंगे।'

आचार्यश्री–'हम यही चाहते हैं कि लोग इस भावना को समझें और जिस चरित्र-बल की आवश्यकता है, उसे सहसा पूर्ण करें।'

आदि में प्रत्येक प्रवृत्ति को कठिनाई का सामना करना पड़ता है। अणुव्रत आंदोलन भी उसका अपवाद कैसे हो सकता था। किन्तु जिसका मूल प्रकाशमय होता है, उसका भविष्य आवरणमय नहीं हो सकता। एक-दो वर्ष के सतत प्रयास के बाद आवरण हट गया, आंदोलन जनता का बन गया।

जैन, वैष्णव, सनातनी–ये सब हिन्दू समाज के अंग हैं। वे अणुव्रती बने। इससे अणुव्रत का असाम्प्रदायिक अस्तित्व प्रकट होता है पर इसे आश्चर्य नहीं कहा जा सकता। आश्चर्य यह है कि मुसलमानों और ईसाइयों को भी अणुव्रत में अपने-अपने धर्मों की झलक मिली।

दिनांक १७ अगस्त, १९६० को अमेरिका के भारत स्थित सांस्कृतिक सचिव श्री डंकन इमरिक ने आचार्यश्री से वार्तालाप करते हुए कहा–'मुझे लगता है प्रभु क्राइस्ट ने जो दर्शन दिया है, अणुव्रत आंदोलन उसी के समान है। प्रभु क्राइस्ट ने जिस मनोवैज्ञानिक ढंग से समाज में व्याप्त विकृतियों को दूर करने का प्रयास किया, अणुव्रत आंदोलन उसी प्रकार छोटे-छोटे व्रतों द्वारा समाज की विकृतियों का परिष्कार कर रहा है।'

२० अगस्त को फ्रांसीसी वाणिज्य महादूत श्री ए. मासामोद अपने उपवाणिज्य महादूत श्री जी. एम. पेरिन सहित आए। उन्होंने अणुव्रत आंदोलन संबंधी अनेक प्रश्न पूछे और समुचित समाधान पाकर यह

विश्वास व्यक्त किया कि अणुव्रत आंदोलन को विश्व में मानवता की रक्षा करने में सफलता मिलेगी। उन्होंने बातचीत के क्रम में बतलाया कि फ्रांसीसी लोगों में इसके प्रति विशेष अभिरुचि है और इसका प्रचार विदेशों में होना चाहिए। पश्चिमी देश ऐसे आंदोलन को अत्यन्त आवश्यक समझते हैं। मैं आश्वासन देता हूं कि मैं अणुव्रत आंदोलन के प्रचार-प्रसार में पूर्ण सहयोग करूंगा।

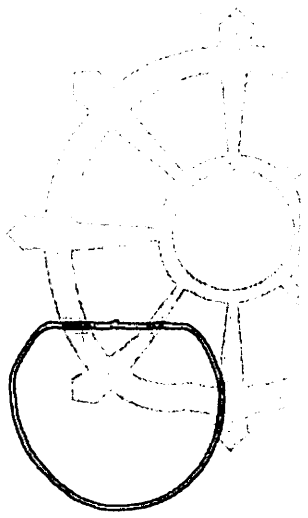

धर्मचक्र का प्रवर्तन

मैं अणुव्रती बन चुका था

आचार्यश्री मुंबई से विदा हो रहे थे। उस समय इंडियन नेशनल चर्च के अध्यक्ष फादर जे. एस. विलियम्स ने कहा–'मैं कुछ दिन पूर्व नार्वे में होने वाली शांति परिषद् में भाग लेने जा रहा था। आचार्यश्री की प्रेरणा से मैंने अणुव्रत ग्रहण किए।

दिसम्बर की भयानक सर्दी में मैं वहां पहुंचा। साथियों ने कहा–'मदिरा के बिना इस शीत प्रदेश में ठिठुर जाओगे।' पर मैं अणुव्रत ले चुका था। मैं मदिरा कैसे पीता? मेरा संकल्प अडिग रहा। मैं सकुशल लौट आया।

मैंने पश्चिम के लोगों से अणुव्रत आंदोलन के बारे में चर्चा की। ब्रिटेन, नार्वे, स्वीडन, फ्रांस तथा रूस के लोगों को इससे परिचित कराया। उन्होंने इसमें बड़ी रुचि प्रदर्शित की।

मैं राष्ट्र के ईसाई भाइयों से यह अनुरोध करूंगा कि हमारे राष्ट्र में चलने वाले नैतिक आंदोलन में वे अपना सहयोग करें। यह किसी सम्प्रदाय विशेष का आंदोलन नहीं है। यह तो आत्मशक्ति को जागृत करने का आंदोलन है।'

एक मुसलमान भाई आया। अणुव्रत की चर्चा चली। आचार-संहिता बताई। आचार्यश्री ने पूछा–'अणुव्रती बनोगे?'

वह बोला–'खुदा की आज्ञा मिली तो अवश्य बनूंगा।'

वह अपने घर चला गया। घर की छत पर जाकर खुदा को पुकारा, जोर-जोर से चिल्लाया, फिर मन ही मन गुनगुनाने लगा। थोड़ी देर बाद वह प्रसन्नता से भर गया। आचार्यश्री के पास आकर बोला–'मुझे खुदा की अनुमति मिल गई है। अब मैं अणुव्रती बनूंगा।' उसने आचार्यश्री के समक्ष अणुव्रत का संकल्प स्वीकार कर लिया।

आचार्यश्री के उदार दृष्टिकोण ने अणुव्रत को सार्वभौम बना दिया। उदारता की साधना कठिन है। यदि वह सध जाए तो एक महान् वशीकरण मंत्र है। ठाकुर मोहरसिंह के साथ मोण्डी चेन्नई आए। वे अभी-अभी मक्का की यात्रा कर लौटे थे। आचार्यश्री से अणुव्रत के बारे में बातचीत कर रहे थे। इतने में नमाज का समय हो गया। वे स्थान की खोज में इधर-उधर देखने लगे। आचार्यश्री ने उनके भाव को समझकर कहा–'क्या कहीं जाना है?'

मोण्डी ने कहा–'नमाज पढ़ने के लिए नीचे एकांत में जाना चाहता हूं, फिर आकर बात करूंगा।'

आचार्यश्री–'क्या यहां एकांत नहीं है?'

मोण्डी–'आपके सामने नमाज पढ़ सकता हूं?'

आचार्यश्री–'क्यों नहीं? हम भी देखेंगे, आप नमाज कैसे पढ़ते हैं?'

मोण्डी ने पश्चिम की ओर मुंह कर वहीं नमाज पढ़ी। उपासना की पद्धति भिन्न हो सकती है पर अणुव्रत सब के लिए अभिन्न है। इस अभेद की अवधारणा ने अणुव्रत को समन्वय का मंच बना दिया।

आचार्यश्री राजाजी (राजगोपालाचार्य) के निवास-स्थान पर पधारे। राजाजी ने आचार्यश्री के आगमन पर प्रसन्नता प्रकट की। आचार्यश्री ने कहा–'भारत के वयोवृद्ध राजनीतिज्ञ एवं महान् चिन्तक से मिलकर मैं भी प्रसन्न हूं।' प्रसन्नता की अभिव्यक्ति के पश्चात् वार्तालाप शुरू हुआ।

आचार्यश्री–'हमने कल ही 'स्वराज्य' में अणुव्रत के विषय में आपकी टिप्पणी पढ़ी थी। वैचारिक मिलन कल हो गया था। आज हम साक्षात् मिल रहे हैं।'

राजाजी–'मुझे अणुव्रत बहुत पसंद है।'

आचार्यश्री–'इस विषय में आपका कोई परामर्श है?'

राजाजी–'अणुव्रत सम्प्रदाय न बने। बस इतना-सा मेरा आग्रह है।'

आचार्यश्री–'इस विषय में मैं बहुत सजग हूं।'

राजाजी–'सम्प्रदाय बुआई के बिना उपजने वाली घास है। इसलिए सजगता अति आवश्यक है।'

नेतृत्व

आध्यात्मिक आंदोलन के नेतृत्व का पद, अधिकार या सत्ता के अर्थ में कोई महत्त्व नहीं रखता। विशुद्धि की दृष्टि से यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि ऐसे आंदोलन का नेतृत्व कौन करे?

अणुव्रत आंदोलन के समर्थक सभी लोगों ने चाहा कि अभी आंदोलन का नेतृत्व आचार्यश्री ही करें। उनसे जो आलोक मिलेगा वह अन्य स्रोतों से संभव नहीं। आचार्यश्री ने इस अनुरोध को स्वीकार कर लिया। इससे उलझन भी बढ़ी। तेरापंथ और अणुव्रत आंदोलन–दोनों का नेतृत्व एक व्यक्ति कर सकता है, इस पर सहसा विश्वास नहीं हुआ। इसीलिए आचार्यश्री ने पहले अधिवेशन के अवसर पर कहा–'वर्तमान में आंदोलन का नेतृत्व मैंने संभाला है। इसका अर्थ यह नहीं कि आंदोलन के सदस्यों को तेरापंथ की सदस्यता स्वीकार करनी होगी। किसी भी धर्म में विश्वास रखने वाला इस आंदोलन का सदस्य हो सकता है। इसका नेतृत्व मैंने इसलिए संभाला है कि इसकी प्रारम्भिक व्यवस्था सुदृढ़ हो जाए। उपयुक्त समय में इसके नेतृत्व की अन्य व्यवस्था भी की जा सकती है।'

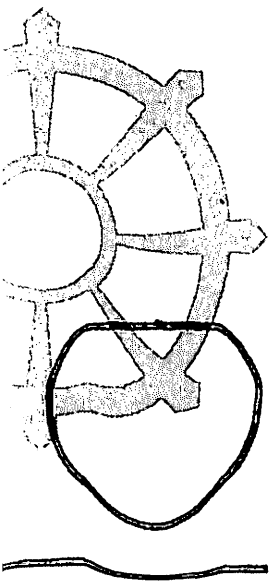

एक व्यक्ति ने उन्हीं दिनों आचार्यश्री से पूछा–'क्या आंदोलन में सम्मिलित होने पर मुझे आपको धर्माचार्य मानना होगा?' आचार्यश्री ने कहा–'कोई आवश्यक नहीं। आपको केवल आंदोलन के व्रतों का पालन करना होगा।'

इस उदार-दृष्टि ने जनता को आकृष्ट किया और थोड़े ही वर्षों में आंदोलन सबका हो गया। जैन, वैदिक, सिख, मुसलमान, ईसाई–सभी लोग अणुव्रती बने। अणुव्रत आंदोलन सब धर्मों की सामान्य भूमिका बन गया।

समन्वय और एकरूपता

उस समय धर्म का एक ऐसा समन्वित रूप अपेक्षित था जो किसी सम्प्रदाय विशेष का न हो, सबका हो। धर्म का ऐसा मंच कोई नहीं था जिसे सब लोग अपना कह सकें और एक साथ रहकर उसकी आराधना

कर सकें। अणुव्रत आंदोलन ने इस अभाव की पूर्ति की। इसे सब धर्म वाले अपना मानते हैं और यह मेरा ही है, ऐसा कोई नहीं मानता।

दूसरी बात–धर्म जीवनव्यापी नहीं रहा था। वह विभक्त हो गया। लोग समझने लगे थे–धर्म करने का समय वही है, जब उपासना की जाती है। दुकान में बैठकर या किसी व्यापार में लगकर कोई धर्म थोड़े ही पाल सकता है? इस मिथ्या चिन्तन से जीवन में अनेकरूपता आ गई थी। धर्म क्षेत्र की सीमा में बंध गया था।

आंदोलन ने जनता को यह दृष्टि दी कि जो व्यक्ति धर्मस्थान में जाकर धर्म का विचार करता है, दुकान या कार्यालय में नहीं करता, उसने धर्म का मर्म नहीं समझा। जो व्यक्ति उपासना-काल में धर्म का विचार करता है, जीवन-व्यवहार में नहीं करता, उसने धर्म का हृदय नहीं छुआ। सही अर्थ में धार्मिक वही है जो धर्मस्थान की भांति कर्मस्थान में भी और उपासना-काल की भांति जीवन-व्यवहार में भी धर्म और अधर्म का विवेक करे।

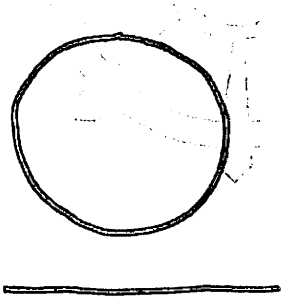

शताब्दियों की धर्म-रूढता के कारण संस्कार रूढ हो गए थे। धर्म क्रिया-काण्डों में बंध गया था। उसके दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना आवश्यक था। आंदोलन ने उस आवश्यकता की पूर्ति की। जनता को नई चेतना और नया दृष्टिकोण दिया।

संख्या या गुण

आंदोलन के सामने दो प्रश्न थे–१. उसके सदस्य अधिक हों या २. श्रेष्ठता अधिक हो? आचार्यश्री ने दूसरा विकल्प ही चुना। उन्होंने पहले अधिवेशन के अवसर पर कहा–'मुझे बड़ी संख्या का मोह नहीं है और छोटी संख्या की कोई चिन्ता नहीं है। अणुव्रती चाहे थोड़े बनें या अधिक, किन्तु जो बनें वे आदर्श बनें।' आंदोलन की इस भावना को जैनेन्द्रकुमारजी ने इन शब्दों में व्यक्त किया–'अभी अणुव्रतियों की संख्या छह सौ से कुछ ही अधिक है। यह देश तो बहुत बड़ा है। उस सागर में यह संख्या बूंद के बराबर समझी जा सकती है। पर संख्या पर ध्यान उतना नहीं है, यह अच्छा ही है। निष्ठा गुण की हो तो संख्या आपकी कहीं से कहीं पहुंच जाती है। मैंने देखा है कि अणुव्रती-संघ के पीछे संख्या का लोभ उतना नहीं है, जितना गुण पर आग्रह है। इस तरह की संख्या की अल्पता प्रभूत परिणाम ला सकती है।'

जमनालालजी बजाज ने भी उस समय यही लिखा–'संघ को सदस्यों की अपेक्षा गुण पर ध्यान अधिक रखना चाहिए।'

आंदोलन की सफलता व विफलता

आंदोलन की सफलता का अंकन उसके परिणाम पर निर्भर होता है। अणुव्रत आंदोलन विफल तो हुआ ही नहीं। आचार्यश्री जो प्रयत्न करते, उसे अपनी साधना मानकर करते। उन्होंने दूसरों के लिए ही कुछ किया होता तो संभव है वह क्वचित् विफल भी हो जाता। सच यह है कि वह कहीं भी विफल नहीं हुआ। भारतीय मानस पर उसने अपनी अमिट छाप छोड़ी है। नैतिकता के पुनरुज्जीवन में उसने अपना सक्रिय योग दिया है। आध्यात्मिक संस्कार सूक्ष्म होते हैं, इसलिए उसकी क्रांति का परिणाम शीघ्र ही दीख नहीं पाता। किन्तु जो बीज बोया गया है उसका परिणाम अवश्य होता है।

भारतीय नैतिकता राष्ट्रीयता के आधार पर विकसित हो, यह इष्ट नहीं है। इसका एक पार्श्व सबल है

तो दूसरा दुर्बल भी। राष्ट्र के नाम पर थोड़ी भलाई होती है तो उसके नाम पर बुराई भी होती है। दूसरे राष्ट्रों के प्रति थोड़ी हीनत्व की भावना भी पनपती है।

नैतिकता अध्यात्म पर आधारित होनी चाहिए। वह किसी के लिए अहितकर नहीं होती। यद्यपि उसके निर्माण में समय कुछ अधिक लगता है। अनेक विचारकों ने इस अध्यात्ममूलक नैतिक आंदोलन में अनेक संभावनाओं का साक्षात्कार किया।

सहानुभूति और समर्थन

जहां कार्य–प्रवृत्ति की रेखा सम होती है वहां सहानुभूति स्वतः हो जाती है। आंदोलन ने सहानुभूति के लिए कभी हाथ नहीं पसारा, किन्तु उसे वह इतनी मिली, जितनी की आशा नहीं थी। उसे केवल धार्मिक व्यक्तियों की ही सहानुभूति नहीं मिली, उन व्यक्तियों की भी सहानुभूति मिली जिन्हें लोग धार्मिक नहीं कहते। डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने कहा–'पिछले कई वर्षों से अणुव्रत आंदोलन के साथ मेरा परिचय है। मैंने प्रारंभ से ही इसका स्वागत किया। अपने विचार बतलाये। आज तक जो काम हुआ है, वह प्रशंसनीय है। इस आंदोलन के नियमों के पालन से हम दूसरों की ही भलाई नहीं करते, अपनी भी भलाई करते हैं, अपने को भी शुद्ध करते हैं। संयम का जीवन सबसे अच्छा जीवन है। इसलिए मैं चाहता हूं कि सभी वर्गों में इसका प्रचार हो, सबको इस ओर प्रोत्साहन दिया जाए।'

यह सहानुभूति यद्यपि एक महान् व्यक्ति की थी फिर भी लोग विचित्र होते हैं और विचित्र होते हैं उनके दृष्टिकोण। राजेन्द्र बाबू धार्मिक व्यक्ति थे इसलिए आंदोलन के प्रति सहानुभूति रखें, यह आश्चर्य की बात नहीं। वे इस दिशा में पण्डित जवाहरलाल नेहरू की सहानुभूति को अधिक महत्त्व देते थे। उनकी दृष्टि में नेहरू धार्मिक व्यक्ति नहीं थे। किन्तु एक दिन जनता ने उन्हें भी धार्मिक बनते देखा जब उन्होंने कहा–'हमें अपने देश का मकान बनाना है तो उसकी बुनियाद गहरी होनी चाहिए। बुनियाद यदि रेत की होगी तो पानी आते ही रेत बह जाएगी, मकान भी ढह जाएगा। गहरी बुनियाद चरित्र की होती है। देश में बड़े-बड़े काम करने हैं। उसके लिए मजबूत दिल, दिमाग और अपने को काबू में रखने की शक्ति चाहिए। ये बातें हमें सीखनी हैं। इन सबकी बुनियाद चरित्र है। कितना अच्छा काम अणुव्रत आंदोलन में हो रहा है। मैंने विचारा–इस काम की जितनी तरक्की हो, उतना ही अच्छा है। मैं चाहता हूं अणुव्रत आंदोलन का जो काम हो रहा है वह पूरी तरह से सफल हो।'

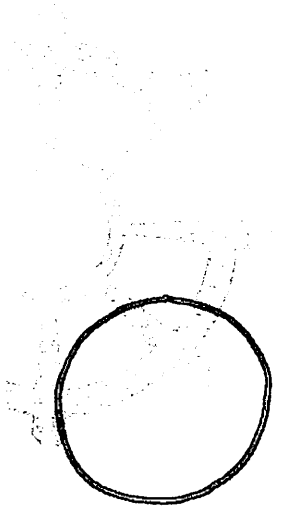

राजनीति का युग है। प्रत्येक वस्तु को उसी के रंग में रंग कर देखा जाता है।

डॉ. राजेन्द्रप्रसाद और नेहरू कांग्रेस के स्तम्भ थे। डॉ. राममनोहर लोहिया प्रभृति कुछ व्यक्तियों को यह अनुभव भी हुआ कि आचार्यश्री कांग्रेस राज्य की नींव गहरी कर रहे हैं।

एन. सी. चटर्जी ने भी यही आक्षेप किया था कि आपके द्वारा कांग्रेस की दुर्बलता को पोषण मिल रहा है।

आचार्यश्री ने कहा–'मैं किसी भी राजनीतिक दल से संबंधित नहीं हूं और कोई दल ऐसा नहीं है जिससे मैं संबंधित नहीं हूं। इसलिए मैं नहीं मानता कि मैं किसी की दुर्बलता को समर्थन दे रहा हूं। मैं अणुव्रत आंदोलन को किसी एक राजनीतिक दल का बनाना नहीं चाहता। इसलिए मैं मानता हूं कि सब दलों के लोग अणुव्रत आंदोलन में रस लेते हैं।'

१५ मार्च, १९६०। कोलकाता में एक परिषद् में जयप्रकाशनारायण ने अणुव्रत के प्रति अपनी सेवाएं समर्पित कीं। उन्होंने कहा–'आज की वैज्ञानिक प्रगति के प्रादुर्भाव के साथ-साथ धर्म के संबंध में अनेक भ्रांतियां उत्पन्न हुई हैं। यह मानव के लिए एक चुनौती है जिसने मानव समाज को सर्वनाश के कगार पर ला खड़ा किया है। इसके उत्तर में आवश्यकता इस बात की है कि धर्म और आध्यात्मिकता, जो मानव जीवन से बिछुड़ गए हैं, उन्हें जीवन में उतारने का प्रयत्न किया जाए। इससे विज्ञान का विनाशकारी रूप भी कल्याणकारी बन जाएगा। मानव-धर्म संकुचित नहीं, वह तो सभी धर्मों का निचोड़ और सार्वभौम धर्म है जो सभी के लिए एक-सा कल्याणकारी है। आज उस धर्म की आवश्यकता नहीं है जिससे वैयक्तिक मोक्ष की प्राप्ति होती है। वैयक्तिक साधना में रत अनेक सन्त आज भी खोह, कन्दराओं में मिलेंगे, पर जिससे समस्त मानव समाज की उन्नति और मुक्ति नहीं होती, वह धर्म मानव-धर्म नहीं हो सकता। आज के युग में महात्मा गांधी और शताब्दियों पूर्व भगवान् महावीर और बुद्ध ने इसी प्रकार मानव समाज को उन्नत करने के लिए अध्यात्म-पथ का प्रदर्शन किया था। आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत आंदोलन तथा विनोबा का सर्वोदय भी वैयक्तिक शांति के साथ-साथ कोलाहलपूर्ण मानव समाज को उन्नत करने का आध्यात्मिक आंदोलन है। यह एक शोधकार्य है जिससे लोगों के दैनिक व्यवहार में नैतिक मूल्यों को स्थान मिले और इसीलिए ही इसमें मेरी अभिरुचि है तथा इसीलिए मैं अपनी सेवाएं अर्पित करता हूं।'

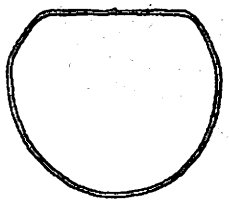

धर्मचक्र का प्रवर्तन

सर्वोदय और अणुव्रत का कार्य परस्पर सहयोग के साथ चले, इसकी अपेक्षा अनुभव की जा रही थी। आचार्य विनोबा ने अनेक बार कहा–'अणुव्रत के पास संन्यासियों की शक्ति है, सर्वोदय के पास कार्यकर्ताओं की शक्ति है। इन दोनों शक्तियों का योग हो जाए तो अच्छा कार्य हो सकता है।' आचार्यश्री गोपुरी पधारे। उस समय विनोबाजी से काफी लंबा वार्तालाप हुआ। उसके आधार पर संयुक्त वक्तव्य तैयार किया गया–

'अणुव्रत आंदोलन एवं सर्वोदय आंदोलन मानव की नैतिक पृष्ठभूमि को सुदृढ़ बनाने एवं उसके सर्वतोमुखी विकास एवं स्वस्थ राष्ट्र-निर्माण के लिए सतत प्रयत्नशील है। इस दिशा में दोनों आंदोलनों में अनेक सेवक व कार्यकर्ता देशभर में काम कर रहे हैं। कार्य की दृष्टि से दोनों की अपनी-अपनी सीमाएं हैं। ऐसा होते हुए भी दोनों आंदोलन एक-दूसरे के सहयोगी व पूरक के रूप में काम कर सकते हैं और इससे काम को अधिक शक्ति व गति मिल सकती है। अतः हमारा निवेदन है कि अणुव्रत आंदोलन के कार्यकर्ता ग्रामदान के विचार को जन-साधारण में समझाने का प्रयत्न करें तो सर्वोदय के कार्यकर्ता अणुव्रतों को जीवन में अपनाएं।'

'दोनों आंदोलनों के कार्यकर्ताओं के निम्नलिखित समान (कॉमन) कार्यक्रम रहे–

१. शासनमुक्त समाज-रचना के विचार को जनसाधारण में समझाएं।

२. बढ़ती हुई आबादी की रोकथाम के लिए ब्रह्मचर्य के पालन पर बल दें, कृत्रिम उपायों पर नहीं।

३. चुनाव-शुद्धि के लिए दलगत राजनीति को प्रश्रय व प्रोत्साहन न देने और चरित्र को महत्त्व देने के लिए लोकमत को शिक्षित करें।

४. समाज व सरकार में व्याप्त बुराइयों का ओजस्वी भाषा में प्रतिवाद करें।

अणुव्रत व सर्वोदय दोनों आंदोलनों के कार्यकर्ताओं के समय-समय पर संयुक्त शिविर आयोजित हों, जिनमें परस्पर विचार-विमर्श किया जाए।'

अणुव्रत आंदोलन इसलिए बहुत सहयोग पा सका कि उसके कार्यकर्ता आर्थिक सहयोग के लिए सरकार की ओर कभी नहीं झुके।

उत्तरप्रदेश विधानसभा में जब विधायक सुगनचंदजी द्वारा एक संकल्प, जिस पर २७ विधायकों के हस्ताक्षर थे, प्रस्तुत किया गया–'यह सदन निश्चय करता है कि उत्तरप्रदेश सरकार देश में आचार्यश्री तुलसी द्वारा चलाए गए अणुव्रत आंदोलन में यथोचित सहयोग तथा सहायता दे', तब कुछ विधायकों को ऐसा सन्देह हुआ था।

विधायक श्री ललताप्रसाद सोनकर ने उसका निरसन करते हुए कहा–'यह प्रस्ताव सरकार से धन की मांग नहीं करता और न किसी अन्य वस्तु की मांग करता है। यह प्रस्ताव सरकार से यही चाहता है कि उसके शासन में सुधार हो।'

विधायक श्री शिवनारायण ने कहा–'सरकार से सहयोग का मतलब यह है कि सरकार की सहानुभूति हो जाए। आज हर एक आदमी सहयोग का नारा लगा रहा है। सहयोग का मतलब यह है कि नीचे से लेकर ऊपर तक सभी इस काम में जुट जाएं। आचार्यश्री तुलसी हमारे समाज को चिराग की तरह प्रेरणा दे रहे हैं। समाज को सदैव कोई न कोई प्रेरणा देने वाला चाहिए। महात्मा गांधी के बाद आज कोई ऐसा नहीं दिखाई देता जो हमें इस प्रकार की शिक्षा देता हो। मैं माननीय मंत्रीजी से निवेदन करता हूं कि प्रारम्भिक शिक्षा की पुस्तकों में अहिंसा की छोटी-छोटी बातें होनी चाहिए। प्रस्ताव के द्वारा मैं यह मांग करना चाहता हूं। पैसे की कमी नहीं है मान्यवर! पैसा कौन मांगता है?'

इस चर्चा से स्पष्ट है कि अणुव्रत आंदोलन के समर्थक आर्थिक सहयोग के लिए कभी भी राज्य सरकारों की ओर नहीं झुके। उन्होंने सबका सहयोग चाहा और यही चाहा कि चरित्र-विकास का प्रश्न सर्वसाधारण का प्रश्न है इसलिए इसमें सब सहयोग दें, स्वयं अणुव्रतों को निभायें, दूसरों को अणुव्रत निभाने की प्रेरणा दें और ऐसा वातावरण उत्पन्न करें जिससे चरित्र-विकास सहज हो जाए।

जनसाधारण की भांति राज्य सरकारों का भी यह कर्तव्य है कि वे नैतिक विकास में अपना योग दें। समय-समय पर उन्होंने इस कर्तव्य का निर्वाह किया है। बिहार, बंगाल, यू.पी., राजस्थान, उड़ीसा, मैसूर आदि अनेक राज्यों ने आंदोलन के उन्नयन के लिए प्रयत्न किए और शिक्षा संस्थानों को अणुव्रतों से परिचित होने के निर्देश दिए।

विधायक श्री सक्तूमल ने इसी आशय को स्पष्ट करते हुए कहा था–'इस प्रस्ताव के साथ न पूरी सहानुभूति ही रखते हुए बल्कि इस प्रस्ताव का पूरा समर्थन करते हुए प्रस्तावक महोदय को इसके लिए धन्यवाद और बधाई देता हूं और यह प्रार्थना करना चाहता हूं कि माननीय प्रस्तावक महोदय इसके लिए जोर न दें कि यह प्रस्ताव के रूप में स्वीकार हो। बल्कि वह इसी हद तक संतोष कर लें कि चरित्र-निर्माण और इस अणुव्रत आंदोलन के लिए लोग अपने-अपने भाव प्रकट करें और हम इस प्रकार के कानून बनायें जिससे कार्यरूप में यह आंदोलन सफल हो।

संकल्प के प्रस्तोता श्री सुगनचंद ने अपने संकल्प का स्पष्टीकरण करते हुए कहा–

'आदरणीय अध्यक्ष महोदय! मुझे बहुत बड़ी प्रसन्नता है कि इस सदन के सभी सदस्यों ने अणुव्रत आंदोलन की प्रशंसा की है। इस सदन के सभी सदस्यों का यह विचार दिखाई दे रहा है कि यह आंदोलन

बहुत महत्त्वपूर्ण है और यह सफल होना चाहिए। मैं ऐसा समझता हूं कि इस सदन का अणुव्रत आंदोलन पर विचार करना बहुत भारी गौरव की बात है। जिन हमारे १५ सदस्यों ने इस पर विचार प्रकट किये हैं और माननीय मंत्रीजी ने विचार प्रकट किये हैं, मैं उन सबका विशेष रूप से आभारी हूं। कुछ शंकाएं भी तीन सदस्यों के द्वारा आईं। मैं उनका उत्तर नहीं देना चाहता, क्योंकि श्री राजारामजी शास्त्री ने बहुत सुंदर उत्तर दे दिया है और बाद में हमारे मंत्रीजी श्री लक्ष्मीरमण आचार्य ने उन सभी शंकाओं का बहुत उचित उत्तर दिया है।

एक बात मैं साफ कहना चाहता हूं कि इस आंदोलन को चलाने के लिए कोई आर्थिक मांग नहीं है और न कोई कानून बनवाने की गरज से यह प्रस्ताव रखा गया है जिससे जबरदस्ती इसको चलवाया जाए। यह भी मैं बता देना चाहता हूं कि इसके प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी को शायद पता भी न हो कि उत्तर प्रदेश की कोई लेजिस्लेचर बॉडी इस पर विचार कर रही है। उनकी तरफ से कोई प्रयास भी नहीं था। यह प्रस्ताव सदस्यों की ओर से था और २८ सदस्यों ने इसको यहां पर रखा था और जहां तक मुझे जानकारी है इतनी बड़ी संख्या में इस सदन के सदस्यों ने मिलकर कोई संकल्प यहां पर नहीं रखा है। इसमें संदेह नहीं है कि प्रस्ताव महत्त्वपूर्ण है और इससे लाभ ही हुआ है। मेरी यह जिद नहीं है कि इसको यहां पर पास कराया जाये। मैं समझता हूं कि मेरा जो मकसद था, वह पूरा हो जाता है इस पर विचार होने से और साथ ही जितने सदस्य हैं, जिम्मेवार व्यक्ति हैं, जिनका जनता से संपर्क है, वह इस आंदोलन को सफल बनाने के लिए अपने क्षेत्रों में काम कर सकते हैं और इस तरह से नैतिक चरित्र को ऊंचा उठाने में सहयोग हो सकता है। यदि हम विद्यार्थियों के चरित्र को ऊंचा उठाना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि अध्यापकों का नैतिक स्तर ऊंचा हो। यदि बच्चों में नैतिकता लानी है तो माता-पिता को अपना नैतिक स्तर ऊंचा उठाना होगा। अगर किसी विभाग के कर्मचारियों को नैतिक बनाना चाहते हैं तो उसके उच्च अधिकारी को नैतिक बनना पड़ेगा। इस तरह से सर्वसाधारण को नैतिक बनाने के लिए यदि जिम्मेदार व्यक्ति इस आंदोलन की जानकारी रखेंगे, इस पर विचार करेंगे और इसे सफल बनाने का प्रयत्न करेंगे तो उचित बात है। मैं ऐसा समझता हूं कि सभी बुराइयों का उन्मूलन तभी हो सकता है जब सारे वातावरण में नैतिकता के प्रति उत्साह भरा हो। ऐसा करने के लिए इस प्रकार के प्रस्ताव पर विचार करना आवश्यक था। मैं माननीय मंत्रीजी का आभारी हूं कि उन्होंने स्पष्ट शब्दों में बताया कि सरकार इस आंदोलन का समर्थन करती है और करती रहेगी। मैं इन शब्दों के बाद इस संकल्प को वापस लेता हूं।'[1]

३० जनवरी, १९६८ को राजस्थान विधानसभा में विधायक श्री प्रेमसिंह संघवी, श्री महेन्द्रसिंह और श्री आदित्येन्द्रजी द्वारा एक गैर सरकारी प्रस्ताव रखा गया। प्रस्ताव की भाषा इस प्रकार है–'सदन यह निश्चय करता है कि आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत अभियान को समर्थन दिया जाए और उसे एक राष्ट्रीय नैतिक आंदोलन के रूप में स्वीकार किया जाए।' प्रस्ताव की बहस में भाग लेते हुए राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया ने कहा–'मैं व्यक्तिशः यह समझता हूं कि जो आंदोलन अणुव्रत आंदोलन के नाम से चलाया जा रहा है, उस आंदोलन का मैं पूरी तरह से समर्थक हूं। यह आंदोलन देश को शुभ रास्ते पर ले जाने के लिए अच्छा है। इस पर देश के किसी भी समाज के व्यक्ति

१. उत्तरप्रदेश विधानसभा में अणुव्रत-प्रस्ताव (दिनांक १७,२६,२७ फरवरी, सन् १९५९)।

का मतभेद नहीं हो सकता, चाहे वह किसी भी धर्म को मानने वाला हो। इसके अन्दर यह बात कही गई है कि रिश्वतखोरी न हो, कालाबाजारी न हो। एक दूसरे के प्रति अविश्वास की भावना न हो, यह बात भी इसके अन्दर कही गई है। जो सबके भले की चीज कही जाए वह चीज कुछ महत्त्व रखती है। इन महत्त्व रखने वाली बातों की तरफ इसमें संकेत किया गया है। इस प्रस्ताव के बारे में, भावना के बारे में किसी का विरोध नहीं हो सकता।

सदन में जो बहस हुई उसको गौर से सुना। इस प्रस्ताव को भी मैंने देखा है। इस प्रस्ताव को देखने के बाद मैं, अध्यक्ष महोदय! ऐसा अनुभव करता हूं जो विचार अलग-अलग व्यक्तियों की तरफ से आए आज इस पवित्र दिन पर, महात्मा गांधी के निर्वाण का दिवस है, इस प्रकार की चर्चा होना एक प्रकार से अच्छी बात है।'

लंबी बहस के बाद मुख्यमंत्री मोहनलाल सुखाड़िया द्वारा संशोधित प्रस्ताव स्वीकार किया गया–'सदन यह निश्चय करता है कि आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत अभियान की यह सराहना करता है।'

राजस्थान सरकार ने भी इस आंदोलन को पूर्ण सहयोग प्रदान करने के लिए नवम्बर, १९६८ में अपने गजट में एक आज्ञा जारी की थी–

'देश में इस समय एक अणुव्रत नामक आंदोलन जारी है, जिसका उद्देश्य चारित्रिक पतन को रोकना तथा समाज के सभी वर्गों में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करना है। इसका लक्ष्य जाति, वर्ण, देश और धर्म का भेदभाव न रखते हुए मनुष्य मात्र को आत्मसंयम की ओर प्रेरित करना तथा अहिंसा और विश्वशांति की भावना का प्रसार करना है।

अणुव्रत आंदोलन के उपर्युक्त उद्देश्यों को देखते हुए समस्त विभागीय अध्यक्षों, आयुक्तों तथा जिलाधीशों से अनुरोध है कि वे अणुव्रत आंदोलन के कार्यकर्ताओं को समस्त राज्य में पूर्ण सहयोग प्रदान करें।'[1]

ह. गोपालकृष्ण भनोत

उप सचिव

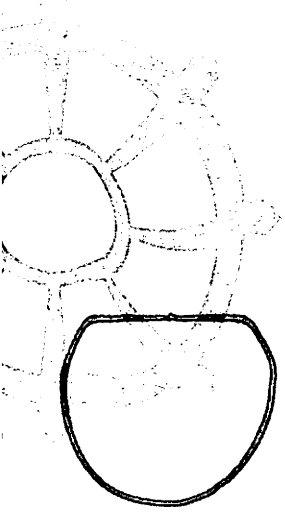

अणुव्रत आंदोलन के आयाम

आंदोलन की विविध प्रवृत्तियों के परिचालन के लिए अणुव्रत समिति की स्थापना हुई। उसने 'अणुव्रत' पाक्षिक पत्र का प्रकाशन शुरू किया। अणुव्रत विचार-परिषद् के आयोजन किये। आंदोलन को व्यापक बनाने के प्रयत्न किये। किंतु वे पर्याप्त थे, यह नहीं कहा जा सकता। आदर्श साहित्य संघ के प्रयत्न भी बहुमुखी थे। छगनलालजी शास्त्री प्रायः आचार्यश्री की यात्रा में साथ रहते थे। वे लोगों से संपर्क कर आंदोलन की भूमिका तैयार करने में संलग्न रहते थे। साहित्य का वितरण भी करते। किंतु जितना संपर्क हुआ, लोग आंदोलन से जितने आकृष्ट हुए, आचार्यश्री के व्यक्तित्व ने जो जादू का सा असर किया, उसका लाभ नहीं उठाया गया। व्यक्तियों को संगठित नहीं किया गया। कार्यकर्ताओं को कार्य में नहीं लगाया गया। स्थिति यह बनी कि जहां-जहां आचार्यश्री गए, वहां-वहां एक बार सुर सरिता की धार-सी

१. राजस्थान विधानसभा की कार्यवाही का वृत्तांत (द्वितीय सत्र-१९६८)।

बह गई। पर पीछे से उसे स्थायित्व देने वाला कोई नहीं रहा। परिणाम यह हुआ कि प्रयत्न अधिक हुआ, फल कम। जनता की यह शिकायत सदा रही कि आप आते हैं तब कार्यकर्ताओं, प्रचारकों की बाढ़-सी आ जाती है। आप दूसरी जगह चले जाते हैं, फिर कोई नहीं दीखता, इससे कार्य आगे नहीं बढ़ता। यदि आंदोलन कुछ लगनशील और आचारनिष्ठ व्यक्तियों को तैयार कर पाता तो उसकी गति और अधिक त्वरित होती।

अणुव्रत की बहुमुखी प्रवृत्तियों के संचालन में सुगनचंद आंचलिया, जयचंदलाल दफ्तरी, देवेन्द्र कुमार कर्णावट, हणूतमल सुराणा आदि कार्यकर्ताओं ने अत्यंत समर्पित भाव से कार्य किया। गोपीनाथ अमन, जैनेन्द्र कुमार, यशपाल जैन, श्रीमन्नारायण अग्रवाल, मदालसा बहिन व सत्यदेव विद्यालंकार ने अणुव्रत की प्रारंभिक अवस्था में जो योग दिया वह अविस्मरणीय है।

अणुव्रत की रचनात्मक प्रवृत्तियों को बल देने के लिए अणुव्रत न्यास और अणुव्रत विहार की स्थापना हुई। उसमें समाज-भूषण प्रभुदयाल डाबड़ीवाला ने प्रमुखतया कार्य किया। समाज के अनेक श्रावकों के अतिरिक्त साहू शांतिप्रसाद जैन का भी उसमें सक्रिय योग रहा। अणुव्रत न्यास के द्वारा दिल्ली में अध्यात्म साधना केन्द्र की स्थापना की गई।

अणुव्रत समिति के अध्यक्ष और प्रमुख कार्यकर्ता के रूप में श्री रविशंकर महाराज, श्री जयसुखलाल हाथी, डॉ. आत्माराम, श्री जैनेन्द्रकुमार, श्री देवीलाल सामर, श्री एल. ओ. जोशी आदि अनेक व्यक्तियों ने अपनी महत्त्वपूर्ण सेवाएं दीं।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

जयाचार्य निर्वाण शताब्दी (सन् १९८९) के अवसर पर 'जय तुलसी फाउंडेशन' के द्वारा प्रति-वर्ष एक लाख रुपये का अणुव्रत पुरस्कार दिये जाने का निर्णय लिया गया। अहमदाबाद में गांधीजी के साबरमती आश्रम में अणुव्रत की एक नई प्रवृत्ति–'अहिंसा सार्वभौम' की स्थापना की गई। इस प्रकार अणुव्रत के चरण उत्तरोत्तर गतिशील बने।

आचार्यश्री और उनके सहयोगियों को यह कल्पना नहीं थी कि अणुव्रत आंदोलन का इतना स्वागत होगा और वह इतना व्यापक होगा। आरंभ में उनकी कल्पना यही थी कि जो लोग हमारे संपर्क में हैं, उनका दृष्टिकोण बदले। वे धर्म को केवल उपासना का तत्त्व न मानें, उसे चरित्र-शुद्धि के रूप में स्वीकार करें। धार्मिक का जीवन कितना अनुकरणीय होता है, इसका उदाहरण प्रस्तुत करें। यह विचार एक-दो वर्ष तक मन को आंदोलित करता रहा। कभी-कभी आपस में इसकी चर्चा भी चल पड़ती। आखिर वि. सं. २००५ (ई. सन् १९४९) में वह पक गया। वर्तमान की बुराइयों और उनके अंत के लिए व्रतों की सूची बनाई गई। आचार्यश्री ने उसे देखा। फिर कल्पना हुई कि इसे और विकसित किया जाए। चिन्तन आगे बढ़ता गया। बुराइयों का संकलन और व्रतों की सूची बनती गई। आखिर एक रूपरेखा स्थिर हुई और सरदारशहर में २ मार्च, १९४९ को आचार्यश्री ने अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया। इससे पूर्व प्रायोगिक रूप में नव-सूत्री और तेरह-सूत्री योजना का प्रसार किया जा चुका था। उन्हें लगभग पचीस हजार व्यक्ति स्वीकार कर चुके थे। उसे अणुव्रत आंदोलन की पीठिका कहा जा सकता है।

अणुव्रत के आधार पर 'अणुव्रत शिक्षक संसद' और 'संसदीय अणुव्रत मंच' की स्थापना हुई। 'अणुव्रत शिक्षक संसद' द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में जीवन विज्ञान का कार्य किया जा रहा है। 'संसदीय अणुव्रत मंच' के द्वारा समय-समय पर राष्ट्रीय चरित्र-विकास के प्रति ध्यानाकर्षण किया गया।

आचार्यश्री दिल्ली में थे। संसदीय अणुव्रत मंच के द्वारा पार्लियामेंट सौंधकक्ष (नं. १३९) में 'राष्ट्रीय चरित्र निर्माण में सांसदों की भूमिका' विषय पर एक संगोष्ठी आयोजित की गई। उसमें संसद सदस्यों तथा मंत्रियों ने भाग लिया।

संसदीय अणुव्रत मंच के अध्यक्ष आरिफ बेग, विदेश मंत्री अटलबिहारी वाजपेयी, डॉ. कर्णसिंह, आवास एवं निर्माण मंत्री सिकंदर बख्त, गृह राज्यमंत्री धनिकलाल मंडल, मुख्य कार्यकारी पार्षद केदारनाथ साहनी, सी. सुब्रह्मण्यम् और लोकसभा के अध्यक्ष के. एस. हेगड़े ने अपने विचार प्रस्तुत किये। अंत में आचार्यश्री ने अपने संबोधन में नया चिन्तन प्रस्तुत किया। आपने कहा–'कोई कलक्टर बने, प्रिंसिपल बने, लेखापाल बने, पुलिस अधिकारी बने, उन सबके लिए निश्चित मानदंड हैं, परीक्षाएं हैं, आचार संहिताएं हैं पर संसद सदस्य और मंत्री बनने के लिए क्या योग्यता की कसौटी आवश्यक नहीं? केवल शास्त्रों को कसौटी नहीं माना जा सकता। राष्ट्र के भाग्य की डोर जिनके हाथ में होती है, उनमें बौद्धिक और चारित्रिक या नैतिक योग्यता विशिष्ट होनी ही चाहिए।' इस चिन्तन ने संसद सदस्यों का ध्यान आकृष्ट किया परन्तु अभी तक उसको कोई आकार नहीं मिल पाया है।

वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में धर्म का प्रयोग

१. जातिवाद और धर्म

धर्मचक्र का प्रवर्तन

भगवान् महावीर ने कहा–धर्म शाश्वत है। कौन-सा धर्म शाश्वत है? इस जिज्ञासा के उत्तर में कहा– शाश्वत धर्म है अहिंसा और अपरिग्रह। जो शाश्वत है वह नया नहीं हो सकता। नया होता है उसका प्रयोग, जो समस्या के संदर्भ में किया जाता है। आचार्यश्री ने समस्या के संदर्भ में धर्म का प्रयोग किया, इसलिए जनता को उसकी व्यापक शक्ति का अनुभव हुआ।

जातिवाद और रंगभेद एक गंभीर समस्या है। भारतीय मानस जातिवाद की समस्या से आक्रांत है। पाश्चात्य मानस में रंगभेद की जड़ें जमी हुई हैं। हीनता की भित्ति पर अपनी उच्चता स्थापित करने में अहंकार को तृप्ति मिलती है। यह अहंकार मानवीय प्रवृत्तियों की एक सशक्त प्रेरणा है। जातिवाद के विषय में आचार्यश्री की धारणाओं में क्रमिक विकास हुआ। आचार्य-जीवन के पहले दशक में इस विषय में कोई चिन्तन नहीं था। दूसरे दशक के प्रारंभ में इस दिशा में नया आलोक मिला। काल-परिपाक के साथ वह आलोक घनीभूत होकर प्रयोग की भूमिका पर उतर आया।

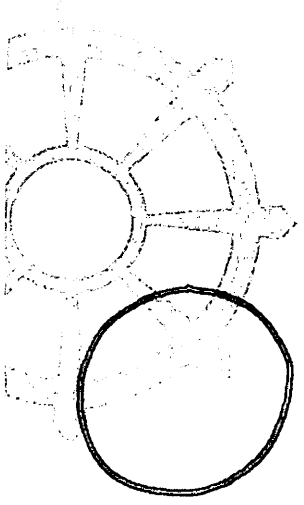

वि. सं. २००२ (ई. १९४६) में मैंने एक पुस्तक लिखी। उसका नाम रखा–'आंखें खोलो।' उसके पांच अध्याय थे। उनमें एक अध्याय था 'जातिवाद'। भगवान् महावीर ने जातिवाद को अतात्त्विक माना, उसका खंडन किया, शताब्दियों तक वही अभिमत रहा। किन्तु इन पांच-सात शताब्दियों में जैन जगत् में भी जातिवाद ने अपनी जड़ें जमा लीं। उसके प्रति जो विद्रोह का स्वर था, वह दब गया। जातिवाद के संस्कार रूढ हो गए।

मैंने वह पुस्तक आचार्यश्री को दिखाई। तीन अध्याय निस्संकोच भाव से सुनाए। जातिवाद का अध्याय दिखाते हुए तनिक संकोच हुआ। मैंने निवेदन किया–'यह अध्याय मैंने लिखा तो है, पर कैसे रहेगा?'

आचार्यश्री–'क्यों?'

मैं–'जन-साधारण में चर्चा होगी।'

आचार्यश्री–'बात सही है, तब चर्चा से भय क्यों?'

अभय की एक किरण मिली और सारा वातावरण जगमगा उठा। अब जातिवाद की खुली आलोचना करना एक साधारण कार्य हो गया।

जातिवाद तात्त्विक नहीं है, यह अवधारणा जैन विद्या के अध्ययन से मिली। जातिवाद तात्त्विक है, यह जैन समाज के व्यवहार से फलित हो रहा था। इस दोहरी नीति को समाप्त करने का प्रयत्न शुरू किया गया। आचार्यश्री स्वयं हरिजनों की बस्तियों में गए, साधु-साध्वियों को भेजा। हरिजन भी प्रवचन पंडाल में आने लगे। उनके सम्मेलन किए गए, जिनमें हजारों हरिजनों ने भाग लिया। इस कार्य में समाज का विरोध भी सहना पड़ा। हरिजनों के संस्कार-निर्माण के लिए अनेक प्रयत्न किए गए। इस प्रवृत्ति को विकासशील बनाने में 'भारतीय संस्कार-निर्माण समिति' गठित की गई। उसके माध्यम से अनेक हरिजन-शिविर आयोजित हुए। उनमें आहार-शुद्धि, व्यसन-मुक्ति, हीनभावना का परित्याग आदि विषयों का हरिजनों को प्रशिक्षण दिया गया। अणुव्रत की आचार-संहिता में भी जातीय एकता की दृष्टि से एक व्रत रखा गया–

(क) मैं मानवीय एकता में विश्वास रखूंगा।

(ख) मैं वर्ण, जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को अस्पृश्य नहीं मानूंगा, ऊंच-नीच नहीं मानूंगा।

वाराणसी का प्रसंग है। आचार्यश्री जातिवाद की अतात्त्विकता समझा रहे थे। उसका अध्ययन कर हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने कहा–'सबके प्रति आत्म-समभाव–यह संत का लक्षण है।' आपने अपने पहले प्रवचन में कहा–'जातिवाद की तात्त्विकता का स्वीकार मनुष्य के लिए लज्जा की बात है। हम शूद्रों के घरों से भी भिक्षा लेते हैं–ये शब्द संत के हृदय से ही उद्भूत हो सकते हैं।' जो समाज स्वयं उठने के लिए तैयार नहीं होता, उसे भगवान् भी नहीं उठा सकता। इस सचाई को सामने रखकर आचार्यश्री ने हरिजनों की आचार-शुद्धि पर विशेष ध्यान दिया। हरिजन बस्तियों में साधुओं को भेजकर व्याख्यान करवाये। अनेक बार आपने स्वयं उनके बीच व्याख्यान किये। उनमें बड़ी श्रद्धा जाग उठी। आपने उनसे कहा–'आपमें जो स्वयं को हीन समझने की भावना घर कर गई, यही आपके लिए अभिशाप है। जहां एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के लिए अस्पृश्य या घृणा का पात्र माना जाये, वहां मानवता का नाश है। आप अपनी आदतों को बदलें। मद्य-मांस आदि बुरी वृत्तियों को छोड़ दें। जीवन में सात्त्विकता लाएं। फिर आपकी पावन वृत्तियों को कोई भी पतित या दलित कहने का दुस्साहस नहीं करेगा।'

१६ दिसम्बर, १९५६ की दुपहरी का समय। आचार्यश्री ने हरिजनों की समस्या पर अपने विचार प्रस्तुत किए। उन्होंने कहा–'आज नई दिल्ली के वाल्मीकि मंदिर में आप लोगों के बीच मैं पहली बार ही आया हूं। वैसे मैं बहुत स्थानों पर हरिजनों के बीच जाता रहा हूं। वहां केवल मैं देता ही देता नहीं हूं, लेता भी हूं। देता तो मैं उपदेश हूं और लेता उनसे भेंट हूं। पर मैं रुपयों और फूल-फलों की भेंट नहीं लेता। मुझे त्याग की भेंट चाहिए। आज ही लोकसभा के अध्यक्ष अनंतशयनम् अय्यंगार आए तो उन्होंने मुझे फल भेंट करने चाहे। मैंने कहा–मुझे भक्ति और त्याग की भेंट चाहिए।'

आचार्यश्री ने कहा–'छुआछूत की धारणा मानसिक हिंसा है। यह हिंसा समाज का विघटन कर रही है। इस विघटनकारी तत्त्व को समाप्त करना बहुत जरूरी है। मुझे यह जानकर अति आश्चर्य हुआ कि हरिजनों

में भी आपस में छुआछूत चल रहा है। जब आप भी इस बीमारी से पीड़ित हैं, तब हम दूसरों से क्या कहें? आप इस धारणा को अपने मन से निकालें। इस मिथ्या धारणा को छोड़कर ही आप बड़े बन सकते हैं। अपना बड़प्पन अपने हाथ है। आप किसी को छोटा नहीं मानते हैं तो आप स्वयं ही बड़े बन जाते हैं।'

प्रत्येक नई प्रवृत्ति का आरंभ संघर्ष के साथ होता है। जातिवाद के प्रति आचार्यश्री ने नया दृष्टिकोण अपनाया, वह तत्काल हृदयंगम नहीं हुआ। अनेक साधु-साध्वियों को भी उसे समझने में कठिनाई हुई। आचार्यश्री की डायरी का एक पृष्ठ इसका साक्ष्य है–'मेरे दिल में यह बड़ी तड़प है कि तेरापंथ का सार्वजनिक रूप से प्रसार हो–सभी जातियों और सभी वर्गों में एक रूप से प्रसार हो। यह कब संपन्न हो, मैं नहीं कह सकता? इस कार्य में समूचा साधु-समाज लगे तो यह काम बहुत आसानी से हो सकता है। साधु-साध्वियों के कुछ सिंघाड़े तो अच्छा काम करने योग्य हैं और करते भी हैं। पर कुछेक जो पुराने विचारों के हैं उनके दिमाग में यह बात घुसी हुई है कि ओसवालों, अग्रवालों व पोरवालों के सिवा हमारा धर्म टिकाऊ नहीं होता। मैं समझता हूं यह एक भ्रम है। धर्म सब जातियों में टिक सकता है, यदि उचित प्रयत्न हो तो। व्यक्तिगत योग्यता का अंतर अवश्य रहता है।

मेरी दृष्टि में जैन धर्म के ह्रास के अन्यान्य कारणों में एक कारण यह भी है कि उसे जाति में बांध दिया गया। मेरा हृदय कह रहा है, 'धर्म को ज्यादा से ज्यादा व्यापक बनाना चाहिए, पर समूचे संघ में इस भावना को भरने में मैं सफल नहीं हुआ हूं। हो सकता है मेरी भावना में इतनी मजबूती न हो या अन्य कोई कारण हो? पर धर्म व्यापक होना चाहिए, जाति के बंधन से मुक्त होना चाहिए। इसकी अच्छाई में मुझे रत्ती-भर भी संदेह नहीं है।'[1]

२. चुनाव और धर्म

चुनाव जनतंत्र की जीवनी-शक्ति है। वह राष्ट्रीय चरित्र का प्रतिबिम्ब है। चरित्र-शुद्धि के अभाव में चुनाव-शुद्धि की अपेक्षा नहीं की जा सकती। २२ दिसम्बर, १९५९ का दिन। कांस्टीट्यूशन क्लब, कर्जन रोड, नई दिल्ली। अखिल भारतीय राजनीतिक दलों के नेताओं की परिषद् का आयोजन। आयोजक अणुव्रत समिति। सन्निधि आचार्यश्री तुलसी की। उसमें भाग ले रहे थे, चुनाव मुख्यायुक्त श्री सुकुमार सेन, कांग्रेस अध्यक्ष श्री यू. एन. ढेबर, साम्यवादी नेता श्री ए. के. गोपालन, प्रजा समाजवादी नेता आचार्य जे. बी. कृपलानी आदि।

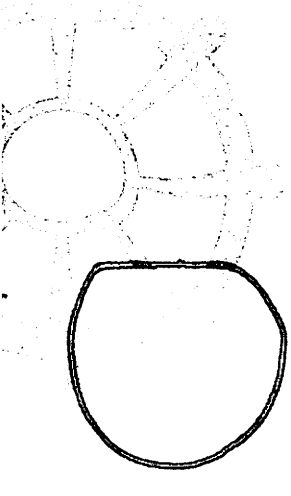

आचार्यश्री ने अपने आदि-वचन में कहा–'यदि चुनाव में अनैतिक आचरण हो तो उससे फलित होने वाला जनतंत्र पवित्र नहीं हो सकता। अणुव्रत आंदोलन का लक्ष्य है नैतिकता या चरित्र की प्रतिष्ठा। चुनाव में भी नैतिकता को बल मिले, इस उद्देश्य से आज की परिषद् आयोजित है। किसी राजनीतिक दल या पक्ष से हमारा संबंध नहीं है।' आदि-वचन के अनंतर आचार्यश्री ने चुनाव की आचार-संहिता सबके सामने रखी।[2]

---

१. विक्रम संवत् २००९, चैत्र कृष्णा १०, उदासर।

२. **उम्मीदवारों के लिए नियम**

(१) रुपये-पैसे व अन्य प्रलोभन देकर मत-ग्रहण नहीं करूंगा।

(२) किसी दल व उम्मीदवार के प्रति मिथ्या, अश्लील व भद्दा प्रचार नहीं करूंगा।

चुनाव मुख्यायुक्त श्री सुकुमार सेन ने कहा–'मुझे बहुत प्रसन्नता है कि इस परिषद् में सब राजनीतिक दलों के नेता सम्मिलित हुए हैं। चुनाव में हमारे देश के वे आदर्श प्रतिबिम्बित हैं, जिन्हें हम सदियों से मानते आ रहे हैं।' उन्होंने आचार्यश्री से निवेदन किया कि मतदाता की आचार-संहिता में दो व्रत और जोड़े जाएं–

१. मैं वोट अपने अंतर्मन की आवाज के अनुसार दूंगा, देश के लाभ को सोचते हुए दूंगा।

२. मैं उस उम्मीदवार को वोट नहीं दूंगा, जो उम्मीदवार की आचार-संहिता के लिए कृतसंकल्प नहीं है।'

कांग्रेस अध्यक्ष श्री ढेबर ने साध्य-शुद्धि के साथ साधन-शुद्धि में भी विश्वास व्यक्त किया और विश्वास दिलाया कि हमारा दल इस कार्य में पूरा सहयोग करेगा। साम्यवादी नेता श्री गोपालन संकल्प की भाषा में बोले–'यदि मैं अपनी पार्टी की ओर से चुनाव लड़ूंगा तो इन नियमों के पालन की प्रतिज्ञा करता हूं। मेरी पार्टी में इस आचार-संहिता के प्रतिकूल कोई व्यवहार देखेंगे, तो हम उसे रोकने का प्रयत्न करेंगे।' श्री गोपालन ने सुझाव दिया–'चुनाव अधिकारियों के लिए भी आचार-संहिता होनी चाहिए, जैसे–मैं चुनाव कार्य में सचाई व नैतिकता का व्यवहार करूंगा।'

आचार्य कृपलानी ने आचार-संहिता का स्वागत किया तथा अपनी ओर से एक सुझाव भी प्रस्तुत किया। उम्मीदवार और मतदाता के लिए जैसे आचार-संहिता है, वैसे ही दल की कार्यकारिणी के सदस्यों तथा मंत्रियों के लिए भी आचार-संहिता होनी चाहिए। हम जातीयता व साम्प्रदायिकता के आधार पर टिकट नहीं देंगे तथा चुनाव में सरकारी साधनों का उपयोग नहीं करेंगे। परिषद् में प्राप्त सुझावों को जोड़कर आचार-संहिता का समर्थन किया गया।[1] इस आचार-संहिता ने सबका ध्यान आकर्षित किया।

(३) धमकी व अन्य हिंसात्मक प्रभाव से किसी को मतदान के लिए प्रभावित नहीं करूंगा।
(४) मतगणना में पर्चियां हेर-फेर करवाने का प्रयत्न नहीं करूंगा।
(५) प्रतिपक्षी उम्मीदवार और उसके मतदाताओं को प्रलोभन व भय आदि दिखाकर तथा शराब आदि पिलाकर तटस्थ करने का प्रयत्न नहीं करूंगा।
(६) दूसरे उम्मीदवार या दल से अर्थ प्राप्त करने के लिए उम्मीदवार नहीं बनूंगा।
(७) सेवा भाव से रहित केवल व्यवसाय बुद्धि से उम्मीदवार नहीं बनूंगा।
(८) अनुचित व अवैध उपायों से पार्टी टिकट लेने का प्रयत्न नहीं करूंगा।

मतदाता और समर्थक के लिए नियम

(१) रुपये-पैसे आदि लेकर या लेने का ठहराव कर मतदान नहीं करूंगा और न करवाऊंगा।
(२) किसी उम्मीदवार या दल को झूठा भरोसा न दूंगा और न दिलाऊंगा।
(३) जाली नाम से मतदान नहीं करूंगा।
(४) अपने पक्ष या विपक्ष के किसी उम्मीदवार का अच्छा या बुरा, असत्य प्रचार न करूंगा और न करवाऊंगा।

१. परिष्कृत आचार-संहिता पूरे राष्ट्र में प्रसारित की गई। इसका स्वरूप इस प्रकार है–

उम्मीदवारों के लिए नियम

(१) रुपये-पैसे व अन्य प्रलोभन देकर मत ग्रहण नहीं करूंगा।
(२) किसी दल व उम्मीदवार के प्रति मिथ्या, अश्लील व भद्दा प्रचार नहीं करूंगा।
(३) धमकी व अन्य हिंसात्मक प्रभाव से किसी को मतदान के लिए प्रभावित नहीं करूंगा।
(४) मतगणना में पर्चियां हेर-फेर करवाने का प्रयत्न नहीं करूंगा।
(५) प्रतिपक्षी उम्मीदवार और उसके मतदाताओं को प्रलोभन व भय आदि दिखाकर तथा शराब आदि पिलाकर तटस्थ करने का प्रयत्न नहीं करूंगा।

सत्ता और संपत्ति के प्रति जितना आकर्षण है, उतना नैतिकता के प्रति नहीं है। इसलिए इस आचार-संहिता का अनुपालन नहीं हुआ। फिर भी इस प्रयत्न का अपना मूल्य है। धर्म के मंच से जनतंत्र की एक जटिल समस्या का समाधान प्रस्तुत करना अपने आपमें एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

३. व्यापार और धर्म

आचार्यश्री ने कोलकाता प्रवास के पहले प्रवचन में कहा–'मैं कोलकाता देखने नहीं आया हूं, भूमि या अर्थ की याचना करने नहीं आया हूं। आप लोगों से बुराइयों की भिक्षा मांगने आया हूं।' जनता ने इस भावना को बड़े आश्चर्य के साथ सुना। आचार्यश्री ने चरित्र-विकास के लिए त्रि-सूत्री योजना प्रस्तुत की–१. मिलावट निषेध २. रिश्वत निषेध ३. मद्य निषेध।

औद्योगिक और व्यावसायिक नगरी ने इस योजना का हृदय से स्वागत किया। १५ मार्च, १९६० को महाजाति सदन में खाद्यमंत्री प्रफुल्लचन्द्र सेन ने एक कार्यक्रम आयोजित किया। उसमें श्री जयप्रकाश नारायण उपस्थित थे। उन्होंने जनता से अनुरोध किया–'कोलकाता के लोग उद्योग व व्यवसाय के क्षेत्र में कोई ठोस कदम उठाएं। बंगाल ने सदा से देश का नेतृत्व किया है। नैतिक क्रांति का भी वह नेतृत्व करे।'

मुनि राकेशजी ने व्यवसाय-शुद्धि क्षेत्र में काफी कार्य किया। दिल्ली आदि अनेक नगरों में व्यापार-शुद्धि के लिए अभियान चलाए। बड़ी संख्या में व्यापारियों ने अणुव्रत के अनुसार व्यापार चलाने का संकल्प किया।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

अणुव्रत की विचारक्रांति के स्वर जन-जन के कानों में गूंज उठे–'धर्मस्थान में जाकर पवित्र बन जाना धर्म की कसौटी नहीं है। उसकी कसौटी है दुकान में बैठकर पवित्र रहना। आचार्यश्री ने धर्म की प्रतिमा धर्म-स्थान से हटाकर दुकान में प्रतिष्ठित करने का दिशा-दर्शन दिया, यह धर्मक्रांति की एक महत्त्वपूर्ण घटना है।'

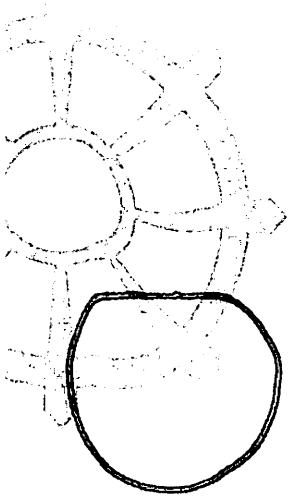

→

(६) दूसरे उम्मीदवार या दल से अर्थ प्राप्त करने के लिए उम्मीदवार नहीं बनूंगा।
(७) सेवा भाव से रहित केवल व्यवसाय बुद्धि से उम्मीदवार नहीं बनूंगा।
(८) अनुचित व अवैध उपायों से पार्टी टिकट लेने का प्रयत्न नहीं करूंगा।
(९) अपने अभिकर्ता (एजेंट), समर्थक और कार्यकर्ता को इन व्रतों की भावनाओं का उल्लंघन करने की अनुमति नहीं दूंगा।

मतदाताओं के लिए नियम

(१) रुपये-पैसे आदि लेकर या लेने का ठहराव कर मतदान नहीं करूंगा।
(२) किसी उम्मीदवार या दल को झूठा भरोसा नहीं दूंगा।
(३) जाली नाम से मतदान नहीं करूंगा।

समर्थकों के लिए नियम

(१) अपने पक्ष या विपक्ष के किसी उम्मीदवार का असत्य प्रचार नहीं करूंगा।
(२) अनैतिक उपक्रमों से दूसरे की सभा को भंग करने का प्रयत्न नहीं करूंगा।
(३) उम्मीदवार संबंधी सारे नियमों का पालन करूंगा।

चुनाव-अधिकारियों के लिए नियम

(१) अपने कर्तव्य-पालन में पक्षपात, प्रलोभन व अन्याय को प्रश्रय नहीं दूंगा।

सत्तारूढ उम्मीदवारों के लिए नियम

(१) राजकीय साधनों तथा अधिकारों का अवैध उपयोग नहीं करूंगा।

४. राजतंत्र और धर्म

राज्य का तंत्र पूरे राष्ट्र की आत्मा को प्रभावित करता है। पुराना सूक्त है–'यथा राजा तथा प्रजा।' नया सूक्त होगा–'जैसा राज्यतंत्र वैसा जनतंत्र।' राज्यतंत्र के कर्मी उसी समाज के अंग हैं, जिसमें व्यापारी, किसान और मजदूर जीते हैं। इसलिए राज्यकर्मियों का चरित्र शेष समाज से भिन्न होगा। अणुव्रत ने इस क्षेत्र में भी अपना कार्य प्रारंभ किया। प्रामाणिकता और रिश्वत-निषेध के लिए संकल्प-शक्ति के प्रयोग प्रस्तुत किये।

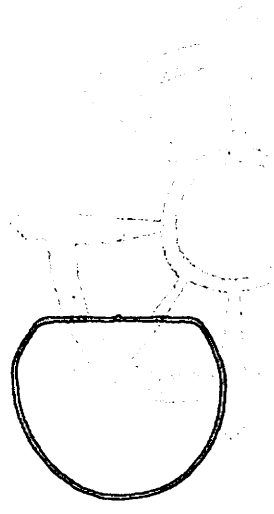

धर्मचक्र का प्रवर्तन

नारी जागरण

नारी का अतीत पुरुष के पदचाप से आशंकित रहा है। उसकी कोमलता और समर्पण के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार नहीं किया गया। फलतः अज्ञान के अंधकार में डूबी नारी रूढिवाद की प्रतीक बन गई। परदा, अशिक्षा और रूढधारणाओं ने उसे और पीछे ढकेल दिया। इन दो शताब्दियों में सारे विश्व में नारी के प्रति नए दृष्टिकोण का निर्माण हुआ है। पश्चिम में नारी स्वातंत्र्य का आंदोलन चल रहा है। हिन्दुस्तान में भी स्त्री-शिक्षा का विकास हो रहा है। यह आवाज बल पकड़ रही है कि महिलाओं को भी पुरुषों के बराबर अधिकार मिले। इस मांग के विपरीत आचार्यश्री ने सुझाया–'बहिनों को पुरुषों की बराबरी या उनसे आगे बढ़ने की बात छोड़ देनी चाहिए। पुरुष ऐसे क्या आगे बढ़ गए हैं? उन्होंने कौन-सी ऐसी प्रगति की है जिसकी बराबरी की जाए? पुरुष बहुत बातों में स्त्रियों से पिछड़े हुए हैं। वे स्त्रियों के लिए आदर्श नहीं हैं। आदर्श है आचार। बहिनों का लक्ष्य पुरुषों की बराबरी करना न हो। वे स्वतंत्र रूप में अपना विकास करने की बात सोचें।'[१]

आचार्यश्री की सन्निधि में सैकड़ों-सैकड़ों महिला सम्मेलन आयोजित हुए। उनसे महिलाओं को काफी अच्छा प्रशिक्षण मिला। समय-समय पर मिलने वाले मार्गदर्शन से चिन्तन का विकास हुआ और जीवन की प्रणाली भी बदली। १८ दिसम्बर, १९५६ को दिल्ली प्रदेश कांग्रेस महिला समाज की ओर से एक कार्यक्रम आयोजित हुआ। उसमें आचार्यश्री ने कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों पर चर्चा की। एक स्त्री के बदलने का अर्थ है पूरे परिवार का जीवन-परिवर्तन। स्त्री-विकास के प्रति ध्यान देना विकास की गति को बल देना है।

मैंने कुछ लोगों से पूछा–'आप व्यापार में अनैतिक आचरण क्यों करते हैं?' उत्तर मिला–'हम क्या करें, हमें स्त्रियां तंग करती हैं। उनकी फैशनेबुल कपड़ों और गहनों की मांग पूरी करने के लिए अनैतिक होना पड़ता है।' इस उत्तर में बहाना हो सकता है। पर क्या स्त्रियों को इस पर आत्मालोचन नहीं करना है? दहेज प्रथा क्या नारी जाति के लिए कलंक नहीं है? इस प्रथा में स्त्रियां सहभागी न बनें तो यह कलंक अपने आप धुल जाए।' आचार्यश्री के इन संकेतों ने स्त्री-मानस को बहुत झकझोरा। उसमें नई स्फूर्ति और नई चेतना जागी। नारी जागरण का कार्यक्रम अणुव्रत आंदोलन के साथ-साथ प्रारंभ हो गया।

स्थान-स्थान पर महिला मंडलों का गठन हुआ और उनकी स्वतंत्र प्रवृत्तियां चलने लगीं। संवत् २०२३ (सन् १९६६) में अखिल भारतीय महिला मंडल की स्थापना हो गई। उसके बाद स्थानीय महिला

१. प्रवचन डायरी, सन् १९५३, पृ. १२०।

मंडल के अंतर्गत 'कन्या मंडल' और 'युवती मंडल' भी गठित होते गए। शिक्षा, संस्कार, साहस, वक्तृत्व आदि अनेक विषयों में उनकी उल्लेखनीय प्रगति हुई।

परदा

आज समाज में अनेक रूढियां हैं। वे सदा होती हैं। रूढि का अर्थ बुराई नहीं है। जो परम्परा स्थिर हो जाती है, उसी का नाम है रूढि। समाज के लिए परिवर्तन और स्थिति–दोनों अपेक्षित होते हैं। किन्तु जो स्थिति देश-काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तित होनी चाहिए, वह नहीं होती, तब वह कुरूढि हो जाती है। समाज में अनेक कुरूढियां भी रही हैं।

परदा प्रथा के विषय में आचार्यश्री ने काल-क्रम के अनुसार विभिन्न दृष्टिकोण उपस्थित किए। आचार्यश्री ने कहा–'मैं इस विवाद में नहीं पड़ता कि आप परदा रखें या न रखें। यह अपनी-अपनी इच्छा पर निर्भर है, पर इसके गुण-दोषों को बताना मेरा काम है।'

परदा रखने का आखिर उद्देश्य क्या है? यही न कि उससे लज्जा की सुरक्षा हो, पर लज्जा तो आंखों में रहती है।

डायरी का एक पृष्ठ है–'आज अणुव्रत-गोष्ठी थी। बहिनों की ओर से यह प्रश्न आया–'परदा हमें अच्छा नहीं लगता, पर करें क्या? अब यह प्रश्न बार-बार सामने आता है, मुझे तो यह आवरण अच्छा नहीं लगता, पर सदियों की कमजोरी, पुरुषों की ज्यादती और वातावरण की निगूढ़ता ने पुरुषों को जकड़ रखा है। बिना तीव्र प्रयत्न के यह हट नहीं सकता। एक ओर अणुव्रत-क्रांति और दूसरी ओर यह बहिनों की कैद–बहुत बड़ी विषमता है। मेरी भावना है कि अब इस प्रथा को जल्दी समाप्त किया जाए।' यह चिन्तन कोलकाता में सक्रिय बना। बहुत स्पष्ट विचार प्रकट किये जाने लगे। आचार्यश्री ने वहां लिखा था–

'आज सवेरे प्रवचन पंडाल में ओसवाल नवयुवक समिति द्वारा आयोजित एक कार्यक्रम में प्रवचन हुआ। विषय था 'दहेज और परदा-निवारण'। दहेज के बारे में तो अणुव्रत आंदोलन का नियम है ही, पर परदा भी अब समाज में एक बुराई के रूप में है। अतः उसके बारे में भी प्रकाश डालना जरूरी हो गया।

मुझे तो बहिनों का यह परदा सचमुच विकास का अवरोधक, कायरता का पोषक और संकीर्णता का परिचायक लगता है। यह अज्ञान का द्योतक है। समाज में बहिनें जब तक इस बंधन से मुक्त नहीं होंगी तब तक हमारा काम अधूरा है। हां, यह जरूर है कि एक गढ़े से निकलकर दूसरे में गिरना उचित नहीं है। परदे को छोड़कर विलास में फंसना ठीक नहीं है।'[1]

नया मोड़

अणुव्रत तब तक जीवन का स्पर्श नहीं करते जब तक उनकी भूमिका नहीं बन जाती। लोक-जीवन रूढियों से इतना जकड़ा हुआ है कि उन्हें तोड़ फेंके बिना उसमें नए बीज पनप ही नहीं सकते। नया मोड़ का कार्यक्रम इसी चिन्तन का परिणाम है।

संवत् २०१७ (सन् १९६०) राजसमंद में चातुर्मास। तेरापंथ द्विशताब्दी का अवसर। आचार्यश्री ने उस समय समाज को 'नया मोड़' का कार्यक्रम दिया। समाज में प्रचलित कुप्रथाओं के उन्मूलन में इस

१. १५-८-१९५९, कोलकाता।

कार्यक्रम का बहुत बड़ा हाथ रहा। परदा, मृत्युभोज, प्रथारूप से रोना, विधवाओं के काले वस्त्र और उनका तिरस्कार, विवाह आदि प्रसंगों पर होने वाले बृहत् भोज, आडम्बर, दहेज, ठहराव और प्रदर्शन, तपस्या के उपलक्ष्य में होने वाले आडम्बर आदि विषयों पर एक समाजव्यापी अभियान चलाया गया। उसमें कुप्रथाओं से होने वाली तथा धार्मिक जीवन में उत्पन्न होने वाली समस्याओं के प्रति ध्यान आकर्षित किया गया। एक दशक में ही इस कार्यक्रम के काफी अच्छे परिणाम सामने आने लगे।

इसी का अगला चरण था–'जैन संस्कार विधि', जो जन्म, विवाह, मृत्यु आदि के प्रसंग पर उभरी हुई वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में व्यवस्थित रूप से काम कर रही है।

आचार्यश्री का मानस क्रांत भी था और शांत भी, गतिशील भी था और रूढ भी। वे जीवन की बड़ी बातों की चर्चा करते, वहीं उसके लघुतम को भी छूते थे। कुछ लोग कहते–आचार्यश्री को सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों, समस्याओं और परिस्थितियों पर अपना अभिमत व्यक्त नहीं करना चाहिए। आचार्यश्री का अभिमत इससे भिन्न था। वे कहते–'मैं हिंसा और असंयम का विरोध करता हूं, अहिंसा और संयम का समर्थन करता हूं। इनसे स्पृष्ट जितने प्रश्न हैं, समस्याएं हैं, परिस्थितियां हैं उन सबके विषय में मैं अपना अभिमत प्रकट कर सकता हूं।' सामाजिक रूढियों, राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं, जाति और भाषा, मत-विवादों तथा जीवन व्यवहारों पर आचार्यश्री ने जो विचार व्यक्त किए, उन्होंने जन-मानस में संचार पाया। विचार आचार में परिणत हुआ। यह इसलिए हुआ कि आचार्यश्री व्यक्ति-सुधार में विश्वास करते थे। अहिंसा और संयम में विश्वास करते थे। संयम की उर्वरा में जो विचार-बीज फूटते हैं वे अंकुरित होते हैं, पुष्पित और पल्लवित होते हैं।

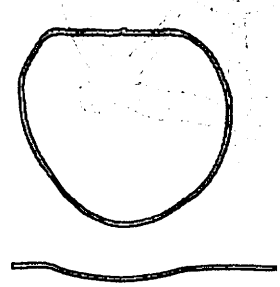

धर्मचक्र का प्रवर्तन

अणुव्रत की पृष्ठभूमि

राजस्थान के सीमावर्ती गांवों में आचार्यश्री ने लोगों से पूछा–'भाई, तुम्हारे यहां खेती कैसी होती है?'

उत्तर मिला–'बाबा! अच्छी होती है।'

आचार्यश्री ने कहा–'फिर तुम्हारे कपड़े फटे हुए और मकान टूटे हुए क्यों?'

एक साथ कई बोल पड़े–'बाबा! हमें तो मोसर खा जाता है। उसमें दो-तीन-चार हजार रुपये लग जाते हैं।'

आचार्यश्री ने कहा–'क्या वह करना जरूरी है?'

'हां, बाबा! वह तो करना ही पड़ता है। कोई नहीं करे तो लोग कहते हैं–यह तो घर में बैठा रोटी खा रहा है और इसका दादा मसान में पड़ा सड़ रहा है। और भी न जाने क्या-क्या कहा जाता है। इसलिए मोसर तो करना ही होता है।'

एक ओर मैं यह संवाद सुन रहा था, दूसरी ओर सोच रहा था कि गरीबी दुःख है और उस दुःख को पैदा करने वाला स्वयं मनुष्य है। जिनके पास भूमि नहीं है, जीवन-निर्वाह का कोई साधन नहीं है, इसलिए वे दुःखी हैं–यह एक प्रकार की समस्या है। किन्तु जिनके पास भूमि है या जीवन-निर्वाह का साधन है, फिर भी वे दुःखी हैं–यह दूसरे प्रकार की समस्या है। मार्क्स ने पहली समस्या को प्रधान मान समाज को पढ़ा और उसको पढ़ने का स्थान चुना–पुस्तकालय। आचार्यश्री ने दूसरी समस्या को प्रधान मान समाज का अध्ययन किया और उसे पढ़ने के लिए आचार्यश्री का अध्ययन-कक्ष बना–गांव और ग्रामीण जनता

से सीधा संपर्क। मार्क्स ने समाज-व्यवस्था के परिवर्तन का मूल अर्थ-व्यवस्था के परिवर्तन में ढूंढ़ा और आचार्यश्री ने समाज-व्यवस्था के परिवर्तन का मूल मनुष्य-स्वभाव के परिवर्तन में ढूंढ़ा। व्यवस्था को न वे शाश्वत मानते थे और न उसके परिवर्तन से उनका कोई विरोध था। पर उन्होंने दोनों में से अपना कार्य-क्षेत्र मानव-स्वभाव के परिवर्तन को चुना। अणुव्रत आंदोलन इसी धारणा का मूर्तरूप बना। उसका अध्ययन और परिवर्तन-क्रम इसी दिशा में गतिशील बना हुआ है।

जी. टी. रोड के पास लहलहाते खेत और कहीं-कहीं कटे हुए अनाज के ढिग–ढेर और अनाज भरे खलियानों को देखा, तो उसके पृष्ठ-भाग में ही फटेहाल लोगों और फूटी-टूटी दीवारों को देखा। यह विरोधाभास नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष विरोध था। पूछा तो तीन कारण और मिले–तम्बाकू, मदिरा और उन्माद। मादक वस्तुओं का सेवन उन्माद पैदा करता है। उन्मत्त व्यक्ति के लिए लड़ना-झगड़ना, मार-काट–ये बहुत सहज बन जाते हैं। सुना कि कस्बों में फौजदारी के सैकड़ों वकील हैं तो अचम्भा हुआ। पर वकालत कोई स्वयंभूत पेशा नहीं है। उसका मुख्य आधार लोगों का मानसिक असंतुलन है। मानसिक संतुलन यानी संयम बना रहे तो अपराध की स्थिति नहीं आती। फौजदारी के वकीलों की भरमार से जान पड़ा कि अपराध अधिक होते हैं। अपराध की जड़ में उन्माद और मादक वस्तुओं का सेवन छिपा था। हमने सोचा–इस अवांछनीय स्थिति का मूल कारण अज्ञान है। ज्ञान का विकास होने पर संभव है ये लोग उन्माद से बचें। पर खेद इस बात का है कि ज्ञान के क्षेत्र को भी स्वस्थ नहीं पाया। नगरों को देखा, स्कूलों, कॉलेजों में परीक्षाएं चल रही हैं। पुलिस पहरा दे रही है। आचार्यश्री ने कहा–'परीक्षार्थी के लिए निरीक्षक की नियुक्ति हो, वहां परीक्षार्थी को लज्जा की अनुभूति होनी चाहिए। उस स्थिति में पुलिस के संरक्षण में परीक्षाएं हों, यह विद्यार्थियों के लिए कितने अपमान का विषय है। अपमान करने वाला है कौन? क्या यह राज्य सरकार को अभिप्रेत है? कोई समझदार आदमी अपनी भावी पीढ़ी के साथ ऐसा करना चाहे, यह संभव नहीं लगता। यह अपमान स्वयं की प्रवृत्तियों का परिणाम है।'

उन्हीं दिनों समाचार-पत्रों में पढ़ा–'अन्नामलाई विश्वविद्यालय बंद कर दिया गया है।' अमुक जगह विद्यार्थियों ने यह किया, अमुक जगह वह किया तो लगा कि अपढ़ लोगों से पढ़ने वाले क्या भले हैं? उन्माद इनमें भी गहरा है। मानसिक असंतुलन भी वैसा ही है। अपढ़ लोगों में श्रद्धा का अंश तो बचा है। इन पढ़े-लिखे लोगों के तर्कवाद ने तो उसे भी धो डाला है। अज्ञान दुःख का मूल है, इसमें कोई संदेह नहीं, पर ज्ञान दुःख का मूल क्यों बन रहा है? यह प्रश्नचिह्न आज अधिक स्पष्ट है। ये परिस्थितियां अणुव्रत आंदोलन को प्रोत्साहित कर रही थीं। गांव-गांव के लोगों को कहते सुना–इस आंदोलन की बहुत बड़ी आवश्यकता है। आचार्यजी! इसका प्रचार बड़ी तत्परता से होना चाहिए। आपने इस पदार्थवादी युग में चरित्र-शुद्धि की प्रेरणा देकर सारे मानव समाज का कल्याण किया है।

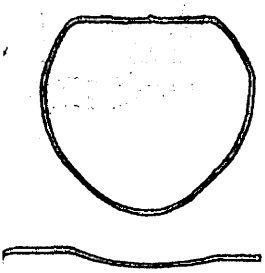

आचार्यश्री ने लोगों से पूछा–'क्या आप अणुव्रतों से सहमत हैं? यदि हैं तो क्या आप इन्हें अपने लिए उपयोगी मानते हैं? यदि मानते हैं तो क्या आप इन्हें स्वीकार करने की स्थिति में हैं? यदि हैं तो क्या आप अणुव्रती बनना चाहते हैं?'

क्षण-भर के लिए लोगों की भावनाएं आत्म-निरीक्षण में डुबकियां लेने लगीं और संभव है कि सभी ने अपनी-अपनी शक्ति को तौलने का प्रयत्न किया और इन प्रश्नों का अपने-आपमें उत्तर ढूंढ़ा। भौतिकता का आवरण बहुत गहरा है। आध्यात्मिकता की नोक से वह एक बार में हिल जाए, यह सरल नहीं। पर सतत

प्रयत्न रहे तो वह अवश्य ही क्षीण बनता है। कमी है प्रयत्न करने वालों की। लोग इस ओर से निराश हुए बैठे थे। नैतिकता में बहुतों की निष्ठा थी। वे उसका प्रसार और विकास भी चाहते थे किन्तु उन्हें इस दिशा में कोई नेतृत्व नहीं मिल रहा था। हमने जो देखा और सुना, उसका सार यही था कि अनैतिकता से संतुष्ट कोई नहीं है। जो लोग अधिक अनैतिक हैं वे भी अनैतिकता से असंतुष्ट हैं। वे स्वयं अनैतिक व्यवहार करते हैं तब असंतोष नहीं मानते, किन्तु यह तो संक्रामक बीमारी है। दूसरी ओर से अनैतिक व्यवहार मिलता, तब वे खीज उठते और अणुव्रत आंदोलन को वे भी आवश्यक बतलाते। हजारों, लाखों व्यक्तियों से यही सुना–आंदोलन बहुत आवश्यक है, यह युग की मांग है। इस समय ऐसे आंदोलन न चलें तो भारत की आत्मा मर जाएगी। आचार्यश्री ने बार-बार यही कहा–'मौखिक समर्थन तो खूब मिल रहा है पर मुझे क्रियात्मक सहयोग चाहिए। प्रशंसा खूब मिल रही है पर मैं उसका करूं क्या? उसको कहां रखूं?' आचार्यश्री की भावना रही कि नैतिकता का स्तर व्यापक रूप से उठे। जन-मानस यह था कि परिस्थितियां बदले बिना यह संभव नहीं है। गरीबी है, बेकारी है, और भी बहुत कुछ है। इन स्थितियों में कोई नैतिक कैसे बने? गरीबी और नैतिकता में विरोध तो नहीं है। यह विरोध धारणा का था। धनपति केवल धन के पीछे पड़े हुए थे। वे सब ओर से प्राथमिकता पा रहे थे। गरीबों की भी धारणा उभर आई। वे भी वैसा ही चाहने लगे। कृत्रिम आवश्यकताओं ने उनके सामने भी जीवन की समस्याएं पैदा कीं। अधिकार की भावना जाग उठी। वे समाज के वर्तमान रूप को बदलना चाहते थे। धनी लोग चाहते थे कि वह न बदले। रस्साकशी लगभग सभी जगह देखने को मिली। धनी लोगों की धारणा थी कि गरीबों के भाग्य में ऐसा ही लिखा है। गरीबों की धारणा थी कि इनका वैभव हमारी मूर्खता पर पला है। इस जागरण की वेला में हम इसे पलट देंगे। पहले कर्मवाद की भ्रांत धारणाएं व्याप्त थीं। अब उनमें परिमार्जन हो चुका था। आचार्यश्री ने अनेक बार यह आश्चर्य प्रकट किया कि धनी सही स्थिति का अध्ययन क्यों नहीं करते? अभी स्थिति को थोड़े-से यत्न से ठीक किया जा सकता है। प्रमाद से संभव है वह जटिल बन जाए। क्रूरता को पनपने का अवसर न दिया जाए, यही अच्छा है।

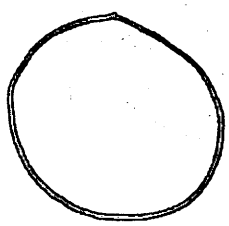

मिलन और विचार-विनिमय

जलाशय चार प्रकार के होते हैं–

१. कुछ जलाशयों में जल आता भी है और बाहर जाता भी है।

२. कुछ जलाशयों में से जल बाहर जाता है, आता नहीं।

३. कुछ जलाशयों में जल आता है, जाता नहीं।

४. कुछ जलाशयों में जल न आता है और न जाता है।

आचार्यश्री प्रथम श्रेणी के जलाशय के समान थे। वे श्रुत लेते भी थे और देते भी थे।

'मैं देने ही नहीं आया हूं, लेने भी आया हूं' आचार्यश्री की यह वाणी परिषद् का हृदय जीत लेती। विनिमय में उनकी निश्चित आस्था रही। जो दे ही दे, वह खाली हो जाता है। जो ले ही ले, वह अजीर्ण-ग्रस्त हो जाता है। निरापद मार्ग यह है कि अपना दे और दूसरों का ले। इस विनिमय की भावना से उन्होंने बहुत पाया और बहुत दिया।

वे अपनी विशाल यात्रा में हजारों-हजारों व्यक्तियों से मिले। उन्होंने विभिन्न परिस्थितियों को देखा और नानाविध अनुभव संजोए। प्राचीन भाषा में इसीलिए देशाटन को चातुर्य का मूल कहा गया है।

आचार्यश्री के व्यक्तित्व में आकर्षण था। वह अनायास दूसरों को अपनी ओर खींच लेता था। आध्यात्मिक दृष्टि और उदार चिन्तन ने उसमें और अधिक आकर्षण भर दिया।

डॉ. सातकौड़ी मुखर्जी

कोलकाता विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डॉ. सातकौड़ी मुखर्जी सन् १९४९ में जयपुर आए। उन्होंने आचार्यश्री के उदीयमान व्यक्तित्व को उसी समय कल्पनाओं की रेखाओं में अंकित कर दिया। उन्होंने लिखा था–'विद्वानों तथा विद्वत्ता का पेशा अपनाए हुए व्यक्तियों की, जो पेशावी विद्या-बुद्धि का अत्यधिक गर्व किया करते हैं, कमजोरियों से मुक्त मैं अपने आपको नहीं मानता। पर मैंने उनकी उपस्थिति में पाया कि यह कमजोरी दब गई तथा मैंने अपने को उनके सम्मुख एक शिशु के रूप में अनुभव किया। मेरे मन पर यह प्रभाव पड़ा कि वे भ्रांत मानवता के मुक्तिदाता हैं।' पंडित सुखलालजी ने इसकी कटु आलोचना की। डॉ. मुखर्जी तक वह घटना पहुंची तो उन्होंने एक पत्र लिखा। उसमें लिखा था–'किसी व्यक्ति को ज्ञान का गर्व हो सकता है। वह कह भी सकता है कि आचार्य क्या जानते हैं? किन्तु मैं तो जब-जब आचार्यश्री के सान्निध्य में जाता हूं तब-तब मुझे बहुत शांति का अनुभव होता है और मैं वहां बहुत पाने की आशा से जाता हूं।'

शिवाजी भावे

आचार्यश्री सबको महत्त्व देते थे। वे किसी को हीन नहीं मानते थे इसलिए सहज ही उन्हें महत्त्व मिल जाता था। शिवाजी भावे से प्रथम-मिलन में ही इतना सहज सामीप्य हो गया कि वे आचार्यश्री और अपने बीच कोई दूरी का भाव नहीं रखते थे। एक बार उन्होंने लिखा था–'आपके समाचार 'अणुव्रत' और खासकर 'जैन भारती' में पढ़ता रहता हूं और बीच-बीच में तेरापंथी साधुओं का आपकी कृपा से सत्संग भी प्राप्त होता रहता है। अणुव्रत का कार्य तो अत्यावश्यक है ही लेकिन सत्य-ज्ञान के बिना वह असंभव है। इसी दृष्टि से तेरापंथी साधुओं का ज्ञान-कार्य भी मुझे बड़ा आकर्षक लगा है। अणुव्रत के लिए मैं स्थूल रूप से कुछ करूं, इसकी अपेक्षा मुझे ज्ञान-कार्य में अधिक रुचि है। इसमें रुचि होने से अधिक कार्य कर सकता हूं। जो मन में चीज है, वह स्पष्ट रूप से आपके सामने रखी है। आपका स्मरण हमेशा बना रहता है। आशा करता हूं कि मुलाकात का योग जब आएगा तब आपसे अधिक लाभान्वित हो सकूंगा।'

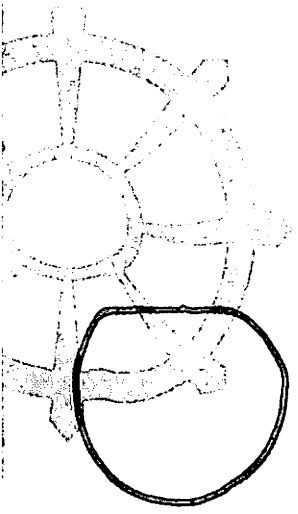

आचार्यश्री ने उन लोगों को भी अपनाया जो पहले विरोधी थे। वे निकट संपर्क में आ गए। कुछ लोग आलोचना करते थे, कुछ लोग नहीं करते थे पर आचार्यश्री दोनों श्रेणी के लोगों के साथ आत्मीयता का व्यवहार करते। वे आलोचना से चिढ़ते भी नहीं थे। उसे श्रद्धांजलि के रूप में ही स्वीकार करते थे। उन्होंने कई बार ऐसा सुझाव दिया था–'हमारे विषय में जो कोई आलोचना, आक्षेप या विरोधयुक्त साहित्य प्रकाशित होता है, उसका व्यवस्थित संग्रह होना चाहिए। वह भविष्य में बहुत उपयोगी होता है। भिक्षु स्वामी पर किसी व्यक्ति ने आरोप लगाए। उन्होंने सब लिख लिए। उन आरोपों की संख्या कोई डेढ़ सौ से अधिक है। आज वे हमारे लिए उपयोगी हैं। हमारे ऊपर लगाए जाने वाले आरोप भी आगे उपयोगी हो सकते हैं।'

फादर एच. विलियम्स

आचार्यश्री मुंबई में थे। एक दिन एक पादरी आये। उनका नाम था एच. विलियम्स। वे नेशनल चर्च के अध्यक्ष थे। आते ही बोले–'मैं आया नहीं हूं, आपने मुझे बुलाया है।'

आचार्यश्री–'सो कैसे?'

फादर–'मैं अपने चर्च में था, उस समय ३०-३५ आदमी आये। मैं उन्हें देखता रह गया। मैंने सोचा–ये किसलिए आये हैं? इतने में वे निकट आये और बोले–'हम आचार्यश्री तुलसी के शिष्य हैं। आपसे ईसाई धर्म के विषय में कुछ सुनने के लिए आये हैं।' मैं तो अवाक् रह गया। भला, ऐसा भी कोई धर्माचार्य हो सकता है जो अपने शिष्यों को दूसरों के पास भेजे और दूसरों का धर्म सुनने को प्रेरित करे। मैं तब से ही आपका हो गया हूं और खिंचा-खिंचा आपके पास आया हूं।' फादर विलियम्स ने अणुव्रती बनकर ही श्रद्धांजलि अर्पित की। उन्होंने अणुव्रत आंदोलन के प्रसार के लिए अनेक प्रयत्न भी किये।

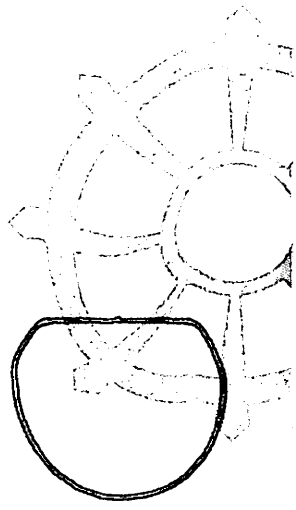

बेकनवान ब्लम्वर्ग

अमरीका के अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ और ईसाई धर्म के विद्वान् श्री बेकनवान ब्लम्वर्ग ने १४ सितम्बर, १९५४ को आचार्यश्री से भेंट की। अणुव्रत आंदोलन की जानकारी प्राप्त करके वे बोले–'मैं चाहता हूं कि मानव जाति के नैतिक उत्थान के उद्देश्य से चलने वाली इस योजना का पश्चिम में भी प्रसार हो। यह आंदोलन पश्चिम और पूरब का संतुलित समन्वय साधने का एक सुंदर उपक्रम है।'

आचार्यश्री ने सत्य को निश्छल भाव से पाने का यत्न किया इसलिए उनकी सन्निधि में वे सब लोग आते, जिनमें सत्य की थोड़ी भी जिज्ञासा होती। मुंबई में एक दिन आचार्यश्री के सान्निध्य में पूर्वी व पश्चिमी धर्म-चिन्तकों की एक गोष्ठी हुई। उसमें सम्प्रदाय आवृत हो रहे थे और सत्य अनावृत हो रहा था। मुझे लगा–आज आचार्यश्री को सही अर्थ में श्रद्धांजलि अर्पित हो रही है।' अमरीकी राजनीतिज्ञ श्री बेकनवान ब्लम्वर्ग ने कहा–'आत्म-तृप्ति की भूख सबमें है। वह तृप्ति भौतिक सुविधाओं से मिलने वाली नहीं है।'

ईसाई नेता श्री ब्राहमन ने कहा–'मैत्री भाव का विकास आवश्यक है।'

बाइबिल के विश्वविख्यात विद्वान् श्री बक्सटर ने कहा–'अध्यात्म शक्ति ही वह वस्तु है जो संघर्षों की भीषण आग को शांत कर सकती है।'

रामकृष्ण मिशन, मुंबई के अध्यक्ष स्वामी श्री संबुद्धानंदजी ने कहा–'किसी को मत सताओ, किसी की भावना को चोट मत पहुंचाओ। यह भारतीय चिन्तन का सार है।'

मुंबई जोराष्ट्रीयन जशन कमेटी के प्रमुख तथा पारसी धर्म के विद्वान् श्री दस्तूरीजी कैखुसरू ने कहा–'सच्चा वीर वह नहीं जो पाशविक बल से भूमि को रक्तरंजित बना दे। किन्तु सच्चा वीर वह है जो अपने आपको जीते।'

आर्य समाज के विद्वान् श्री विजयशंकर ने कहा–'सत्य ही धर्म है। जो सत्य नहीं है, वह धर्म भी नहीं है।'

संगोष्ठी में व्यक्त विचारों का समाहार करते हुए आचार्यश्री तुलसी ने कहा–'व्यक्ति के चिन्तन और वर्तन–दोनों में सचाई होनी चाहिए। सोचना कुछ, कहना कुछ तथा करना कुछ, यह अपने अंतरतम के प्रति विद्रोह है।' भगवान् महावीर ने कहा–'प्राणी तू ही अपने सुख-दुःख का कर्ता है। तू ही तेरा शत्रु है और तू ही तेरा मित्र है। अपने भाग्य की सृष्टि तेरे अपने हाथ में है।'

जगदीश काश्यप और हजारीप्रसाद द्विवेदी

आचार्यश्री बनारस में थे। बौद्ध भिक्षु जगदीश काश्यप से बातचीत हो रही थी। आचार्यश्री के आदेशानुसार मैं उन्हें निर्मीयमाण साहित्य से परिचित करा रहा था। पीछे से डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी भी आ गए। वे मूकभाव से सब सुनते रहे। जगदीशजी चले गए। द्विवेदीजी से बातचीत शुरू हुई। उन्होंने आरम्भ में ही कहा–'मैं आज तक आपको एक प्रचारक के रूप में ही जानता था। आज मैंने आपका जो निर्माणात्मक रूप देखा है उससे परिचित होता तो अवश्य ही मैं एक-दो सप्ताह लगा कर इन सारी कृतियों को देखता। किन्तु अब तो आप जा रहे हैं।'

शिवाजी भावे और तेरापंथ का तत्त्वज्ञान

आचार्यश्री धूलिया में थे। शिवाजी भावे मिले। एक रात आचार्यश्री उनके स्थान पर ही ठहरे। विविध बातें हुईं। अंत में उन्होंने कहा–'तेरापंथ के बारे में मुझे गलत बातें बताई गईं। यद्यपि मैंने उन पर कोई ध्यान नहीं दिया और मैं सुनी-सुनाई बात पर धारणा बनाता भी नहीं हूं। आज मुझे बहुत आनंद मिला। तेरापंथ बड़ा गंभीर तत्त्वज्ञान प्रस्तुत करता है। भिक्षु स्वामी ने सूत्र रूप में बड़ा गहरा तत्त्वज्ञान दिया है।'

हंस कोइस्टर

आचार्यश्री मुंबई में थे। वहां हंस कोइस्टर मिले। ये पहले भारत स्थित जर्मन दूतावास में कौंसल जनरल थे। उन्होंने आचार्यश्री से आत्मा की अमरता आदि विषयों पर वार्तालाप किया। कुछ दिनों बाद उन्होंने लिखा–'मुम्बई में आचार्यश्री से भेंट हुई, उसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूं। उनकी आध्यात्मिक महत्ता और विचारों की स्पष्टता से मैं बहुत अधिक प्रभावित हुआ हूं। बातचीत के प्रसंग में मैंने आत्मा, पुनर्जन्म और कर्म संबंधी प्रश्न पूछे। इन सत्यों से पाश्चात्य जगत् सर्वथा अनजान नहीं है। हां, वह इन सत्यों को अपने स्वतंत्र ढंग से सोचता है। उसने पूर्वीय सिद्धांतों की नकल नहीं की है। स्विट्जरलैंड के डॉ. सडोल्फ स्टीनर (जो अपने समय के एक महान् दार्शनिक थे और जो सन् १९२५ में दिवंगत हुए) डेनमार्क ने इसी सिद्धांत का अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'एंथ्रोप्रोसोफी' में बड़े विस्तार से वर्णन किया है। यह ग्रंथ स्विट्जरलैंड की 'मानवशास्त्रीय (एंथ्रोप्रोसोफिक) सोसाइटी' के द्वारा प्रकाशित भी हो चुका है।

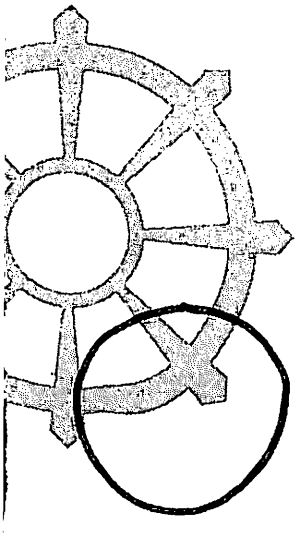

आचार्यश्री तुलसी ने कहा कि पुनर्जन्म के बिना मनुष्य की आत्मा का वर्णन नहीं हो सकता और आत्मा के बिना मनुष्य का वर्णन नहीं हो सकता। मेरे मत में जैन-धर्म और एंथ्रोप्रोसोफी के अनेक सिद्धांतों में अत्यधिक समानता है।

'जैन-धर्म' आजकल जो उन्नति कर रहा है, उसे जानकर मुझे बहुत खुशी हुई। तेरापंथी संप्रदाय को मानने वाले जिस पवित्रता से अपनी युवावस्था से ही जीवन व्यतीत करते हैं वह सचमुच ही स्तुत्य है। वे जानते हैं कि समाज का सुधार व्यक्ति के निजी जीवन को सुधारे बिना नहीं हो सकता। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत आंदोलन चलाया है। यह नैतिक आंदोलन प्रारंभ से ही बल पकड़ता जा रहा है। जनता के परम कल्याण के लिए यह और अधिक सफल हो, यही मेरी भावना है।'

नोरमन ब्राउन

अमेरिका स्थित पेंसलवानिया विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रोफेसर तथा साउथ एशिया स्टडीज के अध्यक्ष डॉ. डब्ल्यू. नोरमन ब्राउन आचार्यश्री के पास आए। उन्होंने कहा–'भारतवर्ष से मेरा संबंध बचपन

से है। मैं कई बार यहां आया हूं। मैंने शत्रुंजय गिरनार, बनारस, कोलकाता आदि की यात्राएं की हैं। आपके संपर्क में आने का मौका मिला, इसकी मुझे प्रसन्नता है।' वार्तालाप के प्रसंग में डॉ. ब्राउन ने पूछा–'जहां जैन नहीं हैं, वहां आपका प्रचार कैसे चलता है?'

आचार्यश्री–'जैन कोई जाति नहीं है। जो अपने आपको जीतना चाहते हैं वे सब जैन हैं। इसलिए हमारा क्षेत्र संकीर्ण नहीं है। जाति, समुदाय या वर्णभेद के आधार पर हम धर्म-पालन में भेद-रेखा नहीं खींचते।'

डॉ. ब्राउन–'मुझे लगा आप किसी सम्प्रदाय का प्रचार नहीं करते, धर्म के सत्य स्वरूप का प्रचार करते हैं, जैसा कि भगवान् महावीर आदि तीर्थंकर करते थे।'

आचार्यश्री–'आप सही कह रहे हैं। हमारा जैन धर्म किसी समुदाय में बद्ध नहीं है। वह आकाश की भांति मुक्त है। जहां-जहां आत्मा की शुद्धता है वहां सर्वत्र जैनत्व है।'

डॉ. ब्राउन ने प्राकृत में भाषण सुनने की प्रबल जिज्ञासा व्यक्त की। आचार्यश्री ने मुझे संकेत दिया और उनकी जिज्ञासा पूर्ण हुई।

आचार्यश्री जयपुर में थे। वहां चीन-भवन, शांति निकेतन के अध्यक्ष प्रो. तान-युन-शान आए। वे वापस चले गए। कुछ समय पश्चात् उन्होंने शांतिवादी सम्मेलन के सदस्यों को टी-पार्टी दी। तब वार्तालाप के क्रम में उन्होंने बताया–'हमारे यहां चार प्रकार के पुरुष माने गए हैं–

पहला–मन से भी शुद्ध और शरीर से भी शुद्ध।

दूसरा–मन से शुद्ध और शरीर से अशुद्ध।

तीसरा–मन से अशुद्ध और शरीर से शुद्ध।

चौथा–मन से भी अशुद्ध और शरीर से भी अशुद्ध।

हमने जयपुर में पहली श्रेणी के पुरुषों को देखा है।

आचार्य कृपलानी के साथ

उन दिनों (सन् १९४७) आचार्य कृपलानी कांग्रेस के अध्यक्ष थे। वे फतेहपुर (राज.) आये थे। आचार्यश्री उन दिनों रतनगढ़ में थे। कुछ लोगों ने चाहा कि वे आचार्यश्री से मिलें। उन्हें लाया गया। वे आकर बैठ गये। उनकी प्रकृति से आचार्यश्री परिचित नहीं थे और आचार्यश्री की प्रकृति को वे नहीं जानते थे। वार्ता का क्रम प्रारंभ हुआ तो उन्होंने कहा–'मैं सुनने नहीं आया हूं, सुनाने आया हूं।' आचार्यश्री ने कहा–'जो सुनाने आते हैं, वे सुनते भी हैं।' आचार्यश्री ने तेरापंथ का दृष्टिकोण बताया तो वे बोले–'मैं गांधीजी को गुरु मानकर चलता हूं। पिता और गुरु दो नहीं होते, फिर आप मुझे क्यों समझाने का यत्न करते हैं।' इस रूखे वातावरण में बातचीत समाप्त हुई।

इससे पहले जैनेन्द्रजी भी ऐसी ही अरुचि का परिचय दे चुके थे। उनकी भाषा में वह इस प्रकार है–'आचार्यश्री तुलसी जैन श्वेताम्बर तेरापंथी परम्परा के नवम पट्टधर आचार्य हैं। पहली भेंट में मैं व्यक्ति को नहीं पा सका, गुरु के ही दर्शन हुए। समय कम था और वह भेंट कुछ तेरापंथी भाइयों के आग्रह की पूर्ति के निमित्त से हुई थी। मैं बाहरी आदमी था और जिस पूजा और महिमा का वलय मैंने उनके चारों ओर पाया, वह मुझे अनपेक्षित लगा। इससे लौटा तो कुछ विशेष भाव मेरे साथ नहीं गया बल्कि कुछ अंतर रह

गया और अरुचि-सी हुई। मेरा मानना है कि आचार्यश्री तुलसी के व्यक्तित्व को पाने में यह साम्प्रदायिक वातावरण अंतराय बना रहता है। इससे जो उन्हें प्राप्य है, मिल नहीं पाता और हमें जो देय है, दे नहीं पाते।'

इन घटनाओं ने चिन्तन का अवसर दिया। आचार्यश्री ने कहा–'ऐसा क्यों होता है? यह भेद की खाई क्यों नहीं पटती? हम अहिंसा की शक्ति को विकसित करने के लिए विचार-संगम चाहते हैं। दूसरा कोई उद्देश्य नहीं है। फिर ऐसा क्यों होता है? अच्छे-अच्छे विचारक इस प्रकार की अरुचि क्यों दिखलाते हैं?' सतत चिन्तन के बाद यही मिला कि आज के बुद्धिवादी लोग साधु नाम से चिढ़ते हैं। सम्प्रदाय से अरुचि है। उनकी दृष्टि में साधु अंधविश्वास और अज्ञान का ही दूसरा पर्याय है। हम भी एक सम्प्रदाय के साधु हैं। हमारी अलग वेश-भूषा है इसलिए वे दूर से ही घबरा जाते हैं। हमें निकट से जानने का यत्न ही नहीं करते। एक बात यह है कि दूसरे लोग हमें श्रावकों के माध्यम से जानते हैं। उनके माध्यम से आते हैं और संभव है उन्हीं की तुला से हमें तौलते हैं। इस स्थिति को बदलने के लिए हमें श्रम करना होगा और बहुत सहना होगा।'

आचार्यश्री ने पहले उन श्रावकों को समझाया जो जन-सम्पर्क में रुचि रखते थे। उन्हें बताया–'यहां किसी व्यक्ति को लाने के लिए कोई आग्रह न किया जाए। तुम्हारा काम स्थिति से परिचित कराना है फिर वे आएं या न आएं, यह उन्हीं की जिज्ञासा पर निर्भर होना चाहिए।'

दूसरे चरण में आचार्यश्री ने सुझाया–'राजस्थान के संस्कारों में पले हुए व्यक्ति आचार्य के लिए 'अन्नदाता, अंतर्यामी, खमाघणी, हजूर साहेब' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं, वे जैन परम्परा के अनुरूप नहीं हैं। 'क्षमाश्रमण, गुरुदेव, आचार्यश्री' ये शब्द हमारी भावना के अनुरूप हैं इसलिए इन्हीं का प्रयोग किया जाए। श्रद्धा का अतिरेक न दिखाया जाए। वह कहीं-कहीं दूसरों के लिए आवरण बन जाता है।'

यह उन दिनों की बात है, जिन दिनों अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन हुआ था। आचार्यश्री अपनी प्रत्येक गतिविधि को आलोचक की दृष्टि से देखने लगे। इसी दृष्टिकोण ने उन्हें परिवर्तन के लिए प्रेरित किया। उनका चिन्तन सहज ही स्फुरित नहीं हुआ था। वे एक महान् लक्ष्य से प्रेरित हुए और वहीं से उनके चिन्तन में नए-नए उन्मेष आए। महात्मा गांधी अपनी प्रवृत्तियों के पीछे ईश्वरीय प्रेरणा मानते थे और आचार्यश्री कोई अज्ञात प्रेरणा। यह ईश्वरीय या अज्ञात प्रेरणा और कुछ नहीं, उनके अंतःकरण की गहरी आस्था और महान् लक्ष्य का निश्चय ही था।

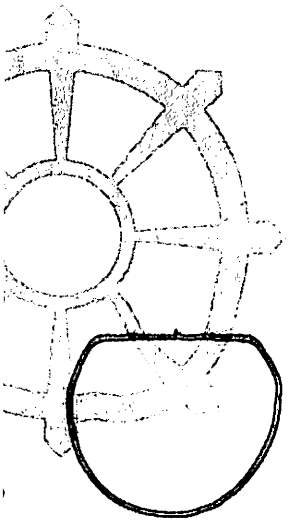

आचार्यश्री के चिन्तन और उसकी क्रियान्विति से खाई पट गई। जो दूर थे, वे बहुत निकट के हो गए। साधुओं के प्रति जो धारणा थी उसमें परिवर्तन हुआ, वेश-भूषा का प्रश्न भी विकट नहीं रहा।

दिल्ली में अणुव्रत सेमिनार हुआ। उसमें आचार्य कृपलानी भी एक वक्ता थे। उनका प्रथम भाषण सचमुच लुभाने वाला था। वे सांझ के समय फिर मिले। सुचेता कृपलानी भी साथ थीं। वार्तालाप के बीच आचार्यश्री ने रतनगढ़ के प्रसंग की याद दिलाई तो वे हंस पड़े। अब एक-दूसरे को निकट से समझने में कोई कठिनाई नहीं थी। दूसरी बार जैनेन्द्रजी भी वे नहीं थे, जब पहली बार मिले थे। उन्होंने आचार्यश्री को उस रूप में नहीं देखा जिस रूप में पहले देखा था। अब उन्होंने आचार्यश्री को इस दृष्टि से देखा–'तुलसीजी को देखकर लगा कि यहां कुछ है, जीवन मूर्च्छित और परास्त नहीं है। उसकी आस्था और सामर्थ्य है। व्यक्तित्व में सजीवता और एक विशेष प्रकार की एकाग्रता, यद्यपि हठवादिता नहीं। वातावरण के प्रति उनमें ग्रहणशीलता है और दूसरे व्यक्तियों और सम्प्रदायों के प्रति संवेदनशीलता। एक

अपराजेय वृत्ति उनमें पाई जो परिस्थिति की ओर से अपने में शैथिल्य लाने को तैयार नहीं है। बल्कि अपनी आस्था, संकल्प-बल पर उन्हें बदल डालने को तत्पर है। धर्म के परिग्रह-हीन आकिंचन्य के साथ इस प्रकार सपराक्रम सिंहवृत्ति का योग अधिक नहीं मिलता।'

आचार्यश्री के सामने एक लक्ष्य था, उसकी पूर्ति के लिए तड़प थी, आस्था और संकल्प था इसलिए वे बाधाओं से परास्त नहीं हुए और बाहरी उपकरणों से आवृत नहीं हुए। आचार्यश्री पहली बार दिल्ली गए तब अनेक विचारकों ने कहा–'यह मुंहपट्टी आपके और हमारे बीच में दीवार है। किन्तु जैसे-जैसे आत्मीयता बढ़ी, विचारों का तादात्म्य हुआ, वह दीवार नहीं रही। कौन कैसे क्या पहनता है? यह विचारों की दूरी या अनुदारता में ही खलता है। जैसे-जैसे विचार निकट होते हैं, उदारता बढ़ती है, वैसे-वैसे आंतरिकता बाह्य को पचा लेती है।' प्रारंभिक कठिनाइयों के बाद विचार-संगम का मार्ग प्रशस्त हो गया। वैसे आचार्यश्री से विचार-विनिमय करने वालों की संख्या हजारों में रही है। यहां मैं केवल कुछेक विशेष प्रसंगों का उल्लेख करूंगा, जो लक्ष्यपूर्ति में सहयोगी बने।

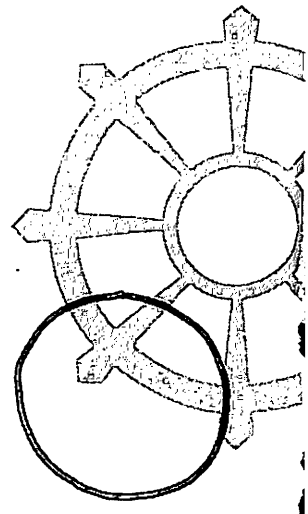

धर्मचक्र का प्रवर्तन

आचार्यश्री और गांधीजी

आचार्यश्री गांधीजी से मिलकर विचार-विनिमय करना चाहते थे किन्तु वह नहीं हो सका। जब महात्मा गांधी थे तब आचार्यश्री अपनी तैयारी में लगे हुए थे और जब आचार्यश्री की तैयारी पूर्ण हो रही थी, तब महात्मा गांधी इस संसार में नहीं रहे। यदि यह मिलन होता तो निस्संदेह कोई परिणाम निकलता। आचार्यश्री के 'अशांत विश्व को शांति का संदेश' की एक प्रति गांधीजी के पास पहुंची थी। उस पर उन्होंने जो टिप्पणी की, उसमें विचारों के प्रति एकता का भाव है। आचार्यश्री ने शांति का संदेश ता. २६-६-१९४५ को दिया था। उसका प्रकाशन कुछ विलंब से हुआ था। उस पर महात्मा गांधी ने टिप्पणी की–'ऐसे संदेश निकालने में देरी क्यों?' विश्व शांति के उपायों का निर्देश करते हुए आचार्यश्री ने एक जगह 'सम्यक्त्व' की चर्चा की थी। उस पर महात्माजी ने लिखा–'क्या इस सम्यक्त्व का प्रचार किया गया?' उस संदेश में विश्व-शांति के नौ उपायों की चर्चा है। उस पर उन्होंने लिखा–'क्या ही अच्छा होता कि दुनिया इस महापुरुष के नियमों को मानकर चलती।'

आचार्यश्री को गांधीजी के विचार अधिक पढ़ने को मिले इसलिए वे उनसे प्रभावित भी रहे। महात्मा गांधी को आचार्यश्री के विचार उस संदेश के सिवाय पढ़ने को नहीं मिले, फिर भी वे उनसे अप्रभावित नहीं रहे। इसीलिए कल्पना दौड़ती है कि यदि मिलन होता तो निस्संदेह अहिंसा की भूमिका सुदृढ़ बनती।

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन के साथ

आचार्यश्री जैन मुनि थे। वाहन का प्रयोग नहीं करते थे। इसे ध्यान में रखकर बहुत सारे लोग आचार्यश्री से मिलने आते। कभी-कभी आचार्यश्री भी उनके आवास पर चले जाते। राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन दिल्ली में थे। टंडनजी का संवाद मिला–'मैं आचार्यश्री से मिलना चाहता हूं पर बीमारी के कारण अशक्त हूं इसलिए वहां जा नहीं सकता। आचार्यश्री को यहां आने में कष्ट होगा, इसलिए यहां आने का निवेदन कैसे करूं?' आचार्यश्री अपने कष्ट की बात नहीं सोचते थे। टंडनजी जैसे पवित्र व्यक्ति की भावना असफल कैसे हो सकती थी? आचार्यश्री उनके आवास पर पधारे और उनके पास बैठ गए। उन्हें बोलने में कष्ट हो रहा था फिर भी कांपते स्वर में वे बोले–'आपमें बौद्धिक चिन्तन है, सामर्थ्य है, आप समाज

का मूलग्राह से उद्धार कर सकते हैं।' आचार्यश्री ने मंगलपाठ द्वारा आशीर्वाद दे वहां से प्रस्थान किया और नौ-दस मील का पाद-विहार कर अपने आवास पर लौट आए।

डॉ. राधाकृष्णन् के साथ

१५ दिसम्बर, १९५६ को आचार्यश्री और उपराष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन् का मिलन हुआ। आचार्यश्री ने कहा–'हमने सुना है आपकी पत्नी का देहावसान हो गया।' इस प्रसंग के माध्यम से जन्म-मृत्यु और संसार-चक्र पर दो महान् दार्शनिकों के मध्य वार्तालाप हुआ। आचार्यश्री ने शांतसुधारस (संस्कृत गेयकाव्य) का एक गीत 'विनय! चिंतय वस्तुतत्वं' सुनाया। उपराष्ट्रपति ने उसे बड़े ध्यान से सुना।

आचार्यश्री ने कहा–'पहले आप राजदूत बने, अब राष्ट्रपति हैं। आपका राजनीति में प्रवेश एक बार हमें अटपटा लगा। हमने सोचा–एक दार्शनिक व्यक्ति किधर जा रहा है? पर आपकी कार्य-पद्धति को देखकर संतोष हुआ है। प्राचीन प्रणाली की पुनरावृत्ति हो रही है। वर्तमान की राजनीति को कोई दार्शनिक ही नया मोड़ दे सकता है। आज समाज को नए दर्शन की बहुत आवश्यकता है।'

डॉ. लोहिया के साथ

डॉ. राममनोहर लोहिया समाजवादी पार्टी के प्राण और भारतीय राजनीति के दिशासूचक थे। आचार्यश्री सन् १९६० में कोलकाता में प्रवास कर रहे थे। उस समय डॉ. लोहिया ने कहा–'आचार्य तुलसी के पास और सब व्यक्ति जा सकते हैं, केवल दो व्यक्ति नहीं जाएंगे–एक डॉ. विधानचंद्र राय और दूसरे डॉ. लोहिया। सन् १९६६ में आचार्यश्री दिल्ली में थे। प्रभुदयाल डाबड़ीवाला ने सूचना दी कि डॉ. लोहिया मिलना चाहते हैं। आचार्यश्री ने कहा–'प्रसन्नता से।' डॉ. लोहिया आए और अत्यन्त शालीनता व विनम्रता से आचार्यश्री का अभिवादन कर बैठ गए। मैंने तत्काल उनको पूर्व प्रतिज्ञा की याद दिलाई तो वे मुक्तभाव से हंस पड़े।

नंदा के साथ

गुलजारीलाल नंदा नैतिकता के प्रति आस्थावान् व्यक्ति थे। वे पण्डित नेहरू के निकटवर्ती जनों में से थे। ९ दिसम्बर, १९५६ को वे आचार्यश्री से मिले। वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने कहा–'नेहरूजी ने मुझे कहा, आप जो काम कर रहे हैं उससे मैं परिचित रहूं।' नंदाजी ने इस बात का बराबर निर्वाह किया। अणुव्रत आंदोलन के साथ वे अत्यन्त श्रद्धाभाव से जुड़े रहे।

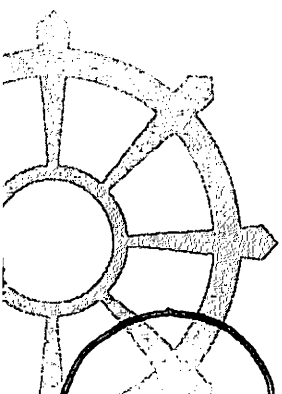

चर्च के प्रांगण में

२२ नवम्बर, १९६८। दुपहरी का समय। आचार्यश्री नेनई पुंदमली के पास विक्टोरिया अंध विद्यालय में गए। प्रज्ञाचक्षु बहिनें खद्दर के वस्त्र बना रही थीं। प्रज्ञाचक्षु पुरुष चटाइयां बुन रहे थे, कुर्सियां बना रहे थे। उनकी कार्य-दक्षता देखने वालों को आश्चर्यचकित कर रही थी। आचार्यश्री ने उनकी तन्मयता देख एक शिक्षापद का उद्‌गान किया–'ये प्रज्ञाचक्षु जैसे अपने काम में तल्लीन हैं, वैसे साधक को भी अपनी साधना में तल्लीनता का अभ्यास करना चाहिए।'

विद्यालय के पास ही था 'सेक्रेड हार्ट सेमिनरी' नामक क्रिश्चियन केन्द्र। उनके प्रधान फादर वैलोजिया ने द्वार पर आचार्यश्री का स्वागत किया। वहां ब्रदर्स के बीच आचार्यश्री का प्रवचन हुआ। प्रवचन के

पश्चात् उन्होंने चाय लेने का अनुरोध किया। आचार्यश्री ने कहा–'हम लोग चाय के आदी नहीं हैं। आपकी सद्भावना क्या चाय-पान से कम है?'

फादर–'आप कहां ठहरेंगे?'

आचार्यश्री–'आपके इस हॉल में ही ठहर सकते हैं?'

फादर–'आपके लिए क्या व्यवस्था करनी होगी?'

आचार्यश्री–'कोई व्यवस्था नहीं करनी होगी, केवल ठहरने को स्थान चाहिए।'

फादर–'आज के युग में इतना त्याग! हमें तो बहुत कुछ चाहिए।'

आचार्यश्री का रात्रिकालीन प्रवास उस क्रिश्चियन केन्द्र में हुआ। सायंकालीन प्रतिक्रमण की आराधना को उन लोगों ने बड़े ध्यान से देखा। घंटी बजी। वे सब प्रार्थना के लिए चर्च में जाने लगे। फादर के अनुरोध पर आचार्यश्री चर्च के भीतर गए। वहां एक ऊंचे स्थान पर बैठकर प्रार्थना की पद्धति को देखा। प्रार्थना संपन्न हो गई। आचार्यश्री ने कहा–'हमने आपकी प्रार्थना को देखा है। अब आप हमारी 'अर्हत् वंदना' को देखें। चर्च के बाहरी बरामदे में 'अर्हत् वंदना' की आराधना शुरू हुई। सब साधु और श्रावक वंदासन (वज्रासन) की मुद्रा में पंक्तिबद्ध बैठ गए। शांत वातावरण और अंतःकरण भी शांत हो रहा था।

वंदना की आराधना के बाद एक फादर ने पूछा–'हमारी प्रार्थना आपको कैसी लगी?'

आचार्यश्री–'आपकी प्रार्थना में व्यवस्था भक्ति से भी अधिक झलक रही थी।'

फादर–'व्यवस्था के बिना सामूहिक जीवन चल नहीं सकता।'

आचार्यश्री–'भक्ति का आसन व्यवस्था के आसन से पहले है।'

फादर–'आपका यह चिन्तन सही है। आपकी वंदना हमें बहुत अच्छी लगी। हिन्दू समाज में ऐसी शांतिपूर्ण प्रार्थना हमने नहीं देखी।'

वार्तालाप के दौरान प्रार्थना, ईश्वर, पुनर्जन्म, स्वर्ग, मुक्ति आदि अनेक विषयों पर विचार-विनिमय हुआ। घड़ी की सूई ने साढ़े बारह बजा दिए। एक फादर बोला–'हम जैन धर्म के विषय में बहुत जानना चाहते हैं। यदि आप एक सप्ताह हम लोगों के बीच रहें तो कितना अच्छा हो।'

प्रसन्नता के वातावरण में आचार्यश्री ने वहां से विदा ली।

आचार्यश्री और स्पेंश

विचार-क्रांति के शैशव में आचार्यश्री का जिन व्यक्तियों से विचार-संगम हुआ, उनमें से एक थे सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री पी. डब्ल्यू. स्पेंश। वे फतेहपुर में आचार्यश्री से मिलने आए थे। विचार-विनिमय के क्रम में उन्होंने पूछा–'क्या राजनीति और धर्म एक ही हैं?'

आचार्यश्री–'नहीं।'

स्पेंश–'कैसे?'

आचार्यश्री–'राजनीति धर्म-सापेक्ष हो सकती है किंतु समूची राजनीति धर्म नहीं है।'

स्पेंश–'धर्म से अन्याय मिटता है और राजनीति से भी। फिर इनमें अंतर क्यों?'

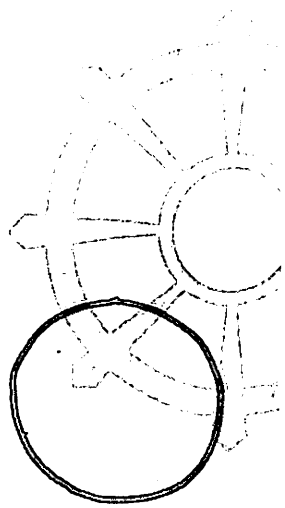

धर्मचक्र का प्रवर्तन

आचार्यश्री–'इनकी पद्धतियां भिन्न हैं, उद्देश्य और विश्वास भी भिन्न हैं।'

वे कई दिनों तक आचार्यश्री से बातचीत करने आते रहे। जाते समय उन्होंने कहा–'मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि मेरे जीवन में ऐसा सुंदर सप्ताह भी गुजरेगा।'

आचार्यश्री और वुडलैंड क्हेलर

शाकाहारी मंडल के उपाध्यक्ष तथा यूनेस्को के प्रतिनिधि श्री वुडलैंड क्हेलर मुंबई में आचार्यश्री से मिले। उन्होंने अनेक जिज्ञासाएं कीं।

क्हेलर–'रूस विश्व की समस्याओं के समाधान के लिए साम्यवाद के रूप में जो समाधान प्रस्तुत करता है उसके संबंध में आपके क्या विचार हैं?'

आचार्यश्री–'साम्यवाद आर्थिक समस्या का समाधान हो सकता है, किन्तु विश्व की समस्या केवल आर्थिक ही नहीं है।'

क्हेलर–'क्या कानून से बुराइयों का उच्छेदन हो सकता है?'

आचार्यश्री–'कानून का अपना क्षेत्र है। डंडे के भय से लोग बुराई करने से घबराते भी हैं पर उनका उच्छेदन तो हृदय परिवर्तन से हो सकता है।'

क्हेलर–'आज एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को धोखा देने में अपनी दक्षता मानता है, तो क्या धोखा देने वाले के प्रति धोखे का बर्ताव किया जाए?'

आचार्यश्री–'हमारी मान्यता यह है कि धोखा देने वाला स्वयं धोखा खाता है, भले फिर वह क्षण भर के लिए आंख मिचौनी कर ले कि मैंने उसे ठग लिया है। जिसे अपनी भलाई में आस्था हो, उसे धोखे का बर्ताव नहीं करना चाहिए।'

क्हेलर–'आप दूसरों की बुराइयों पर टीका करते हैं या मौन रहते हैं?'

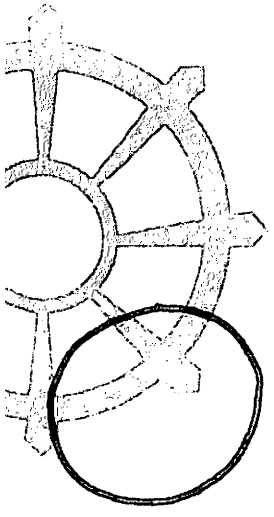

आचार्यश्री–'वैयक्तिक बुराइयों पर टीका करने की हमारी नीति नहीं है। सामुदायिक रूप में हम बुराइयों की निस्संकोच टीका करते हैं।'

क्हेलर–'आपके पास अनेक लोग आते हैं, विभिन्न प्रतिज्ञाएं लेते हैं। आप उन्हें प्रतिज्ञाएं दिलाते हैं। किन्तु वे इन प्रतिज्ञाओं को पालेंगे या नहीं, यह कैसे जान पाते हैं?'

आचार्यश्री–'आखिर विश्वास का भी तो कोई मूल्य है। भारतीय मानस प्रतिज्ञा तोड़ने में बहुत भीरु है। क्वचित् स्खलना होने पर उसका प्रायश्चित्त भी होता है। प्रतिज्ञा का आधार व्यक्ति का वर्तमान मानस है। भविष्य को कौन कैसे तौल सकता है?'

क्हेलर–'हिंसा के बिना जीवन नहीं चलता, तब सुख कैसे संभव है?'

आचार्यश्री–'यह सापेक्ष है। जैसे-जैसे अहिंसा की मात्रा बढ़ती है, वैसे-वैसे सुख भी बढ़ता है। यह सही है, अहिंसा के बिना वास्तविक सुख की प्राप्ति नहीं होती।'

क्हेलर–'संसार में जो दृश्यमान है वह सब क्षणभंगुर है, फिर व्यक्ति किसलिए प्रवृत्ति करे?'

आचार्यश्री–'व्यक्ति का जीवन भी क्षणभंगुर है। वह कुछ प्रवृत्तियां आवेगों से प्रेरित होकर करता है, कुछ अपेक्षाओं से प्रेरित होकर करता है और कुछ मोह से मूढ़ बनकर करता है।'

श्रीमती क्हेलर ने कहा–'मैं हमारे पोप में और आप में बहुत बड़ा अंतर देख रही हूं। एक ओर परिग्रह ही परिग्रह है तो दूसरी ओर अपरिग्रह ही अपरिग्रह। जीवन-विकास के लिए आपका अनुगमन बहुत आवश्यक है।'

क्हेलर ने सस्मित कहा–'भारत के लोग हम लोगों की ओर ताकते हैं किन्तु मैं उन्हें बताना चाहता हूं कि वे आपकी ओर देखें।'

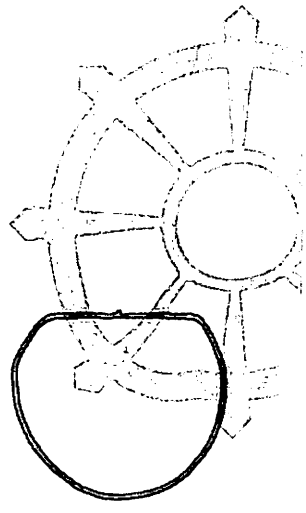

धर्मचक्र का प्रवर्तन

डानेल्ड दम्पती की भेंट

डानेल्ड कैप कैनेडियन पादरी थे। वे जलगांव में आचार्यश्री से मिलने आए। वार्तालाप के प्रारंभ में ही श्रीमती कैप ने कहा–'बाइबिल के अनुसार हम ऐसा मानते हैं कि न्यायी व्यक्ति ही श्रद्धा से जीवन बिताता है।'

आचार्यश्री–'हम भी यही कहते हैं–सच्चा श्रद्धालु वही है जो अन्याय न करे, न्याय से बरते।'

श्रीमती कैप–'प्रभु यीशु ने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति यह सोचे–जिस किसी को मारना चाहता है वह तू ही है।'

आचार्यश्री–'यह अच्छी बात है। भगवान् महावीर की वाणी में यही है–पुरिसा! तुमंसि नाम सच्चेव, जं हंतव्वं ति मन्नसि'–जिसे मारना चाहता है वह तू ही है।'

कैप–'इस अशांति और दुःख का कारण क्या है?'

आचार्यश्री–'अध्यात्म की विस्मृति।'

कैप–'हम यह मानते हैं कि मनुष्य में जो पाप है, उसके कारण अशांति है।'

आचार्यश्री–'पाप इसीलिए तो है कि मनुष्य आत्मा को विस्मृत कर रहा है।'

कैप–'हमारी मान्यतानुसार मनुष्य जब पैदा होता है तब पापमय पैदा होता है।'

आचार्यश्री–'केवल पापमय कोई नहीं होता, पाप और पुण्य दोनों व्यक्ति से चिपटे रहते हैं।

कैप–'मनुष्य जो भी पाता है वह ईश्वर का दिया पाता है, उसे ईश्वर ही पैदा करता है–क्यों यह सच है न?'

आचार्यश्री–'मैं आत्मा के कर्तृत्व में ही विश्वास करता हूं। मैं पुरुषार्थ की मर्यादा में इस अकर्मण्यता को कोई महत्त्व नहीं देता।'

कैप–'मनुष्य की आत्मा में शैतान बैठा है, वही मनुष्य को बुरे कर्मों में प्रवृत्त करता है।'

आचार्यश्री–'मनुष्य जो भी पाता है वह ईश्वर का दिया हुआ पाता है तब फिर शैतान की आड़ क्यों?'

कैप–'प्रभु यीशु की शरण में जाने से वह सब पापों से छुटकारा दिला देता है। क्या आप यह मानते हैं कि मनुष्य अपने पाप कर्मों के लिए स्वयं प्रायश्चित्त कर सकता है?'

आचार्यश्री–'हमारी मान्यता में तो मनुष्य स्वयं ही अपने पाप का प्रायश्चित्त कर सकता है। दूसरे तो केवल निमित्त बन सकते हैं। अच्छाई और बुराई का मूल स्वयं मनुष्य ही है।'

कैप–'कृपया बतलाइए, आत्मा पाप कर्म क्यों करती है?'

आचार्यश्री–'अज्ञानवश, मोहवश।'

कैप–'आपके विचारानुसार क्या गृहस्थ भी पापमुक्त हो सकते हैं?'

आचार्यश्री–'क्यों नहीं? जो संयम की साधना करते हैं, वे सब पापमुक्त हो सकते हैं।'

कैप–'तो फिर गृहस्थ और साधु में क्या अंतर है?'

आचार्यश्री–'साधु केवल एक साध्य के लिए चलते हैं। गृहस्थ के सामने वही एकमात्र लक्ष्य नहीं होता। साधु का साध्य अविभक्त होता है–एक होता है। गृहस्थ के साध्य विभक्त होते हैं, अनेक होते हैं। साधु अपने साध्य के साधनों का ही अवलम्बन लेता है, पर गृहस्थ उन साधनों का भी अवलम्बन लेता है जो उसके मूल साध्य के साधन नहीं हैं।'

और-और अनेक विषय कैप के हृदय को छू गए। पर ईश्वर-कर्तृत्व के सिद्धांत को वे वार्तालाप की समाप्ति तक दोहराते रहे।

बर्टन और वेल्स

मुंबई में १० नवम्बर, १९५४ को दो अमेरिकी व्यक्तियों ने आचार्यश्री से भेंट की। एक का नाम था–जे. आर. बर्टन और दूसरे का नाम था–डब्ल्यू. डी. वेल्स। बर्टन ने अपने परिचय में कहा–'मेरा कार्यक्षेत्र अमेरिका है। ईसा मसीह ने संसार को जो संदेश दिया, उसे मैं संसार भर में फैलाना चाहता हूं।' वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने पूछा–'जैन धर्म का मौलिक रूप क्या है?'

आचार्यश्री–'आत्मा की शोध और उसके विशुद्ध रूप की उपलब्धि।'

बर्टन–'मैंने बौद्ध दर्शन में पढ़ा है–तृष्णा को मिटाना जीवन विकास का साधन है। इस विषय में जैन दर्शन का क्या अभिमत है?'

आचार्यश्री–'तृष्णा जीवन विकास में सबसे बड़ी बाधा है, जैन दर्शन इसे मानता है।'

बर्टन–'ईसा के उपदेशों के बारे में आपका क्या अभिमत है?'

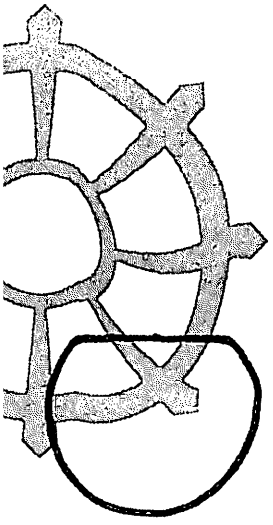

आचार्यश्री–'ईसा के अनेक उपदेशों को मैं बहुत आदर की दृष्टि से देखता हूं।'

बर्टन–'क्या आप अपने कठिनाईपूर्ण जीवन में संतुष्ट हैं?'

आचार्यश्री–'साध्य की सिद्धि के लिए जो कठिनाई झेली जाती है उसमें व्यक्ति को असंतोष नहीं होता। असंतोष वहां होता है जहां उसे कठिनाई बलात् झेलनी पड़ती है।'

१८ नवम्बर को वे फिर आचार्यश्री से मिले। लगभग एक घंटे तक आचार्यश्री का प्रवचन सुना, फिर वार्तालाप किया। पहला प्रश्न उनका था–'आपकी धर्म-प्रचार की प्रणाली क्या है?'

आचार्यश्री–'केवल शिक्षा और हृदय-परिवर्तन। हम धर्म के क्षेत्र में और किसी प्रलोभन को वांछनीय नहीं मानते।'

बर्टन–'क्या आप धर्म-परिवर्तन भी कराते हैं?'

आचार्यश्री–'मैं कराने वाला कौन हूं? कोई चाहे तो मेरे विचारों का अनुगमन कर सकता है। जैन धर्म के अनुसार धर्म-परिवर्तन का अर्थ जाति-परिवर्तन नहीं है। धर्म के आधार पर मनुष्य-जाति को विभक्त किया जाता है, उसे मैं उचित भी नहीं मानता।'

बर्टन–'क्या दोषों की शुद्धि के लिए पश्चात्ताप पर्याप्त है?'

आचार्यश्री–'सर्वथा नहीं। दोष विशेष हों तो पश्चात्ताप से आगे भी कुछ करना चाहिए।'

बर्टन–'श्रद्धा का क्या तात्पर्य है?'

आचार्यश्री–'सत्य के प्रति विश्वास।'

बर्टन–'सत्य क्या है?'

आचार्यश्री–'ज्ञेय की दृष्टि से सभी पदार्थ सत्य हैं, किन्तु हम साधना की दृष्टि से सोचते हैं। इसलिए सत्य है–आत्मा, परमात्मा और अध्यात्म।'

बर्टन–'अब कृपया बतलाइए, श्रद्धा का बाह्य चिह्न क्या है?'

आचार्यश्री–'जिसके प्रति श्रद्धा हो, उसके लिए सम्मान प्रदर्शन, जीवन समर्पण।'

बर्टन–'क्या उपवास में आपका विश्वास है?'

आचार्यश्री–'अवश्य।'

बर्टन–'केवल पानी के आधार पर ४० तथा ६० दिन का उपवास मैंने देखा है और ११ दिन का उपवास मैंने स्वयं किया है। आपके यहां कितने दिनों का हुआ है?'

आचार्यश्री–'१०८ दिनों का।'

बर्टन–'आश्चर्यकारी घटना है। ईसाई धर्म की यह मान्यता है कि सप्ताह में दो बार उपवास करना चाहिए।'

आचार्यश्री–'क्या मांसाहार को छोड़ने की बात आप पसंद करेंगे?'

बर्टन–'मैं मांसाहार को उत्तम नहीं मानता। अपने देश में जाकर मैं इसे छोड़ने का प्रयास करूंगा। क्या कर्तव्य ही धर्म है?'

आचार्यश्री–'धर्म अवश्य कर्तव्य है, पर सब कर्तव्य धर्म नहीं हैं। कर्तव्य की व्याख्या विभिन्न साध्यों के आधार पर होती है। धर्म की व्याख्या केवल मोक्ष को साध्य मानकर की जाती है।'

बर्टन–'मैं भी चर्च में बहुधा कहा करता हूं कि जितने कर्तव्य हैं वे सबके सब धर्म नहीं हैं। धर्म की विशुद्ध व्याख्या पाकर मैं बहुत अनुगृहीत हुआ हूं। ऐसे अवसर की फिर कामना करता हूं।'

डॉ. के. जी. रामाराव

रामाराव–'जीवन सक्रियता का प्रतीक है। वैराग्य होने का अर्थ है कर्म-विमुखता। फिर जीवन और वैराग्य का सामंजस्य कैसे हो सकता है?'

आचार्यश्री–'वैराग्य का अर्थ निष्क्रियता नहीं है। वह केवल प्रवृत्ति का मार्गान्तरण है। पदार्थ-परक प्रवृत्ति जब आत्मपरक हो जाती है तब उसे वैराग्य कहा जाता है।'

रामाराव–'समाज प्रवृत्ति का हेतु है–दूसरों के लिए जीना। यदि प्रत्येक व्यक्ति वैराग्य को स्वीकार कर ले तो क्या यह स्वार्थ नहीं होगा?'

आचार्यश्री–'यह स्वार्थ है तो भी इसमें कोई दोष नहीं है। परमार्थ विशुद्ध स्वार्थ में से ही उद्भूत होता है।'

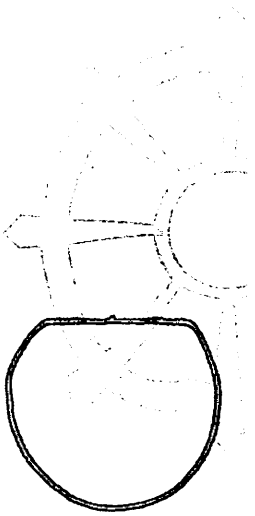

रामाराव–गृहस्थ के लिए कुछ-न-कुछ करना आवश्यक तो है ही?'

आचार्यश्री–'कुछ-न-कुछ करना तो साधुओं के लिए भी आवश्यक है। प्रवृत्ति का क्षेत्र भिन्न हो सकता है किंतु जीवन में निष्क्रियता नहीं होती।'

जहां दो व्यक्ति मिलते हैं वहां चिन्तन चलता है, विचार गतिशील बनते हैं। उस गति में से जो स्थिति उत्पन्न होती है वह आलोक देती है। आचार्यश्री के जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग आए जिनसे उन्हें, उनके साथ बातचीत करने वालों को तथा सबको एक नया आलोक मिला।

दलाईलामा से मिलन

२ दिसम्बर, १९५६ को राष्ट्रपति भवन में अणुव्रत का सम्मेलन। कार्यक्रम की संपन्नता पर आचार्यश्री ने राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद से पूछा–'क्या दलाईलामा यहां आ गए?'

राष्ट्रपति–'क्या आप उनसे मिलना चाहते हैं?'

आचार्यश्री–'यदि वे आ गए हैं तो मिलन हो जाएगा।'

राष्ट्रपति के सचिव द्वारा उनके आने की सूचना मिली। आचार्यश्री अशोका हॉल में गए। वहां दलाईलामा और पंचेनलामा पंडित नेहरू से बातचीत कर रहे थे। आचार्यश्री को देख पंडित नेहरू आगे बढ़े और उन्हें तुरंत आचार्यश्री के पास ले आए। पंडितजी ने उन्हें आचार्यश्री का परिचय दिया। आचार्यश्री ने कहा–'आज राष्ट्रपति भवन में श्रमण संस्कृति की दो धाराओं (जैन और बौद्ध) का मिलन हो रहा है। इसकी मुझे प्रसन्नता है।'

पंचेनलामा–'संभवतः हम कहीं मिले हैं?'

आचार्यश्री–'नहीं, हम प्रथम बार मिल रहे हैं। संभव है आपने हमारा फोटो देखा हो।'

पंचेनलामा–'हां, बिलकुल ठीक है। कुछ दिन पहले आपका फोटो हमें मिला था।

आचार्यश्री ने पंडित नेहरू से कहा–'आप इन्हें बतलाएं हम लोग पैदल ही चलते हैं। अभी-अभी ग्यारह दिनों में दो सौ मील की पदयात्रा कर राजस्थान से दिल्ली आ रहे हैं।'

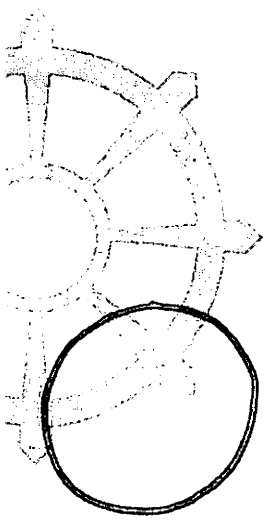

पंडितजी बोले–'मैं अभी इन्हें यही बता रहा था।'

यह अनायोजित मिलन बहुत ही सुखद रहा। उस समय भगवान् बुद्ध की पचीस सौवीं जयंती मनाई जा रही थी। आचार्यश्री इसी उद्देश्य से दिल्ली आए थे। इस अवसर पर अनेक बौद्ध भिक्षु और विद्वान् संपर्क में आए।

ग्लाजनप के साथ

जर्मन विद्वान् ग्लाजनप ने आचार्यश्री से भेंट की। आचार्यश्री ने कहा–'मेरे गुरु (पूज्य कालूगणी) और आपके गुरु (डॉ. हर्मन जेकोबी) लाडनूं में मिले थे। आज हम दोनों शिष्य मिल रहे हैं।' आचार्यश्री ने डॉ. ग्लाजनप का ध्यान एक तथ्य की ओर आकर्षित किया–'आपने जैन दर्शन पर जो पुस्तक लिखी है, उसमें तेरापंथ का परिचय ४-५ पंक्तियों में दिया है। वह भी चूहे-बिल्ली के संदर्भ के साथ। बिल्ली चूहे को मारे और चूहे को कोई बचाए, उसमें पाप होता है। यह तेरापंथ का सिद्धांत है।'

डॉ. ग्लाजनप ने कहा–'हां, मैंने किताब में ऐसा लिखा है।'

आचार्यश्री ने विनोदपूर्ण व्यंग्य किया–'डॉक्टर साहब! क्या चूहे-बिल्ली आपके जर्मनी तक पहुंच गए?'

डॉ. ग्लाजनप–'आप क्षमा करें, उस समय मुझे तेरापंथ के बारे में पूरी जानकारी नहीं थी।'

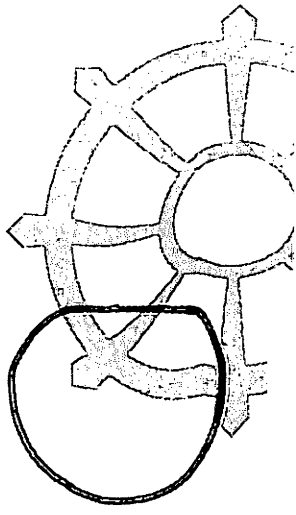

धर्मचक्र का प्रवर्तन

लंका के बौद्ध भिक्षुओं के साथ

५ दिसम्बर, १९५६ को लंका के बौद्ध भिक्षु आचार्यश्री से मिले। महास्थविर धर्मेश्वर बोले–'आप और हम दो नहीं हैं। एक ही श्रमण संस्कृति के महातरु की दो शाखाएं हैं।' आचार्यश्री ने उनके अभिमत का अनुमोदन किया।

धर्मेश्वर–'सिलोन में तीस हजार भिक्षु हैं। उनके प्रतिनिधि के रूप में तीस भिक्षु यहां आए हैं। वर्तमान जगत् शांति की खोज में है। हमें विश्वशांति के लिए कोई अच्छी योजना बनानी चाहिए।'

आचार्यश्री–'आपका चिंतन बहुत अच्छा है। हम भी इस बारे में सोच रहे हैं। आज शांति का प्रश्न मनुष्य जाति के अस्तित्व का प्रश्न है। इसे कोई भी दृष्टि से ओझल नहीं कर सकता। आप हीनयान के अनुयायी हैं या महायान के?'

धर्मेश्वर–'सिलोन में सियमनिकाय और अमरनिकाय–ये दो भेद हैं। महायान-हीनयान जैसा कुछ नहीं है। हमारा साहित्य पालि भाषा में है। भारतीय विद्वानों ने संस्कृत में विपुल साहित्य लिखा। उन्होंने केवल पालि साहित्य को प्रमाण मानने वालों को हीनयान और अपने आपको महायान कहना शुरू कर दिया। किन्तु हम इसे स्वीकार नहीं करते।'

भिक्षु ज्ञानश्री–'हमने आप जैसे भिक्षु कभी नहीं देखे। हमें सब कुछ नया-नया लग रहा है। आप आज्ञा दें तो मैं कुछ पूछना चाहता हूं। आप क्रोध तो नहीं करेंगे?'

आचार्यश्री–'क्रोध कैसा? हमें प्रसन्नता होगी। आप मुक्तभाव से पूछिए।'

ज्ञानश्री–'आपके मुंह पर पट्टी क्यों है?'

आचार्यश्री–'इसका मूल कारण तो परम्परा है। इसे मुंह पर रखने का प्रयोजन अहिंसा और वाणी-संयम माना जाता है। वर्तमान की दृष्टि से कीटाणुओं से बचाव करना भी बताया जा सकता है।'

ज्ञानश्री–'आप भिक्षु हैं या साधु?'

आचार्यश्री–'हम निर्ग्रंथ श्रमण हैं। निर्ग्रंथ, भिक्षु और साधु–ये सब पर्यायवाची शब्द हैं।'

ज्ञानश्री–'श्रमण का क्या अर्थ है?'

आचार्यश्री–'श्रम या तपस्या करने वाला।'

ज्ञानश्री–'तपस्या का अर्थ?'

आचार्यश्री–'वह अनुष्ठान, जिससे बंधन टूटता है।'

ज्ञानश्री–'बंधन क्या है?'

आचार्यश्री–'चेतना को आवृत और मूढ़ बनाने वाले कर्म-परमाणु बंधन हैं।'

झानश्री–'बंधन को दूर करने की क्या जरूरत है?'

आचार्यश्री–'उससे हमारा आत्मविकास रुकता है।'

झानश्री–'हमारा शरीर और आत्मा–क्या ये दो हैं?'

आचार्यश्री–'उपचार से एक है, वास्तव में दो हैं।'

झानश्री–'मैं'–यह शरीर का वाचक है या आत्मा का?'

आचार्यश्री–'यह आत्मा का वाचक है।'

झानश्री–'यह आपका शरीर किससे संचालित है?'

आचार्यश्री–'आत्मा के द्वारा।'

झानश्री–'तो क्या आत्मा अलग है और शरीर अलग है?'

आचार्यश्री–'हां, वे दो हैं।'

झानश्री–'जैसे शरीर का संचालक आत्मा है, वैसे आत्मा का संचालक कौन है?'

आचार्यश्री–'वह स्वचालित है।'

घंटे भर के संवाद ने परम आह्लाद का वातावरण निर्मित कर दिया।

काका कालेलकर के साथ

आचार्यश्री दिल्ली में प्रवास कर रहे थे। एक दिन मध्याह्न के समय काका कालेलकर आए। वे आते ही बोले–'आपसे मिलने की सहज प्रेरणा हुई, इसलिए आया हूं।' आचार्यश्री ने पूछा–'प्रेरणा कैसे?' काका साहब बोले–'आप दिल्ली पहुंचे तब से मेरे पास आपके विरोध में साहित्य पहुंच रहा है। इतना विरोधी साहित्य देख मैंने निष्कर्ष निकाला–जिस व्यक्ति का इतना विरोध हो रहा है वह कोई जीवित व्यक्ति है। मृत का कोई विरोध नहीं करता। इसलिए आज मैं जीवित व्यक्ति से साक्षात्कार करने आया हूं।'

उन्हें सचमुच जीवन का साक्षात्कार हुआ। वे सदा के लिए आत्मीय भाव से जुड़ गए।

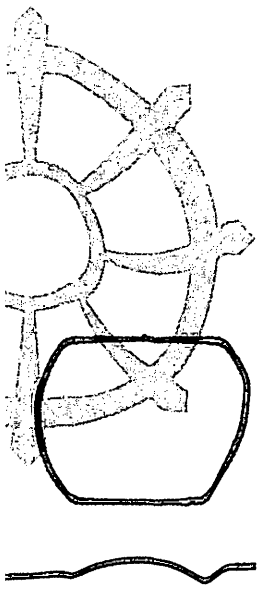

डॉ. नारमन ब्राउन

११ जनवरी, १९६७ के ग्यारह बजे प्राच्य विद्या विशेषज्ञ डॉ. नारमन ब्राउन आचार्यश्री से मिले। जैन आगमों के अनुसंधान कार्य तथा प्राच्य विद्या से संबद्ध अनेक विषयों पर बातचीत हुई।

डॉ. ब्राउन बोले–'आज मैं तेरह वर्ष बाद फिर आप से मिल रहा हूं।'

आचार्यश्री–'२६ जनवरी, १९६७ को जैन आगम ग्रंथों के विमोचन का कार्यक्रम है। क्या उसमें आप उपस्थित रहेंगे?'

डॉ. ब्राउन–'यदि मैं मुंबई में रहा तो अवश्य आऊंगा। वह दिन मेरे लिए ऐतिहासिक दिन होगा।'

आचार्यश्री ने दसवेआलियं आगम उन्हें दिखाया। उसे देखकर वे बोले–'यह बहुत उपयोगी होगा। इसमें मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद और विवेचनात्मक टिप्पण हैं। क्या इस संपादन में आप प्राचीन भारतीय ग्रंथों का उपयोग करते हैं?'

आचार्यश्री–'अपने संपादन में हम वैदिक, बौद्ध, योग, राजनीति, आयुर्वेद आदि सभी परम्पराओं के ग्रंथों का उपयोग करते हैं। इससे अर्थ की गहराई तक पहुंचने में बड़ी सुविधा होती है। आगम संपादन का सारा कार्य हमारे साधु-साध्वियां कर रहे हैं।'

डॉ. ब्राउन–'इतना बड़ा काम साधु-साध्वियों द्वारा हो रहा है, यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई है। यूरोप में जो रिसर्च का कार्य हो रहा है, उससे आप परिचित हैं?'

मैंने कहा–'परिचित रहने का प्रयत्न करते हैं। उसके बिना अनुसंधान कार्य कैसे हो सकता है? यूरोपीय विद्वानों ने जैन आगमों पर जितना कार्य किया है, उतना भारतीय विद्वानों ने नहीं किया। डॉ. हर्मन जेकोबी, डॉ. बाल्टर शुब्रिंग आदि विद्वानों का इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान है।'

डॉ. ब्राउन–'आचार्यश्री! आप महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। इससे हम पश्चिमी लोग बहुत लाभान्वित होंगे। आगम सूत्रों का अंग्रेजी में अनुवाद होना चाहिए। अमेरिकन ओरियंटल सोसायटी के सदस्य जैन दर्शन में विशेष रुचि रखते हैं। इस सोसायटी के मंत्री से संपर्क करना चाहिए।'

वार्तालाप के अंत में डॉ. ब्राउन विनम्र स्वर में बोले–'आचार्यश्री! मैं 'मणिशेखर चोर' की संस्कृत कथा को प्राकृत की गाथाओं (आर्या-छंद) में सुनना चाहता हूं।' आचार्यश्री ने मुझे निर्देश दिया। वह कथा उन्हें तत्काल रचित प्राकृत गाथाओं में सुनाई गई। वे अपनी भावना की संपूर्ति पर बहुत प्रसन्न थे। मुंबई अणुव्रत समिति की अतिथि पुस्तिका में उन्होंने लिखा–'यह मेरे लिए बहुत प्रसन्नता की बात होती है जब मैं आचार्यश्री तुलसी एवं उनके विद्वान् शिष्य संतों से मिलता हूं। धार्मिक सिद्धांतों के प्रकाशन का कार्यक्रम, जिसमें संस्कृत की समीक्षात्मक टिप्पणियां और मूलपाठ के साथ हिन्दी अनुवाद भी हैं, बहुत मूल्यवान् शृंखला प्रस्तुत कर रहा है। भारत के किसी भी सम्प्रदाय के अध्येता के लिए, सम्प्रदाय एवं धार्मिक इतिहास के लिए, यह काफी उपयोगी है। मैं समझता हूं कि इसका भारत के आध्यात्मिक जीवन में काफी योगदान है और यह भारतीय जीवन को सीधा प्रभावित करता है।'

रविशंकर महाराज

२२ दिसम्बर, १९६७ को आचार्यश्री अहमदाबाद के सिविल हॉस्पिटल में गए। रविशंकर महाराज वहां स्वास्थ्य लाभ कर रहे थे। उन्होंने आचार्यश्री से मिलने की इच्छा प्रकट की। पता चलने पर आचार्यश्री वहां पधारे। रविशंकर महाराज का आचार्यश्री के साथ अंतरंग श्रद्धाभाव था। वे अणुव्रत आंदोलन के लिए समर्पित थे। वे बोले–'आचार्यश्री! मुझे हर प्रसंग में आपकी स्मृति बनी रहती है। क्षेत्रीय दूरी भले हो, पर मेरा अंतःकरण सदा आपके साथ है।'

धर्म, राजनीति, विज्ञान, शिक्षा आदि विभिन्न क्षेत्रों के लोगों का आचार्यश्री के साथ विचार-विनिमय होता रहता था। उसकी एक लंबी तालिका है। सागर को गागर में भरने की क्षमता मुझमें नहीं है। यहां मैंने केवल दिशासूचन मात्र किया है।

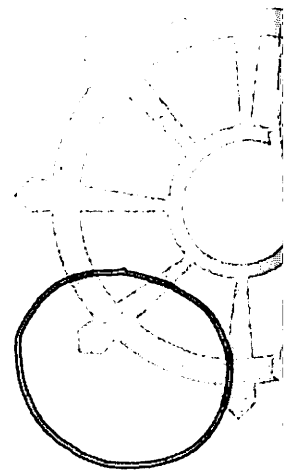

धर्मचक्र का प्रवर्तन

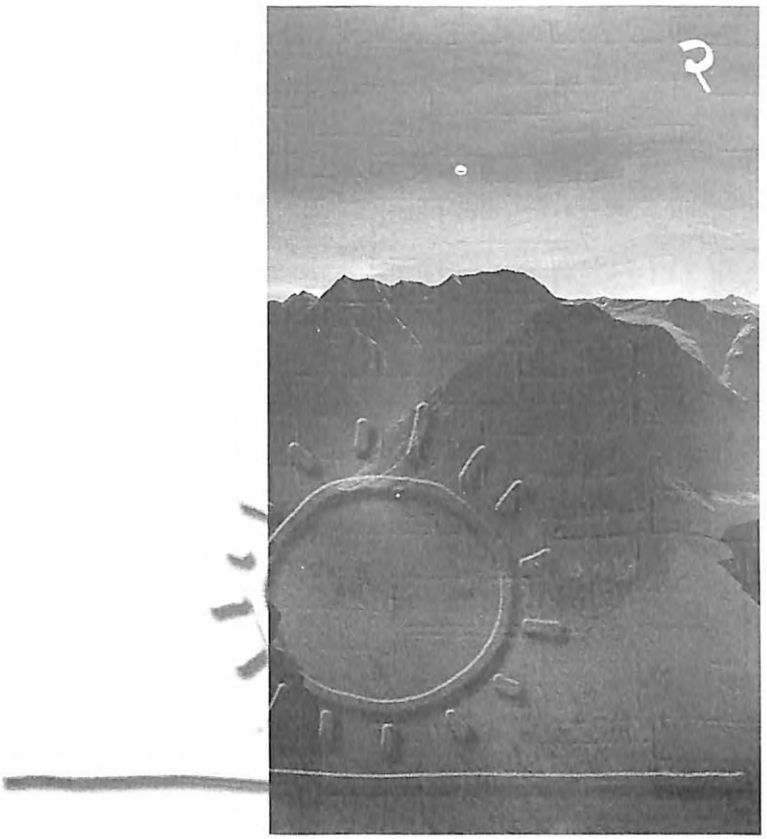

महान् परिव्राजक

आचार्यश्री की पदयात्रा जन-जागरण की महायात्रा थी। इसका मूल्यांकन करके ही राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने कहा था– 'आचार्यश्री तुलसी पदयात्री हैं। आप समूचे देश में घूम-घूमकर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए कल्याणकारी काम कर रहे हैं। आप सरकार से कोई मदद नहीं लेते, प्रत्युत सरकार की मदद कर रहे हैं। आचार्यश्री! आपको सरकार की जरूरत नहीं है, सरकार को आपकी जरूरत है।'

महान् परिव्राजक

यात्रा : नैतिकता जागरण का अभियान

जो प्राणवान् होता है वह परिव्रजन करता है और जो परिव्रजन करता है वही प्राणवान् होता है।

कुछ शताब्दी पूर्व गति के साधन मंद थे, इसलिए विश्व बड़ा लगता था। अब वे त्वरित हो गए, विश्व छोटा हो गया। किन्तु आचार्यश्री उन व्यक्तियों में से थे, जिनके लिए दुनिया उतनी ही बड़ी थी, जितनी पहले थी। वे परिव्रजन करते थे, पर उनके पास उसका कोई साधन नहीं था। उनके अप्रतिहत चरण ही एकमात्र साधन रहे। जैन मुनि के लिए पाद-विहार एक व्रत है जो मुनि-जीवन के साथ सहज स्वीकृत होता है।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

पाद-विहार से बहुविध लाभ होते हैं। छोटे-बड़े सभी गांवों का स्पर्श होता है। छोटे-बड़े सभी लोग मिलते हैं। छोटी-बड़ी सभी स्थितियां सामने आती हैं।

प्रत्यक्ष संपर्क से बहुत समाधान मिलता है। प्रत्यक्षदर्शी के अनुभवों की परोक्षदर्शी कल्पना ही नहीं कर सकता।

भगवान् महावीर, महात्मा बुद्ध और आचार्य शंकर, सभी ने परिव्रजन के द्वारा ही धर्म की लौ प्रज्वलित की थी। आचार्यश्री ने भी जो किया, उसका अधिकांश श्रेय उनके परिव्रजन को है।

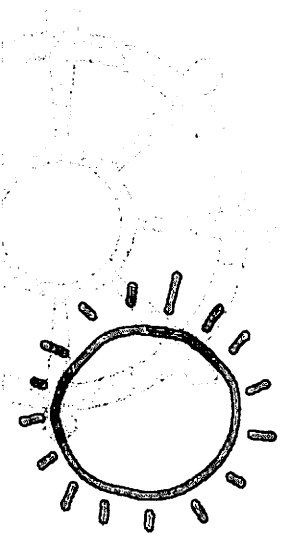

आचार्यश्री कोई यात्री नहीं थे। यात्री वह होता है जिसका कहीं स्थायी वास हो। आचार्यश्री के पास चार अंगुल भी भूमि नहीं थी। उनके पुरुषार्थ में ही उनका वास था और उनकी गतिशीलता में ही उनकी सत्ता थी।

उन्होंने परिव्रजन करते-करते बहुत देखा, बहुत सुना और समझा। बहुत पाया और बहुत दिया। बहुत सहा और बहुत कहा। जो उनके पाद-विहार को नहीं जानता, वह उनके जीवन-दर्शन का अधिकार नहीं पाता।

महान् परिव्राजक

आचार्यश्री ने लगभग अस्सी हजार किलोमीटर की पदयात्रा की। प्रमुख यात्राओं का विवरण इस प्रकार है–

सन्	संवत्	राज्य
१९४९-१९५३	२००५ से २००९	बीकानेर राज्य से जयपुर, दिल्ली, हरियाणा, पंजाब, दिल्ली, हरियाणा, राजस्थान।
१९५३-५४ से ५९	२०१० से २०१३	राजस्थान से गुजरात, मुंबई, खानदेश (महाराष्ट्र), मध्यप्रदेश और राजस्थान।
१९५७-५८ से ६१	२०१४ से २०१७	राजस्थान से उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, पुनः बिहार, उत्तरप्रदेश, दिल्ली, हरियाणा और राजस्थान।
१९६५ से १९६६	२०२२ से २०२३	राजस्थान से दिल्ली, हरियाणा, राजस्थान।
१९६७ से १९७२	२०२३ से २०२८	राजस्थान से गुजरात, महाराष्ट्र, केरल, तमिलनाडु, कर्नाटक, आंध्रप्रदेश, उड़ीसा, मध्यप्रदेश और राजस्थान।
१९७२ से १९७६	२०२९ से २०३२	राजस्थान, हरियाणा, दिल्ली और राजस्थान।
१९७८ से १९८२	२०३५ से २०३८	राजस्थान, हरियाणा, दिल्ली, हरियाणा, पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, दिल्ली, राजस्थान।
१९८३-१९९६	२०३९-२०५३	राजस्थान, गुजरात, राजस्थान, हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान, हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान।

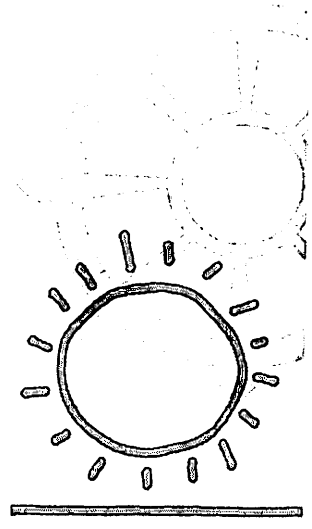

आशु गति

आचार्यश्री प्रतिदिन १३-१४ मील चला करते थे। कभी-कभी २०-२२ मील तक भी। कोलकाता से राजसमंद पहुंचे तब कई बार २०-२२ मील चले। कभी-कभी तिथि-निर्णय हो जाने से अधिक लंबा चलना पड़ता था और कभी-कभी श्रावकों की बात रखने के लिए। खानदेश में आचार्यश्री ने लंबे विहार किए। अपने वचन की तरह कार्यकर्ताओं के वचन को भी आचार्यश्री ने निभाने का यत्न किया। उन दिनों लंबे विहार का कारण आचार्यश्री के शब्दों में यही था–'मिश्रीमलजी सुराणा ने कहा, हमने औरंगाबाद में आपका रामनवमी का कार्यक्रम घोषित कर दिया है। उस समय वहां पहुंचना आवश्यक हो गया है। इसलिए विहार लंबे हुए। दो विहार १९-१९ मील के हुए। एक साथ ग्यारह-बारह मील चले।'

दर्शक भी, दृश्य भी

आचार्यश्री अपनी सीमा में दर्शक थे, दूसरों के लिए दृश्य। वे जहां जाते वहां हजारों व्यक्ति उन्हें देखने के लिए उमड़ पड़ते। दिन-भर वे चाहते हुए भी विजनता का अनुभव नहीं कर पाते। लंबी प्रतीक्षा के बाद एक बार वे साप्ताहिक एकांतवास कर पाये थे। वह भी जनता को बहुत खला। आचार्यश्री अपने खाने-पीने और सोने तक का समय विशेष जिज्ञासु के लिए देने को तत्पर रहते थे तब लोग छोड़े भी कैसे? आचार्यश्री एलोरा जा रहे थे। बीच में ही ११ अमरीकन पर्यटक मिल गए। दर्शक दृश्य बन गए। जैन दर्शन के विषय में वार्तालाप हुआ। उन्हें बहुत समाधान मिला।

क्वासि-क्वासि

आचार्यश्री कहां हैं? यह जगह-जगह पूछा जाता था। वे एक गांव में रहते नहीं थे। स्थान भी एक जैसा नहीं मिलता था। एलोरा में नीम के वृक्ष के नीचे रात बिताई। पंजाब में नहर और नदी तथा सड़क के बीच में रहे–एक ओर नहर, दूसरी ओर नदी और बीच में सड़क। जंगल में भी रहे। राजस्थान के रेगिस्तान में एक-दो बार झोंपड़ियों में भी रहे। वहां जंतुओं से बहुत संपर्क हुआ। आचार्यश्री ने उसे इन शब्दों में चित्रित किया–

बाड़मेर पथ में बण्यो, वो रोही रो वास,
बा ढाणी, वो झूंपड़ो, ओ रहसी इतिहास।
कीड़्यां कांटां कांसलां और जवां रो जोर,
आंधी मेहां में अटल तेरापंथ रो तोर।
विद नवमी वैशाख री, मेह अंधेरी रात,
'तुलसी' किण विध भूलसी, नौ तेरा री बात।

मेवाड़ के सघन पहाड़ों में छितरी हुई आदिवासियों की झोंपड़ियों में भी रहे। वे गांव ही ऐसे हैं कि उनके दस-दस बीस-बीस घर मीलों की दूरी पर होते हैं। एक घर एक पहाड़ी की चोटी पर होता है तो दूसरा दूसरी पहाड़ी की चोटी पर। आचार्यश्री ने इस प्रदेश का वह भाग भी देखा जहां उनके पूर्वज आचार्य नहीं गए थे। संथाल के आदिवासियों के घरों का भी आचार्यश्री ने स्पर्श किया। आचार्यश्री वहां भी गए जहां बहुत कम लोग जाते थे और वहां भी रहे जहां बहुत कम लोग रहे थे।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

कौन कहां जाता है, कौन कहां रहता है, इसका अपने आपमें कोई मूल्य नहीं है। मूल्य परिणाम से प्राप्त होता है। आचार्यश्री जहां गए वहां परिणाम आया, इसलिए उनका जाना मूल्यवान् बन गया। आचार्यश्री दमाराम की ढाणी (राजस्थान) में पधारे। दमाराम वहां का मुखिया था। उसने आचार्यश्री से दूध लेने की प्रार्थना की। आचार्यश्री ने दूध लिया। फिर कहा–'अब तुम क्या करोगे?' वह थोड़े चिन्तन के बाद बोला–'चोरी नहीं करूंगा। मैंने बहुत चोरियां की हैं पर अब सौ मन सोना भी हो तो वह मेरे लिए हराम है।' दूध का बदला चोरी के त्याग से चुकाया। आचार्यश्री के शब्दों में–

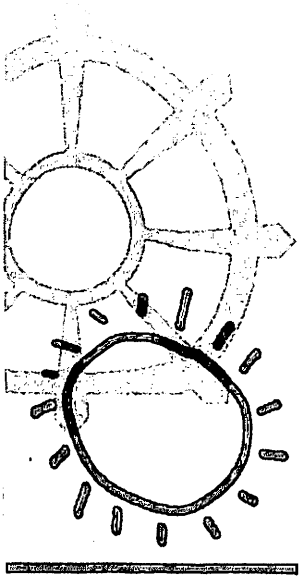

दूध दान दे हाथ सूं, दमाराम पग थाम,
गुरु अब चोरी ना करूं, हो मण हेम हराम।

आचार्यश्री अहिंसा की पुण्यभूमि थे इसलिए आपके पास हर कोई व्यक्ति सहज भाव से पहुंच जाता था। आचार्यश्री बड़ी रावलिया में थे। वहां आस-पास के भील आए। पहले बातचीत की, फिर चार पृष्ठों का एक पत्र आचार्यश्री को दिया। उसमें आपबीती कहानी थी। महाजन लोग उनके साथ जो बर्बर व्यवहार करते थे उसका कच्चा चिट्ठा था। उसकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं–

श्री श्री १००८ श्री श्री माराज धरमीराजजी श्री पुजनीक माराज थलां री छाती वाला माराजजी पुजजी माराज से दुका। दुखियों की पुकार–

तरत फैसला, अदल नाव माराज पुजनीक जी कर सकेगा। गरीब जाति रो हेलो जरूर सुनेगा। पंजाब (हिसाब) तो लेगा। धरमराज रो भरोसो है। गमेती जनता री हाथ जोड़ के अरज है कि मारी गरीब जात

बहुत दुखी है। (इन-इन लोगों ने) फरजी जुटा-जुटा खत मांडकर गरीबां रे पास से जमीन ले लीदी है। और गायां, भैंस्यां, बकरयां भी ले लीदी है। बड़ा जुलम किदा है। जुदा-जुदा दावा करके कुरकी करावै ने जोर जबरदस्ती करने वसूली करे है। गरीबां ने पांच रुपया देने पांच सौ रो खत मांडे हैं। सो मारा सब पंसा–पंचो री राय है के जल्दी सू जल्दी पद मंगाकर देबाया जावै, जल्दी सूं जल्दी फैसला दिया जावै।

–द.–दलीग सब जन्ता (जनता) राकेबासुं

सं. २०१७ जेठ सुद ७ (ता. १-६-६०)

आचार्यश्री उनकी स्थिति को जान आश्चर्यचकित रह गए। उन व्यक्तियों को समझाने के लिए सन्तों को भेजा, जो ऐसा क्रूर व्यवहार करते थे।

सत्यदेव विद्यालंकार ने ठीक ही लिखा था–'दिल्ली में यह अनुभव किया गया कि जनता के जीवन की सरल भाषा में, जीवन के दैनिक व्यवहार की सरल सीधी और साफ बात कहने वाले महात्मा गांधी के बाद दूसरे महात्मा आचार्यश्री तुलसी दिल्ली पधारे हैं। आपकी तपःपूत वाणी में जो स्वाभाविक आकर्षण है उससे सहज ही में जनता मंत्रमुग्ध-सी हो गई है। अपने लिए सब कुछ करते हुए भी आचार्यश्री ने जनता के लिए भी उतना किया है जितना कि जनता के लिए ही सब कुछ करने वाले संभवतः नहीं कर पाते।'

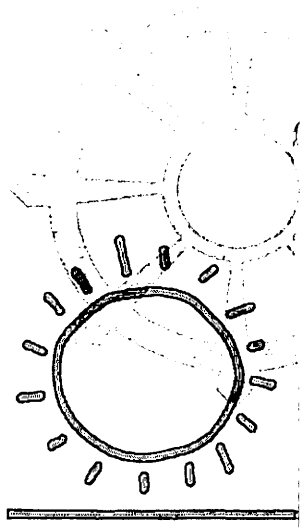

धर्मचक्र का प्रवर्तन

आचार्यश्री के परिव्रजन से लोग एक दिशा में ही उपकृत नहीं होते थे। वे जीवन के हर पहलू पर उनसे कुछ-न-कुछ आलोक पाते थे। कलह और निराशा, ये दो ऐसे घुन हैं जो जीवन का सार खा जाते हैं। आचार्यश्री ने अनगिनत व्यक्तियों और परिवारों को इन दोनों से उबारा।

बड़ी रावलिया (ता. २-६-६०) की घटना है। आचार्यश्री शोभालाल की ननिहाल में गए। उस चौदह वर्षीय बालक ने एक पत्र आचार्यश्री तुलसी के हाथ में थमा दिया। आचार्यश्री ने पूछा–'यह क्या है?' वह बोला–'इसमें एक प्रार्थना है। मेरे नाना (गेरीलालजी) और गांव वालों के बीच जो विग्रह चल रहा है, उसे निबटाने की प्रार्थना है।'

आचार्यश्री ने पूछा–'तुम्हारी दृष्टि में दोष किसका है?' वह बोला–'दोष तो मेरे नाना का ही है।' आचार्यश्री ने उसके नाना को समझाया। उसी रात दो बजे झगड़ा शांत हो गया। जो दुर्बोध्य हो रहा था वह आचार्यश्री की प्रेरणा पाकर सीधा सरल हो गया।

बीकानेर राज्य में ओसवाल समाज में 'देशी-विलायती' का ऐसा दुर्भाग्यपूर्ण सामाजिक कलह पैदा हुआ जिससे समाज को अकल्पनीय क्षति उठानी पड़ी। और तो क्या, उससे समाज की शृंखला टूट गई, नींव हिल-सी गई। वर्षों बाद वह ठंडा पड़ गया, फिर भी उसके बीज निर्मूल नहीं हुए। सामूहिक भोज आदि के भेदभाव नहीं मिटे। आखिर वि. सं. १९९९ के चूरू चातुर्मास में आपने इस कार्य को हाथ में लिया। लोगों को समझाया। एकता और संगठन की आवश्यकता बताई।

आपने कहा–'और सब जाने दो, विश्वमैत्री के महान् प्रतिष्ठाता भगवान् महावीर के अनुयायी अमैत्री रखें, यह शोभा नहीं देता। भगवान् महावीर ने हमें अमैत्री को मिटाने का ऐसा सुंदर मार्ग दिखाया है जिसमें किसी को मानसिक असुविधा भी नहीं होती। सूत्रों की भाषा में वह है 'खमत-खामणा'। सीधे शब्दों में अपना रोष शांत करना और अपने प्रति रोष हो, उसे मिटाने की प्रार्थना करना। दोनों व्यक्ति समान भूमिका पर क्षमत और क्षमापन करें। वहां हलकी-भारी, ऊंची-नीची किसकी रही–इसका कोई प्रश्न ही नहीं उठता।'

दोनों दलों के व्यक्ति आचार्यश्री से मार्गदर्शन पाकर कलह का अंत करने के लिए तैयार हो गए। थोड़े दिनों के बाद आचार्यश्री के समक्ष दोनों ओर के व्यक्ति आ गए। आचार्यश्री ने उन्हें फिर मैत्री का महत्त्व समझाया। एक गीतिका रची। उसके द्वारा लोगों को मैत्री के संकल्प को दृढ़ बनाने की प्रेरणा दी। उसके कुछ पद्य हैं–

खमत-खामणा छव अक्षर में, अर्थ अनोखो झांको।
पर रो खमण नमण तिम निज रो है, भ्रमण मिटै उभयां को॥
भूलां भूतकाल री भूलो, आगामी अनुकूलो।
थांरी-म्हारी हलकी-भारी, मत को झगड़ै झूलो॥
कांदा छूत उतार्यां सेती, मूल हाथ नहिं आवै।
सहज सरल चित सद्गुरु आगै, गुणिजन गुनह खमावै॥

आचार्यश्री की अंतरात्मा ने लोगों को इतना खींचा कि सब पिछली गलतियों को भूलकर एकमेक हो गए। चारों ओर 'खमत-खामणा' की ध्वनि गूंज उठी। समाज के सिर की वह अशुक्ल रेखा सदा के लिए मिट गई। वह आश्विन शुक्ला १३ का दिन था। वह कलह चूरू से ही उठा था और उसकी अंत्येष्टि भी वहीं हुई, यह एक स्मरणीय बात है।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

काणाना (मारवाड़)[1] के छात्रों ने अवसर देखा–आचार्यश्री पधार गए हैं और आपसी मनमुटाव समाप्त करने का सहज समय है। १२५ छात्र-छात्राओं का दल अनशन कर बैठा। उनके अनुरोध पर आचार्यश्री ने प्रवचन नहीं किया और सबको सचेत कर दिया कि कोई किसी पर दबाव न डाले। आचार्यश्री गांव में आएं और उनका प्रवचन न हो, यह सबको अखरा। आखिर हृदय बदला। गांव में जो तड़ थे, मिट गए।

आचार्यश्री कोई न्यायाधीश नहीं थे पर न्याय का भरोसा उनके पास था। उससे हर कोई खिंच जाता। काणाना के मेजबान हरिजनों ने एक पत्र आचार्यश्री के चरणों में उपहृत किया। उसका सार यह है–

'हम मेघवंश सूत्रकार जाति जन्म से यहीं के निवासी हैं। यहां के महाजन हम पर लेन-देन को लेकर ज्यादती करते हैं। अतः उन्हें समझाया जाए। वे लोग बेईमानी कर हमें दुख देते हैं। यदि यह भार हम पर कम हुआ तो हम ऊपर उठ सकेंगे।

साथ ही साथ वे इतनी छुआछूत रखते हैं कि हमें दुकान पर चढ़ने तक का अधिकार नहीं। क्या हम मानव पुत्र नहीं हैं?

आपके उद्देश्य बड़े हितकर व मानव-कल्याणमूलक हैं। हम आपके उपदेशों पर चलेंगे और अणुव्रत आंदोलन के नियमों की कभी भी अवहेलना नहीं करेंगे।'

हम हैं आपके विश्वासपात्र
मेघवंश समाज (काणाना)

आचार्यश्री ने पदयात्रा के दौरान हजारों-हजारों गांवों का स्पर्श किया। लाखों-लाखों ग्रामीण-जन संपर्क में आए और उनमें से बहुत लोग व्यसन-मुक्त बने। चरित्र निर्माण और नैतिक प्रशिक्षण का जो कार्य

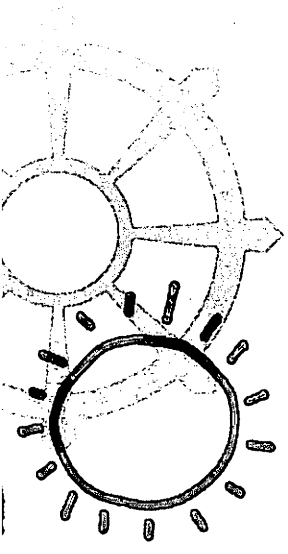

१. ता. ३-४-१९६१।

करोड़ों-करोड़ों रुपयों के व्यय से नहीं किया जा सकता था, वह कार्य आचार्यवर की यात्रा से अनायास हो जाता। एक ही घटना से इसका आभास मिल जाता है।

आचार्यश्री ईडवा (जिला-नागौर) से विहार कर नथवाड़ा गांव जा रहे थे। मार्ग में माल्यावास गांव आया। आचार्यश्री ने संक्षिप्त-सा प्रवचन किया। अनेक व्यक्तियों ने शराब, मांस और धूम्रपान का परित्याग किया। वहां के ठाकुर ने भी व्यसन-मुक्त होने की इच्छा प्रकट की। गांववासियों ने कहा–'अब तो हमारा आधा गांव व्यसन-मुक्त हो जाएगा।' एक व्यक्ति ने संदेह के स्वर में कहा–'ठाकुर साहब! क्या आप शराब पीना छोड़ सकेंगे?' ठाकुर साहब ने दृढ़ स्वर में कहा–'मैंने मद्यपान छोड़ दिया है। यदि तुम मुझे शराब पीते देख लो तो मेरा गला काट देना।'

मादक द्रव्यों के सेवन की एक शृंखला है। एक आदमी स्वयं अफीम खाता है, शराब पीता है, चिलम या हुक्का पीता है, साथ-साथ दूसरों की मनुहार भी करता है। इस प्रकार नई पीढ़ी को वह और तैयार कर देता है। आचार्यश्री के संपर्क में आकर हजारों-हजारों व्यक्ति व्यसन-मुक्त हुए। जो मादक द्रव्य के सेवन को नहीं छोड़ सके उन्हें यह संकल्प दिलाया–'वे मादक द्रव्यों के सेवन के लिए दूसरों की मनुहार नहीं करेंगे।' राजस्थान विश्वविद्यालय के छात्रसंघ के महामंत्री गोपालसिंह शेखावत ने संकल्प किया–'मैं स्वयं शराब नहीं पीऊंगा और अपने अतिथियों को भी नहीं पिलाऊंगा।'

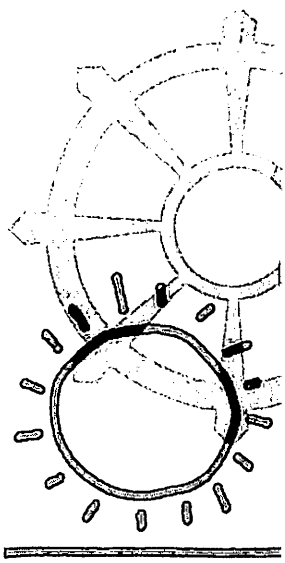

धर्मचक्र का प्रवर्तन

आचार्यश्री की पदयात्रा जन-जागरण की महायात्रा सिद्ध हुई। इसका मूल्यांकन करके ही राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने कहा था–'आचार्यश्री तुलसी पदयात्री हैं। आप समूचे देश में घूम-घूमकर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए कल्याणकारी काम कर रहे हैं। आप सरकार से कोई मदद नहीं लेते, प्रत्युत सरकार की मदद कर रहे हैं। आचार्यश्री! आपको सरकार की जरूरत नहीं है, सरकार को आपकी जरूरत है।'

आचार्यश्री की अपनी तपस्या थी, इसलिए उनकी यात्रा छोटे-बड़े सभी को अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी। आचार्यश्री का जीवन भी बहुमुखी था। कभी वे सुंदर भवन में होते थे तो कभी झोंपड़ी में। कभी वे विद्वानों के बीच होते थे तो कभी वे अनपढ़ ग्रामीणों के बीच। कात्यायनी गांव की महिलाएं दर्शन करने आईं।

आचार्यश्री ने पूछा–'देर से कैसे आईं?'

बहन–'आप आए तब हम खेत जा रही थीं।'

आचार्यश्री–'क्या भाता ले गई थी?'

बहन–'हां महाराज!'

आचार्यश्री–'क्या ले जाती हो?'

बहन–'रोटी, छाछ, राबड़ी आदि।'

आचार्यश्री–'दूध नहीं ले जाती?'

बहन–'दूध बच्चों के लिए है, बड़ों के लिए नहीं है।'

आचार्यश्री–'तुम रोटी खाकर खेत जाती हो या खाए बिना चली जाती हो?'

बहन–'मैं तो रोटी खाकर जाती हूं। कुछ बहनें कहती हैं पति के पहले नहीं खाना चाहिए, पर मैं इसे नहीं मानती। पति मेरा कौन-सा ध्यान रखते हैं? वे गाली भी देते हैं, कभी हाथ भी उठा लेते हैं।'

आचार्यश्री–'पति-पत्नी में झगड़ा होना अच्छा नहीं है।'

बहन–'अच्छा तो नहीं है पर करें क्या? शांति एकतरफा नहीं हो सकती।'

आचार्यश्री–'तुम मिलावटी दूध बेचती हो?'

बहन–'हां महाराज! बेचती हूं।'

आचार्यश्री–'क्या दूध में मिलावट करना छोड़ सकती हो?'

बहन–'आप कहें तो छोड़ दूंगी।'

आचार्यश्री की पदयात्रा मिलन, बातचीत, तत्त्वचर्चा, आध्यात्मिक प्रयोग, समस्या के समाधान का एक विशालतम लेखा-जोखा है। उसकी संक्षिप्त-सी झांकी यहां प्रस्तुत की गई है। अतीत में किसी एक व्यक्ति ने इतनी लंबी पदयात्रा की हो, ऐसा ज्ञात नहीं है और भविष्य में भी ऐसा पदयात्री कोई विरला ही होगा।

आचार्यश्री और विनोबा का प्रथम मिलन

राजघाट पर गांधीजी की समाधि के पास आचार्यश्री का विनोबाजी से मिलन हुआ। विनोबाजी ने कहा–'श्रमणों में पदयात्रा प्रारंभ से रही है, अब आपके व्रत को मैंने भी अपना लिया है।'

आचार्यश्री ने कहा–'अच्छा हुआ। हम दो पदयात्री बने। भारत की जनता गांवों में है। उससे संपर्क साधने का पदयात्रा बहुत अच्छा माध्यम है।'

विनोबाजी–'आप प्रतिदिन कितना चलते हैं?'

आचार्यश्री–'दस-बारह मील।'

विनोबाजी–'इतना ही मैं चलता हूं।'

अणुव्रत और भूदान यात्रा ने पदयात्रा के मूल्य को राष्ट्र के सामने फिर उजागर कर दिया।

व्यापक यात्रा : व्यापक कार्यक्रम

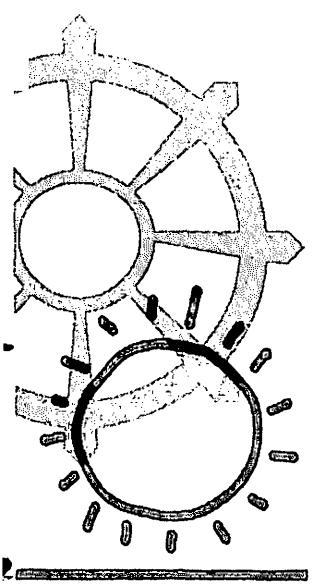

आचार्यश्री की यात्रा ही व्यापक नहीं बनी, वे स्वयं भी व्यापक बन गए। छोटे-छोटे गांवों में भी लोगों की अकल्पित भीड़ हो जाती। मैंने बहुत बार निकट से देखा–लोग उनके पीछे झूम उठते थे। भोजन का समय होने पर भी जनता उन्हें बड़ी कठिनाई से छोड़ती। आचार्यश्री बहुत बार कहते–'अब तो हम जनसाधारण के बन चुके हैं।' इस उक्ति में उनकी भावना का प्रतिबिम्ब था। आचार्यश्री नहीं चाहते थे कि धर्म और साधु किसी सीमा में बंधे रहें। वे उदार बने, जनता की दृष्टि उदार हो गई। अब सब जाति, वर्ग, धर्म और दल के लोग उन्हें अपना मानने लगे और उनकी दृष्टि में कोई ऐसा नहीं था जो अपना नहीं।

अविराम और विराम

आचार्यश्री में गति और विराम का अद्भुत सामंजस्य था। उनकी गति में विराम था और विराम में गति। वे एक दिन में दस-बीस मील चल लेते। चार-पांच बार प्रवचन कर देते। कई घण्टों तक लोगों से बातचीत कर लेते। अध्ययन, अध्यापन आदि प्रवृत्तियां भी चलती रहती थी। बहुत बार अविराम श्रम करते। लोक-जागरण में उन्हें सहज आनन्द मिलता था। अन्यथा वे अपना स्वास्थ्य सुरक्षित नहीं रख पाते। उनके अथक परिश्रम को देख कई बार हम लोग प्रार्थना करते–'अतिश्रम होता है, थोड़ा विश्राम किया जाए।'

आचार्यश्री स्मित के साथ एक ही उत्तर देते–'खाली रहना मुझे बहुत अटपटा लगता है। मेरी समझ में कार्य परिवर्तन ही विश्राम है।' उनके इस संकल्प ने ही उन्हें बहुविध प्रवृत्तियों में संलग्न कर रखा था। उनकी अपनी भाषा ही उनके आनन्द का सहज स्रोत थी।

तीर्थयात्रा

आचार्यश्री की मान्यता रही–सबसे बड़ा तीर्थ मनुष्य है। सब तीर्थों का निर्माण उसकी आंतरिक शक्ति से होता है। आचार्यश्री ने मनुष्य की आंतरिकता को विकसित करने के लिए यात्रा की, इसलिए उनकी यात्रा स्वयं तीर्थयात्रा बन गई। वे तीर्थस्थलों में भी गए, इस दृष्टि से भी उनकी यात्रा तीर्थ-यात्रा कही जा सकती है। उन्होंने पंडित नेहरू के नए तीर्थ–माईथान, मयूराक्षी बांध, झूमरी तलैया बांध आदि देखे। पुराने तीर्थ भी देखे। आचार्यश्री देवधर, प्रयाग आदि वैदिक तीर्थस्थलों में गए। सारनाथ, बौद्धगया और नालन्दा आदि बौद्ध तीर्थों का भी स्पर्श किया। राजगृह, सम्मेद-शिखर, आबू, रणकपुर, पालिताणा आदि जैन तीर्थों में भी कई दिन बिताये।

आचार्यश्री ने नित नए तीर्थों की भी यात्रा की। हिन्दू विश्वविद्यालय (बनारस), शांति निकेतन, संस्कृत विश्वविद्यालय (बड़ौदा), राजकीय पुस्तकालय, भाण्डारकर शोध-संस्थान (पूना), मद्रास विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, अन्नामलै विश्वविद्यालय, कृषि विश्वविद्यालय (हिसार), राजस्थान विश्वविद्यालय (जयपुर) आदि शिक्षा-संस्थानों की भी यात्रा की।

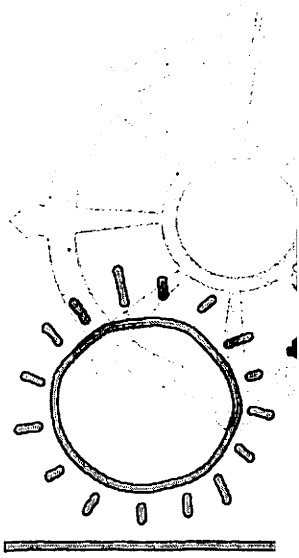

धर्मचक्र का प्रवर्तन

गांव और नगर : समस्या दोनों की

भारत दो भागों में विभक्त है–गांवों में और नगरों में। गांवों में शांत वातावरण है, नगरों का वातावरण कोलाहलपूर्ण है। आचार्यश्री की अनुभूति रही–गांवों में जितना चित्त प्रसन्न रहता है उतना नगरों में नहीं। गांवों में कठिनाइयां अधिक झेलनी पड़ती हैं तो सौहार्द भी अधिक मिलता है। आचार्यश्री जोखाबाद जा रहे थे। बीच में सिकंदराबाद आया। वहां हाईस्कूल में आचार्यश्री प्रवचन कर रहे थे। इतने में संवाद मिला कि गांव के लोग ठहरने को स्थान नहीं दे रहे हैं। 'स्वीकृति क्यों नहीं दे रहे हैं?' आचार्यश्री ने पूछा। आगन्तुक भाई ने बताया–'वे घबरा गए हैं। पहले उनसे साधुओं के ठहरने के लिए स्थान मांगा था। साधुओं से पहले यात्रियों की बस पहुंच गई। उसे देख वे घबरा गए। अब वे कतई तैयार नहीं हैं।' सिकंदराबाद के नागरिक व अध्यापक प्रसन्न थे। अनायास ही उनकी भावना फल रही थी। आचार्यश्री के वहां ठहरने की संभावना हो रही थी। आचार्यश्री नहीं रुके। कुछ साधु आगे थे। वे गांव में पहुंचे। उन्हें देख गांववासियों की घबराहट मिटी। उन्होंने समझ लिया कि यह बस डाकुओं की नहीं है। वे स्थान देने को तैयार हो गए। छोटा-सा गांव, स्थान का अभाव, अर्ध-संदिग्ध लोग। उस स्थिति में कठिनाई हो, यह सहज बात है। आचार्यश्री ने प्रातःकाल विहार किया। तब गांव के लोग उमड़ पड़े। अब उन्हें अपने संदेह पर अनुताप हो रहा था। आचार्यश्री के परिव्रजन में यह होता था कि गांव में पहुंचने से पहले लोग ठहराना नहीं चाहते थे, पहुंचने पर सकुचाते थे और वापस जाते तब रुकने का अनुरोध करते थे। दो-सौ, ढाई सौ आदमी साथ हैं, यह सुनते ही वे घबड़ा जाते। इतने व्यक्तियों की व्यवस्था का भार कौन उठाए? गांव-गांव का विहार, नए-नए लोग। नया-नया परिचय। फिर भी अतर्कित स्वागत होता।

आचार्यश्री का जीवन घटना-बहुल, संगम-बहुल, क्रिया-बहुल, चिन्तन-बहुल और परिव्रजन-बहुल था। प्रत्येक विषय अपने आप में परिपूर्ण है। किन्तु उसे अंकित करने में अपूर्णता ही रहती है। इस अपूर्णता

में से जो परिपूर्णता की ध्वनि निकलती है वही जीवन की गाथा है। आचार्यश्री के परिव्रजन में कठिनाइयों, आनंद-उल्लासों, जनहित के प्रयत्नों और जनता की भावभीनी श्रद्धांजलियों की अनेक गाथाएं भरी पड़ी हैं। यह अध्याय उनकी एक संक्षिप्त झांकी है।

आचार्यश्री जहां गए, वहां अपूर्व स्वागत हुआ। सभी वर्ग के लोगों ने उनके कार्यक्रम का हार्दिक अभिनंदन किया। आचार्यश्री ने स्वागत उसी को माना जो त्याग की वेदी पर चढ़कर किया गया। शाब्दिक श्रद्धांजलियों को उन्होंने कोई महत्त्व नहीं दिया और यदि उनके स्वागत के लिए आडम्बर किया गया तो उसकी कड़ी आलोचना की। आचार्यश्री ने एक बार कहा–'हम भिक्षु बनकर आए हैं, अतिथि बनकर नहीं। हमारा स्वागत आकिंचन्य से हो सकता है, समृद्धि से नहीं। स्वागत वही करे जो उसके लिए उपयुक्त हो। जिसका स्वागत किया जाए उसका अनुसरण नहीं, यह कैसा स्वागत!' आचार्यश्री चरित्र-विकास के लिए चरित्रवान् व्यक्ति को ही प्रधानता देते थे। यों तो उन्हें समर्पित करने बहुत लोग आते थे–भारतीय भी और विदेशी भी। चरित्र की शिक्षा लेने भी आते थे और स्वार्थ-सिद्धि के लिए भी। आचार्यश्री के व्यापक प्रभाव और महान् व्यक्तित्व से आकृष्ट होकर भी आते थे और उसे आवृत करने भी आते थे। धर्म में श्रद्धा रखने वाले भी आते थे और उसमें विश्वास न रखने वाले भी। आने वालों में कुछ भ्रांत होते थे और कुछ स्पष्ट भी। किन्तु अच्छाई यह रही कि आने-जाने का द्वार खुल गया।

जयपुर से दिल्ली

धर्मचक्र का प्रवर्तन

आचार्यश्री बीकानेर राज्य से प्रस्थान कर जयपुर पहुंचे। यह अणुव्रत की पहली यात्रा थी। मध्यवर्ती गांव में अणुव्रत की बात लोगों को समझाई गई। सबने उसमें अपनी रुचि दिखाई। जयपुर में जन-संपर्क और कार्यक्रमों का सिलसिला शुरू हुआ। जनता ने आचार्यश्री का अणुव्रत अनुशास्ता के रूप में अभिनंदन किया। अणुव्रत के कार्यकर्ता चाहते थे कि नैतिकता का स्वर जन-जन तक पहुंचे, इसलिए उन्होंने व्यापक जन-संपर्क का अभियान चलाया। फलस्वरूप हिन्दुस्तान के प्रमुख व्यक्ति संपर्क में आने लगे। डॉ. राजेन्द्रप्रसाद का उन्हीं दिनों मिलन हुआ। वे अणुव्रत आंदोलन की जानकारी प्राप्त कर बहुत प्रभावित हुए। अतिशयोक्ति नहीं होगी कि वे आंदोलन के साथ हृदय से जुड़ गए और जीवनपर्यंत जुड़े रहे। जयप्रकाश नारायण आए। लंबी बातचीत हुई और उनके साथ भी हार्दिक भाव स्थापित हो गया। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सर संचालक गोलवलकरजी से संपर्क हुआ। एक सौहार्दपूर्ण वातावरण बना और उनका आत्मीयभाव स्थायी बन गया।

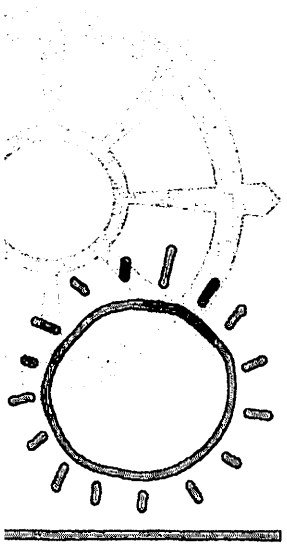

जयपुर प्रवास में अनेक नई विधाओं का प्रारंभ हुआ। ऐसा अनुभव हो रहा था कि तेरापंथ प्राचीन युग से नए युग में प्रवेश कर रहा है। आचार्यश्री के सामने नए क्षितिज आ रहे थे। वे उन पर नई लिपि अंकित करना चाहते थे। इससे पूर्व आचार्यश्री मारवाड़ी बोली में ही प्रवचन किया करते थे। अब राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रवचन देना शुरू किया। सार्वजनिक प्रवचनों का क्रम भी शुरू हुआ। प्रवचन-स्थल में दूसरे वक्ताओं के वक्तव्य भी होने लगे। शिक्षा-संस्थानों में कार्यक्रम आयोजित किए गए। जाने-अनजाने व्यापकता की पृष्ठभूमि निर्मित हो गई। आचार्यश्री अणुव्रत अनुशास्ता के रूप में राष्ट्र के सम्मुख प्रतिष्ठित होते चले गए। इस संधि की वेला में एक भयंकर तूफान का भी सामना करना पड़ा। उसमें आचार्यश्री के पराक्रम और साहस की कसौटी हुई। यदि कोई पराक्रमहीन व्यक्ति होता तो उस तूफान में उसके पैर लड़खड़ा जाते। वह दीक्षा-विरोधी आंदोलन था। उसमें कुछ लोगों ने आचार्यश्री को बाल दीक्षा के समर्थक के रूप में प्रचारित किया। दिल्ली पहुंचने पर समाचार-पत्रों में यह बहुत चर्चित विषय रहा।

आचार्यश्री जयपुर से प्रस्थान कर दिल्ली जाना चाहते थे। इस विषय में आपने मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी से सम्मति चाही। शुभकरणजी दसाणी ने आचार्यश्री की भावना मंत्री मुनि तक पहुंचाई। मंत्री मुनि के विचार गंभीर और भाषा बहुत संयत थी। उन्होंने अपनी संयत भाषा में कहा–'आचार्यश्री दिल्ली पधारकर क्या करेंगे? और बहुत क्षेत्र हैं?' दसाणीजी ने कहा–'वहां जन-कल्याण की बहुत संभावना है।' मंत्री मुनि बोले–'यदि हमारी बात राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री तक पहुंचे तब तो वहां जाने की उपयोगिता होगी। जनता तो गांवों में भी बहुत है।' दसाणीजी ने कहा–'इन सबकी संभावना है।' मंत्री मुनि ने दिल्ली-यात्रा के लिए मंगलभावना प्रकट की।

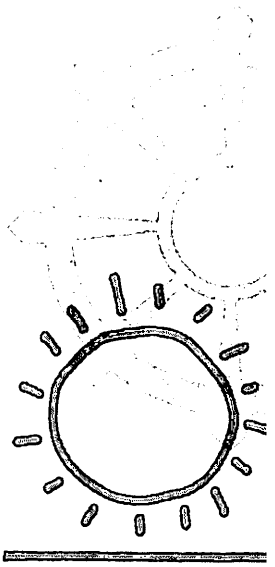

दिल्ली-यात्रा का उद्देश्य

आचार्यश्री जयपुर से प्रस्थान कर अलवर, भरतपुर, आगरा, मथुरा जैसे प्रसिद्ध नगरों व गांवों की पदयात्रा करते हुए ६ अप्रैल, १९५० को दिल्ली पहुंचे। दिल्ली दरवाजे के पास हजारों नर-नारियों ने आपका अभिवादन किया। आचार्यश्री ने ८ बजकर २१ मिनट पर जुलूस के साथ शहर की ओर प्रस्थान किया। दरियागंज को पार कर जुलूस लालकिले के पास पहुंचा और चांदनी चौक होते हुए नया बाजार के प्रवचन पंडाल में सभा के रूप में परिवर्तित हो गया।

दैनिक समाचार पत्रों ने 'आदर्श महर्षि आचार्य तुलसी' शीर्षक वाले लेख प्रकाशित किए। स्वागत समारोह का आयोजन किया। आचार्यश्री ने अभिनंदन के उत्तर में कहा–'आज राजनीति जीवन पर हावी हो रही है। उसका एकाधिकार समाज के लिए कल्याणकारी नहीं है। उसका विकास व्यवस्था के लिए हुआ है, मन और मस्तिष्क को प्रभावित करने के लिए नहीं। हमारा मन और मस्तिष्क अध्यात्म से प्रभावित होना चाहिए। जातिवाद और संप्रदायवाद ने धर्म को भी संकुचित बना दिया। दृष्टिकोण को व्यापक बनाकर आचार और नैतिकता प्रधान धर्म की स्थापना आवश्यक है। मैं इसी भावना को संजोकर दिल्ली आया हूं। मैं नहीं कह सकता कि मैं कितना कर सकूंगा? मैं कहने की अपेक्षा करने में अधिक विश्वास करता हूं। मैं दिल्ली की जनता और राजनेता सबका सहयोग चाहता हूं। मुझे पूरा भरोसा है कि वे सब अहिंसा के प्रचार-प्रसार में मुझे अपना सहयोग देंगे।'

'मैं तेरापंथ समाज का आचार्य हूं। परन्तु हमारा कार्यक्रम सबके लिए है। इसीलिए अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया गया है। आचार्य भिक्षु ने संप्रदाय को सीमा में आबद्ध नहीं किया। इसका नाम ही है तेरापंथ–हे प्रभो! यह तेरापंथ। आदर्श के लिए अपने सत्त्व का विसर्जन, मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिए अपने अहं का विसर्जन, बस इसी का ही नाम है तेरापंथ।'

थोड़े समय पहले जयपुर में डॉ. राजेन्द्रप्रसाद से लगभग दो घण्टे वार्तालाप हुआ। बातचीत के प्रसंग में उन्होंने कहा–'आज देश में सत्य और अहिंसा के प्रचार की बहुत आवश्यकता है। शांति की सारे संसार को आवश्यकता है।' मैंने कहा–'मैं अपने संघ की सारी शक्ति सत्य और अहिंसा के प्रचार में लगाना चाहता हूं। मुझे उस दिन हार्दिक प्रसन्नता होगी जिस दिन जनता के जीवन में सत्य और अहिंसा मूर्तिमान् बनेगी। मेरा दिल्ली में आने का यही उद्देश्य है।'

आचार्यश्री के प्रथम प्रवचन में दिल्ली की जनता ने एक नई आलोक-रश्मि का दर्शन किया।

आचार्यश्री के दिल्ली आगमन की जानकारी जन-जन तक पहुंच चुकी थी। मध्याह्न में मिलने वालों का तांता लग गया। सुप्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु आनंद कौशल्यायन ने आचार्यश्री से भेंट की। उन्होंने श्वेताम्बर

और दिगम्बर–इन दोनों परम्पराओं के बारे में अपनी जिज्ञासा व्यक्त की। आचार्यश्री ने कहा–'साधना की दो परिवेश-पद्धतियां हैं–सवस्त्र और निर्वस्त्र। दोनों अवस्थाओं में साधना की जा सकती है। मैं ऐकान्तिक आग्रह को महत्त्व नहीं देता। मेरी दृष्टि में इन दोनों में विरोध नहीं है। साधक अपनी क्षमता और रुचि के अनुसार चाहे वैसी पद्धति को अपना सकता है।'

स्त्री-मुक्ति के प्रसंग में आचार्यश्री ने बताया–'आध्यात्मिक विकास में स्त्री की पूर्ण अर्हता हमें मान्य है। यह माना गया है कि वर्तमान में स्त्री या पुरुष किसी की भी मुक्ति नहीं होती। भगवान् महावीर के निर्वाण के ६४ वर्ष बाद कोई मुक्त नहीं हुआ। अंतिम मुक्त जंबू स्वामी थे।' भदंतजी ने कहा–'बौद्ध परम्परा में तीन कोटियां हैं–अर्हत्, प्रत्येक-बुद्ध और सम्यक्-बुद्ध। स्त्री अर्हत् हो सकती है, प्रत्येक-बुद्ध व सम्यक्-बुद्ध नहीं हो सकती। वह अर्हत् अवस्था में मुक्त हो सकती है। वर्तमान में कोई मुक्त नहीं होता–यह बौद्ध परम्परा में भी सम्मत है। लंका की बौद्ध परम्परा के अनुसार अंतिम मुक्त मलयदेव हुए।'

आचार्यश्री ने आचार्य भिक्षु द्वारा लिखित मर्यादा पत्र दिखाया। उसे देखकर भदंतजी बोले–'ऐसे महत्त्वपूर्ण पत्र की सुरक्षा के लिए आपको कोई उपाय करना चाहिए, जिससे यह अधिक समय तक सुरक्षित रह सके।'

दीक्षा के विषय में चर्चा चली। आचार्यश्री ने कहा–'मैं बाल-दीक्षा का समर्थक नहीं हूं पर बालक दीक्षा के योग्य हो ही नहीं सकता, इस बात से भी सहमत नहीं हूं। मैं योग्य दीक्षा का समर्थक हूं। जैन मनोविज्ञान के अनुसार नौ वर्ष के बालक में दीक्षा की योग्यता आ सकती है।' भदंतजी ने बौद्ध दीक्षा-पद्धति के बारे में बताया–'हमारे यहां दीक्षा की दो प्रणालियां हैं–प्रव्रज्या और उपसंपदा। बच्चा जब कौआ उड़ाने के योग्य हो जाता है तब उसे प्रव्रज्या दी जा सकती है। उपसंपदा बीस वर्ष की अवस्था से पहले नहीं दी जा सकती।'

जैन और बौद्ध, दोनों श्रमण परम्परा की धाराएं हैं। दोनों में बहुत निकटता है। उस बातचीत से यह अनुभव हो रहा था। सचाई यह है कि धर्म में कोई दूरी नहीं। संप्रदायों में भी काल्पनिक दूरी अधिक है, वास्तविक दूरी बहुत कम।

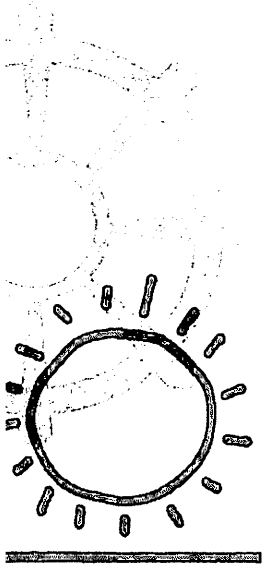

अणुव्रत आंदोलन के कार्यक्रम ने जनता को आकर्षित किया। साथ-साथ जैन धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या से भी जनता में नई जिज्ञासा जागी। अनेक लोग अनेक प्रकार की समस्याएं लेकर आने लगे। आचार्यश्री ने सामाजिक, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय समस्याओं पर नाना संदर्भों में अपने विचार प्रकट किए। कांग्रेस अध्यक्ष श्री पट्टाभि सीतारमैया ने कहा–'मारवाड़ी लोगों की ब्याज लेने की प्रवृत्ति कम हो, ऐसा प्रयत्न होना चाहिए। चार आने प्रतिशत से अधिक ब्याज किसी को भी नहीं लेना चाहिए।' आचार्यश्री ने कहा–'ब्याज एक समस्या है। वह उपयोगिता के स्थान पर शोषण का एक प्रकार बन गया है। इसका प्रतिकार करना अणुव्रत आंदोलन का एक कार्यक्रम है।'

संसद सदस्य श्री बृजेश्वर प्रसाद ने जिज्ञासा की–'आज सायंकाल मजदूरों की सभा में आप क्या कहेंगे?' आचार्यश्री मुस्कान बिखेरते हुए बोले–'मैं मिल-मालिक और मजदूरों के बीच खाई चौड़ी करने वाली बात नहीं कहूंगा। मैं जो कहूंगा वह मजदूरों की अपनी समस्या को सुलझाने वाली बात होगी।' सांझ के समय बाड़ा हिन्दुराव स्थित नेशनल कॉलेज में मजदूरों की एक बड़ी सभा हुई। उसमें आचार्यश्री ने जातीय और आर्थिक समस्या पर विस्तार से प्रकाश डाला।

आचार्यश्री के दिल्ली प्रवास में नैतिकता को नया संजीवन मिला, धर्म-क्रांति की चर्चा का सूत्रपात हुआ। इस विषय में आचार्यश्री के विचार बहुत स्पष्ट थे। आपने धर्म के विशुद्ध और विकृत, दोनों रूपों पर अपना विश्लेषण प्रस्तुत किया–धर्म का विशुद्ध रूप है अहिंसा, संयम और तप। इस त्रिवेणी के पावन संगम में मनुष्य को अभिवांछित सुख का लाभ प्राप्त होता है। इस निष्ठा की आधारशिला पर संख्यातीत नर-नारियों ने रूखी-सूखी रोटियां खाकर, फटे-पुराने कपड़े पहनकर भी वह आनंद पाया जो सम्राटों को भी नहीं मिल सका। सम्राट् उन अकिंचन तपस्वियों की चरणधूलि के लिए तरसते और उनकी सुख-समाधि से ईर्ष्या करते। आत्म-ज्ञान के प्रकाश के सामने भौतिक विज्ञान का नक्षत्र तेजस्वी नहीं बना।

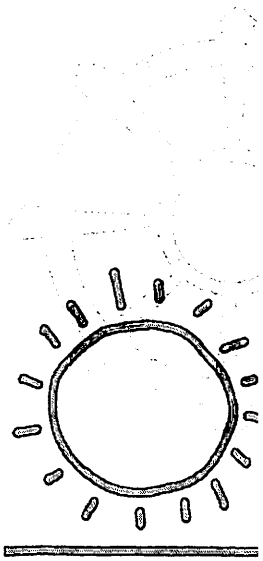

समय-चक्र घूमता रहता है। उसमें आरोह-अवरोह, उतार-चढ़ाव अवश्य होता है। चक्का घूमा, पदार्थ-विज्ञान ऊपर आ गया। आत्मा और धर्म पर दृढ़ आस्था नहीं रही। बहुत सारे बुद्धिवादी धर्म को कलह, शोषण और अत्याचार का अखाड़ा सिद्ध करने पर उतारू हो गए। उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने भी वही राग आलापा। विश्व का दृष्टिकोण धुंधला-सा हो गया।

धर्म का आचरण न करना एक बात है, आचरण करना दूसरी और उसकी विडम्बना करना तीसरी बात। धर्म का दुरुपयोग करने से बड़े-बड़े अन्याय हुए और हो सकते हैं। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि धर्म बुरा है। इस धर्म के नाम पर रची गई ठगाइयों के हम पोषक नहीं, किन्तु साथ-साथ धर्म जैसी दैवी संपदा के साथ खिलवाड़ करना भी नहीं चाहते। धार्मिक विचारों के प्रति भगवान् महावीर का क्रांति स्वर हमारे सामने है।

अविधि से ग्रहण किए हुए शस्त्र और कालकूट जहर जैसे घातक हैं, वैसा धर्म भी घातक बन जाता है, जब उसमें काम-वासना और लालसा का सन्निपात हो जाता है।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

अणुव्रत आंदोलन का पहला अधिवेशन ३० अप्रैल, १९५० को हुआ। उसमें जैनेन्द्र कुमार उपस्थित थे। अणुव्रत के रचनात्मक कार्यक्रम को देखकर वे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने अपने वक्तव्य में कहा–'इस समय बोलते हुए मुझे लज्जा का अनुभव होता है। लज्जा के साथ ईर्ष्या का भी। मैं अणुव्रत आंदोलन में अपना नाम नहीं दे पाया हूं। दे सकता तो अच्छा रहता। उनके भाग्य को मैं सराहता हूं जो संकल्प लेकर अणुव्रती बने हैं।

पिछले वर्ष सर्वोदय समाज के राउ-सम्मेलन में श्री गुलजारीलाल नंदा का एक प्रस्ताव आया था। उसमें जो कार्यक्रम था, मैं कह सकता हूं कि आज के अणुव्रत आंदोलन के आदेश और नियम उससे आगे जाते हैं। ये अधिक समग्र हैं। इनकी भूमिका राष्ट्रीयता से आगे धार्मिक है।'

जैनेन्द्रजी एक बार पहले सरदारशहर में मिले थे। वह मिलन सुखद नहीं था। इस बार आत्मीय बन गया। वे आचार्यश्री के साथ अभिन्न भाव से जुड़ गए।

६ मई, १९५० को टाइम्स और लाइफ के प्रतिनिधि श्री ए. रंगास्वामी ने आचार्यश्री से भेंट की। उन्होंने बताया–'मुझे अपने केन्द्रीय कार्यालय से आदेश मिला है कि मैं आपसे अणुव्रत आंदोलन के बारे में जानकारी प्राप्त करूं और अमेरिका के नाम आपका संदेश प्राप्त कर अपने पत्र को भेजूं।' न्यूयार्क टाइम्स ने अपने २ मई के संस्करण में अणुव्रत आंदोलन के प्रथम अधिवेशन का समाचार प्रकाशित किया था। उसे पढ़कर अमरीकी जनता में एक उत्सुकता जन्मी कि अणुव्रत आंदोलन क्या है और उसका प्रयोगात्मक स्वरूप क्या है?

आचार्यश्री ने अणुव्रत आंदोलन की जानकारी दी और अमरीकी जनता के नाम एक संक्षिप्त संदेश दिया–'अमेरिका आज भौतिक प्रगति के चरम शिखर पर है। उसे अध्यात्मवाद की ओर भी आना होगा। सत्य, अहिंसा व अपरिग्रह का आश्रय लेने से ही विश्वशांति स्थापित हो सकती है। इसके लिए व्यक्तिगत रूप से भावनाओं में परिवर्तन करना आवश्यक है। बल-प्रयोग और प्रलोभन लाभप्रद नहीं होते। अणुव्रत आंदोलन का उद्देश्य जीवन में नैतिकता की स्थापना करते हुए सत्य व अहिंसा के द्वारा विश्वशांति के लिए स्थायी वातावरण बनाना है। मैं चाहता हूं, अमरीकन अपने जीवन में अब एक करवट लें। उन्होंने भौतिक प्रगति का आस्वाद तो चख ही लिया है, अब आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख होकर विश्वशांति का स्वर भी उदात्त करें।'

८ मई, १९५० के मध्याह्न में बेनेट कौलमैन कंपनी की ओर से टाइम्स ऑफ इंडिया के नवनिर्मित भवन में आचार्यश्री का प्रवचन हुआ। कंपनी के चेयरमैन रामकृष्ण डालमिया, टाइम्स ऑफ इंडिया व नवभारत टाइम्स के संपादक और विभागीय कर्मचारी उपस्थित थे। आचार्यश्री ने उस सभा में समाचार-पत्रों के दायित्व का विवेचन किया। पाठक की रुचि का परिष्कार कैसे हो सके, उसमें नैतिकता और आध्यात्मिकता के प्रति आकर्षण कैसे पैदा हो सके, इस पर विचार-विमर्श हुआ।

बृजलाल नेहरू तंत्रशास्त्र के अध्येता थे। उन्होंने श्रीमती रामेश्वरी नेहरू के साथ आचार्यवर से भेंट की। अणुव्रत आंदोलन के विषय में विस्तृत चर्चा हुई। श्रीमती नेहरू का अणुव्रत के क्षेत्र में निरन्तर योगदान बना रहा।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

१२ मई, १९५० को आकाशवाणी के देहाती कार्यक्रम के व्यवस्थापक पं. हृदयराम शर्मा, देवेन्द्र प्रसाद और चौधरी होशियार सिंह ने आचार्यश्री से भेंट की। उनका प्रश्न था–'क्या देहातों में भी आप अणुव्रत आंदोलन का प्रचार करते हैं?'

आचार्यश्री ने पद-यात्रा का परिचय दिया। इस वर्ष हमने राजस्थान और उत्तरप्रदेश में ६५० मील की यात्रा की। सैकड़ों देहातों में रहे। हजारों-हजारों ग्रामीण लोगों से संपर्क हुआ। उनके बीच अणुव्रत का त्रि-सूत्री कार्यक्रम–धूम्रपान वर्जन, मद्यपान-निषेध, मिलावट-निषेध–चला।

शर्माजी ने पूछा–'गांवों में रहने के लिए छोटी-छोटी झोंपड़ियां मिलती होंगी?'

आचार्यश्री–'जो स्थान मिलता है उसी में हम आनन्द के साथ रह जाते हैं।'

शर्माजी–'आज जिस प्रकार राजकीय अधिकारियों से मिलना कठिन है उसी प्रकार ये श्रीमंत लोग आपको जन-साधारण के लिए दुर्लभ तो नहीं बना देंगे?'

आचार्यश्री–'इन श्रीमंतों का हम पर प्रभाव नहीं है। हमारी त्याग में आस्था है। त्याग का आसन भोग से सदा ऊंचा होगा।'

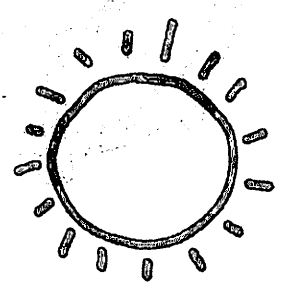

जैनेन्द्रजी ने अपनी भावना व्यक्त की। उन्होंने बताया–'मैं आचार्यश्री से इसीलिए प्रभावित हूं कि बड़े-बड़े श्रीमंत लोग इनकी दृष्टि की ओर देखते रहते हैं, ये उनकी ओर नहीं देखते। घोर परिग्रह के युग में अपरिग्रह के आसन का ऊंचा होना अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण घटना है।'

१४ मई, १९५० को केन्द्रीय प्रकाशन विभाग के उपनिदेशक डॉ. एस. के. सक्सैना ने आचार्यश्री के दर्शन किए। उन्होंने कहा–'आपके साधु संघ में साहित्यिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक त्रिवेणी का संगम

है। यह देखकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। जैन दर्शन का भारतीय दर्शनों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन साहित्य बहुत गंभीर और विवेचनापूर्ण है। मैंने जैन दर्शन के बारे में एक लेख लिखा है। प्रकाशन के लिए उसे अमेरिका के पत्रों में भेजा है। मैं स्वयं भी अमेरिका जाने वाला हूं। वहां एक वर्ष रहूंगा। अपने प्रवास-काल में मैं वहां जैन दर्शन से अमरीकी जनता को परिचित कराऊंगा।'

मध्याह्न में 'हिन्दू आउटलुक' के संपादक श्री इन्द्रप्रकाशजी ने आचार्यवर के सामने एक सुझाव रखा–आपका व्यक्तित्व प्रभावशाली है। आपकी वाणी में शक्ति है। यदि आप पद-यात्रा के स्थान पर वायुयान की यात्रा शुरू कर दें तो मानव जाति का अधिक कल्याण होगा।'

आचार्यश्री–'वायुयान की यात्रा द्वारा अधिक नगरों तक पहुंचा जा सकता है, किन्तु अधिक गांवों तक नहीं पहुंचा जा सकता। दूसरी बात, यान-वाहन का प्रयोग हमारी साधुचर्या में सम्मत नहीं है।'

टाइम, लाइफ, टॉटॉन्टॉ, स्टार आदि पत्रों के अमरीकन संवाददाता जोम्सब्रुक, न्यूज क्रॉनिकल के संपादक श्री एम.बी.एस. राजा, अमरीकन प्रेस एसोसिएटेड के संवाददाता श्री सातकोपान ने आचार्यवर से भेंट कर जैन दर्शन, तेरापंथ, अणुव्रत आदि विषयों पर बातचीत की। पत्रकारों के मिलने का क्रम चल रहा था। सत्यदेव विद्यालंकर तथा कुछ अन्य पत्रकारों की इच्छा थी कि एक पत्रकार सम्मेलन आयोजित किया जाए। १६ मई, १९५० को उसकी आयोजना की गई। उस सम्मेलन में भारतीय पत्र-प्रतिनिधि तथा विदेशी पत्र-प्रतिनिधि भी अच्छी संख्या में उपस्थित थे।

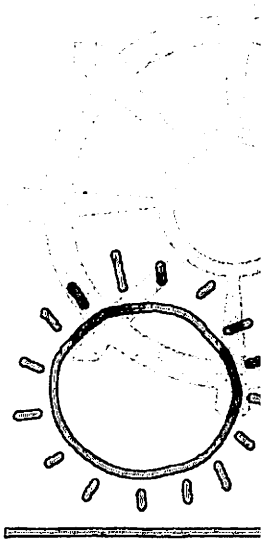

आचार्यश्री ने संघर्ष कैसे मिटे? युद्ध कैसे टले? इस विषय की विस्तार से चर्चा की और उसके संदर्भ में अणुव्रत की आवश्यकता पर प्रकाश डाला। आपने कहा–'अहिंसा को आदर्श मानकर चलने वाला चरम अहिंसा तक न पहुंच सके, फिर भी नीति-भ्रष्ट नहीं होता। इस उद्देश्य से अणुव्रत आंदोलन चलाया गया है। यह त्याग प्रधान है। त्याग नकारात्मक होता है। सामान्यतया भाव में अभाव और अभाव में भाव रहता ही है। फिर भी भारतीय दृष्टि में निषेध व्यापक माना गया है और कर्म के साथ अनासक्ति का भाव जोड़ा गया है। जीवन चलाना और धन कमाना गौण प्रश्न है। मुख्य प्रश्न है–दूसरों को न सताना, संग्रह न करना। नकार की सीमा जीवन-निर्वाह में भी बाधक नहीं बनती और बुराइयों से भी बचाव हो जाता है। दुनिया त्याग का मूल्य आंके। आत्मा को बलवान् बनाने के लिए त्याग की परम्परा आवश्यक है। अणुव्रत आंदोलन में जिस समाज की कल्पना है उसको सफल बनाना उन दोनों का कर्तव्य है, जो पूंजीवाद के विरोधी हैं और जो साम्यवाद के विरोधी हैं। यह मध्यम मार्ग है, जिसमें मनुष्य दोनों वादों की त्रुटियों से बच जाता है।'

न्यूयार्क टाइम्स के संवाददाता श्री टी. वी. ए. राजगोपालन, प्रेस ट्रस्ट ऑफ इंडिया के सहायक संपादक श्री ज्योतिसेन गुप्ता और श्री नय्यर ने आचार्यवर के दर्शन किए। श्री ज्योतिसेन गुप्ता ने पूछा–'मन की चंचलता को कैसे मिटाया जा सकता है?' आचार्यश्री ने संकल्प-शक्ति के विकास का मार्ग सुझाया। जागरूकता भी चंचलता को समाप्त करने का महत्त्वपूर्ण साधन है। इनके द्वारा धूमपान आदि आदतों को भी बदला जा सकता है। श्री ज्योतिसेन गुप्ता ने कहा–'मैं धूम्रपान करता हूं। मैं पूछने वाला ही था कि उसे कैसे छोड़ूं? आपने बिना पूछे ही मेरे प्रश्न का समाधान कर दिया।' श्री नय्यर बोले– 'वार्तालाप के दौरान मैं ध्यानपूर्वक आपकी मुद्रा को देख रहा था। आपकी आंखें, कान और नाक में मुझे विशेषता का आभास मिला। वास्तव में ही आप एक ओजस्वी महापुरुष हैं।'

२८ मई, १९५० को बिरला हायर सैकेण्डरी स्कूल में साहित्य गोष्ठी का आयोजन किया गया। 'अपरिग्रह और अर्थवाद'–इस विषय पर मुनिगण और साहित्यकारों ने अपने विचार प्रस्तुत किए। आचार्यश्री ने इस निष्कर्ष पर सबका ध्यान केन्द्रित किया–'गरीबी पूर्व कर्मों का ही फल है, यह एकांगी दृष्टिकोण है। सामाजिक व्यक्ति समविभाग का अधिकारी है, दान का नहीं। पहले शोषण करना फिर दान देकर अहं-पोषण करना, इसमें पुण्य कैसा!' इन बिन्दुओं ने एक नया आलोक बिखेरा।

वर्ल्ड फैलोशिप ऑफ फैथ्स के संगठक श्री एस. जी. पाटिल तथा प्रधानमंत्री शकुन्तला देवी एम. ए. वेदतीर्थ ने कठौतिया भवन में आचार्यश्री के दर्शन किए। श्री पाटिल ने नमस्कार महामंत्र के प्रथम पद (णमो अरिहंताणं) के विषय में जिज्ञासा की। उनका प्रश्न था अहिंसा प्रधान धर्म के मंत्र में अरि शब्द का चुनाव क्यों? आचार्यवर ने बतलाया– 'अरिहंत में अरि शब्द नहीं है। प्राकृत भाषा के कारण 'अर्हत्' का अरिहंत रूप बना है। अरि अर्थात् शत्रु को मारने वाला–यह अर्थ वैकल्पिक रूप में किया गया है। इसका तात्पर्य कषाय-शत्रु को परास्त करने से है, किसी प्राणी की हत्या से नहीं।' श्री पाटिल को इससे बहुत समाधान मिला।

दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री एस. एन. सेन ने आचार्यश्री से भेंट कर जैन साहित्य के बारे में बातचीत की। आचार्यश्री ने बताया–जैन विद्वान् जनभाषा में साहित्य लिखते रहे हैं। अब हिन्दी जनभाषा बन गई तो उसमें भी जैन साहित्यकार पीछे नहीं रहेंगे। प्राचीन और अर्वाचीन हस्तलिखित ग्रंथों को देखकर श्री सेन ने कहा–'ये अविलम्ब प्रकाशित होने चाहिए, मुख्य-मुख्य ग्रंथालयों और अनुसंधान केन्द्रों में पहुंचने चाहिए।'

धर्मचक्र का प्रवर्तन

आचार्यश्री ने दिल्ली से प्रस्थान करते समय अपने विदाई संदेश में तीन बातों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया–दृष्टिकोण का परिवर्तन, शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन, अहिंसक संगठन।

कोलकाता यात्रा

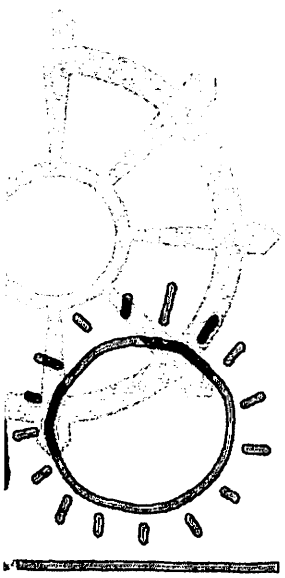

आचार्यश्री तुलसी जैन धर्म के आचार्य थे। पदयात्रा जैन मुनि का आजीवन व्रत है। इसलिए यह कहना कोई नया आलोक नहीं देगा कि आचार्यश्री और उनका शिष्य-समुदाय सब पैदल चले। अपना सब कुछ अपने कंधों पर लेकर चलना, न कुछ आगे और न कुछ पीछे, यह असंग्रह भी है, स्वावलंबन और गृहस्थों से शारीरिक सेवा न लेने का व्रत भी। मुंह पर मुख वस्त्रिका, कंधों पर बोझ और उन पर रखा हुआ रजोहरण–यह राजस्थान के लिए नहीं, किन्तु उत्तरप्रदेश की जनता के लिए एक अचरज था। हम साधु हैं, यह तो हमारी वेश-भूषा ही बता रही थी। पर हम किस संप्रदाय के साधु हैं? हमारा धाम कहां है? क्यों जा रहे हैं? और कहां से आ रहे हैं? आदि-आदि जिज्ञासाएं लोगों को मुखरित किए देती थीं।

गांवों में और सड़क के पार्श्वों में हजारों व्यक्तियों ने पूछा–'बाबा! कहां से आ रहे हैं? कहां जाएंगे? क्या कोई मेला है या कोई तीर्थ करने जा रहे हैं? बड़े बाबा का धाम कहां है? आदि-आदि।' हमारा उत्तर होता–'हम जयपुर से आ रहे हैं, कानपुर जाना है, धर्म का उपदेश देते हैं, अणुव्रत का प्रचार करते हैं, धाम कहीं भी नहीं है।' वे सब सुन लेते और मान लेते, पर एक बात नहीं भी मानते। हमारा धाम कहीं भी नहीं है–यह बात उनके गले नहीं उतरती। धाम नहीं, यह कभी हो सकता है? कहीं तो होगा ही–पुनरुक्तियां बता रही थीं कि उनके संस्कार सुदृढ़ हैं। वे तथ्य को स्वीकार नहीं करने देते। कुछ लोगों की जिज्ञासाएं तो

अमिट-सी होतीं। वे एक से पूछते और फिर दूसरे और तीसरे से और तब तक पूछते ही रहते जब तक हमारा कोई साथी मिलता रहता। आचार्यश्री की यात्रा का यह पहला अवसर था। यहां के लोगों ने साधुओं को देखा था, पर ऐसे साधु और उनका इतना बड़ा समुदाय कभी नहीं देखा था।

हाथरस में सौ से अधिक व्यापारियों ने मिलावट न करने का व्रत लिया। अनैतिकता से लोग ऊब रहे थे। उसे दूर फेंक देना चाहते थे, पर आर्थिक स्पर्धा इतनी छा गई थी कि उसे फेंकना उनके वश की बात नहीं थी। सुख-सुविधा के सामने नैतिकता का कोई विशेष मूल्य नहीं रहा।

नैतिकता, जो आध्यात्मिकता का समाजीकृत रूप है, का स्वतंत्र मूल्य है। वह सहज अपेक्षित है। जब मनुष्य का चिन्तन अर्थवादी और मन सुविधावादी बनता है, तब नैतिकता का आंदोलन जरूरी हो जाता है और चरित्र-विकास सापेक्ष हो जाता है।

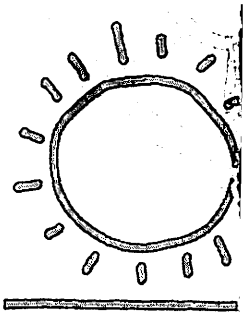

यही अपेक्षा आचार्यश्री को लम्बी-लम्बी यात्रा के लिए प्रेरित कर रही थी और यही अपेक्षा जनता को आचार्यश्री के निकट ला रही थी। आचार्यश्री जनता के और जनता उनकी होती जा रही थी।

बहुत लोग जैन परम्परा से अनजान थे। आचार्यश्री को भेंट देने के लिए कोई फूल लाता, कोई फूलमाला, कोई फल और कोई गंगाजल। आचार्यश्री कहते–'मैं भेंट नहीं लेता।' वे निराश होते। आचार्यश्री कहते–'मैं भेंट लेता हूं।' तब वे प्रसन्न हो जाते। आचार्यश्री कहते–'मैं भेंट लेता हूं, पर इनकी नहीं, किसी बड़ी चीज की लेता हूं।' वे असमंजस में पड़ जाते। तब आचार्यश्री कहते–'मुझे उस बुराई की भेंट चाहिए, जो आपको सबसे अधिक प्रिय हो।' मांग खाली नहीं जाती। इस भेंट ने अनेक परिवारों और अनेक व्यक्तियों को व्यसन-मुक्त कर दिया। एक ग्रामीण आया। प्रवचन सुना। उसने मादक-वस्तुओं के सेवन का त्याग कर दिया। वह घर गया। अपने सारे परिवार को ले आया। स्त्रियां भी पीछे नहीं थीं। सबका हृदय बदल गया और पूरा घर व्यसन से मुक्ति पा गया। एक व्यक्ति ने गंगाजल लेने के लिए बहुत आग्रह किया। आचार्यश्री ने कहा–'हमें नहीं चाहिए।' उसने कहा–'ताजा है, स्वच्छ है, अभी लेकर आया हूं।' आचार्यश्री ने कहा–'आपकी बुद्धि से भी अधिक स्वच्छ है?' 'नहीं बाबा! उससे तो स्वच्छ नहीं है।' आचार्यश्री ने कहा–'तो मैं आपकी श्रद्धा को लेता हूं, फिर जल का क्या करना?' इससे उसे संतोष हो गया। इस प्रकार वे दिन सहज, सरल और सरस प्रकृति के वातावरण में बीते।

आचार्यश्री की यात्रा अणुव्रत की यात्रा थी। इस यात्रा के प्रथम चरण में ऐसा प्रतीत हुआ कि उत्तर प्रदेश नैतिकता की प्रयोगभूमि बन सकता है। मुख्यमंत्री श्री संपूर्णानंदजी ने चाहा–'उत्तरप्रदेश अणुव्रत आंदोलन का केन्द्र बने।' यह हमने समाचार पत्रों में पढ़ा। उस समय हम आगरा में थे। यमुना और गंगा के बीच अणुव्रत की सरस्वती का प्रवाह देखा तो लगा कि हर गांव त्रिवेणी-संगम बन रहा है।

डॉ. संपूर्णानंद राजनेता थे, उससे अधिक वे मर्मज्ञ विद्वान् थे। उत्तरप्रदेश की यात्रा के दौरान आचार्यश्री उनके मुख्यमंत्री-निवास पर ठहरे। अनेक विषयों पर चर्चाएं हुईं। जब वे राजस्थान के राज्यपाल थे, उस समय जयपुर में उनसे लंबी वार्ताएं हुईं। उन्होंने आचार्यश्री को बहुत निकटता से देखा था इसीलिए उन्होंने अधिकारपूर्ण शब्दों में अणुव्रत के परिपार्श्व को रेखांकित किया–'अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी राजनीतिक क्षेत्र से बहुत दूर हैं। किसी दल या पार्टी से संबंध नहीं रखते। किसी वाद के प्रचारक नहीं हैं, परन्तु प्रसिद्धि प्राप्त करने के इन सब मार्गों से दूर रहते हुए भी वे इस काल के उन व्यक्तियों में

से हैं, जिनका न्यूनाधिक प्रभाव लाखों मनुष्यों के जीवन पर पड़ा है। वे जैन धर्म के संप्रदाय-विशेष के अधिशास्ता हैं, इसलिए आचार्य कहलाते हैं। अपने अनुयायियों को जैन धर्म के मूल सिद्धांतों का अध्ययन कराते ही होंगे, श्रमणों को अपने संप्रदाय-विशेष के नियमादि की शिक्षा-दीक्षा देते ही होंगे, परन्तु किसी ने उनके या उनके अनुयायियों के मुंह से कोई ऐसी बात नहीं सुनी जो दूसरों का चित्त दुखाने वाली हो।'

राजनीतिक दलबंदी के दर्शन गांवों में भी मिले। लखनऊ और सीतापुर के बीच हमने सुना कि पार्टीबाजी के सिलसिले में एक आदमी का खून अभी-अभी हुआ है। पंजाब और महाराष्ट्र की यात्रा में हमने सुना था कि यहां बात-बात में खून हो जाता है। आवेश का पारा चढ़ा रहता है। उत्तरप्रदेश के इन जिलों में भी हमें इसका अतिरेक मिला।

हत्या करना बहुत बड़ी बात नहीं है। फौजदारी के मामलों और वकीलों की भरमार है। अपराधियों की संख्या भी काफी है। छोटे-छोटे खेत हैं। भूमि कम है, आबादी अधिक। खेतों की सीमा बढ़ाने के लिए भी काफी लड़ाइयां हो जाती हैं। अधिक अपराधों का मूल अज्ञान व अशिक्षा है। आवेश या आवेग मनुष्य की सामान्य दुर्बलताएं हैं। शिक्षित मस्तिष्क उस पर नियंत्रण रख सकता है। अशिक्षित आदमी उसका प्रयोग कर सकता है। अधिकांश अपराध आकस्मिक आवेग के कारण होते हैं और प्रायः वे ही लोग करते हैं जिन्हें संयत रहने की शिक्षा नहीं मिलती। आचार्यश्री ने सीतापुर में बंदियों से कहा–'ब्रेक का उपयोग भले ही कहीं और कभी हो, पर मोटर की सुरक्षा उसी में निहित है। यही स्थिति संयम की है। सर्वत्र और सर्वदा भले ही वह उपयोगी न जान पड़े, पर मानवता का प्रहरी वही है। अणुव्रत आंदोलन इसीलिए संयम को जीवन मानकर चलता है। संयम ऐसा सामान्य धर्म है जिस पर कम्युनिस्ट भी कटाक्ष नहीं करते। धर्म-प्रधान युग में धर्म को न मानने वाले नास्तिक कहलाते थे और इस राजनीति के युग में धर्म को न मानने वाले कम्युनिस्ट कहलाते हैं।' सीतापुर की बात है। एक भाई कम्युनिस्टों के बारे में कुछ कह रहा था। आचार्यश्री ने कहा–'आप केवल एकांगी दृष्टि से ही उन्हें क्यों देखते हैं? उनमें कुछ अच्छाइयां भी हैं। आखिर वे भी मनुष्य हैं। उनमें भी भले आदमी हो सकते हैं। पर आज मनुष्य के अंकन का साधन उसका अच्छा या बुरा आचरण नहीं रहा है। वह धार्मिक या राजनीतिक संप्रदाय के लेबल से आंका जाता है। आस्था और झुकाव अपना-अपना अलग होता है, पर दूरी से संदेह बढ़ता है और संपर्क से प्रेम।'

धर्मचक्र का प्रवर्तन

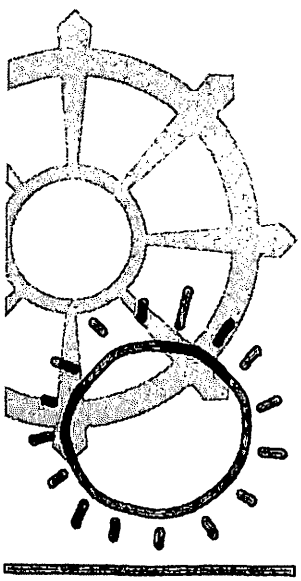

आचार्यश्री लखनऊ में प्रवास कर रहे थे। आंदोलन के कार्यकर्ता कामरेड यशपालजी से मिले। आंदोलन के बारे में बातचीत की। प्रसंगवश उन्होंने कहा–'आंदोलन के प्रवर्तक यहीं हैं। आप चाहें तो उनसे भी मिलिए और बातचीत कीजिए।' यशपालजी ने कहा–'आप मुझे यशपाल जैन समझकर तो वहां चलने के लिए नहीं कह रहे हैं न?'

कार्यकर्ताओं ने कहा–'जी नहीं, हम कम्युनिस्ट यशपाल से बात कर रहे हैं।' वे दूसरे ही दिन डालीगंज आए। आचार्यश्री से वार्तालाप हुआ। वह इतना सरल और सहज रहा कि फिर थोड़े ही दिनों में वैसे प्रसंग कई बन गए और दोनों ओर से ऐसा मनोभाव रहा कि यह क्रम कई दिनों तक चलता रहा। वार्तालाप से जाना कि वे जैन दर्शन को वैज्ञानिक दर्शन मानते हैं। उसके अध्ययन के लिए तत्पर भी हैं पर यथेष्ट सामग्री के अभाव में उनकी इच्छा पूरी नहीं हो रही है। आत्मवाद और कर्मवाद के विषय में अनेक चर्चाएं चलीं।

भगवतीशरण वर्मा अपने मित्रों के साथ आचार्यवर के पास आए। उन्होंने कहा–'हम एक साहित्य परिषद् का गठन कर रहे हैं। उसका संरक्षक आपको बनाना चाहते हैं।' आचार्यश्री ने कहा–'मैं आपकी भावना का समादर करता हूं पर मेरे जैसे परिव्राजक के लिए इस पद को स्वीकार करना कैसे संभव होगा?'

आचार्यश्री लखनऊ से सीतापुर पहुंचे। वह व्यापार-वाणिज्य की मंडी है और साहित्य का भी क्षेत्र है। मिश्र बंधुओं के वंशज डॉ. नवलबिहारी मिश्र और उनके सहयोगी साहित्य के क्षेत्र में बहुत दिलचस्पी रखते थे। वे अवधी का शब्दकोश भी बना रहे थे। प्राकृत शब्दकोश की प्राप्ति के लिए उनमें बड़ी उत्सुकता देखी। वे कह रहे थे कि हमने अर्धमागधी शब्दकोश के लिए कई प्रयत्न किए। प्रकाशक संस्था से मांगा पर वह मिल नहीं रहा है। यह कुछ विचित्र-सा ही है। जहां कोई उपयोग नहीं, वहां पुस्तकें पड़ी हैं और उपयोग करने वालों को वे मिल नहीं रही हैं।

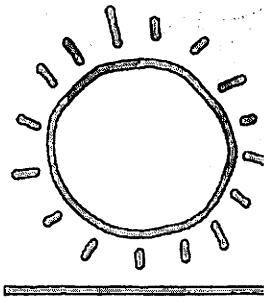

कानपुर चातुर्मास का निश्चय हो चुका था। जिस मार्ग से गए, वही मार्ग फिर चुना। सड़क वही थी, गांव वे ही थे। केवल ऋतु में परिवर्तन हो गया। चिलचिलाती धूप और धधकती आग-सी लू राजस्थान की लू की विस्मृति करा रही थी। दस-ग्यारह मील का विहार कर आचार्यश्री परिस्थिति-विजय की बात सिखा रहे थे।

परिस्थिति ने अपना दबाव डाला। एक साध्वी (साध्वी हर्षकुमारी, लाडनूं) की बलि ली और एक साधु भी उसकी बलि होते-होते बचे। परिस्थिति-विजय की दूसरी घटना भी हमने देखी। एक तांगे वाला पांच सौ रुपये की साड़ियों की गठरी लिए आया तो लोगों के आश्चर्य का पार नहीं रहा। उसने मोटरकार से गठरी को गिरते हुए देखा। उसने पुकारा पर कार आगे चली जा रही थी। उसकी आवाज यात्री लोग सुन न सके। उसने कार के नंबर ले लिए। वह मुड़ा और बरुआ में जा मोटरवालों को वह गठरी सौंप दी। यह घटना परिस्थितिवादियों को चौंका देने वाली थी। मनुष्य परिस्थितियों से पराजित नहीं होता। वह अपनी धारणाओं से ही पराजित होता है। वास्तव में धारणा का परिवर्तन ही परिस्थिति की विजय है। अणुव्रत आंदोलन का प्रयत्न यही रहा–मनुष्य की धारणाएं बदलें। उनके बदलने पर ही समाज का रूप बदल सकेगा।

हमने ऋतु को बदलते देखा। एक बार की बरसात ने लू का अस्तित्व धो डाला। आचार्यश्री के कानपुर आगमन के पहले चरण में प्रकृति का कमनीय रूप देखा। मानव प्रकृति भी नया मोड़ ले–यह सबकी चाह है। वह कैसे ले? यह आज का ज्वलंत प्रश्न है। इसका समाधान हम सबको ढूंढ़ना है।

कानपुर से कोलकाता

पहले लक्ष्य निश्चित होता है फिर गति। कोलकाता की यात्रा का निश्चय हुआ और आचार्यश्री अपने संघ के साथ उस ओर चले। चलना एक क्रम है। जो भी चलते हैं वे क्षेत्र और काल की मर्यादा को स्वीकार करके चलते हैं। स्वीकृति का एक सिद्धांत है। अपनी शक्ति के सहारे चलने वाले भी क्षेत्र का स्पर्श करते हैं और वाहन के आरोही भी उसका स्पर्श किए बिना नहीं चलते। पर काल-मर्यादा दोनों की भिन्न होती है। पदयात्री जहां महीनों में पहुंच पाते हैं, वहां यान-यात्री दिन में या घंटों में पहुंच जाते हैं। आज के वैज्ञानिक युग में कुछ लोगों की दृष्टि में यह अवैज्ञानिक बात है कि लोग मार्गशीर्ष माह में कानपुर से चलें और फाल्गुन में कोलकाता पहुंचें। आखिर वैज्ञानिकता है क्या? क्या थोड़े से समय में क्षेत्र की अधिक दूरी को नापना ही वैज्ञानिकता है? जीवन की नाप जहां छोटी होती जाए, वहां वैज्ञानिकता का क्या अर्थ है? हृदय

की दूरी बढ़ती जा रही है। आज का युग मनुष्य-मनुष्य के बीच की दूरी को कम करने में असफल रहा है। इतना ही नहीं, प्रत्युत उसे आगे बढ़ाने में इसका योग है। आचार्यश्री के सामने क्षेत्र की दूरी को कम करने का प्रश्न नहीं था। उनके सामने महत्त्वपूर्ण प्रश्न था—मानव-मानव के बीच जो दूरी है वह कैसे मिटे?

कानपुर को छोड़कर जैसे ही आचार्यश्री गांवों में पहुंचे तो देखा कि अर्थ के भाव और अभाव में कितना अंतर है। आंतरिक शून्यता को लिए हुए भी आज के नगर बाहरी सुख-सुविधाओं के महान् स्रोत बने हुए हैं और जो उत्पादन के स्रोत हैं वे साधनों के अभाव में दीन-हीन से लग रहे हैं। नैतिक आंदोलनों को 'अर्थमनर्थं भावय नित्यं' का मर्म समझाने में अधिक कठिनाई का अनुभव हो रहा है और इसलिए हो रहा है कि जनता के सामने प्रमुख प्रश्न सुख-सुविधा का है। उसकी प्राप्ति का अनन्य साधन अर्थ है।

आचार्यश्री अर्थ और उसके द्वारा उपलब्ध होने वाली सुख-सुविधाओं को त्यागने की बात नहीं कह रहे थे। यह संन्यास की बात है, दूर की भूमिका है। आचार्यश्री कह रहे थे—अर्थार्जन की दोषपूर्ण पद्धति और सुख-सुविधाओं के लिए सब कुछ करने की मनोवृत्ति को त्यागने की बात। जनता ने आचार्यश्री को सुना और इस आशा से सुना कि उसे कोई मार्गदर्शन मिल रहा है। अनैतिक और अप्रामाणिक होना किसी के लिए गौरव की बात नहीं है। अनैतिक व्यवहार करने वाले स्वयं भयभीत रहते हैं। क्या वह सही अर्थ में शांति और सुख की अनुभूति कर सकता है? इस तथ्य को आचार्यश्री प्रांजल भाषा में इस प्रकार रखते कि सुनने वालों को यह अनुभव होता—हम बहुत कुछ पाकर भी जीवन के वास्तविक लक्ष्य से बहुत दूर हैं। भारतीय जनता में अब भी वैयक्तिक मनोभाव प्रबल है। सामुदायिक हित की अपेक्षा वह अपना हित अधिक सोचता है। सभी धर्मों ने दूसरों के हितों में बाधक न बनने की बात कही, पर अपने हित के लिए दूसरों के हितों को कुचलने वालों में धार्मिकों की संख्या कम नहीं है। आचार्यश्री को सुनने वालों में सभी वर्गों के लोग थे—व्यापारी, राज्याधिकारी, शिक्षक, विद्यार्थी आदि। आचार्यश्री ने प्रयागराज की पुण्यभूमि त्रिवेणी के पार्श्व में दोहरे व्यक्तित्व की चर्चा की, वह धार्मिक जगत् के लिए चुनौती थी। आचार्यश्री ने काव्य की भाषा में कहा—

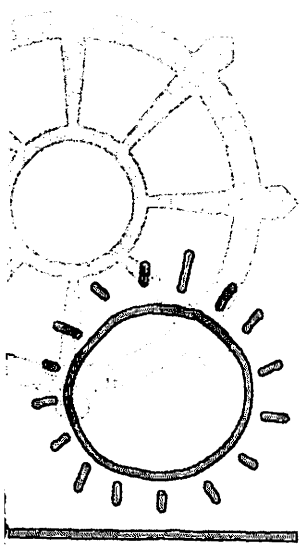

अरे! धार्मिको! किस प्रवाह में, अब भी बहते जाते हो।
सत्य धर्म की सही शान को, खोते या रख पाते हो॥ध्रुवपद॥
मंदिर में जा भक्त बने, प्रह्लाद भक्त से भी बढ़कर।
हिरणाकुश से क्रूर कर्मकारी बन जाते घर आकर॥
तो होगा यह प्रभु से धोखा, केवल मन बहलाते हो॥१॥
कीर्तन, सत्संगत में 'मीरा', 'सूर' तुल्य रस लेते हो।
पर आचरणों में तो शूर्पणखा का परिचय देते हो॥
सत्संगत में जो पाते, क्या वहीं छोड़कर आते हो॥
अरे! धार्मिको! किस प्रवाह में अब भी बहते जाते हो?

आचार्यश्री ने पटना विश्वविद्यालय के सीनेट हॉल में कहा—'आज सबसे पहला और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मनुष्य मनुष्य कैसे बने?' बिहार के राज्यपाल डॉ. जाकिर हुसैन ने कहा—'आज और सब कुछ बनने का प्रयत्न तो हो रहा है, पर मनुष्य यदि मनुष्य नहीं बनेगा तो वह और कुछ भी नहीं बन सकता। अणुव्रत आंदोलन मनुष्य को मनुष्य बनाने का उपक्रम है।'

अणुव्रत आंदोलन ने जन-जन के हृदय का स्पर्श किया। इसे वाचिक समर्थन बहुत मिला। क्रियात्मक सहयोग का प्रश्न आता तब लोग जरूर कुछ पीछे हट जाते। इसका अर्थ यह नहीं कि वे नैतिकता और प्रामाणिकता को पसंद नहीं करते, किंतु नैतिकता और रोटी की समस्या के समाधान का कोई गठबंधन नहीं है। लोगों के मन में पहला प्रश्न रोटी का है, नैतिकता का प्रश्न दूसरा है। आवश्यकता की दृष्टि से यह सच भी है, पर उपयोगिता की दृष्टि से यह सच नहीं है। जीवन का विकास रोटी की उपलब्धि नहीं किंतु नैतिकता की उपलब्धि है। रोटी का प्रश्न राजनीति के स्तर पर चलाया गया है। नैतिकता का प्रश्न आज भी अध्यात्म की भूमिका से सटा हुआ है। जहां समाजवादी और साम्यवादी प्रणालियां विकसित हैं, रोटी का प्रश्न नहीं है वहां भी मनुष्य के प्रति मनुष्य का व्यवहार मैत्री, विश्वास और अभय से परिपूर्ण नहीं है। अनैतिकता का अर्थ केवल व्यापारिक अप्रामाणिकता और रिश्वत लेना ही नहीं है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को आतंकित करता है, शांति और सुरक्षा के नाम पर प्रलयंकारी अस्त्रों का निर्माण करता है, वह भी अनैतिकता है। इसका समाधान राजनीतिक प्रणालियों का परिवर्तन नहीं, किंतु संयम का विकास है। 'संयमः खलु जीवनम्' संयम ही जीवन है—यह घोष राजगृह की पर्वत कंदराओं में गूंजा तो सहसा भगवान् महावीर की स्मृति सजीव हो उठी।

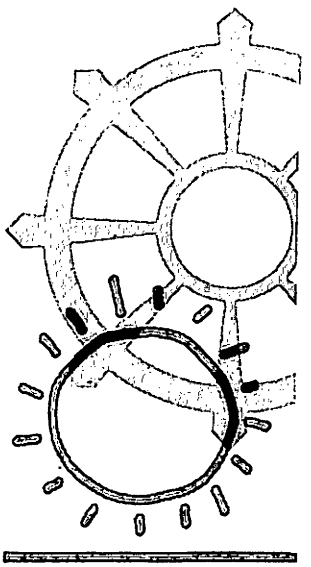

धर्मचक्र का प्रवर्तन

राजगृह में जैन संस्कृति सम्मेलन था। उसमें अनेक जैन व जैनेतर विद्वानों ने भाग लिया। वहां का वातावरण बहुत ही सुखद था। भगवान् महावीर की पुण्य स्मृतियां, विपुलांचल आदि पांचों पर्वतों का एकांतवास, शुद्ध भूमि, शुद्ध जल और शुद्ध वायु, गरम जल के निर्झर, जंगल, हरियाली, गुफा और नाले—ये सब इतने आकर्षक, इतने मोहक और इतने प्रिय थे कि राजगृह से विहार करते समय भी वे रुकने को विवश कर रहे थे। आचार्यश्री की इच्छा थी कि एक चातुर्मास एकांत में किया जाए। आगम साहित्य की साधना चल रही थी, अणुव्रत आंदोलन का कार्य चल रहा था। तेरापंथ की द्विशताब्दी का आयोजन निकट था। आचार्यश्री तुलसी के पट्टारोहण का पचीसवां वर्ष आ रहा था और भगवान् महावीर की पचीसवीं निर्वाण शताब्दी आ रही थी—ये सभी कार्य चिन्तन-सापेक्ष थे इसलिए किसी एकांत स्थान में चातुर्मास हो, ऐसी अपेक्षा थी। उस समय राजगृह से बढ़कर एकांत और प्रेरणा का स्थान दूसरा शायद नहीं हो सकता था। हमारी प्रबल इच्छा थी कि आचार्यश्री का इस वर्ष का चातुर्मास यहीं हो। किंतु कोलकाता जाने के बाद यहां आ सकेंगे, इसमें संदेह भी था। इच्छा, संदेह आदि भावनाओं को साथ लिए राजगृह के पर्वतों की उपत्यकाओं को पार कर कोलकाता महानगर पहुंचे।

कोलकाता-प्रवास

८ मार्च, १९५९ (संवत् २०१५ फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी) को आचार्यश्री कोलकाता पधारे। हावड़ा ब्रिज से जुलूस शुरू हुआ। वह महात्मा गांधी रोड (हरीसन रोड), कोलकाता-स्ट्रीट, विवेकानंद रोड, सैंट्रल एवेन्यू होते हुए तिरहट्टी बाजार के पंडाल में पहुंचा। लगभग १५ हजार व्यक्ति जुलूस में थे। दर्शकों की भीड़ अपार थी। दोनों ओर की फुटपाथों पर हजारों-हजारों लोग जमा थे। ऊंचे-ऊंचे मकानों का प्रत्येक तल्ला जनता से आकीर्ण था। नीचे और ऊपर, दाएं और बाएं—चारों ओर लोग ही लोग दीख रहे थे। जुलूस की व्यवस्था तेरापंथी महासभा के स्वयंसेवक कर रहे थे। अपार भीड़ को व्यवस्थित रखना कठिन हो रहा था। जनता में हर्ष का उद्रेक था।

आचार्यश्री पहली बार कोलकाता में आ रहे थे। तेरापंथ के कोई भी आचार्य अब तक यहां नहीं आए थे। इतना बड़ा जैन साधु-संघ निकटवर्ती अतीत में यहां नहीं आया था। लोगों में आश्चर्य, कुतूहल, जिज्ञासा और उत्सुकता का भाव था।

आचार्यश्री के आगमन के उपलक्ष में स्वागत समारोह का आयोजन आचार्यश्री तुलसी अभिनंदन समारोह समिति ने किया। तेरापंथ के यशस्वी आचार्य और अणुव्रत प्रवर्तक के रूप में आचार्यश्री का अभिनंदन किया गया।

१९ मार्च को शिक्षायतन हॉल में भारतीय संस्कृति संसद के सदस्यों के बीच आचार्यश्री का प्रवचन हुआ। २२ मार्च को महाबोधि सोसायटी कोलकाता द्वारा यूनिवर्सिटी हॉल में 'अहिंसा' पर आचार्यश्री के प्रवचन का आयोजन किया गया। २७ मार्च को स्थानकवासी गुजराती-संघ पोलक स्ट्रीट में आचार्यश्री का प्रवचन हुआ। २८ मार्च को म्यूजियम में जीव-विज्ञान पर तथा रॉयल एशियाटिक सोसाइटी में 'जैन-आगमों में भारतीय-जीवन' पर प्रवचन हुआ।

इस प्रकार एक ओर प्रवचनों का कार्यक्रम चल रहा था, दूसरी ओर विशिष्ट व्यक्ति आचार्यश्री के संपर्क में आ रहे थे। २ अप्रैल को कुमारसिंह हॉल में मुनि श्रीचंदजी ने अवधान किए। उच्च न्यायालय के न्यायाधीश जे.पी. मित्तल, सुनीति कुमार चटर्जी आदि इन कार्यक्रमों में सम्मिलित हुए थे। जो कुछ अच्छा कार्य होता है उसका अपने आपमें मूल्य होता है किन्तु जनता के द्वारा उसका मूल्यांकन तभी होता है जब वह उस तक पहुंच पाए। वर्तमान के प्रचार साधनों में समाचार-पत्रों का स्थान अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण है। कोलकाता के लगभग सभी बड़े समाचार पत्र आचार्यश्री के कार्यक्रमों को अच्छे ढंग से जनता तक पहुंचा रहे थे। इन सारी स्थितियों ने एक नई स्थिति को उभारा। जो व्यक्ति तेरापंथ समाज से कुछ मनोभेद रखते थे उन्हें विरोधी प्रचार की प्रेरणा मिली और धीमीगति से उनका कार्य शुरू हो गया।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

८ मार्च, १९५९ को आचार्यश्री कोलकाता पधारे और १३ अप्रैल को मैत्री-दिवस का आयोजन हुआ। इस बीच अनेक कार्यक्रम चले, प्रचार कार्य हुआ, व्यक्तिगत संपर्क बढ़ा, पारस्परिक संघर्ष भी चला और उसके समाधान के प्रयत्न भी चले, पर उनका समाधान नहीं हुआ। आचार्यश्री कोलकाता आये थे स्थानीय जनता को अपना संदेश देने के लिए। इष्ट भी यही था कि उनकी शक्ति उसी कार्य में लगे। श्रावकों की आपसी उलझनों के समाधान में ही आचार्यश्री की शक्ति खपे–यह किसी को इष्ट नहीं था, न स्वयं आचार्यश्री को और न श्रावक समाज को भी। सैन्थिया महोत्सव से ही पारस्परिक उलझन के समाधान का प्रयत्न चल रहा था। मैत्री-दिवस के पूर्व तक वह चलता रहा। कार्यों का विभाजन भी किया गया। जैन दर्शन संबंधी कार्य 'महासभा' करे और अणुव्रत समिति के तत्त्वावधान में अणुव्रत संबंधी कार्य 'मित्र परिषद्' करे। ये सभी प्रस्ताव कारगर नहीं हुए। संस्था का नाम और बैज आपसी एकता में व्यवधान बन रहे थे। बैज आदि बाहरी उपकरण सुविधा के लिए होते हैं, बहुधा ये कार्यकर्ताओं को दुविधा में डाल देते हैं। बैज के प्रश्न को लेकर एक ऐसा प्रश्न खड़ा हुआ, जो कार्य करने के लक्ष्य को गौण बनाकर स्वयं प्रमुख बन गया। अणुव्रत आंदोलन के द्वारा मैत्री-दिवस मनाया जाए और इस उद्देश्य से कि समूचे विश्व में मैत्री हो और आंदोलन के कार्यकर्त्ता आपसी विवाद को भी न मिटा पाए, यह आंदोलन प्रवर्तक को कैसे इष्ट हो सकता था। आचार्यश्री लंबे समय तक इस चर्चा को आपसी समझौते के लिए उपेक्षित करते गए पर ठीक समय पर डोर को खींचना अनिवार्य हो गया। आचार्यश्री ने कहा–'वर्तमान बैजों को लेकर आपस में संघर्ष

चल रहा है। इसलिए इन बैजों को लगाकर जो सेवा देगा वह ग्राह्य नहीं होगी।' आचार्यश्री के इस संकेत ने कार्यकर्ताओं को सम्हलने का अवसर दिया।

४ अप्रैल की रात को सारे बैज उतर गये। मैत्री-दिवस के दिन 'संयमः खलु जीवनम्' के बैज दीख रहे थे। यह तीसरे वैद्य का-सा चमत्कार था। तीन वैद्य थे—पहले का प्रयत्न ऐसा होता जिससे किसी के रोग हो ही नहीं। दूसरा वैद्य रोग होते ही औषधि दे रोगी को स्वस्थ बना देता। तीसरा वैद्य रोग को बढ़ने देता और जब वह असाध्य-सा हो जाता तब ऐसी पुड़िया देता कि रोगी स्वस्थ हो जाता। लोग उसे बड़ा वैद्य मानने लगे। सारे नगर में उसका प्रभाव फैल गया। एक दिन उसके प्रशंसक उसका यश गा रहे थे, तब तीसरे वैद्य ने कहा—'श्रेष्ठतम वैद्य मेरा बड़ा भाई है, जो रोग होने ही नहीं देता। मेरा दूसरा भाई श्रेष्ठतर है, जो रोग होते ही रोगी को स्वस्थ कर देता है। उनका कार्य आपके सामने नहीं आता इसलिए आप लोग उसका मूल्य नहीं आंक सकते। मेरा कार्य आपके सामने आता है, इसलिए उसका मूल्य आंका जाता है।' आचार्यश्री ने पहले वैद्य का कार्य भी किया, दूसरे का भी किया पर वे लोगों के सामने नहीं आये। लोगों के सामने तीसरे वैद्य का प्रयत्न आया और लोगों ने देखा कि अब समस्या सुलझ रही है। आपसी प्रयत्नों में राजनीतिक अस्पष्टताएं थीं, वे समस्या को उलझा रही थीं। आचार्यश्री के निर्णय में स्पष्टता थी, उससे पहले किंचित् कठिनाई का अनुभव हुआ, फिर समस्या सुलझ गई। राजनीतिक अस्पष्टता का स्वरूप ही ऐसा है कि उससे प्रारंभ में समस्या सुलझती-सी लगती है, किंतु अंत में उलझ जाती है और स्पष्टता का रूप यह है कि प्रारंभ में उससे समस्या उलझती-सी लगती है किन्तु अंत में सुलझ जाती है।

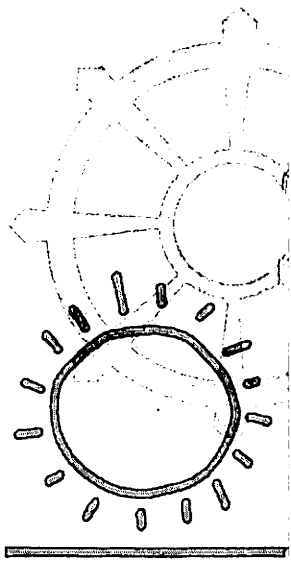

धर्मचक्र का प्रवर्तन

समस्या के समाधान का सबसे बड़ा सूत्र है श्रद्धा। किसी भी विवाद का अन्त तर्क से नहीं होता, श्रद्धा से होता है। श्रद्धा जीवन की सबसे बड़ी सफलता है। समान श्रेणी के लोगों पर सहज श्रद्धा नहीं होती। उसके लिए आवश्यक है कि एक पहले का हो, दूसरा बाद का; एक ऊपर हो दूसरा उससे नीचे और श्रद्धा करने वाले में श्रद्धेय की उदारता, समवृत्ति और विशेष योग्यता में विश्वास हो। तेरापंथी श्रावकों के सामने यह गंभीर प्रश्न है कि उनमें नेतृ-स्थानीय श्रद्धेय लोग कम हैं। उनमें यह विशेषता भी है कि वे साधुओं तथा सर्वोपरि आचार्य के प्रति श्रद्धालु हैं। साधुओं की निश्चित सीमा है। वे उसी के अनुसार गृहस्थों को मार्ग-निर्देशन दे सकते हैं। शेष कार्य का दायित्व गृहस्थ-नेता ही वहन कर सकते हैं। इस स्थिति के समीप पहुंच कर ही गृहस्थों के नेतृत्व का मूल्य आंका जा सकता है। मैत्री-दिवस के दिन कार्यकर्ताओं में नया उल्लास था और कोलकाता के नागरिक भी उत्सुकता के साथ एकत्र हुए थे। रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट के भव्य मैदान में मैत्री-दिवस का आयोजन था। उस दिन के देश, काल और परिषद् सभी भव्य थे। मैत्री-दिवस की कार्यवाही का संचालन विद्वान् बैरिस्टर डॉ. कालीप्रसादजी खेतान ने किया। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश एस. आर. दास आदि अनेक लोग उसमें सहभागी बने।

१२ अप्रैल को प्रतिरक्षा मंत्री बी. के. मेनन ने 'मैत्री व्याख्यानमाला' के अंतर्गत एक भाषण दिया। उससे पूर्व आचार्यश्री से संक्षिप्त वार्तालाप भी हुआ।

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी भगवान् महावीर का जन्म-दिन है। उस दिन भगवान् की जन्म-जयंती नहीं मनाई गई। जबलपुर में कुछ व्यक्तियों द्वारा दिगम्बर-मंदिर की जैन मूर्तियां खंडित कर दी गई थीं। उस कांड के विरोध में दिल्ली के जैन समाज ने इस वर्ष जन्म-जयंती न मनाने का निश्चय किया।

जैन सभा द्वारा सामूहिक क्षमा दिवस का आयोजन किया गया। उसमें आचार्यश्री ने जैन एकता पर विवेचन किया–'धर्म के क्षेत्र में मतभेद नए नहीं हैं। वे बहुत पुराने हैं। मतवादों को समाप्त नहीं किया जा सकता। सब संप्रदायों का एकीकरण नहीं हो सकता, पर मौलिक सिद्धांतों पर हम एक हो सकते हैं। अहिंसा शाश्वत तत्त्व है। वह समन्वय की आधारशिला बन सकती है। उस मंच पर हम मिल-जुलकर कार्य करें, परस्पर सौहार्द और बंधुत्व की भावना बढ़ाएं जिससे हम एक-दूसरे के निकट आ सकें।'

कोलकाता के आयोजन नागरिकों के हृदय का स्पर्श कर रहे थे। किसी ने आचार्यश्री को नए युग का 'मसीहा' कहा, किसी ने युग की चेतना का प्रतिनिधि और किसी ने मानवता का महान् संरक्षक। वहां के व्यापारिक वातावरण में नैतिकता और अध्यात्म का स्वर गूंजने लगा। हजारों-हजारों अपरिचित, अर्ध-परिचित और परोक्ष परिचित व्यक्ति साक्षात् परिचय में आए।

विदाई समारोह के अवसर पर महापौर ने कहा–'इस महानगर में अनेक साधु-मंडलियां आती हैं, पर ऐसी साधु-मंडली आज तक नहीं आयी जो फैली हुई अशुद्ध वायु को विशुद्ध बना कर जन-जन का परिष्कार करती है। मैंने अगर किसी भी साधु-संघ को श्रद्धा की दृष्टि से देखा तो वह आचार्यश्री हैं, जिनके संघ में कवि, लेखक, साहित्यकार आदि विद्वान् भरे पड़े हैं। आपने यहां पर जो कार्य किया है उसके लिए कोलकाता ही नहीं, पश्चिम बंगाल भी युग-युग तक ऋणी रहेगा।'

दैनिक विश्वमित्र के संपादक कृष्णचन्द्र अग्रवाल ने महापौर के शब्दों को उद्धृत करते हुए कहा–'महापौर द्वारा आचार्यप्रवर के प्रति जो भावनाएं अभिव्यक्त हुई हैं वे तेरापंथ समाज के लिए गौरवपूर्ण हैं। आचार्यश्री से मेरा संपर्क कानपुर में हुआ और उसके पश्चात् उस संपर्क का अपना अनुभव मैंने पत्र में लिखा, जिसकी प्रतिक्रिया हुई और बाहर से मुझे पत्र मिले कि तुम पर इतना अच्छा प्रभाव कैसे पड़ा? कोलकाता में आठ-नौ मास रहे हैं। यहां साधु-संन्यासियों का संघ आता ही रहता है, पर अगर मेरी किंचित् भी श्रद्धा किसी भी साधु-संघ के प्रति हुई तो वह आचार्यश्री तुलसी के प्रति है। मेरे जीवन पर उनका बहुत प्रभाव पड़ा है। मैंने उनमें विशेष गुण अनुभव किए हैं। वे क्षमाशील, शिक्षित, आचारवान् और सहिष्णुता व समन्वय जैसे महान् गुणों के साक्षात् प्रतीक हैं। लोगों ने इनका मूल्य इतने बड़े एक महान् संघ के साथ आने से नहीं आंका। अगर इनके साथ चार-पांच ही संत आते तो इनका ज्यादा महत्त्व आंकते। जिनके साथ में साहित्यकार, कवि, लेखक आदि विद्वान् संतों की कमी नहीं, ऐसे आचार्यश्री को विदा देते हर्ष नहीं, खेद ही होता है। उनकी कीर्त्ति-पताका बनी रहे। इसके लिए सभी को और विशेषकर उनके भक्तों को विशेष ध्यान रखना है। आचार्यश्री की मेवाड़ यात्रा सफल हो।'

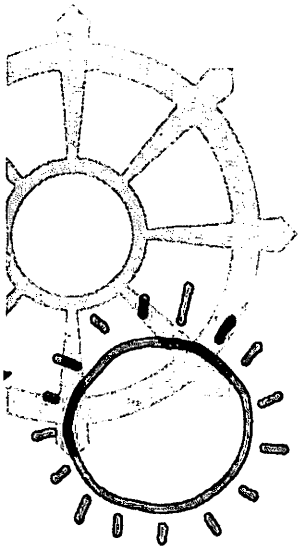

परिणाम में जो सुंदर होता है वही वास्तव में सुंदर होता है। विहार की वेला में परिणाम-भद्रता का दर्शन हुआ। जनता ने देखा–हजारों-हजारों मनुष्य गद्गद थे। आगमन के समय जो अपार जन-समूह उमड़ा था, वह विहार के समय भी उसी रूप में था, अधिक भी हो सकता है।

आचार्यश्री ने विदाई-संदेश में कहा–'जितना कार्य होना चाहिए, उतना नहीं हो सका। कोलकाता का वातावरण इसलिए रमणीय रहा कि उसमें नयापन है। अणुव्रत आंदोलन के विकास के लिए महीनों तक चिन्तन चला, अनेक विचारकों ने अपने मूल्यवान् विचार प्रस्तुत किए, वह अपने ढंग का नया कार्य था।

समाज नया मोड़ ले, इस पर भी विचार-विमर्श हुआ। आज का समाज इसलिए रमणीय नहीं है कि रूढ़ियों से चिपका हुआ है। रूढ़ि कोई बुराई नहीं है। पर वह रूढ़ि, जिसकी उपयोगिता समाप्त हो जाए,

बुराई बन जाती है। समाज में ऐसी अनेक रूढ़ियां हैं, इनके द्वारा चरित्र-विकास संभव नहीं। इसलिए यह सद्यस्क अपेक्षा है कि समाज नया मोड़ ले।

द्वि-शताब्दी के लिए चिन्तन चला। उसकी व्यवस्थित कार्य-पद्धति का निश्चय हुआ। भावी रूपरेखा और कार्यक्रम भी निश्चित हुए। जैन दर्शन के विषय में भी अनेक महत्त्वपूर्ण वार्तालाप हुए और अनेक नए तथ्यों की जानकारी मिली। जनता की जिज्ञासाओं को जानने का अवसर मिला।'

कुछ समाजसेवी लोगों का विश्वास था कि आचार्यश्री के श्रावकों ने पत्रकारों को अपने पक्ष में रखने के लिए लाखों रुपये बहाए हैं। जब उन्हें बताया कि रुपये देकर पत्रों का सहयोग प्राप्त नहीं किया गया बल्कि वह प्राप्त किया गयां है—सद्भावना, मैत्री और आंदोलन की वास्तविकता के आधार पर। यह जानकारी सचमुच उन्हें आश्चर्य में डालने वाली थी। पत्रकारों पर विरोधी लोगों ने बहुत दबाव डाला। वे प्रभावशाली थे। उनका संपादकों से चिर परिचय भी था, फिर भी वे पत्रों के द्वारा विरोधी वातावरण को उग्र बनाने में सफल नहीं हुए। पत्रकारों से संपर्क बनाए रखने में शोभाचंद सुराना ने विशेष प्रयत्न किया।

कोलकाता यात्रा को विशेष लाभप्रद बनाने के लिए सभी श्रावक कृतसंकल्प थे। सबने यथाशक्ति प्रयत्न भी किए। जिनकी शक्ति अधिक थी वे अधिक आहुति दे पाए, कम शक्ति वाले कम दे पाए। पर इस महायज्ञ में यथाशक्ति सभी ने आहुतियां दी। व्यक्ति की विशेषता भिन्न-भिन्न होती है। किसी में बुद्धि-बल होता है, किसी में कार्य-बल। किसी के पास धन का बल होता है और किसी के पास जन-बल। जो व्यक्ति जिस क्षमता का होता है वह उसी के अनुरूप कार्य कर सकता है। एक व्यक्ति में सारी विशेषताएं नहीं होतीं और सारे व्यक्तियों से एक ही कार्य नहीं लिया जा सकता। जो व्यक्ति जिस क्षमता का होता है, उसी के अनुरूप कार्य कराया जा सकता है। यह आवश्यक नहीं कि जो जितना धार्मिक हो वह उतना ही विचारक हो अथवा जो जितना विचारक हो वह उतना ही धार्मिक। धार्मिक से जो कार्य लिया जा सकता है, वह उससे लेना चाहिए और जो कार्य विचारक से लिया जाना चाहिए, वह उससे लेना चाहिए। समाज में सभी प्रकार के लोग हैं और धर्म-शासन के लिए सभी ने अपनी-अपनी सेवाएं दी। प्रभुदयाल डाबड़ीवाल और पन्नालाल सरावगी के नाम इस प्रसंग में विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्होंने सारी शक्ति लगाकर चातुर्मास में होने वाली सफलताओं में प्रमुख भाग लिया।

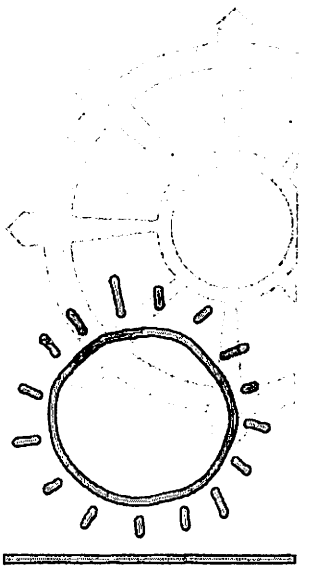

धर्मचक्र का प्रवर्तन

तेरापंथ की संगठन शक्ति से सभी लोग प्रभावित थे। प्रतिदिन व्याख्यान में जो परिषद् होती थी वह दर्शकों के लिए आश्चर्यजनक घटना थी। लगातार आठ महीनों तक छह-सात हजार व्यक्ति प्रभातकालीन प्रवचन में हों, यह कम बात नहीं थी। व्यापारिक केन्द्र में ऐसा कहीं नहीं लगा कि हमारे श्रावक व्यापार को प्रमुखता और आचार्यश्री के प्रवास को गौणता दे रहे थे।

सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो यह चातुर्मास बहुत ही महत्त्वपूर्ण और सफल रहा। सफलता का हेतु है संघीय-संपदा और आचार्यश्री का संकल्प। जिसका संकल्प फलवान् होता है उसे बल मिलता है, किन्तु फल उसी को मिलता है जिसका संकल्प बलवान् होता है।

आचार्यश्री १६ नवम्बर, १९५९ को कोलकाता से चले और १६ फरवरी, १९६० को तेरह सौ मील की पद-यात्रा कर सरदारशहर (राजस्थान) पहुंचे।

आचार्यश्री जहां पधारे वहां लोगों ने कुछ समय ठहरने का आग्रह किया पर अभी तो 'चरन् वै मधु विंदते' की ज्योत जल रही थी। कोई भी प्रगतिशील व्यक्ति लक्ष्य की दूरी को सहन नहीं कर सकता। इस

यात्रा का प्रधान लक्ष्य था 'द्वि-शताब्दी समारोह' के लिए मेवाड़ जाना। दूसरा लक्ष्य था—सरदारशहर। द्वि-शताब्दी का प्रारंभ आषाढ़ी पूर्णिमा से हो रहा था। वर्तमान प्रगति सरदारशहर के लिए थी। वहां मंत्री मुनि स्थिरवास किए हुए थे। मुनिश्री सुखलालजी घोर तप कर रहे थे। माघ बदी १४ को वे आजीवन अनशन कर रहे थे। वे आचार्यश्री के दर्शन चाहते थे। इस चाह ने गति को प्रगति में बदल दिया। मैंने एक दिन आचार्यश्री से निवेदन किया—'अब हम प्रगति के पथ पर हैं। गति का अभ्यास परिपक्व हो गया है। एक समय था जब पांच मील चलते तो बहुत चले माना जाता, छह-सात मील चलना तो पहाड़-सा लगता। आज पन्द्रह-सोलह मील चलना साधारण बात है। इससे अधिक चलने पर विहार अधिक हुआ लगता है।'

व्यास ने कहा—'आलस्य, मैथुन, निद्रा, भूख और क्रोध—इनका जैसे-जैसे सेवन किया जाता है, वैसे-वैसे ये बढ़ते हैं।' पद-विहार भी अभ्यास से बढ़ता है। यह अनुभूति शायद उस समय स्पष्ट नहीं हुई होगी। आज यह बहुत स्पष्ट है। एक आचार्य ने लिखा है—'पंथसमा नत्थि जरा'—चलने के समान कोई बुढ़ापा नहीं है। इसमें सचाई नहीं है, यह तो नहीं कहा जा सकता परन्तु सचाई का मार्ग एक ही नहीं है। यह भी एक सचाई है कि उल्लासपूर्ण पाद-विहार नवयौवन भी ला सकता है। बीस-बीस मील के पाद-विहार के उपरांत भी आचार्यश्री प्रहर रात तक प्रवचन करते तब 'चलना बुढ़ापा है' इसकी सचाई कैसे साधी जा सकती थी? जहां उल्लास अठखेलियां करे वहां बुढ़ापा कैसे आए? वह युवा भी बूढ़ा होता है जिसमें उल्लास नहीं। 'पेंडो भलो न कोस को—चलना एक कोस का भी अच्छा नहीं है', यह जिसने कहा वह युवक नहीं था। युवक वह था, जिसने कहा—'चरैवेति चरैवेति—चलते चलो, चलते चलो।' आचार्यश्री ने स्वयं ही प्रगति नहीं की, उन्होंने दूसरों को भी प्रगति की ओर अग्रसर किया। जीवन-शोधन के प्रति जो गति है उससे अधिक और प्रगति क्या हो सकती है? आचार्यश्री की यात्रा और प्रवास, दोनों का लक्ष्य था प्रगति। आचार्यश्री बहुधा कहा करते—'जो काम मुझे कहीं रहकर करना है वही यात्रा में करना है। एक जैन मुनि के लिए जीवन ही यात्रा है। जो जीवन में करना है, जीवन के लिए करना है, वही यात्रा में करना है।'

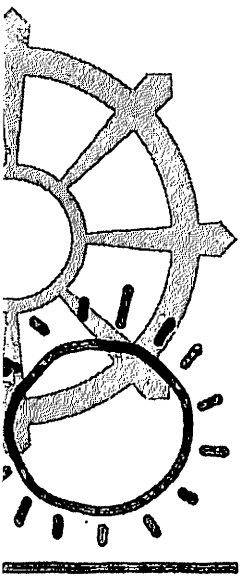

यात्रा सचमुच सुखद स्मृतियों का संग्रह होता है। जहां नित नए लोग मिलते हैं, नित नए गांव और नित नई भूमि का स्पर्श होता है, नवीनता से बढ़कर और क्या रमणीय होगा? 'पद-पद पर जो नवीन हो, वही रमणीय है'—यह कवि-वाणी असत्य नहीं है। जो रमणीय होता है वह शिव भी होता है। जो शिव न हो, कल्याणकारी न हो, वह पल भर रमणीय भले लगे पर वास्तव में रमणीय नहीं होता। पग-पग पर सत्य की अनुभूतियां हुईं, उसका साक्षात् मिला, इसीलिए यात्रा कल्याणकर थी। जहां सत्य भी हो, कल्याण भी हो और रमणीय भी हो वहां आनन्द होगा ही, भले फिर कष्ट हो या आराम। यात्रा में कष्ट होता है, यह बहुत स्पष्ट है। पर साध्य की गहराई में वह क्षीण हो जाता है। लक्ष्यहीन जीवन इसलिए बुरा होता है कि उसमें कष्ट उबल पड़ते हैं। प्रधान लक्ष्य एक ही होता है। एक में अनेक और अनेक में एक को ढूंढ़ा जाए, यही है स्याद्वाद का मंत्र। वर्धमान तक हम गमनागमन कर रहे थे, जिस दिशा से आये थे उसी दिशा में चले जा रहे थे। यह सही भी है लक्ष्य बदले बिना दिशा-परिवर्तन नहीं होता। सम्मेदशिखर, धनबाद, झरिया और कोडरमा की ओर जाना निश्चित हुआ। पथ बदल गया। पथ ही नहीं बदला, धारणाएं भी बदलीं। हिन्दुस्तान की प्रगति बातों में हो रही है, यह धारणा हिली। दामोदर घाटी योजना के बांध, बिजली और सिंचाई के साधनों और विशाल कारखानों को देखकर लगा कि प्रगति अभी गर्भ में है। उसकी आलोचना भी मिथ्यावाद नहीं है और उसका समर्थन भी मिथ्यावाद नहीं है।

झरिया कोयला उद्योग का प्रमुख क्षेत्र है। समूचा नगर कोयले की खानों पर है। नीचे आग सुलग रही है और ऊपर में धन बरस रहा है। वहां मजदूरों की स्थिति कुछ अच्छी दिखाई दी। मन में विकल्प उठा–यदि वे मद्यपान से बचें तो उनकी स्थिति और भी अच्छी हो सकती है। स्थिति के सुधार में आर्थिक अभाव ही बाधक नहीं है, आर्थिक नियोजन का त्रुटिपूर्ण प्रकार भी बाधक है। मादक वस्तुओं व जीभ के कृत्रिम स्वाद के लिए जितना दुर्व्यय होता है वह धन का सम्यग् नियोजन नहीं है। उससे गरीबी ही नहीं बढ़ती, चरित्र की दरिद्रता भी बढ़ती है। चारित्रिक गरीबी की स्थिति में आर्थिक विकास की कल्पना सहजतया नहीं की जा सकती।

झरिया का जैन समाज संपन्न है। जैन एक जाति है, यह बहुत अच्छी बात नहीं है, पर उसे मद्य-मांस से जो सहज मुक्ति प्राप्त है वह एक महान् वरदान है। जैन लोग प्रामाणिकता और सचाई को और अधिक विकसित करें तो भविष्य उनके प्रतिकूल नहीं होगा। जैन धर्म अनेक संप्रदायों में विभक्त है। संप्रदाय होते हैं, वहां मतभेद भी होता है। मतभेद में कोई बुराई नहीं है। अनेकांतदृष्टि की और विशेषता ही क्या है? उसकी सीमा में मतभेद मनभेद नहीं बन पाते, यही उसकी महिमा है। जैन लोग जितने अनेकांतवादी हैं उतने अनेकांतचारी नहीं हैं। वाद और आचार में अंतर रहता है, पर इतना अंतर नहीं रहना चाहिए कि कोरा वाद रहे, आचार उसके जाल में उलझ जाए।

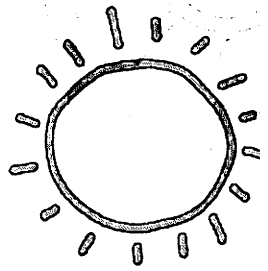

धर्मचक्र का प्रवर्तन

उलझन का मूल साधु-संघ होता है। श्रावक-संघ तक उसका विस्तार पहुंचता है। मूल ढका रहता है, विस्तार सामने आ जाता है। भेद की खाई चौड़ी होते-होते इतनी हो गई कि आगे अवकाश नहीं रहा। अब अभेद की ओर गति है। वह उसी स्थिति की प्रतिक्रिया है। जैन संप्रदायों में जो मनभेद था वह अब कम हो रहा है। भेद अपने चरम-बिन्दु तक पहुंचकर अब अभेद की ओर मुड़ रहा है। इस मोड़ का अनुभव झरिया में हुआ। आचार्यश्री कोडरमा जाना नहीं चाहते थे। वह मार्ग से कुछ दूर था। भावना का बल दूरी को कम कर देता है। वहां की जन-भावना अत्यंत प्रबल थी। आचार्यश्री को आखिर वहां जाने का निश्चय करना पड़ा। वह अभ्रक उद्योग का प्रमुख क्षेत्र है। वहां जाने का आकर्षण सबमें था। साधु-साध्वीगण और यात्रीगण का स्वर भी कोडरमा की जनता के साथ था। बरही से कोडरमा को जो एक सड़क जाती है वह अत्यन्त मनोरम है। पर्वतमाला और बांध की परिक्रमा करते-करते पथिक उल्लास से भर जाता है।

आचार्यश्री का व्यक्तित्व संप्रदाय की सीमा से आगे प्रसार पा चुका था। जैन और अजैन सभी व्यक्ति उन्हें अपना मान उनसे कुछ सीखने का यत्न करते थे। एक दिन का प्रवास पर्याप्त नहीं हुआ। 'न आने की अपेक्षा आना अच्छा है', इस बुद्धि से लोगों ने संतोष माना।

कोडरमा से विहार कर एक छोटे-से गांव में गए। घर दो-चार ही थे, पर ग्रामीण लोगों ने बहुत ही प्रेम दिखाया। वहां से आगे चले। खेतों की पगडंडियों से गुजरे। पथ-निर्देशक साथ में थे। सुगनचंदजी आंचलिया और डालचंदजी बरड़िया इस छोर से उस छोर तक चक्कर लगा रहे थे। पथ-यात्रा के लिए पर्थ-दर्शक की आवश्यकता होती है। वे लोग बड़े विचित्र हैं जो जीवन-यात्रा के लिए पथ-दर्शक की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते। पगडंडियों के जाल को पार कर सांझ होते-होते हम चौपारन पहुंचे। बाईस मील का पाद-विहार और मार्ग की विषमता–ये थकान को अधिक बल दे रहे थे। आचार्यश्री ने जी. टी. रोड पर पहुंच सारी स्थिति का आकलन करते हुए कहा–

कोडरमा रो कोड, सगलां रो पूरो हुयो।
रास्ता रो झकझोड़, मुश्किल स्यूं जी. टी. मिली॥

मृगसिर शुक्ला छठ को निमियाघाट से हम सम्मेदशिखर पर चढ़े। आगे-आगे आचार्यप्रवर थे, पीछे-पीछे साधु, श्रावक, श्राविका और साध्वियों का समुदाय चल रहा था। पहाड़ की चढ़ाई थी, जवान बूढ़े बन रहे थे। लाठियां ही लाठियां चल रही थीं। सघन झाड़ियों के बीच में से एक संकरी पगडंडी हमें ऊपर की ओर ले जा रही थी। लगता था कोई नागिन रेंग रही हो। कभी आगे वाले अदृश्य तो कभी पीछे वाले। आंख-मिचौनी-सी हो रही थी। कभी-कभी अग्रिम दल इस प्रकार समरेखा पर आ जाता कि हमें हमारी गति पर गर्व होता। पर सचाई तब प्रकट होती जब हम अनेक घुमावों और मोड़ों को पार कर वहां पहुंच पाते। ऊपर पर्वत थे, नीचे पर्वत थे, बीच में आचार्यश्री के चरण-चिह्नों का अनुगमन करते हुए हम चल रहे थे। दोनों पार्श्व झाड़-झंखाड़ों से ढके हुए थे। कलरव करते हुए निर्झर बह रहे थे। जल-बिन्दुओं से अभिसिक्त पवन हमारी थकान को अपने अंचल में समेट ले जा रहा था। सूर्य की रश्मियां हमारा स्पर्श लुक-छुपकर ही कर पा रही थीं। वृक्ष चाहते थे कि वे पत्तों से छनकर ही हमारे तक पहुंच पाएं। पथ जल से भीगा-सा था। लगता था प्रकृति ने वातानुकूलित यंत्र की व्यवस्था कर रखी है। वृक्षों, गुल्मों और लताओं के नाम और गुण-धर्मों की पहचान चल रही थी। आचार्यश्री जहां रुकते, वहीं पारमार्थिक शिक्षण संस्था की बहिनों और साध्वियों के संगीत से पर्वत गूंज उठता था। लोग चलते-चलते अपनी प्रतिध्वनि सुनने को ही मुखर हो उठते थे। उल्लासपूर्ण वातावरण में हम डाक बंगले में पहुंचे। दुपहरी में मंदिर के सामने कार्यक्रम रखा गया। माना जाता है बीस तीर्थंकर इस पर्वत पर मुक्त हुए। पार्श्वनाथ की प्रसिद्धि अधिक है। सबसे ऊंची चोटी पर पार्श्वनाथ का मंदिर है। वहां बैठे-बैठे हम दूसरे मंदिरों को भी देख पा रहे थे। सैकड़ों व्यक्ति थे। कोलकाता से यात्री आए हुए थे। वक्ताओं में कई साधु बोले, कई श्रावक बोले। मैंने संस्कृत में आशु कविता की। आचार्यश्री ने प्रवचन किया, यात्रा का उद्देश्य बतलाया। राजगृह के पर्वतों के साथ तुलना करते हुए आचार्यप्रवर ने कहा–'वहां इतिहास बोल रहा है, यहां स्थिति उससे भिन्न है।' ऐतिहासिक खोज आवश्यक है। ऊंची चोटी पर बैठे थे। सबके मन कल्पना की ऊंची-उड़ानें भर रहे थे। भूमिवासी पर्वतवासी बनते हैं तब वे अपने को नई दुनिया में पाते हैं। नवीनता सचमुच सुखद होती है। कार्यक्रम समाप्त हुआ और हमारे पैर विषम पगडंडियों की ओर बढ़े। छोटे-बड़े सभी मंदिर हमारी दृष्टियों से ओझल नहीं रहे। पर्वत का शरीर हमारे स्पर्श से स्निग्ध हो और उसके स्पर्श से हम जैसे पुलकित हों, वैसा लग रहा था। अनुभूतियां भाषा के जाल को तोड़कर उन्मुक्त विहार कर रही थीं। सूर्य ने चेतावनी दी और हम अपने स्थान पर आ गए।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

सूर्य अभी दृश्य था। पर्वत के साम्राज्य की निराली बात। सर्दी से लोग ठिठुरने लगे। अधिकांश यात्री मधुबनी व निमियाघाट को चले गए। कुछ वहीं रहे। जितनी संभावना थी उतनी सर्दी नहीं लगी। बचाव के साधन भी तो बहुत सीमित थे। अभ्यास ही है जो बचा लेता है। इस दुनिया में अनंत कौन होता है? रात बीती। सर्दी ने अपने को छिपाना चाहा। सूर्य ने रश्मियों का जाल बिछा दिया। आचार्यश्री का अभियान मधुबनी की ओर हुआ।

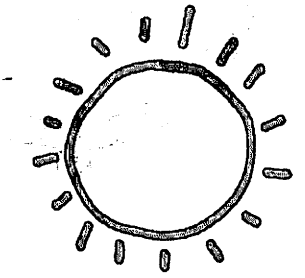

उतार-चढ़ाव किसने नहीं देखे? अनुभूति में अंतर है। चढ़ाव की अनुभूति गर्वपूर्ण होती है। उतार की अनुभूति में वापसी का भाव होता है। चढ़ाव में फिर भी संतुलन रहता है। उतार में उसे रखना अधिक कठिन होता है। पैर रपटते जा रहे थे। मस्तिष्क पूरी सावधानी से नियंत्रण कर रहा था। पथ की लंबाई में बहुत दृश्य थे। कुछ लोग भारी भरकम भी थे। कुछ स्त्रियां बहुत वृद्ध थीं। कल्पना करना कठिन था कि वे इस चढ़ाव-

उतार में साथ रह सकेंगी। कुछ कार्य कल्पना से परे होते हैं। वे साथ-साथ चले। देखने वालों को अचरज हुआ। वे स्वयं भी अचंभे में थे। डोली पर बैठकर जो गए वे पछतावा किए बिना नहीं रहे।

मधुबनी भव्य स्थान है। वहां श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों संप्रदायों की विशाल धर्मशालाएं हैं, भव्य मंदिर हैं। वह एक छोटा-मोटा नगर-सा है। वहां समन्वय की चर्चाएं चलीं। आचार्यश्री ने जैन धर्म के विशद रूप पर प्रकाश डाला। पारस्परिक समन्वय की अनुभूति में तीव्रता आ रही है, ऐसा प्रतीत हो रहा था।

ईसरी पार्श्वनाथ का स्टेशन है। वयोवृद्ध दिगम्बर विद्वान् गणेशप्रसाद वर्णी वहां रहते थे। उनकी इच्छा थी कि आचार्यश्री यहां आएं। आचार्यश्री ने भी चाहा कि हम वहां जाएं। संयोग बना। तीन मील का विहार कर आचार्यश्री वहां पहुंचे। वर्णीजी बरामदे में बैठे थे। आचार्यश्री के आते ही उन्होंने कहा–'आपका धर्मसंघ बहुत ही संगठित है, अनुशासन अद्वितीय है।' प्रारंभिक वार्ताएं चलीं। प्रवचन हुआ। वर्णीजी अस्वस्थ थे, वृद्ध थे, इसलिए बोलने में असमर्थ थे। भावना का प्रवाह रुकता नहीं, आखिर वे बोले। आचार्यश्री के सामने अणुव्रत विकास और समन्वय का जैसे लक्ष्य था वैसे वर्णीजी भी इनके प्रति सजग रहते थे। यह मिलन उपाध्याय कवि अमरचंदजी के मिलन की याद दिला रहा था। इसमें उतनी ही सजीवता और उतना ही सौहार्द था।

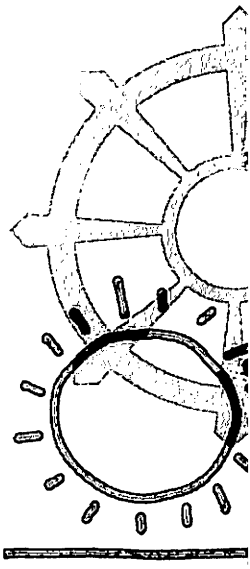

धर्मचक्र का प्रवर्तन

बोधगया महात्मा बुद्ध का बोध क्षेत्र है। वहां शंकरमठ और बोधि-स्थल का मंदिर प्रतिस्पर्धा से खड़े हैं। स्पर्धा का युग बीत चुका। उनके अवशेष बचे हुए हैं। कभी जैन और बौद्ध संप्रदायों में भी स्पर्धा थी, आज वह लगभग मिट चुकी है। अब एक-दूसरे को समझने की स्थिति में हैं। सबसे पहले चीनी मंदिर की पुजारिन ह्यूह्यान ने आचार्यश्री का स्वागत किया। बोधि-स्थल के सामने आचार्यश्री ने प्रवचन किया और वहां भिक्षु सोमानन्दजी ने (मैनेजिंग कमेटी बोध गया की ओर से) स्वागत किया। लोग उल्लास का अनुभव कर रहे थे। वहां दलाईलामा की आचार्यश्री से भेंट होने वाली थी पर उनका कार्यक्रम बदल गया। वे नहीं आए। तिब्बती भिक्षुओं की दंडासन वंदना और मालाजप सहज ही ध्यान खींच लेते थे। तिब्बती मंदिर में हम गए। वहां भिक्षुओं की एक मंडली प्रार्थना में लीन थी। उसका सहघोष सचमुच आनंददायी था। रात को हम शंकरमठ के अतिथिगृह में ठहरे। वहां के पीठपति सतानंदगिरि ने आचार्यश्री से भेंट की। एक-दूसरे की परंपरा को समझने का यत्न किया। बोधगया का प्रसंग बहुत ही लुभावना रहा।

आचार्यश्री गया पधारे। वहां दिगम्बर जैन अच्छी स्थिति में हैं। आचार्यश्री को गया और बोधगया में ले जाने का श्रेय उन्हीं को था। आचार्यश्री को वे जैन धर्म के महान् प्रभावक आचार्य की दृष्टि से देख रहे थे। आपके आगमन से जैन धर्म की प्रभावना होगी, यह उनका तर्क था। वे श्वेताम्बर-दिगम्बर भेद को गौण मानते थे। गया के नागरिकों ने बहुत रुचि के साथ आचार्यश्री को सुना। विहार के समय दिगम्बर जैन मंदिर में गए। स्त्रियां स्वाध्याय में लीन थीं। आचार्यश्री इस पद्धति को बहुत पसंद करते थे। श्रावक वंदना के लिए आएं तब वे थोड़ा स्वाध्याय अवश्य करें, ऐसा वे चाहते थे।

गया से औरंगाबाद के मार्ग में आजू-बाजू दो गांव थे–संडाइल और कुसहा। दोनों गांवों के लोग दूध से भरे लोटे लिए खड़े थे। हम लोग थोड़े आगे थे। आचार्यश्री कुछ दूरी पर थे। लोगों ने वंदना की और पूछा–'बड़ा बाबा कहां है?' हमने उत्तर दिया–'पीछे आ रहे हैं।' वे बोले–'बाबा! आप जरा रुकिये और हमारा दूध लीजिए।' 'बड़ा बाबा पीछे आ रहे हैं'–यह कहकर हम लोग आगे चले गए। आचार्यश्री आए उनकी प्रार्थना सुनी, कहा–'हम दूध नहीं लेंगे।'

'हम गरीब हैं, इसीलिए तो?' करुण स्वर में सब बोल उठे। 'हमने सुना है कि आप अपने लिए बनाया भोजन नहीं लेते। यह दूध हमारी गायों का है, आपके लिए हमने कुछ बनाया नहीं है, फिर क्यों नहीं लेते?'

आचार्यश्री ने कहा–'आप हमारे लिए यहां ले आए, इसलिए कैसे लें?'

'हम आपको उन झोंपड़ियों में ले जाकर क्यों कष्ट दें? यह सोच यहां लाए हैं बाबा! और कोई बात नहीं है। यह दूध वापस नहीं जाएगा, लेना होगा।'

आचार्यश्री ने कहा–'आपकी श्रद्धा के अमृत के सामने दूध क्या चीज है? उसे मैं स्वीकार करता हूं।'

वे अपनी बात पर डटे रहे। आचार्यश्री के सामने भी मर्यादा का प्रश्न था। सामने लाई हुई भिक्षा नहीं ली जा सकती थी। दौलतरामजी छाजेड़ बोल उठे–'हम बाबा के भक्त हैं। बाबा नहीं लेते तो भक्तों को दे दीजिए।' बीच का मार्ग निकल आया, समस्या का समाधान हो गया। आचार्यश्री ने उनके श्रद्धाभाव का उल्लेख करते हुए एक दोहा बनाया–

संडाइल के जन खड़े, रोके जी. टी. रोड।
लोटे भर-भर दूध के, लाए भक्ति-विभोर॥

१८ दिसम्बर, १९५९ का प्रवास डालमिया नगर में हुआ। इससे पूर्व जे. के. नगर में आचार्यश्री रह चुके थे। औद्योगिक नगर में यह दूसरा प्रवास था। कोलकाता से चलने के बाद दूसरी रात में ठहरने का पहला प्रसंग था।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

सुगनचंदजी आंचलिया यात्रा पथ और विश्राम-स्थल की व्यवस्था करते थे। वे विश्राम-स्थल से अग्रिम गांव में जाते तो वहां के लोग उससे अगले गांव में पड़ाव डालने का परामर्श देते। आंचलियाजी उन्हें स्वावलंबन की बात बताते तब वे स्थान देने को राजी होते। आचार्यश्री का प्रवचन सुन अणुव्रतों की जानकारी पाकर वे झूम उठते। साथ के लोग अपना पकाते, अपना खाते। गांव पर कोई भार नहीं पड़ता। पहले स्थान पाने में कठिनाई होती और फिर उसे छोड़ने में कठिनाई होती। स्वावलंबन और स्वनिर्भरता के प्रति आकर्षण होता है। इसके प्रत्यक्ष दर्शन होते।

एक बार आचार्यश्री उत्तरांचल की यात्रा कर रहे थे। एक दिन एक छोटे-से गांव में ठहरने का निश्चय हुआ। अग्रिम दल व्यवस्था के लिए वहां पहुंचा। गांव के लोगों ने कहा–'अभी-अभी कुछ दिन पहले संन्यासी के वेश में डकैत आए। यहां ठहरे और रात को लूटकर चले गए। हमें विश्वास नहीं है। यहां कोई स्थान नहीं है। आप आगे चले जाइए।' अग्रिम दल के समझाने-बुझाने पर वे स्थान देने को राजी हुए। पर उनके मन में संदेह का ज्वार अभी भी उठ रहा था। वे साधु-मंडली की व्यवस्था के भार से घबरा रहे थे।

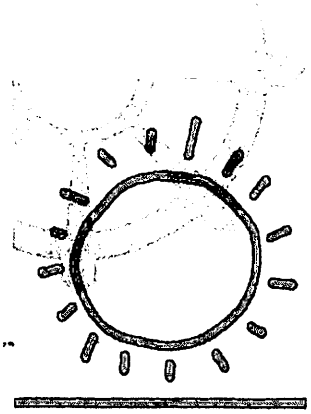

आचार्यश्री वहां पहुंचे। गांव की सीमा पर मुखिया मिला। उसने प्रार्थना की कि वे लोग अगले गांव में चले जाएं क्योंकि उसी दिन गांव में एक अन्य संत मंडली की विदाई हुई थी जो एक सप्ताह तक वहां ठहरी थी। उसकी बात सुनकर आचार्यश्री ने मुस्कराकर कहा–'हम लोग निश्चित दूरी तय करके ठहरते हैं। हम गांव के बाहर ही ठहर जाएंगे। आप चिन्ता न करें।'

आचार्यश्री के निश्चय को सुनकर मुखिया ने आग्रह किया–आप गांव में ही चलें। तत्पश्चात् मुखिया ने चारपाइयों, बिस्तरों व खाने-पीने की आवश्यकता के बारे में पूछा। आचार्यश्री ने उत्तर दिया–'हम लोग

जैन संत हैं। चारपाई व बिस्तरों का प्रयोग नहीं करते। जो खाना हमारे लिए तैयार किया जाता है उसे भी हम नहीं लेते।' इस पर मुखिया बोला–'आप लोगों के लिए दूध का प्रबंध कर देंगे।' आचार्यश्री ने कहा–'हम लोग रात में कुछ भी नहीं खाते, रात्रि को विश्राम करेंगे। सवेरा होते ही चल देंगे।' वह रात आचार्यश्री ने विद्यालय के भवन में बिताई और प्रातः मंगलपाठ सुनाते हुए कहा–'हमें अपनी इच्छाएं इतनी कम रखनी चाहिए कि उन्हें पूरा करने में किसी दूसरे को कष्ट न देना पड़े।'

आचार्यश्री नानऊ की नहर कोठी में ठहरे हुए थे। संध्या बीत चुकी थी। प्रतिक्रमण हो चुका था। मुनिगण आचार्यश्री व ज्येष्ठ मुनियों को वंदना कर रहे थे। इधर आसपास के गांवों के लोगों के झुंड आ रहे थे। उनमें पुरुष भी थे, महिलाएं भी थीं। बालक, जवान और बूढ़े सभी थे।

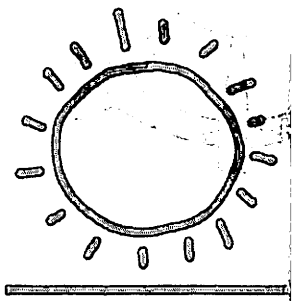

इधर बर्फीली हवा छाती को चीर उस पार जा रही थी। दिन में भी शरीर ठिठुरता था। सूर्य के चले जाने पर सर्दी का एकाकार साम्राज्य हो गया था, पर श्रद्धा में जितना तेज है उतना किसी में नहीं है। उस सर्दी में भी लोग खुले प्रांगण में बैठे हुए थे। एक मुनि ने आचार्यश्री से निवेदन किया–लोग दूर-दूर से आए हैं, सर्दी बहुत है, इसलिए प्रवचन प्रार्थना से पहले हो जाए तो अच्छा रहे। प्रवचन संपन्न हो गया। आगंतुक लोग अपने-अपने गांव को चले गए। आठ बजने को थे। प्रार्थना का शब्द हुआ। मुनिगण एकत्र हुए। प्रार्थना शुरू हुई। कोई दो-एक पद गाए होंगे, इतने में एक मोटरकार आई। चंदनमलजी कठौतिया ने आचार्यश्री के कानों में धीरे से कुछ कहा। आचार्यश्री पहले क्षण कुछ गंभीर थे और दूसरे ही क्षण प्रसन्न। वे बात का सिलसिला तोड़ ऊंचे स्वर से प्रार्थना गाने में लीन हो गए।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

अनुमान जो लगा रहे थे वे सही थे। प्रार्थना के पूर्ण होते ही आचार्यश्री ने घोषित किया कि मंत्री मुनि का स्वर्गवास हो गया है। प्रार्थना के पश्चात् आज उनके स्वर्गवास के उपलक्ष में ध्यान किया जाए। आचार्यश्री एवं सब साधु ध्यान में लीन हो गए। ध्यान पूर्ण होते ही मंत्री मुनि की स्मृतियां उभरने लगीं। वातावरण की स्तब्धता को दूर करते हुए आचार्यश्री ने कहा–'पूज्य कालूगणी के स्वर्गवास के समय जो तीव्र अनुभूति हुई थी, वैसी अनुभूति फिर कभी नहीं हुई। आज फिर एक विचित्र-सी अनुभूति हो रही है।' संवाद सुनते ही एक चोट-सी लगी, किंतु दूसरे ही क्षण उस संवेदना को मैंने प्रसन्नता से दबाने का यत्न किया और मैं ऊंचे स्वर से प्रार्थना गाने लगा। यह निश्चित है कि एक दिन सब चले जाते हैं। मंत्री मुनि भी चले गए पर वे अपनी मधुर स्मृतियां छोड़कर गए हैं। वे अतुलनीय व्यक्ति थे। उनकी कमी को पूरा करने वाला कौन साधु है? कोई एक साधु उनकी विशेषताओं को न पा सके तो अनेक साधु मिलकर उनकी विशेषताओं को संजो लें, उन्हें जाने न दें। आचार्यश्री ने पूरे वातावरण को तन्मय बनाते हुए तत्काल एक दोहा बनाकर सुनाया–

वयोवृद्ध शासन सुखद मंत्री मगन महान्।
माह विद छठ मंगल दिवस कर्‌यो स्वर्ग प्रस्थान॥

हम लोग केवल सुन ही नहीं रहे थे, वार्ता को और आगे बढ़ा रहे थे। अतीत की स्मृतियां सहज ही मधुर होती हैं। मृत्यु के पश्चात् व्यक्ति नहीं रहता, उसकी स्मृतियां ही शेष रहती हैं। दैहिक अभाव स्मृतियों में और भी माधुर्य भर देता है।

मंत्री मुनि की स्मृतियां मृत-आत्मा की स्मृतियां नहीं थीं। वे इतनी सजीव थीं कि बीच-बीच में यह आभास हो रहा था कि अभी जीवित हैं। उनका स्वर्गवास कहां हुआ है? कौन कहता है उनका स्वर्गवास

हो गया। आचार्यश्री ने स्मृतियों के मध्य ही कहा–'क्या सचमुच ही मंत्री मुनि का स्वर्गवास हो गया?' यह ऐसी घटना थी कि जो घटित होने पर भी अपना विश्वास नहीं जमा पा रही थी। मंत्री मुनि का सामीप्य इतना प्रगाढ़ था कि वे दूर होकर भी अपनी दूरी पर विश्वास उत्पन्न नहीं कर सके। अतीत आखिर अतीत ही होता है। उसके पास स्मृतियों के सिवाय और क्या शेष रहता है? स्मृतियां फिर आगे बढ़ीं। आचार्यश्री ने अंतस्तल के भावों की अभिव्यक्ति के साथ कहा–

अद्‌भुत अतुल मनोबली, शासन स्तम्भ सधीर,
दृढ़ प्रतिज्ञ सुस्थिर मति, आज बिलायो वीर॥
उदाहरण गुरुभक्ति को, दिल को बड़ो वजीर,
सागर सो गंभीर वो, आज बिलायो वीर॥
विनयी विज्ञ विशाल जो, मनो द्रौपदी चीर,
सफल सुफल जीवन मगन, आज बिलायो वीर॥
नानऊ कोठी नहर में, सांझ प्रार्थना-लीन,
सुन सचित्र सारा रह्या, उदासीन आसीन॥
रिक्त स्थान मुनि मगन रो, भरो संघ के संत,
मगन मगन पथ अनुसरो, करो मतो मतिवंत॥
'सुख' अब कर अनसन सुखे, आज फली तुझ आस,
हाथां में थारे हुयो, बाबा रो सुरवास॥

धर्मचक्र का प्रवर्तन

हम लोग आचार्यश्री की भावना के उतार-चढ़ाव को देख रहे थे और आचार्यश्री हमारी उत्सुक भावना को देख रहे थे। आचार्यश्री ने कहा–पूज्य कालूगणी के स्वर्गवास के बाद वे मेरे बड़े सहयोगी रहे। उस संधिकाल में जब पूज्यश्री कालूगणी का स्वर्गवास हुआ और मैंने छोटी अवस्था में गण का उत्तरदायित्व संभाला, यदि वे नहीं होते तो मुझे न जाने किन-किन कठिनाइयों का अनुभव होता? उनकी गणनिष्ठा अपूर्व थी। गणी के प्रति उनके जैसा विनयभाव अन्यत्र दुर्लभ है। वे गण और गणी सबका हित और विकास चाहते थे। वे संकल्प के धनी थे। जो निर्णय कर लेते, उस पर अडिग रहते। उनका हृदय बहुत ही सुदृढ़ था। वे जितने दृढ़संकल्पी और निर्भीक थे उतने ही विवेकी थे। आचार्य की इच्छा का बहुत सम्मान करते थे। उन्हें जो सम्मान मिला वैसा संभवतः आज तक किसी भी साधु को नहीं मिला। इतना पाकर भी वे निरभिमानी थे। मंत्री मुनि की गंभीरता भी अपूर्व थी। बात को पचाने की शक्ति भी विलक्षण थी। किसको क्या कहना चाहिए, कब और कितना कहना चाहिए, इसका उन्हें पूर्ण विवेक था। एक दिन वे आए और बोले–'आप कभी-कभी सबके सामने मुझे उलाहना दिया करें। मेरा तो उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, दूसरों को एक बोध-पाठ मिलेगा।' उनकी प्रबुद्ध चेतना ने जो पाया, जो दिया, वह असाधारण है। वे आज हमारे बीच नहीं रहे हैं। उनकी स्मृतियां तभी फल ला सकती हैं जब उनकी विशेषताओं को उन्हीं के साथ जाने न दिया जाए।'

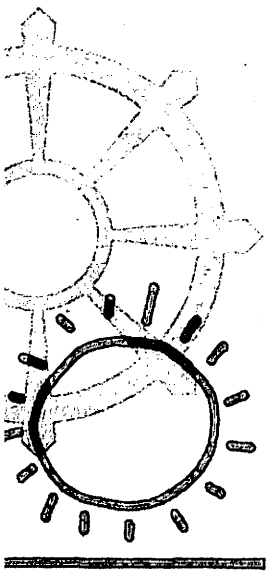

दिल्ली भारत की राजधानी ही नहीं है, वह अतिथियों की भी राजधानी है। उसकी प्रसिद्धि शासन-परिचालन के लिए ही नहीं है, वह स्वागत के लिए भी प्रसिद्ध है। सर्दी का मौसम एक दृष्टि से स्वागत का मौसम होता है। आचार्यश्री भी इसी मौसम में वहां पहुंचे। पब्लिक लाइब्रेरी में स्वागत का आयोजन था।

वक्ताओं में अनेक विशिष्ट व्यक्ति थे। आचार्यश्री के स्वागत में जैनेन्द्रकुमारजी ने कहा–'दिल्ली भारत की राजधानी है। यहां स्वागत होता ही रहता है। अधिकांश स्वागत हवाई होता है। यह स्वागत उससे भिन्न है, धरती पर चलने वालों का है। हवा में उड़ने वाले लोगों को छोटा बनाते हैं। उन्हें आदमी चींटी जैसा लगता है। आचार्यश्री रोटी दूसरों से लेते हैं, उन्हें देना सिखाते हैं, उन्हें बड़ा बनाते हैं। पैदल चलते हैं, दूसरों को यह अनुभूति करने का अवसर देते हैं कि इससे तुम सब बड़े हो, कम-से-कम बराबर तो हो।'

दिल्ली में स्वल्पकालीन प्रवास हुआ। उसमें कुछ महत्त्वपूर्ण गोष्ठियां हुईं। राष्ट्रपति और नेहरूजी को तेरापंथ द्वि-शताब्दी के महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमों की जानकारी दी। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' अस्पताल में थे। आचार्यश्री वहां पधारे। कुछ लोगों की धारणा थी–आचार्यश्री सबको अपने पास बुलाते हैं वे किसी के पास नहीं जाते। आचार्यश्री का चिन्तन भिन्न था। उन्हें दूसरों के पास जाकर मिलने में संकोच नहीं था। दूसरे लोग उनके पास आएं, उसमें भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। प्रश्न केवल सुविधा का रहता था। हम सर्वदा पाद-विहारी हैं। इसलिए इतस्ततः जाने में जो कठिनाई है वह उन्हें नहीं होती जो यान-विहारी हैं। इसी यात्रा में थोड़े दिनों पहले आचार्यश्री प्रयाग में थे। वहां पुरुषोत्तमदास टंडन के घर पधारे। लगभग एक घंटा वहां रहे। आचार्यश्री ने कुछ सुनाया, कुछ सुना। आचार्यश्री विनिमय में विश्वास करते थे। वे अपने को जितना दाता नहीं मानते, उतना ग्राहक मानते। यह विद्यार्थीभाव उनकी अपनी विशेषता थी।

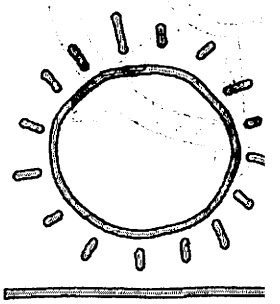

इस वर्ष का मर्यादा-महोत्सव हांसी में हुआ। पंजाबी लोगों का उत्साह देखते ही बनता था। महोत्सव के समय साधु-साध्वियों की उपस्थिति कम थी। इस अवसर पर व्यवस्था की दृष्टि से जो कार्य आचार्य को करना होता है, वह भी नहीं हुआ। फिर भी भावी कार्यक्रम के संकेत (जो स्वरचित गीतिका में थे) और महत्त्वपूर्ण घोषणाओं के कारण महोत्सव अपने आपमें विशेषता लिए हुए था। आचार्यश्री ने महोत्सव के समय की गई घोषणा के अनुसार एक पत्र लिखा जिसे घोर तपस्वी मुनिश्री सुखलालजी के पास ले जाने के लिए मुझे भेजा। आचार्यश्री ने हिसार से राजगढ़ की ओर विहार किया। हम छह साधु डाबड़ी होते हुए सरदारशहर पहुंचे। एक दिन हम चौबीस मील चले। फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को पहुंचना था। कुछ कठिनाइयां भी आईं, पर लक्ष्य निश्चित था। आचार्यश्री का आशीर्वचन साथ था इसलिए ठीक समय पर पहुंच गए। जब पहुंचना चाहिए था, उसी वेला में पहुंच गए। आचार्यश्री का आदेश पालित हुआ, इससे हम आनंदित थे। घोर तपस्वी आचार्यश्री का संदेश पाकर प्रफुलित थे। उनके अनशन का १९वां दिन चल रहा था। शरीर क्षीण हो चुका था। वे आत्मबल के सहारे जी रहे थे। उनका जीवन शांति और स्वाध्याय का उदाहरण बन रहा था। जीवन और मृत्यु से निरपेक्ष जीवन वे जी रहे थे।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

हजारों की उपस्थिति में मैंने आचार्यश्री का संदेश-पत्र पढ़ा। पत्र सजीव था। सजीव व्यक्ति के लिए लिखा गया था। पढ़ने में भी सजीवता का अनुभव हुआ। पत्र की प्रत्येक पंक्ति को तपस्वी ने अपने शिर चढ़ाया। पत्र के साक्षात्कार से उन्हें आचार्यश्री के साक्षात्कार जैसा अनुभव हुआ। कहीं-कहीं व्यक्ति की अपेक्षा वाणी अधिक गहराई में पैठती है। उस दिन वाणी का चमत्कार मैंने देखा। दो-ढाई घंटे तक घोर तपस्वी मूर्तिवत् शांत बैठे रहे। उल्लास उनकी नस-नस में नाच रहा था। आचार्यश्री के दर्शन की भावना साकार होती लग रही थी। राजगढ़ में आचार्यश्री का महान् स्वागत हुआ। अनेक दरवाजे बने इसलिए महान् नहीं, महान् इसलिए कि उसमें सभी जातियों के लोग सम्मिलित थे। आचार्यश्री नहीं चाहते थे कि उनके आगमन के उपलक्ष में कोई आडम्बर हो। भावावेश में जनता ने वैसा कर डाला। मुसलमानों ने

अपने मोहल्ले में, हरिजनों ने अपने मोहल्ले में दरवाजे बनाए। आचार्यश्री ने उन्हें समझाया कि स्वागत ऐसा न हो, वह त्याग-तपस्या के द्वारा हो।

चतुर्थी को आचार्यश्री चूरू और सरदारशहर के बीच थे। भंवरलालजी दूगड़ आदि कुछ व्यक्ति गए। उन्होंने निवेदन किया कि कल तक तपस्वीजी के जीवित रहने की संभावना नहीं है। आचार्यश्री ने १९ मील का विहार किया, सरदारशहर पहुंचे। दुपहरी की धूप में देखा कि लक्ष्य की पूर्ति के लिए कितना कष्ट सहना होता है, किस प्रकार पसीना बहाना होता है।

मुंबई यात्रा

संकल्प-बल

जहां गति है वहां बाधा भी है। जहां बाधा नहीं है वहां गति में वेग भी नहीं है। बाधा वैयक्तिक भी होती है और सामुदायिक भी। संकल्प-बल से व्यक्ति दोनों की थाह ले लेता है। आचार्यश्री मुंबई यात्रा करने जा रहे थे। सर्दी में स्वास्थ्य दुर्बल हो गया। सोजत के वैद्य मिश्रीलालजी से औषध लिया। स्वस्थ हो गए। इस बीच जो कल्पना-परिवर्तन हुआ उसे आचार्यश्री ने इन शब्दों में अंकित किया है–'बीच में स्वास्थ्य की कमी को लेकर यात्रा के संबंध में कल्पना कुछ और हो गई थी। अब वापस मूल यात्रा का खयाल होने लगा है। इस विषय की चर्चाएं भी जगह-जगह पर चल रही हैं।'

कुछ लोगों का खयाल है कि गुजरात की यात्रा में प्रथम स्थान मुंबई को मिलना चाहिए। लेकिन सबसे बड़ा विचारणीय विषय है कि इतनी लंबी यात्रा, ६०० मील चलना, वह भी तीन महीनों में। बीच-बीच में कई गांवों व शहरों में रुकना भी आवश्यक है और स्वास्थ्य का ध्यान भी रखना है। इन सबके बावजूद भी मेरी अंतरात्मा कह रही है कि मुझे इस वर्ष मुंबई पहुंचना चाहिए। मेरी इस तीव्र भावना के साथ मेरा आत्मबल है, शासनबल है और लोक-हित भावना का प्रबल बल है। निश्चित ही हम इस बार मुंबई पहुंचेंगे। कालू गुरु की कृपा मेरे साथ है।'

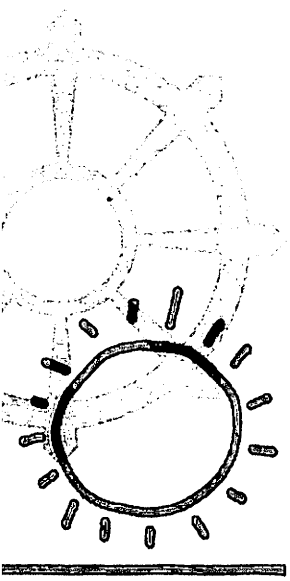

आचार्यश्री पदयात्रा करते-करते मुंबई पहुंचे। जयप्रकाश नारायण उन दिनों वहां थे। वार्तालाप का क्रम आयोजित हुआ। वह तीन दिन तक चला। जयप्रकाशजी के मन पर जो प्रभाव हुआ, उसका आलेख उन्होंने स्वयं किया है–'अणुव्रत आंदोलन भी सर्वोदय आंदोलन का एक सहयोगी है। इससे भी देश-विदेश के प्रायः सभी विचारक और नेता परिचित हो ही गए हैं। हमारे आदर्श की ओर बढ़ने के लिए आचार्य तुलसी ने बहुत सुंदर आदर्श रखा है। विनोबाजी और तुलसीजी सभी जाति और वर्ग के लिए हैं। दोनों ही सबका भला चाहते हैं। आचार्य तुलसीजी से मुंबई में वार्तालाप करने पर उच्च उद्देश्यों की झलक मिली। उनका कहना है कि जब सारी हिंसक शक्तियां एकत्र हो सकती हैं, तब अहिंसक शक्तियां भी एक हो सकती हैं और सबके सामूहिक प्रयत्न से अवश्य ही अहिंसक समाज की कल्पना पूरी हो सकेगी।'

'संपत्ति-दान और अणुव्रत आंदोलन की भावना भी एक ही है। एक समाज के हक को उसे दे देने के लिए बाध्य करता है, प्रेरित करता है या उसे सीख देता है। दूसरा संग्रह को ही त्याज्य बताता है और जो कुछ है उसे दान स्वरूप देने को नहीं बल्कि त्याग स्वरूप समाज के लिए छोड़ देने की भावना प्रदर्शित करता है। अणुव्रत आंदोलन परिग्रह मात्र को पाप का मूल मानता है। इसके अनुसार संग्रह ही हिंसा की जड़ है। जहां संग्रह है वहां शोषण और हिंसा आप-से-आप मौजूद हैं।'

आचार्यश्री एक सुसंगठित समाज के प्रमुख थे। उनका उत्तरदायित्व भी था। अधिकांश साधु-साध्वियां राजस्थान, पंजाब, मध्यभारत में विहार करते हैं इसलिए सुदूरवर्ती क्षेत्रों में जाना आचार्य के लिए सहज नहीं होता।

आचार्यश्री उन दिनों मुंबई में थे। एक गृहस्थ ने मारवाड़ से आया हुआ एक पत्र पढ़ने को दिया। आचार्यश्री ने उसके संबंध में लिखा है–'उसमें वहां के संतों को लेकर विचित्र से समाचार हैं। वहां के कुछ लोगों में विकृति भर गई, ऐसा मालूम हुआ। गुटबंदी की बात सुनी। विषय विचारणीय व गहन लगा, पर होना क्या है? गुरुदेवः शरणमस्तु।'

'आज एक पत्र फिर आया है। उसी विषय का। इधर-उधर की काफी बातें हैं। पर अभी तक विश्वस्त समाचार प्राप्त नहीं हुआ। कुछ चिंता-सी है। कारण, हम बहुत दूर हैं। मारवाड़ यहां से ७०० मील होगा। शुभकरण ने पहले ही बहुत कहा था पर मुझे ऐसा लगता था कि मैं किसी दूसरे की अंतरंग प्रेरणा से मुंबई पहुंचा हूं। चिंता मुझे क्यों हो? वह अंतरंग प्रेरक स्वयं चिन्ता करेगा। फिर भी पुरुषार्थवादी होने के नाते उपचार करना होता है। संभव है हमारे सुदूर प्रवास का अनुचित लाभ उठाने की कुछ व्यक्ति सोच रहे हों। अंतरात्मा यही साक्ष्य देता है कि होना जाना कुछ भी नहीं है। गुरुवरः शरणमस्तु। दिल इतना बलवान नहीं है कि छुट-पुट घटना का असर न हो। आखिर गुरु कृपातः सर्वसफलम्।'

आंतरिक स्थितियां अनुकूल होतीं तो आचार्यश्री दक्षिण में पधार जाते। किन्तु वैसा नहीं था। उन्हीं दिनों स्थानांग सूत्र का वाचन चल रहा था। एक दिन एक पाठ आया–गण में विग्रह होने के पांच कारण हैं। उनमें एक कारण यह है–'आचार्य गण की सम्मति लिए बिना दूर देशान्तर में चले जाएं तो गण में विग्रह हो सकता है।' आचार्यश्री ने इसे आधार मान कर दक्षिण में जाने की कल्पना बदल दी।

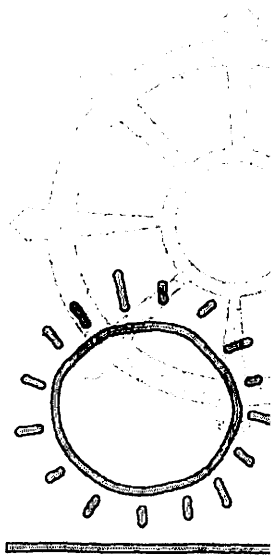

धर्मचक्र का प्रवर्तन

बेंगलुरु के भाई-बहिनों की प्रार्थना आचार्यश्री को खींच रही थी। आचार्यश्री स्वयं भी भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक यात्रा करना चाहते थे। गुरुदेव ने उसी प्रसंग में लिखा–'काश! मेरी जैसी इच्छा है देशाटन की, वैसा हो पाता। मेरी बड़ी तड़प है दक्षिण भारत में जाने की, पर संघ-संभाल का उत्तरदायित्व जो है उसका खयाल रह-रहकर मुझे रोकता है। इधर देशाटन व शासन का उपकार है, उधर शासन-संभाल बड़ी समस्या है। समाधान स्वतः ही कोई सुंदर होगा। हमारे गुरुदेव हर वक्त ध्यान रखते ही हैं। मैं तो उसी भरोसे निश्चिन्त रहूं, ऐसा हृदय कहता है।'

विविधा

परिव्रजन अनुभूतियों का महान् संग्रहालय है। आचार्यश्री ने परिव्रजन में विविधताएं देखी और उन्हें विविध रूपों में गूंथा। पीपल गांव के प्रवास का उल्लेख इन शब्दों में किया–'वहां जगह की बहुत तंगी थी। दिन भर एक टपरी में रहे। ऊपर से बघारे ही बघारे। प्रांगण अति उच्चावच। लकड़े बाहर निकले हुए। पग-पग पर लगने का भय। चारों ओर धूप। प्रकृति की गोद में रहे। फिर भी आनन्द का अनुभव हुआ। लगा कि आनन्द और विषाद बाह्य वस्तु में नहीं हैं। ये तो अपने से संबंधित हैं।'

मन सम होता है तो विषम भी सम हो जाता है और मन विषम होता है तो सम भी विषम हो जाता है। आचार्यश्री ने केवल परिव्रजन ही नहीं किया, साम्ययोग का अनुशीलन भी किया। उन्होंने जो देखा, उसे विशेष दृष्टि से देखा और जो अर्थ लिया, उसे जीवन के लिए उपयोगी बनाकर लिया। आचार्यश्री ने अजन्ता यात्रा

के संदर्भ में लिखा–'अजन्ता गांव को छोड़कर दृश्य-बिन्दु (व्यू-पाइंट) होकर जाने से सात मील का चक्कर बचता है। रास्ता विषम जरूर है, फिर भी हमने वही मार्ग लिया। दृश्य-बिन्दु पर खड़े रहे। नीचे का समूचा दृश्य देखा। बड़ा रमणीय था। रात को वहीं वृक्ष के नीचे सोये। सवेरे दृश्य-बिन्दु पर सामूहिक प्रार्थना की। फिर गुफाओं की ओर चले। मार्ग विषम था। फिर भी संघ सहित चलने का बड़ा आनन्द आया।'

आचार्यश्री का मानस कवित्व से परिपूर्ण था। समय-समय पर इसमें से कवित्व की धारा प्रवहमान हो जाती थी। गुफाओं का निरीक्षण करने के बाद आचार्यश्री ने अनुभव किया–'कला, रंग और भावप्रदर्शन की शैली विचित्र है। वातावरण शांत है। स्थान वास्तव में ही संतों का साधना-स्थल व तपोभूमि जैसा है। हमने सामूहिक ध्यान स्वाध्याय किया। प्रवचन भी किया।' एक दोहे में लिखा–

अक्षय तीज सुपर्व दिन, अजब अजन्ता स्थान।
तुलसी गणपति संघ सह, खिली अलौकिक शान॥

अनुभूति तीव्र हुए बिना कवित्व स्फुटित नहीं होता। तीव्रता के निमित्त इस दुनिया में कम नहीं हैं। एक दिन मार्ग के बीच में ईख के खेत आए। एक भाई ने आग्रह किया। आचार्यश्री ने रस लिया और थोड़ा गुड़ भी। आहार किया हुआ था और अपराह्न की वेला थी। इसलिए उसे पीने में कठिनाई का अनुभव हुआ। कुछ विलम्ब हो गया। सूर्यास्त होने पर सांईं बाबा के धाम सिरड़ी पहुंचे। रात को मच्छरों ने पूरी खबर ली। पंजाब के मलेरकोटला की स्मृति उभर आई। नींद फिर किसलिए आती। आचार्यश्री ने तब कहा–

सिरड़ी आए शाम को, धमचक सांईं धाम।
सांझ सताई सेलड़ी, राते मच्छर राम॥

आचार्यश्री मुंबई की सीमा पार कर मध्य भारत आ रहे थे। विन्ध्य की चोटी पर चढ़े कि आकाश बादलों से घिर गया। पहाड़, पेड़, आकाश और भूमि सब श्यामल हो गए। मानपुर की घाटी आई और बरसात भी आ गई। उसने जी भर स्वागत किया। आचार्यश्री ने कहा–

गुजरी से गहरी खिली, विन्ध्याचल की बाट।
सीन सिनेरी सांतरी, घन की ओघटघाट।
चढ़े विन्ध्य की चोटियां, सहे मेघ के बाण।
रखी सुरक्षित पुस्तकें, प्लास्टिक के इक ताण॥

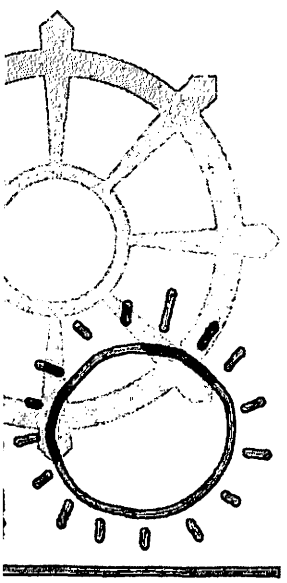

आचार्यश्री मन्दसौर से चले, बीच में राम-बड़ आया। वहां विश्राम किया। बड़ बहुत विशाल था। कहा जाता है भगवान राम ने यहां विश्राम किया था। आचार्यश्री ने उसे स्मृति से वंचित नहीं रखा। जो घटा, उसे पद्यों में बांध दिया–

मंदसौर से रामबड़ तल लीधो विश्राम।
तुलसी गणपति पोष सुद तीज दूसरी याम॥
ईखू रस अमृत जिसो लाए चम्पक भ्रात।
पीकर चाल्या पीपल्या तेरह मुनिवर साथ॥
चंप गुलाब मनोहरु सुख सह रूप समीर।
फतह बसंत हर केशरी, हीरो हंस हमीर॥

आचार्यश्री ने विविध घटनाओं को काव्य में संजोकर उन्हें अमरत्व प्रदान किया।

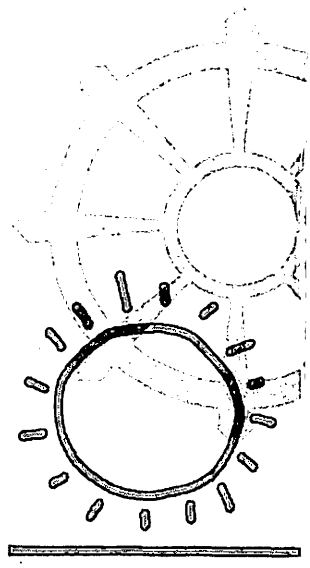

धर्मचक्र का प्रवर्तन

अतीत की स्मृतियां

आचार्यश्री मध्य भारत से राजस्थान आए और वहां आए जहां आचार्यपद का दायित्व संभाला था। आचार्यश्री मुंबई यात्रा कर दो वर्षों से आ रहे थे। लोगों में असीम उल्लास था। अपनी ऐतिहासिक स्थली का वर्णन आचार्यश्री ने बड़े सजीव शब्दों में किया–'आस-पास के लोगों की इतनी भीड़ थी कि समूचा गंगापुर जन-मय बन गया। जैनेतर भी जैन लोगों से कम नहीं थे। यह परम हर्ष का विषय है कि आज तेरापंथ सार्वभौम धर्म होता जा रहा है। जातिवाद की संकीर्णता को तोड़कर निस्संकोच आगे बढ़ रहा है। जिस मैदान में प्रवचन रखा, वहां जनता समाई नहीं। समाए भी कैसे, लोग कल्पना से बहुत अधिक थे। ३५० से अधिक साधु-साध्वियां थीं। तिरानबे के भाद्रपद में पूज्य कालूगणी का उत्तराधिकार पाया, उसके बाद फिर अभी आना हुआ है। उस समय की वे स्मृतियां एक-एक कर उभरने लगीं। कालूगणी वहां बैठते, सोते थे। हम यहां रहते थे। युवाचार्यपद कहां और किस रूप में मिला, क्या-क्या विशेष शिक्षाएं पाईं, कहां पूज्य कालूगणी का स्वर्गवास हुआ आदि-आदि घटनाएं सजीव होकर आंखों के सामने नाचने लगीं।'

कच्छ-यात्रा के विविध प्रसंग

डॉ. राममनोहर लोहिया ने मुझे कहा था–'जैन गृहस्थ व्यापारी ही क्यों? इस प्रश्न पर मैं कुछ लिखूं।' मैंने इस पर कुछ लिखा भी था। मैं सोचता था–आज का जैन समाज व्यापार में ही संलग्न है किन्तु कच्छ-यात्रा से इस धारणा में परिवर्तन हुआ। यहां हजारों जैन परिवार आज भी किसान हैं। भगवान् महावीर का प्रमुख श्रावक आनन्द किसान था। ये लोग उसी परम्परा के अनुगामी हैं।

कच्छ में जैन लोग अच्छी संख्या में हैं। सात-आठ लाख की जनसंख्या में लगभग सवा लाख जैन हैं। जैनों के अनेक संप्रदाय यहां विद्यमान हैं–देहरावासी, छहकोटी, आठकोटी पख, आठ कोटी नानीपख, तेरापंथी आदि-आदि। तेरापंथ को छोड़कर प्रायः सभी संप्रदायों के धर्मस्थान विपुल संख्या में और अच्छी स्थिति में हैं। यहां संध्या के समय अधिकांश लोग उपाश्रयों और स्थानकों में एकत्र होते हैं। सामाजिक संगठन बहुत अच्छा है। हर गांव में संघपति होता है। उसे समुचित आदर दिया जाता है। हमारे साथ भी सैकड़ों आदमी थे। गांव-गांव में संघपति का नाम पूछा जाता था। आखिर यात्रियों ने मिलकर खेमचंदजी सेठिया को संघपति नियुक्त किया। संघ और संघपति दोनों को बहुत महत्त्व दिया जाता। स्थानीय महिलाएं नारियल आदि मांगलिक द्रव्य लेकर संघपति की अगवानी करती।

कच्छ शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ा हुआ था। विद्यालय बहुत ही साधारण। भौतिक विकास भी कम परिलक्षित हो रहा था। भौगोलिक स्थिति से उसकी अलग-सी दुनिया है। वह चारों ओर से रण से घिरा हुआ है। हमने आठ मील का रण पार कर कच्छ में प्रवेश किया। तर्कशास्त्र के ग्रंथों में मृग-मरीचिका के बारे में बहुत बार पढ़ा था। रण में अनेक बार उसके दर्शन हुए। रण के तट पर खड़ी वृक्षावलि और उसके चरण चूमती हुई रण-भूमि में सूर्य की रश्मियां फैल रही थीं। उस समय दर्शनशास्त्र के अनेक तर्क मेरे मस्तिष्क में प्लव विचरण कर रहे थे। वेदान्त के संदर्भ में मैं सोच रहा था–समान परिस्थिति में आंख सबको धोखा देती है। 'जल नहीं में जल का दर्शन' मैं अकेला नहीं कर रहा था, सब कर रहे थे। इस स्थिति में आंख पर से विश्वास उठ रहा था। 'आंखों देखा सच'–इसकी प्रामाणिकता का अवमूल्यन हो रहा था।

अध्यात्मशास्त्र के संबंध में मैं काम-भोगों और मृग-मरीचिका की तुलना पर चिन्तन कर रहा था। असत् की सत्ता ही मनुष्य में मोह पैदा नहीं करती, उसका चिन्तन भी मोह पैदा करता है। उस चिन्तन के क्षण में हमारे पैर गति-क्रम में पिछड़ गए। रण के तट पर आचार्यश्री कुछ क्षणों के लिए रुके, तब हम उनके साथ हो सके। हमारा पहला प्रवास भोमायमोरा गांव में हुआ। जैन साधु इधर-उधर आते-जाते रहते हैं, इसलिए ग्रामवासियों के लिए हम आश्चर्य की वस्तु नहीं थे, किन्तु पहली बार यहां आ रहे थे इसलिए उनकी वेश-भूषा, रहन-सहन हमारे लिए आश्चर्य की वस्तु थी। कच्छ के अधिकांश लोग जिस वेश-भूषा में रहते हैं उसके मुख्य उपकरण दो हैं–वाजणां और केडिया। वाजणां चूड़ीदार पाजामा जैसा होता है, किन्तु उस जैसा चुस्त नहीं होता, ढीला होता है। केडिया अंगरखी जैसा होता है। इसमें कपड़ा बहुत लगता है। कच्छवासी रुई हाथ से कातते हैं, फिर हरिजनों से कपड़ा बनवाते हैं। कपड़ा बहुत मोटा पहनते हैं। महीने में दो-चार बार धोते हैं। खेती का धंधा करते हैं। इसलिये वर्ष में दो 'वाजणां' और दो 'केडिया' आवश्यक होते हैं। आदिवासी लोगों की तरह ग्रामीण स्त्रियां हाथों और पैरों को दागती हैं। आभूषण पहनने की प्रथा भी बहुत है। कानों में तीन जगह आभूषण पहने जाते हैं–'मूंगरी ऊपर के भाग में, द्वारिया मध्य भाग में, ढाबूं नीचे के भाग में। एक बच्चे से मैंने पूछा–'कान क्यों बींधे हैं?' उसने सहज भाव से उत्तर दिया–'इसके बिना शादी कैसे होगी?' हमने पहले प्रवास में दूल्हा देखा। वह सोने के आभूषणों से लदा हुआ था। दूल्हों के चलने का ढंग भी निराला है। राजस्थान में कहावत है–'मेवाड़ का बनड़ा (दूल्हा) धीमे चलता है। किन्तु कच्छ का दूल्हा इस मामले में मेवाड़ के दूल्हे से बहुत आगे है। वेला ग्राम में आचार्यश्री ने एक दूल्हे को देखा। आचार्यश्री कई घरों में घूमकर आए तब तक वह मुश्किल से चार ही कदम आगे बढ़ा होगा। वह अपने पैर के अंगूठे पर तलवार की नोक रखकर चलता है इसलिए वह चल नहीं पाता, केवल थोड़ा-सा सरकता या रेंगता है। रबारी और आयर (अहीर) जाति की स्त्रियां एक हाथ में हाथी दांत का चुड़ला पहनती हैं, पांच-पांच किलो तक जिसका वजन और हजारों रुपए मूल्य होता है। उस हाथ से वे कोई काम नहीं कर सकतीं। उस हाथ की सारी शक्ति शोभा-प्रदर्शन और भारवाहन में ही खर्च हो जाती है। वह जीवन भर का साथी होता है, कभी खुलता नहीं।

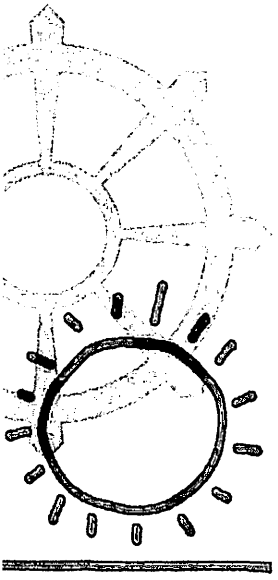

हमने देखा–कच्छ की स्त्रियां कर्मशील हैं। राष्ट्रीय राजपथ के निर्माण में तथा अन्य कार्यों में हमने मजदूरों की अपेक्षा मजदूर स्त्रियों को अधिक संख्या में पाया। सम्पन्न कुलों की स्त्रियां भी पानी लाती हैं तथा अन्य कार्य अपने हाथों से करती हैं।

यहां मुख्य खाद्य गेहूं और बाजरा है। मांस-मदिरा का प्रचलन बहुत कम है। कणवी (किसान), चौधरी, पाटेदार, आमर खेडूत, राजपूत, हिन्दू कुम्हार–इन जातियों में मांस-मदिरा का व्यवहार निषिद्ध है। जैन, वैष्णव, स्वामीनारायण आदि में तो इसका प्रश्न ही नहीं है।

कच्छ में बरसाती नदियां हैं, सिंचाई के साधन नहीं हैं। खेती के लिए किसान केवल वर्षा पर निर्भर हैं। कहीं-कहीं कुएं हैं। उनसे सिंचाई होती है। वैशाख-ज्येष्ठ में भी कुओं के जल से ज्वार-बाजरे की खेती देखी। खेत बहुत बड़े-बड़े हैं।

प्रथम प्रवास में हमें लगा कि इस प्रदेश में बहुत मूल्यवान् खनिज हैं। रण पार करते ही छोटी-छोटी पहाड़ियों की शृंखला बहुत लम्बी हो जाती है। बहुरंगी मिट्टी और पत्थर सचमुच सुन्दर लग रहे थे। हम मीलों तक पहाड़ी प्रदेश में चले। उस अवधि में अनेक बार मेवाड़ की स्मृतियां ताजी हो उठीं।

कच्छवासी बोले–हमारा प्रदेश राज्य सरकार द्वारा उपेक्षित रहा है। हमारे प्रदेश का कोई मंत्री नहीं हुआ। इसलिए इस ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। इस बार एक उपमंत्री बने हैं। कच्छ की छह विधानसभाई सीटों में चार पर कांग्रेस जीती है, दो सीटों पर स्वतंत्र दल विजयी हुआ है। हमारी यात्रा के मौके पर नगरपालिका के चुनाव चल रहे थे। गांधीधाम में जनसंघ का प्रचार-कार्य प्रबल देखा।

युद्ध विध्वंसकारी होता है, इसमें संभवतः दो मत नहीं। कच्छवासी मानते हैं कि युद्ध से हमारा लाभ हुआ है। यदि रण-प्रदेश में पाकिस्तान आक्रमण नहीं करता तो कच्छ पर किसी का ध्यान नहीं जाता। अब केन्द्रीय सरकार का ध्यान भी उधर खिंचा है। विशाल राजपथ बन रहा है। हजारों परिवार उसके निर्माण में संलग्न हैं। हमारा यात्रा-पथ वही निर्मीयमाण राजपथ था। छोटे-बड़े नालों और नदियों पर अनेक पुल बन रहे थे। 'डाइवरसन' पढ़ते-पढ़ते और बाइपास से गुजरते-गुजरते यात्री भ्रान्त हो जाते थे। मोटरकार और बसों की भी घिसाई हो जाती थी।

सौराष्ट्र से सटे हुए रण में विशाल रेल-पुल और वाहन-पुल बन रहे थे। वहां भयंकर आंधी, रेत और ज्वारभाटे के बीच काम करते हुए मजदूरों को राष्ट्र-निर्माता का स्थान दिए बिना कौन सहृदय व्यक्ति आगे बढ़ सकता था? नवयुग के नए विश्वकर्मा हजारों कठिनाइयों को झेलते हुए भी राष्ट्र देवता की वेदी पर अपना अर्घ्य चढ़ा रहे थे। मिट्टी के गढ़ों में बंधी हुई छोटी-छोटी झोंपड़ियों में जगता हुआ उनका जीवन मन में करुणा का भाव भर रहा था। निर्माता स्वयं सुविधाओं से वंचित रहता है, इस सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा था।

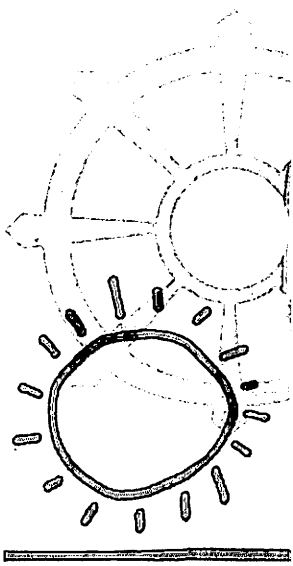

धर्मचक्र का प्रवर्तन

सामाजिक परम्पराओं की दृष्टि से कच्छ शेष हिन्दुस्तान से भिन्न नहीं है। गूजर, बनियों (श्रीश्रीमाल जैनों) में कन्या-विक्रय और वर-विक्रय नहीं होता। यह आज के युग की आश्चर्यकारी घटना है। आर्थिक दृष्टि से बहुत उन्नति परिलक्षित नहीं हुई। व्यापारिक फर्मों में कर्मचारियों की नियुक्ति शेष भारत की अपेक्षा बहुत कम थी।

आतिथ्य और सौहार्द पर्याप्त है। आचार्यश्री तुलसी के साथ पचास साधु-साध्वियों और सैकड़ों गृहस्थों का एक संघ चल रहा था। ग्रामीण लोग हमारे ठहरने के लिए अपने मकान खाली कर देते थे। यात्री भी इसके अतिरिक्त और कोई वजन उन पर नहीं डालते, सब अपनी रोटी खाते और अपना व्यय करते। 'गुजरात राज्य अणुव्रत समिति' की ओर से बस और ट्रक की व्यवस्था थी। व्यक्तिगत कारें और जीपें भी आठ-दस थी। 'पारमार्थिक शिक्षण संस्था' की बस भी साथ में थी। उस संस्था में शिक्षा पाने वाली कन्याओं की स्वर-लहरी से गांवों का वातावरण थिरक उठता। आदर्श साहित्य संघ का कार्यालय भी अपनी गाड़ी में चल रहा था। आगम साहित्य व अन्य साहित्य के संकलन में उसके कार्यकर्ता निरन्तर जुटे हुए थे। अणुव्रत विहार (यात्रा समिति) की जीप भी साथ में थी। अणुव्रत कार्यकर्ता कार्यक्रमों के संयोजन में व्यस्त रहते थे। अनेक स्थानों पर अणुव्रत समितियां बनीं। हजारों लोगों ने अणुव्रत के पूर्ण या अपूर्ण व्रत स्वीकार किए।

धर्मक्रांति या तद्विषयक विचार-क्रांति का कार्य भी चला। धर्म-स्थानों की परिधि में घिरे हुए लोग मुक्त आकाश में उच्छ्वास लेना चाहते हैं–इसका हमें निकटता से अनुभव हुआ। आचार्यश्री ने बहुत स्पष्ट विचार या कटु-सत्य लोगों के सामने प्रस्तुत किया। जैसे–

- धार्मिक लोगों में जितना अधर्म चलता है, उतना अधार्मिकों में नहीं।

• आस्तिक लोगों में जितनी नास्तिकता चलती है, उतनी नास्तिकों में नहीं।

• धर्म की जितनी हानि धार्मिकों ने की है, उतनी अधार्मिकों ने नहीं।

• धार्मिक लोगों में जितनी कट्टरता या साम्प्रदायिक संकीर्णता है उसके लिए गृहस्थ उतने दोषी नहीं है, जितने दोषी साधु हैं।

'नास्तिक लोग भगवान् में विश्वास नहीं रखते, आत्मा में विश्वास नहीं करते, इसलिए वे बुराई करते हैं। इसलिए वे दोषी हैं। किन्तु आस्तिक लोग भगवान् और आत्मा में विश्वास करके भी बुराई करते हैं अर्थात् पवित्रता की परम सत्ता में विश्वास करके भी अपवित्रता का आचरण करते हैं, इसलिए वे उतने ही दोषी हैं। अधार्मिक धार्मिक बनें उससे पहले जो धार्मिक हैं, वे सही अर्थ में धार्मिक बनें। नास्तिक आस्तिक बनें उससे पहले जो आस्तिक हैं, वे सही अर्थ में आस्तिक बनें।'

इस कटुसत्य का भी लोगों ने बड़े धैर्य से पान किया और इस विचार-क्रांति को उन्होंने अपना समर्थन भी दिया।

जैन-समन्वय की भूमिका यहां बहुत प्रशस्त थी। आचार्यश्री जो करना चाहते थे वह कच्छ में सरलता से किया जा सकता था। हजारों-हजारों जैनों का आगमन व सद्व्यवहार सराहनीय था।

यात्रा-पथ के व्यवस्थापक श्री खेमचंद सेठिया और उनके सहयोगी श्री भूपेन्द्र की गाड़ी इधर-उधर दौड़ती ही रहती थी। गर्मी और धूप उनके कार्य में कभी बाधा नहीं डाल सकी। हम कभी चौदह, कभी सोलह और कभी बारह मील का रास्ता तय करते थे। हमारी नियमित चर्या चलती ही थी। आगमों का संपादन-कार्य अविच्छिन्न गति से चलता था। और भी सामयिक साहित्यिक प्रवृत्तियां चलती थीं। श्रम ने विश्राम तथा विश्राम ने श्रम को कभी निरंकुश अवसर नहीं दिया।

इस यात्रा की उल्लेखनीय बात थी मौसम की अनुकूलता। ज्येष्ठ का महीना था, फिर भी हम लोग कमरे के भीतर सोते। बहुत बार खिड़कियां बन्द करनी पड़ती या वस्त्र ओढ़ना पड़ता। प्रातःकाल आकाश में बादल घिर जाते। वर्षा के पहले जैसे उनका पूर्वाभ्यास चल रहा हो। हवा बहुत तेज चलती। हम पृथ्वी पर चलते पर समुद्री प्रभाव से मुक्त नहीं। हजारों-हजारों ग्रामीणों और नागरिकों को आचार्यश्री ने अनेक बार प्रभावित किया, तो आचार्यश्री भी प्रभावित हुए। आचार्यश्री ने अनेक बार कहा—कच्छ में आने के बाद इस प्रदेश के बारे में मेरी जो पूर्वधारणा थी वह बदल गई। हमने १० मई, १९६७ को कच्छ में प्रवेश किया और ६ जून, १९६७ को समुद्री खाड़ी के साथ-साथ कच्छ-यात्रा सम्पन्न की।

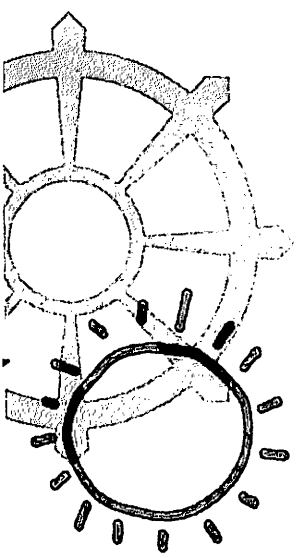

दक्षिण यात्रा

आचार्य तुलसी ने समूचे संघ की शुभाशंसा के मध्य दक्षिण यात्रा के लिए प्रस्थान किया। बीदासर (राजस्थान) का वातावरण उत्फुल्ल हो रहा था। हर आदमी की प्रसन्न आकृति भावी की सूचना दे रही थी कि यात्रा विजयी होगी, प्रभावी होगी।

संघ की व्यवस्था संपन्न कर आचार्यश्री आगे बढ़ रहे थे। दक्षिण अभी दूर था। ट्रेन या कार से जाने वालों को भी राजस्थान से दक्षिण का रास्ता लम्बा लगता है। आचार्यश्री तो पद-यात्री थे। वे सीधे दक्षिण की ओर नहीं जा रहे थे। उनका रास्ता काफी टेढ़ा था। पहला वर्ष गुजरात और महाराष्ट्र में ही सम्पन्न हो गया।

भगवान् महावीर ने क्रियमाण को कृत कहा है। जो क्रियमाण है वह पहले क्षण में कृत नहीं होता तो कभी कृत नहीं हो सकता। अंतिम क्षण निष्ठा का क्षण है, केवल उसी को कृत नहीं माना जा सकता। आचार्यश्री का दक्षिण यात्रा के लिए उठा हुआ पहला चरण और पहला प्रवास भी दक्षिण की यात्रा थी।

आचार्यश्री गुजरात और महाराष्ट्र में विहार कर रहे थे। वहां भी दक्षिण-यात्रा की गूंज थी। ध्येय की अखण्डता गति को कभी खण्डित नहीं होने देती।

आचार्यश्री ने राजस्थान और गुजरात के संधि-स्थल में ही अपनी यात्रा के उद्देश्यों का प्रतिपादन किया। वे उद्देश्य केवल श्रुतिप्रिय ही नहीं थे, उनमें वर्तमान की आकांक्षा भी सन्निहित थी। उन उद्देश्यों ने यात्रा की ओर जनता का ध्यान ही नहीं खींचा, उसे समाधान भी दिया। वे संख्या में तीन थे–१. मानवता का निर्माण, २. धर्मक्रांति और ३. साम्प्रदायिक एकता।

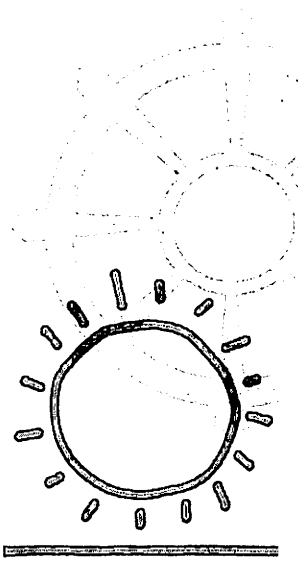

व्यक्तित्व का संक्रमण

आचार्यश्री अपनी वेश-भूषा के कारण जनता में जैन मुनि के रूप में प्रस्तुत हो रहे थे। अणुव्रत-संदेशक के रूप में जनता उन्हें 'मानवता का मसीहा' मान रही थी। उनका धर्मक्रांति का स्वर उन्हें युग-प्रवर्तक बना रहा था। उनकी साम्प्रदायिक एकता की आशंसा उन्हें ईसा की प्रतिष्ठा दे रही थी। एक संभ्रांत ईसाई ने कहा–'मैं आपमें महाप्रभु ईसा का दर्शन पा रहा हूं।' उनकी शारीरिक रचना और करुणा से प्रभावित हो एक व्यक्ति बोला–'मुझे आपमें भगवान् बुद्ध का साक्षात् हो रहा है।' एक वकील ने कहा–'मैं आचार्यश्री में रामलिंगम् स्वामी का प्रतिरूप देख रहा हूं।' एक विद्वान् व्यक्ति ने बताया–'मैं आचार्यश्री की आंखों पर मुग्ध हूं। मैंने आज तक इतनी आकर्षक और तेजस्वी आंखें नहीं देखीं।' अपना-अपना दृष्टिकोण, अपना-अपना ग्रहण और अपनी-अपनी अभिव्यक्ति। इनके संदर्भ में एक व्यक्तित्व अनेक रूपों में संक्रांत हो रहा था।

एकात्मा : सर्वात्मा

इससे पहले की यात्राओं में विरोध और स्वागत दोनों का संतुलन था। इस यात्रा में न जाने क्यों विरोध का स्वर क्षीण हो रहा था, आकर्षण बढ़ रहा था। आचार्यश्री गांव में प्रवेश करते, सैकड़ों-हजारों लोग उनकी अगवानी के लिए सामने आते। वे एक गांव से दूसरे गांव जाते, रास्ते में मध्यवर्ती गांवों के सैकड़ों लोग खड़े-खड़े घंटों तक आचार्यश्री के आने की प्रतीक्षा करते। आचार्यश्री हर गांव में रुकते और उन्हें अपना संदेश देते। एक बार हमने देखा कि प्रवास वाले गांव में पहुंचने पर पांचवां प्रवचन हो रहा था। चार, रास्ते के गांवों में हो चुके थे।

जनता के आकर्षण को बढ़ाने में समाचार-पत्रों का बहुत योग रहा। हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, मलयालम, तेलुगु और अंग्रेजी–इन सभी भाषाओं के समाचार-पत्र अपने-अपने क्षेत्र में यात्रा को महत्त्वपूर्ण स्थान दे रहे थे। हमें अनुभव हुआ–हिन्दुस्तानी समाचार-पत्र कोरी राजनीति में ही लिप्त नहीं हैं। यदि जनता के कल्याण के लिए कोई कार्यक्रम हो तो वे उसका सही-सही मूल्य आंकते हैं।

आचार्यश्री का अधिकांश प्रवास विद्यालयों, महाविद्यालयों, आश्रमों और सार्वजनिक संस्थानों में हुआ। सरकार और सार्वजनिक संस्थाएं काफी सहयोगी बनीं। मुंबई प्रवास के लिए महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री ने राज्य की नवनिर्मित प्रेस का विशाल भवन दिया। कुछ लोगों ने उसमें कठिनाई बतलाई। मुख्यमंत्री ने

कहा–'आचार्यश्री जनता का कार्य कर रहे हैं तब उनके निवास के लिए जनता के भवन का उपयोग क्यों नहीं होना चाहिए?'

आचार्यश्री जनता के थे। वे जनता के लिए अपने समय, शक्ति और सुख-सुविधा को समर्पित किए हुए थे। यह स्थिति बहुत ही स्पष्ट हो रही थी और इसका यथार्थ मूल्य आंका जा रहा था।

आचार्यश्री बार-बार एक प्रश्न साधुओं के सामने प्रस्तुत करते थे–जनता का इतना प्रेम हमें क्यों मिल रहा है? जितना प्रेम मिल रहा है, उतना शायद हम उसके लिए नहीं कर पा रहे हैं।

मेरा मत है कि प्रेम का विनिमय नहीं होता और वह अकारण भी नहीं होता। लोग आचार्यश्री के त्याग-तपस्यामय जीवन के प्रति श्रद्धानत थे। पदयात्रा भी अपने आपमें बड़ा आकर्षण था। उनका व्यापक व उदार दृष्टिकोण भी जनता को अपनी ओर खींच लेता था।

उनके इस सूत्र ने जनता को बहुत प्रभावित किया–'मैं सर्वप्रथम मनुष्य हूं, फिर धार्मिक, फिर जैन और फिर तेरापंथी।'

उनका दूसरा प्रभावी सूत्र था–'मैं दक्षिण की सभ्यता, संस्कृति, साहित्य, कला, परम्परा व वर्तमान समस्या का अध्ययन करने यहां आया हूं। मैं विनिमय में विश्वास करता हूं। जो मेरे पास है वह मैं दूंगा और जो आपके पास है वह लूंगा।'

उनका तीसरा प्रभावी सूत्र था–'मानव धर्म की व्याख्या को प्राथमिकता।'

धर्मचक्र का प्रवर्तन

इन सूत्रों ने उन्हें इतना यशस्वी बनाया कि उनकी तुलना इन शताब्दियों में किसी से भी नहीं की जा सकती।

दक्षिण भारत की यात्रा में कुछ नई धारणाओं का जन्म हुआ। वहां भारतीय सभ्यता और संस्कृति को अधिक व्यापक रूप में देखा जा सकता है। लोग बहुत सरल हैं। साहित्य, संगीत, कला और सौन्दर्य के प्रति बहुत रुझान है। धर्म के प्रति भी गहरी आस्था है। तमिल और कन्नड़ दोनों भाषाओं में प्रचुर जैन साहित्य है। हिन्दी साहित्य में जो स्थान कबीर, सूरदास, तुलसी, जायसी और मीरा का है वही स्थान वहां जैन कवियों और साहित्यकारों का है। लिंगायत आंदोलन के पश्चात् जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या कम हो जाने पर भी उसका प्रभाव आज भी जन-मानस पर विद्यमान है।

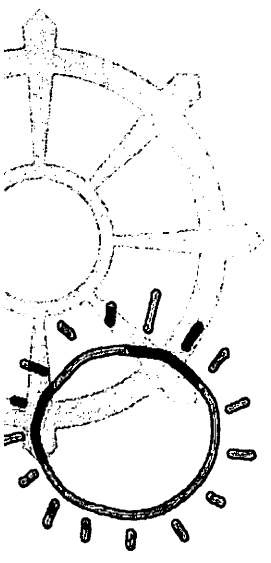

तमिलनाडु की यात्रा का निश्चय हो जाने पर मोरारजी देसाई ने आचार्यश्री से कहा–'वहां हिन्दी का विरोध प्रखर हो रहा है। आप हिन्दी में भाषण करेंगे, इसलिए सार्वजनिक सभा न करें। यह मेरा सुझाव है।' और भी अनेक लोगों ने इस प्रकार के सुझाव दिए। आचार्यश्री ने परामर्श पर चिन्तन किया पर निर्णय नहीं बदला। आपने चेन्नई से कन्याकुमारी तक तमिलनाडु की यात्रा की। प्रत्येक गांव और नगर में सार्वजनिक सभाएं हुईं। कहीं भी जनता ने विरोध प्रदर्शित नहीं किया।

एक शिक्षा-संस्थान में विरोध का स्वर उभरा किन्तु दूध के उफान की भांति तत्काल शांत हो गया। आचार्यश्री मायावरम् से प्रस्थान कर कुत्तालम् जा रहे थे। मार्ग में आडुत्तरै गांव के पास एक शिक्षक प्रशिक्षण केन्द्र था, वहां के एक प्राध्यापक ने आचार्यश्री से अनुरोध किया–'आप हमारे शिक्षक प्रशिक्षण केन्द्र में प्रवचन करें।' आचार्यश्री ने कहा–'चिन्तन करेंगे।' प्रशिक्षण लेने वाले अध्यापकों को इसका पता

चला। उन्होंने प्राध्यापक से कहा–'हम आचार्यजी को सुनना नहीं चाहते। वे हिन्दी में बोलते हैं। यदि हिन्दी में भाषण हुआ तो हम काले झंडे दिखाएंगे।'

३० जनवरी, १९६९ को आचार्यश्री उस संस्थान के पास पहुंचे। प्राचार्य के साथ सैकड़ों अध्यापक सड़क पर खड़े थे। प्राचार्य ने कहा–'मेरी अनुपस्थिति में भूल हो गई, उसके लिए आप क्षमा करें और हमारे शिक्षा केन्द्र में प्रवचन करने का अनुग्रह करें।' प्राचार्य पट्टाभिरामन के अनुरोध पर आचार्यश्री ने शिक्षा केन्द्र के हॉल में प्रवचन किया। सभी शिक्षकों ने बड़ी श्रद्धा के साथ उसे सुना। पौन घंटे के कार्यक्रम में अपूर्व शांति बनी रही।

अन्नामलै विश्वविद्यालय के कुछ प्रोफेसर आचार्यश्री से मिले। उन्होंने विश्वविद्यालय में प्रवचन करने की प्रार्थना की। आचार्यश्री ने उन्हें स्वीकृति दे दी। प्रार्थना करने वालों में एक अन्तर्द्वन्द्व चल रहा था। वे आचार्यश्री को सुनना चाहते थे और हिन्दी भाषा में बोलने की बात से घबरा भी रहे थे। उन्होंने अपना अंतर्द्वन्द्व आचार्यश्री के सामने रखा।

आचार्यश्री–'मैं हिन्दी में बोलता हूं, यदि इससे समस्या उलझती हो तो मैं अपने शिष्यों को भेज दूंगा। वे अंग्रेजी में भाषण कर देंगे।'

प्रोफेसर–'हम आपको ही सुनना चाहते हैं।'

आचार्यश्री–'भय और सुनने की इच्छा, दोनों एक साथ कैसे चलेंगे?'

प्रोफेसर–'हमें भय इसी बात का है कि हमारे विद्यार्थी कहीं अभद्र व्यवहार न कर दें। आपको पता है, यह विश्वविद्यालय हिन्दी के विरोध में अग्रणी है। कुछ दिन पूर्व हिन्दी विरोधी संघर्ष में एक छात्र शहीद हो गया था।'

आचार्यश्री–'मैं संघर्ष को उभारना नहीं चाहता। इसलिए आप प्रवचन की बात को या तो स्थगित रखें या कोई मध्यम मार्ग निकाल लें।

प्रोफेसर–'आप संस्कृत में भाषण करें तो कोई समस्या नहीं होगी।'

आचार्यश्री–'संस्कृत को विद्यार्थी समझ नहीं पाएंगे। अनुवादक भी नहीं समझ पाएगा। इसलिए प्रवचन की सार्थकता नहीं होगी।'

प्रोफेसर–'आप प्रवचन का प्रारंभ संस्कृत में कर दें, शेष प्रवचन हिन्दी में हो जाएगा।'

विश्वविद्यालय के शास्त्री हॉल में प्रवचन की आयोजना की गई। दर्शन विभाग के अध्यक्ष श्री रामलिंगम् और उपकुलपति श्री आदिनारायण ने आचार्यश्री का अभिनन्दन किया। मैंने संस्कृत में प्रारंभिक वक्तव्य दिया। आचार्यश्री ने अपने वक्तव्य के प्रारंभ में संस्कृत में बोलना चाहा तब प्रोफेसर श्री रामलिंगम् ने निवेदन किया–'हमने निर्णय कर लिया है कि हम आपको हिन्दी में ही सुनेंगे। आपके सार्वजनिक प्रवचन से भाषा संबंधी भ्रांतियां समाप्त हो गई हैं। अब आप हिन्दी में ही बोलिए।'

आचार्यश्री ने प्रवचन का प्रारंभ तमिल के एक वाक्य से किया–'एनक्कु तमिल पेस तेरिन्दु इरुदाल मिक सन्तोस इरुन्दु इरुक्कुम्। आनाल एनक्कु तमिल ते रीयाद। आदानाल हिन्दीरिलं पेसूकिरेन।' मुझे बहुत प्रसन्नता होती यदि मैं तमिल में बोल पाता। मैं तमिल नहीं जानता इसलिए हिन्दी में बोल रहा हूं। इस वाक्य ने मोहनीय मंत्र का काम किया। सारा हॉल तालियों की गड़गड़ाहट से गूंज उठा। फिर हिन्दी में प्रवचन

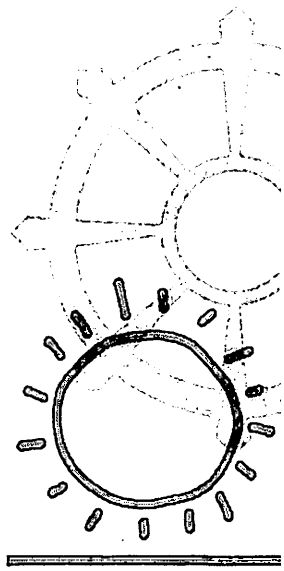

धर्मचक्र का प्रवर्तन

चला और तमिल में उसका अनुवाद होता चला गया। आचार्यश्री ने अपने प्रवचन में शिक्षा, विद्यार्थी, शिक्षक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की विस्तार से चर्चा की। विद्यार्थियों और प्राध्यापकों ने अनेक बार करतल-ध्वनि से विचारों का समर्थन किया। प्रवचन की सम्पन्नता पर विद्यार्थियों ने दूसरे दिन फिर प्रवचन करने की मांग की। किन्तु समयाभाव के कारण उसे स्वीकार नहीं किया जा सका। विश्वविद्यालय के प्रांगण में हिन्दी में प्रवचन करना पहली और आश्चर्यजनक घटना थी। जहां आत्मा बोलती है वहां भाषा मूक हो जाती है, इसका यह एक स्वयंभू उदाहरण है।

आचार्यश्री की तमिलनाडु की यात्रा में अनुवादक थे जी. सुब्रह्मण्यम्। गांधी और विनोबा की तमिलनाडु यात्रा में भी उनके विचार इन्हीं के माध्यम से जनता तक पहुंचे थे। तमिल पर पूर्ण अधिकार और हिन्दी पर भी उतना ही अधिकार। उस यात्रा में इनका महत्त्वपूर्ण योग रहा। आचार्यश्री ने 'मेरी दक्षिण यात्रा'–शीर्षक निबंध में भाषा के प्रश्न पर अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया था। आपने लिखा–

'मैं राजनीति में लिप्त नहीं हूं। भाषा-विवाद में मेरा कोई रस नहीं है। किसी एक भाषा को आगे लाना और अन्य भाषाओं के विकास को अवरुद्ध करना मेरी दृष्टि में अनुचित है। राष्ट्र की एक संपर्क भाषा होनी चाहिए, इस विचार को पसन्द करता हूं। किन्तु मैं इस पक्ष में नहीं हूं कि यह कार्य बलात् किया जाए। इस कार्य के लिए हार्दिक रुचि उत्पन्न करना मुझे इष्ट है। मैं समग्र मानव-जाति को जोड़ने के पक्ष में हूं, तब भाषा का प्रश्न मेरे सामने क्यों कठिनाइयां उत्पन्न करेगा? मैं जानता हूं कि मैं जिस प्रान्त में जाऊं वहां मुझे उसी प्रान्त की भाषा में बोलना चाहिए। मातृभाषा में जितना हार्द समझा जाता है उतना अन्य भाषा में नहीं समझा जाता। किन्तु मेरी भी कुछ कठिनाइयां हैं। मैं अणुव्रत के कार्य में बहुत व्यस्त हूं। मेरी सर्वाधिक रुचि या तड़प इस बात में है कि मनुष्य में मानवीय गुणों का विकास हो। चरित्रहीनता व्यक्ति या समाज के लिए अभिशाप है। मैं उसके उन्मूलन में कुछ सहयोगी बनना चाहता हूं। भौतिक प्रगति से राष्ट्र का शरीर शक्तिशाली बनेगा, किन्तु उसकी आत्मा में शांति, सौहार्द और प्रसन्नता विकसित नहीं होगी। इसलिए चरित्र-निर्माण को मैं प्राथमिकता देता हूं। जैन-आगमों के शोध का कार्य भी मैंने हाथ में ले रखा है। इसलिए अन्य भाषाओं को सीखने में पर्याप्त समय लगाना कठिन है। मैं अपनी दुर्बलता या कठिनाई को स्वीकार कर लेता हूं, फिर भी मैं इस पक्ष का समर्थक नहीं हूं कि आपकी भाषा सीखे बिना मैं आप तक नहीं पहुंच सकता। क्या एक हिन्दी-भाषी दूसरे हिन्दी-भाषी से नहीं लड़ता? भाषा एक माध्यम है। हृदय एक हो तो भाषा के द्वारा हम दूसरों तक प्रेम पहुंचाते हैं और हृदय टूटे हुए हों तो भाषा के द्वारा हम दूसरों तक घृणा पहुंचाते हैं। मैं भाषा की अपेक्षा भावों को अधिक महत्त्व देता हूं। मेरे हृदय के भाव आपके प्रति प्रेममय, सौहार्दपूर्ण और हितभावना से ओत-प्रोत हैं। मैंने प्राणीमात्र के प्रति मैत्री का संकल्प लिया है। मैं जनता तक पहुंचता हूं, वह मैत्री के माध्यम से पहुंचता हूं। किसी भाषा के माध्यम से नहीं पहुंचता। जनता भी मेरे मैत्री-भावों को सुनने के लिए मेरे पास आती है, किसी भाषा को सुनने के लिए मेरे पास नहीं आती। मुझे विश्वास है कि भावों की एकता होने पर भाषा की समस्या गौण हो जाती है।'

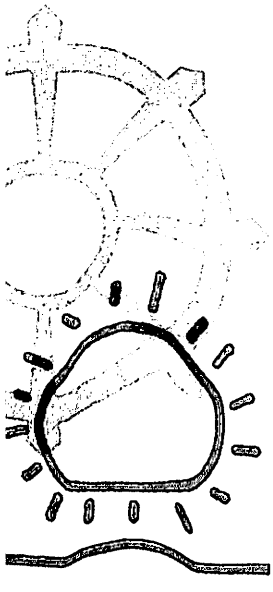

चातुर्मास के मध्य अनेक तमिलभाषी विद्वान् आचार्यश्री के संपर्क में आए। मद्रास विश्वविद्यालय के तमिल विभाग के अध्यक्ष डॉ. मु. वरदराजन, तमिल अरसू कजगम के नेता मा.पो.सी. ग्रामणी, स्वतंत्र पार्टी तमिलनाडु राज्य के अध्यक्ष सा. गणेशन्, मदुराई विश्वविद्यालय के उपकुलपति डॉ. मीनाक्षी राव, तमिलनाडु राज्य के शिक्षामंत्री नडिजडियन् आदि उनमें उल्लेखनीय हैं। इनसे भाषा के प्रश्न पर काफी

कि हमारे देश में कोई भी भाषा राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। मैं हिन्दी को पसन्द करता हूं, उसे पढ़ना चाहिए, यह भी कहता हूं। किन्तु वह राष्ट्रभाषा बन सकेगी, ऐसा मैं नहीं सोचता।' आचार्यश्री ने कहा–'इस विषय में आपका और मेरा सोचने का प्रकार भिन्न है।'

राजाजी के विचारों ने हमारे मन पर यह प्रभाव डाला कि वे सरकारी भाषा के चिन्तन में संपर्क-भाषा के प्रश्न को विलीन कर देते हैं। सरकारी स्तर पर आज भी सारा काम अंग्रेजी में चल रहा है पर वह संपर्क-भाषा नहीं है। तमिलनाडु में भी बहुसंख्यक लोग अंग्रेजी नहीं जानते। पहले हमारी धारणा यह थी कि वहां अंग्रेजी से काम चल जाएगा। पर वहां जाने पर वह धारणा भ्रांत निकली। अंग्रेजी प्रशासन की भाषा है और यदि राष्ट्र के कर्णधार चाहें तो उसे उसी रूप में चालू रख सकते हैं। वह राष्ट्र को एक कड़ी में जोड़ने वाली संपर्क-भाषा न पहले रही है और न आगे बन सकेगी।

आचार्यश्री ने यह भी कहा कि संपर्क-भाषा हिन्दी ही हो, यह मेरा आग्रह नहीं है। कम से कम यह आग्रह अवश्य है कि वह भारतीय भाषा होनी चाहिए। इस आग्रह के पीछे अंग्रेजी के प्रति द्वेष व भारतीय भाषा के प्रति अनुराग का प्रश्न नहीं है। यह प्रश्न भारतीय संस्कृति के उत्तराधिकार का है। अंग्रेजी के द्वारा विश्व के वर्तमान के साथ संपर्क स्थापित किया जा सकता है किन्तु वह भारत के गौरवपूर्ण अतीत के संपर्क का माध्यम नहीं बन सकती। उसके द्वारा हम हजारों वर्ष पुरानी भारतीय सभ्यता, संस्कृति व ज्ञान-विज्ञान की निधि को प्राप्त नहीं कर सकते। भारतीय भाषा कोई भी हो, वह भारतीय आत्मा का प्रतिनिधित्व कर सकती है। भारतीय भाषा को संपर्क-भाषा बनाने का प्रश्न सामने आता है तब सहज ही हिन्दी की ओर ध्यान चला जाता है। इसका पहला कारण यह है कि इसके लिए वैसी पृष्ठभूमि बन चुकी है। दूसरे, अन्य किसी भी भारतीय भाषा की अपेक्षा हिन्दी भाषा अधिक लोगों द्वारा बोली जाती है। इसलिए आचार्यश्री ने अपना व्यक्तिगत विचार हिन्दी के पक्ष में प्रकट किया।

१७ नवम्बर को मा. पो. सी. ग्रामणी से भाषा के प्रश्न पर लंबी बातचीत हुई। इस विषय में उनके विचार बहुत स्पष्ट थे। उनके चिन्तन की स्पष्टता व तटस्थता ने सचमुच हमें प्रभावित किया। उनका मानना है कि अंग्रेजी राष्ट्रभाषा के पद पर बहुत दिनों तक नहीं रह सकती और रहनी भी नहीं चाहिए।

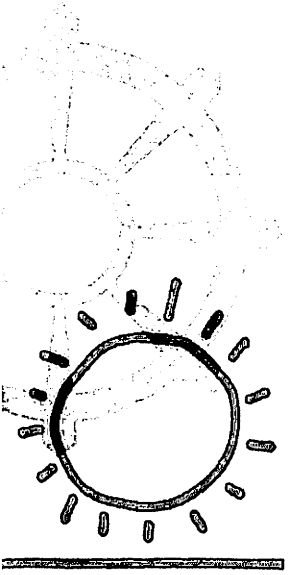

अंग्रेजी के चले जाने पर उसका स्थान कौन-सी भाषा ले सकती है? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा–'कुछ समय के लिए राष्ट्रभाषा का प्रश्न छोड़ देना चाहिए। राष्ट्रभाषा के समर्थकों ने हम लोगों के मन में एक भय उत्पन्न कर दिया है। तमिलनाडु की जनता सोचती है कि हिन्दी आएगी तो तमिल समाप्त हो जाएगी। मैं इस भाषा में नहीं सोचता किन्तु जनता को आश्वस्त करना हमारे लिए कठिन हो रहा है।'

हमारे नेताओं ने वैधानिक रूप से हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद दे दिया। परन्तु उसके व्यावहारिक पहलुओं पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की मांग अहिन्दी भाषी जनता द्वारा नहीं आ रही है। वह आ रही है हिन्दी भाषी जनता द्वारा। आश्चर्य की बात यह है कि हिन्दी भाषी प्रान्तों में भी हिन्दी पूर्णरूपेण राजभाषा नहीं बन पाई है। क्या आप सोचते हैं कि अहिन्दी भाषी प्रान्तों पर इसकी अनुकूल प्रतिक्रिया होगी?'

उन्होंने अपने भाषाई चिन्तन के कुछ निष्कर्ष प्रस्तुत किए–

१. 'शीघ्रातिशीघ्र प्रादेशिक भाषाओं को प्रशासन, न्यायालय व शिक्षा केन्द्रों की भाषा का व्यावहारिक रूप दिया जाए।

२. प्रादेशिक भाषाओं के विकास के लिए आवश्यक साधन-सामग्री जुटाने में केन्द्रीय सरकार सहयोग दे।

३. केन्द्रीय शासन में अभी कुछ वर्षों के लिए अंग्रेजी चालू रहे।

४. हिन्दी के अध्ययन को व्यापक प्रोत्साहन दिया जाए। हर प्रान्त के लोग उसे भली-भांति पढ़ने-समझने लग जाएं–ऐसा व्यावहारिक प्रयत्न किया जाए।

ऐसा होने पर राष्ट्रभाषा के लिए उपयुक्त वातावरण बन सकता है। वातावरण की छाया में जो राष्ट्रभाषा आएगी वह थोपी हुई प्रतीत नहीं होगी।'

दो दिन की लंबी बातचीत के बाद हमें अनुभव हुआ कि ग्रामणी के विचारों में ऐकान्तिक आग्रह नहीं है और तत्काल किसी भारतीय भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने का समर्थन भी नहीं है। तमिलनाडु के विचारकों, शिक्षाविदों से बातचीत करने व जनसाधारण की भावना का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि तमिलभाषी जनता की कुछ कठिनाइयां हैं और उनके मन में कुछ आशंकाएं हैं। अन्य दक्षिण भारतीय भाषाओं में संस्कृत शब्द मिश्रित हैं, तमिल में उनका मिश्रण नहीं है। कन्नड़भाषी के लिए हिन्दी सीखना जितना सरल है उतना तमिलभाषी के लिए नहीं है। वे यह भी अनुभव करते हैं कि हिन्दी भाषी लोग हिन्दी के मामले में उनसे बहुत आगे रहेंगे। हिन्दी को स्वीकारने का अर्थ होगा हिन्दी भाषी लोगों के प्रभुत्व को स्वीकारना। हिन्दी-समर्थकों की व्यग्रता उन्हें और भी आशंकित कर देती है। इस स्थिति में वे संपर्क-भाषा की आवश्यकता तथा लंबे समय तक विदेशी भाषा राष्ट्रभाषा न रह सकने का अनुभव करते हुए भी हिन्दी का राष्ट्रभाषा के रूप में समर्थन नहीं कर पा रहे हैं। कुछ लोगों ने साफ-साफ कहा कि तमिलभाषी लोगों के मन में हिन्दी के प्रति अनादर नहीं है। उन पर हिन्दी थोपी जा रही है। इसे वे पसन्द नहीं करते।

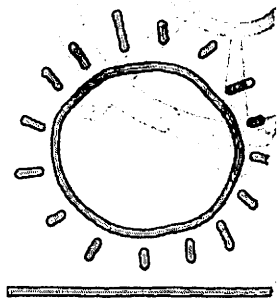

ऊपर की पंक्तियों में धारणाओं का प्रस्तुतीकरण है। हमारी ओर से केवल इतना ही अनुरोध किया जा सकता है कि अहिन्दीभाषी जनता राष्ट्रीय एकता को सर्वोच्च राष्ट्रीय हित मानकर अपनी धारणाओं पर पुनर्विचार करे और हिन्दी भाषी जनता राष्ट्र के किसी भी अंग की व्यथा को तीव्रता से अनुभव करे।

हिन्दी को राष्ट्रभाषा का स्थान क्रियात्मक उपायों से प्राप्त हो सकता है। वैधानिक रूप हृदय की अनुभूति के साथ आता है, वह सहज ही फलित हो जाता है। विविध चर्चाओं से अवतरित क्रियात्मक उपाय ये हैं–

१. उत्तर और दक्षिण भारत में व्यवसाय की वृद्धि।

२. साहित्यिक विनिमय में वृद्धि।

३. पर्यटन का विकास।

४. हिन्दी के सर्वांगीण विकास का प्रयत्न।

५. विशेषता के द्वारा उसके अध्ययन की अनिवार्यता की अनुभूति।

जिसकी प्रयोजनीयता स्पष्ट होती है उसकी कोई भी उपेक्षा नहीं कर सकता।

साम्यवाद और विसर्जन

अणुव्रत सम्प्रदाय नहीं है इसलिए उसमें धार्मिक और धर्मातीत, आस्तिक और आस्थातीत, सभी लोग दिलचस्पी लेते हैं।

अणुव्रत मानवीय आचार-संहिता है इसलिए सामाजिक और राजनीतिक सभी लोग उसे महत्त्व देते हैं।

आचार्यश्री यात्रा के दौरान कन्याकुमारी पहुंचे। आगे केरल यात्रा का कार्यक्रम था। केरल की ओर अभिमुख होते ही प्रश्न पूछा जाने लगा–'वहां आपकी धर्मयात्रा की क्या कोई उपयोगिता होगी? वहां साम्यवादी सरकार है इसलिए धार्मिक वातावरण नहीं है। वहां उग्रपंथी सक्रिय हैं इसलिए जन-जीवन अशान्त और आतंकित है। इस स्थिति में आपको वहां कौन सुनेगा?'

आचार्यश्री ने इस जिज्ञासा को विनोद में बदल दिया। उन्होंने कहा–'धार्मिक लोगों के बीच में जाऊं या नहीं जाऊं किन्तु उन लोगों के बीच मुझे अवश्य जाना चाहिए जो आपकी भाषा में धार्मिक नहीं हैं। क्या धर्म का प्रसार शान्त और अनातंक-पूर्ण वातावरण में ही होना चाहिए? मेरी समझ में उसके प्रसार का उपयुक्त क्षेत्र अशांत और आतंकपूर्ण वातावरण है। मुझे विश्वास है कि केरल-यात्रा बहुत सफल होगी।'

केरल में उस समय साम्यवादी पार्टी सत्ता में थी। मुख्यमंत्री थे नंबूदरीपाद। उन्होंने यात्रा दल के लिए बड़ी तत्परता के साथ आवास आदि की व्यवस्थाएं कीं। प्रथम प्रवेश पर त्रिवेन्द्रम् के मेयर श्री वामदेवन् ने अपनी परम्परागत पद्धति के अनुसार अक्षत, नारियल, केले के पत्तों तथा जलते दीपों से आचार्यश्री का स्वागत किया। आचार्यश्री का अपना युग-बोध था। देश-काल के आकलन में उनकी अपनी दक्षता थी। आपने केरल यात्रा के पहले दिन सहयात्रियों को संबोधित किया। आपने कहा–'कल से हम केरल में प्रवेश कर रहे हैं। वह बहुत ही शिक्षित प्रदेश है। साम्यवादी दल का शासन है। वहां घूंघट और गहना अच्छा नहीं लगेगा। हमारी यात्रा में वे ही महिलाएं रह पाएंगी जो इन संकेतों का अनुसरण करेंगी।'

धर्मचक्र का प्रवर्तन

केरल प्रवेश के समय सब महिलाएं साथ थीं। बदली हुई वेश-भूषा, बदले हुए मनोभाव। इस बदलाव ने एक समाधान प्रस्तुत किया कि परिवर्तन का सूत्र नियंत्रण नहीं, श्रद्धा है। नियंत्रण के आधार पर बाहरी बदलाव आ सकता है, पर हृदय नहीं बदलता। श्रद्धा से भीतरी और बाहरी दोनों परिवर्तन घटित होते हैं।

विसर्जन का सूत्र

आचार्यश्री केरल की एक माह की यात्रा संपन्न कर फिर तमिलनाडु आ गए। केरल में उनका धर्मचक्र अबाध-गति से चला। कहीं कोई अवरोध नहीं आया। ऐसा अनुभव नहीं हुआ कि केरल की जनता धार्मिक नहीं है, वहां धार्मिक वातावरण नहीं है और वहां की साम्यवादी सरकार धर्म के मामले में कोई हस्तक्षेप कर रही है।

तमिलनाडु और केरल के मानस में जो अन्तर था वह स्वाभाविक था। साम्यवादी सरकार उसका निमित्त नहीं थी। तमिलनाडु श्रद्धा-प्रधान था, जबकि केरल तर्क-प्रधान। इसका अर्थ यह नहीं था कि तमिलनाडु में तर्क नहीं है और केरल में श्रद्धा नहीं है।

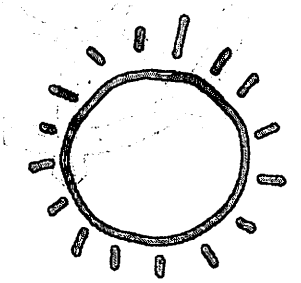

केरल में जैन और बौद्ध धर्म का प्रसार कम है। वहां मुख्य धर्म तीन हैं–वैदिक, ईसाई और इस्लाम। तीनों में असाधारण समन्वय है। धार्मिक सद्भावना व सहिष्णुता के लिए केरल को प्रथम स्थान दिया जा सकता है। अणुव्रत का एक व्रत है–'मैं सब धर्मों के प्रति तितिक्षा का भाव रखूंगा।' केरल इस व्रत की प्रयोगभूमि प्रतीत हो रहा था।

केरल में चर्च, मंदिर और मस्जिद भी कम नहीं हैं। उनमें जाने वाले धार्मिकों की संख्या भी कम नहीं है। इस स्थिति का अध्ययन करने पर मेरे मन में एक प्रश्न उभरा कि केरल की धार्मिक जनता ने

साम्यवाद व अन्य वामपंथी दलों, जो धर्म-विरोधी माने जाते हैं, को कैसे चुना? इस प्रश्न का उत्तर मुझे धार्मिक पृष्ठभूमि में नहीं मिला। इसका उत्तर मिला आर्थिक समस्याओं के संदर्भ में।

केरल समुद्र का तटवर्ती पर्वतीय राज्य है। वहां भूमि कम है, आबादी अधिक। चावल के खेत नारियल और काजू के बगीचों की तुलना में नगण्य हैं। कटहल के पेड़ पग-पग पर खड़े हैं। नारियल और कटहल के लिए बहुत श्रम नहीं करना पड़ता। लोगों के सामने काम कम है, बेकारी अधिक। त्रिवेन्द्रम् और कोचीन के बीच में काजू के कुछ कारखाने हैं। उनके सिवाय अन्य कोई बड़ा उद्योग-संस्थान हमें देखने को नहीं मिला। कुछ लोगों ने बताया कि यहां स्त्रियां सक्रिय हैं। उनकी तुलना में पुरुष अकर्मण्य हैं।

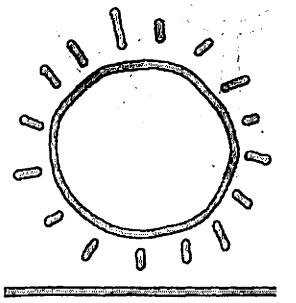

समूचा केरल एक नगर जैसा है। सड़क के दोनों ओर लोग बसे हुए हैं। गांव की सीमा काल्पनिक है, वस्तुतः वे अनादि-अनन्त हैं। हमने देखा कि घरों के सामने लोग बैठे हैं और बातें कर रहे हैं। सड़कों पर खड़े हैं या इधर-उधर टहल रहे हैं।

केरल की उपज मूल्यवान् है पर उसका लाभ बगीचों के मालिकों को मिलता है। हमें बताया गया कि जमींदारी प्रथा समाप्त हुई तब भू-स्वामियों ने कृषिभूमि को बगीचों में बदल दिया। वे कृषिभूमि के कानून से मुक्त हैं। जिनके पास बगीचे हैं वे लोग सम्पन्न हैं। किन्तु वे अल्पसंख्यक लोगों के पास हैं। बहुत लोगों के पास न पर्याप्त कृषिभूमि है और न बगीचे हैं। फलतः वे गरीब हैं। उनके सामने रोटी की समस्या है। उसे सुलझाने के लिए जनता ने साम्यवादी व अन्य वामपंथी दलों के प्रतिनिधियों को चुना। जनता की इस इच्छा के पीछे धार्मिकता का अभाव नहीं था, किन्तु आर्थिक समस्या के समाधान की ज्वलंत आकांक्षा थी। हिन्दुस्तान लोकतंत्रीय राज्य है। उसमें धार्मिक स्वतंत्रता जनता का मौलिक अधिकार है। कोई भी राज्य सरकार उसका अपहरण नहीं कर सकती। आचार्य तुलसी की यात्रा धर्मयात्रा थी। फिर भी केरल सरकार ने यात्रा संघ को संभावित सारी सुविधाएं दीं और इतनी तत्परता से दीं कि हमारे व्यवस्थापक उसकी कार्य-तत्परता के लिए आश्चर्यचकित थे।

रूढ़ धर्म के प्रति आचार्य तुलसी भी आकर्षित नहीं होते थे। हम क्यों मानें कि साम्यवादी धर्म के प्रति आकर्षित नहीं हैं? धर्म की सामान्य भूमिका के प्रति क्या कोई व्यक्ति ऐसा हो सकता है जो आकर्षित न हो? अणुव्रत धर्म की सामान्य भूमिका है। उसके प्रति केरल की जनता में हमने प्रबल आकर्षण पाया।

कुछ लोगों ने कहा कि आचार्य तुलसी साम्यवाद का प्रचार कर रहे हैं। आचार्यश्री ने कोचीन के एक प्रवचन में उक्त समारोप की मीमांसा करते हुए कहा–'जो मित्र कहते हैं कि मैं साम्यवाद का प्रचार कर रहा हूं, उसे मैं क्यों अस्वीकार करूं। मानवीय एकता व समता में मेरा विश्वास है। किसी भी प्रकार के शोषण को मैं बहुत बड़ा पाप मानता हूं। विषमता मेरी दृष्टि में सामाजिक व्यवस्था का सबसे बड़ा कलंक है। इस अर्थ में क्या मैं साम्यवादी नहीं हूं? अवश्य हूं। मैं जब साम्यवादी हूं तो साम्यवाद का प्रचार कैसे नहीं करूंगा?'

'इस चर्चा का एक दूसरा पहलू भी है और वह यह है कि मैं किसी भी राजनीतिक दल से संबंधित नहीं हूं, न कांग्रेसी हूं, न साम्यवादी और न समाजवादी। मैं जब साम्यवादी नहीं हूं तब फिर साम्यवाद का प्रचार कैसे करूंगा?'

आचार्यश्री साम्यवाद में विश्वास करते थे पर उनका साम्यवाद आध्यात्मिक साम्यवाद था। वे हर समस्या के समाधान का आध्यात्मिक पक्ष खोजते रहते थे। केरल की यात्रा के पश्चात् उन्होंने विसर्जन के सूत्र को प्राणवान् बनाने का प्रयत्न प्रारंभ किया। ऊटी की पर्वतीय चोटी पर टहलते हुए एक दिन आचार्यश्री के मन में एक विचार-स्फुरणा हुई। हम लोग परिपार्श्व में खड़े थे। आचार्यश्री ने कहा–'मनुष्य भोजन करता है, शरीर को पोषण देता है और विसर्जन कर देता है। यह स्वस्थ रहने की प्रक्रिया है। एक आदमी खाए ही खाए और विसर्जन न करे, क्या वह स्वस्थ रह सकता है? नहीं रह सकता। एक दिन की कोष्ठबद्धता भी आदमी को ग्लान और म्लान बना देती है।'

आचार्यश्री ने प्रश्न की भाषा में कहा–'क्या सामाजिक स्वास्थ्य की प्रक्रिया यही नहीं है कि धन कमाना, उसका सीमित उपभोग करना और शेष का विसर्जन कर देना? जो लोग धन का अर्जन ही अर्जन करते हैं, उसका विसर्जन नहीं करते, क्या वे स्वस्थ रह सकते हैं? क्या वे सामाजिक जीवन में स्वास्थ्य का संचार कर सकते हैं?'

आचार्यश्री ने अपने दाएं हाथ को ऊंचा उठाया। उस पर बाएं हाथ की उंगली को घुमाते हुए कहा–'देखिए, हाथ की हर स्नायु में रक्त प्रवाहित हो रहा है। हाथ की ही क्या, शरीर के हर अवयव में रक्त का प्रवाह है। हमारा शरीर इसीलिए स्वस्थ है कि उसके हर अवयव को रक्त का प्रवाह मिल रहा है। शरीर के किसी भाग में रक्त का प्रवाह रुक जाता है, वह जमा हो जाता है, उसका अर्थ है दर्द का प्रारंभ। क्या आज के समाज का दर्द यही नहीं है? क्या आज के समाज की पीड़ा यही नहीं है? धन समाज के हर अवयव तक पहुंचता है तब समाज पीड़ित नहीं होता। वह कुछ लोगों तक पहुंचकर रुक जाता है, जमा हो जाता है, तब समाज में पीड़ा का प्रसव होता है।'

आचार्यश्री इन दोनों रूपकों द्वारा यही कहना चाह रहे थे कि समाज की पीड़ा धन नहीं है, उसका अर्जन भी नहीं है और उसका उपभोग भी नहीं है। उसकी पीड़ा है धन का संग्रह, वैयक्तिक स्वामित्व का विस्तार।

वैशेषिक दर्शन के प्रतिष्ठाता महर्षि कणाद मानते थे कि यह सृष्टि कण से बनी है। वे हर बात पर कण-कण की रट लगाते थे। आचार्यश्री का मंतव्य था–सामाजिक अस्वास्थ्य का निदान है विसर्जन-विहीन अर्जन। इसलिए उनके मुंह से बार-बार विसर्जन का उच्चारण होता रहा।

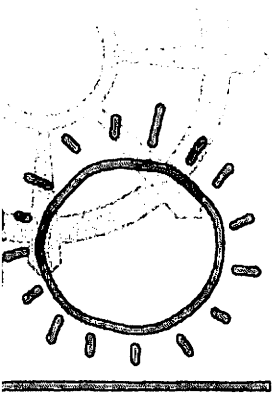

अणुव्रत सेमिनार की विचार-चर्चा में मैंने कहा–'हर अणुव्रती को प्रतिदिन कुछ न कुछ विसर्जन करना चाहिए।' आचार्यश्री ने उसमें एक संशोधन सुझाया। उन्होंने कहा–'यह बात केवल अणुव्रती के लिए ही क्यों? हर व्यक्ति को प्रतिदिन कुछ न कुछ विसर्जन करना चाहिए। यदि वह अर्जन प्रतिदिन करता है तो उसे विसर्जन प्रतिदिन क्यों नहीं करना चाहिए? भगवान् महावीर ने श्रावक के लिए तीन मनोरथों का विधान किया है। उनमें पहला मनोरथ है परिग्रह का विसर्जन, ममत्व का विसर्जन। धार्मिक मनुष्य सोचता है–'कब मैं स्वल्प या बहुत परिग्रह का विसर्जन करूंगा?' अर्जन की प्रणाली में इसीलिए निर्ममता उभरती जाती है कि उसके साथ विसर्जन की कड़ी जुड़ी हुई नहीं है। यदि अर्जन के साथ विसर्जन का अनुबंध होता तो अर्जन-काल में होने वाली अप्रामाणिकता का सूत्र अपने-आप क्षीण हो जाता। परिग्रह का दान एक भावनाशून्य व्यक्ति भी कर सकता है। परिग्रह का दान मान-सम्मान और पूजा-प्रतिष्ठा की आकांक्षा से

भी किया जाता है। किन्तु परिग्रह का विसर्जन वही कर सकता है जिस व्यक्ति के सम्मुख एक सिद्धान्त है, जिसका मन अनासक्त है और जिसकी दृष्टि परमार्थ की ओर लगी हुई है।'

वैयक्तिक स्वामित्व की असीमता समाज के हित में नहीं है, यह तथ्य स्वतःप्रामाण्य से प्रमाणित हो चुका है। समाजवादी शासन-प्रणाली में वैयक्तिक स्वामित्व को समाप्त करने की व्यवस्था है। विसर्जन न दान है और न व्यवस्था है। यह व्यक्तिगत स्वामित्व का संयम है और हृदय की संपूर्ण स्वतंत्रता का प्रतिफलन है। विसर्जन करने वाला धन का दान नहीं करता, किन्तु उसका उपयोग करता है, समाज की अपेक्षा को पूर्ण करता है।

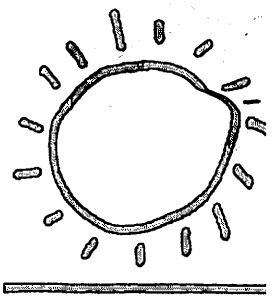

संग्रह से दो मुख्य बुराइयां जन्म लेती हैं–विलास और क्रूरता। इन्हें निष्प्राण करने के लिए प्राचीनकाल में दान की व्यवस्था की गई थी। कालरथ के घूमते हुए चक्र के साथ-साथ उसका महत्त्व घिस चुका है। हीन-दीन और उच्च वर्ग की व्यवस्था आज के प्रबुद्ध समाज को मान्य नहीं है। विसर्जन दूसरों की हीनता पर आधृत नहीं है। वह अपना संयम है और अपने श्रेयस् के लिए है। इस दृष्टि से वह त्रैकालिक सत्य है।

आचार्यश्री ने विसर्जन का सूत्र केरल की यात्रा के अनन्तर ही दिया। यह उन्हें वहां की परिस्थितियों से सूझा या समाजवादी व्यवस्था के संपर्क से सूझा, मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता। किन्तु यह मैं कह सकता हूं कि यह बहुत उचित समय पर सूझा। आज संग्रह की समस्या हिंसा और अहिंसा के मध्य में अवस्थित है। हिंसा नियंत्रण, दमन और प्रहार से नहीं रोकी जा सकती। उसे रोकने का एकमात्र स्वस्थ उपाय है विसर्जन–व्यक्तिगत स्वामित्व का विसर्जन।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

कन्याकुमारी के परिसर में आचार्यश्री की यात्रा ने जनता में एक नई जिज्ञासा पैदा की। इन शताब्दियों में इतना बड़ा संघ उधर गया नहीं था। केरल में भी वही जिज्ञासा सामने आई। प्राचीनकाल में त्रिवेन्द्रम् जैन धर्म का मुख्य केन्द्र था। इस यात्रा में भी यत्र-तत्र भग्नावशेष मूर्तियां और विशाल मंदिरों के भीतरी और बाहरी भाग में तीर्थंकरों की पद्मासन की मुद्रा में स्थित मूर्तियां देखने को मिलीं। दक्षिण में जैन धर्म का व्यापक प्रभाव था। इसका कारण खोजने पर पता चला कि जैन संघ ने वहां लोक जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित किया था। भाषा, साहित्य, संस्कृति–सभी कोणों से जन-जीवन के विकास में योग दिया था। उसने जन-कल्याण के लिए चतुर्विध दान का प्रवर्तन किया था–

१. ज्ञानदान (शिक्षा) २. औषधदान (चिकित्सा) ३. अन्नदान (आजीविका) ४. अभयदान (अहिंसापूर्ण वातावरण)।

इस दान चतुष्टयी ने जनसेवा की परम्परा का सूत्रपात किया और इससे जैन धर्म को पल्लवन का अवसर मिला।

लगभग दस शताब्दियों तक यह प्रभाव रहा। उसके पश्चात् लिंगायत आंदोलन ने उस प्रभाव को कम कर दिया। वह आंदोलन प्रभाव की कमी का निमित्त बना था। उसका मूल कारण जैन संघ की आग्रही मनोवृत्ति, रूढ़िवादी दृष्टिकोण और अहंकार में खोजा जा सकता है। जैसे-जैसे प्रभाव और जन-सम्मान बढ़ता है वैसे-वैसे ये कमजोरियां भी बढ़ने लग जाती हैं। ये एक निश्चित बिन्दु पर पहुंच कर विकास को ह्रास की दिशा में ले जाती हैं।

मद्रास विश्वविद्यालय का हॉल–भव्य, महनीय और कमनीय। आचार्य तुलसी का अभिनन्दन समारोह। वक्ता–तमिलनाडु के मुख्यमंत्री अन्नादुरै। मुख्यमंत्री ने कहा–'तमिलनाडु आपका घर है। आपके अपने ही घर में आपका स्वागत करते हुए हर्ष का अनुभव हो रहा है।'

हम लोग सतर्क हो गए। एक बार विस्मय की दृष्टि से मुख्यमंत्री की ओर देखा। उनके आशय को समझने की उत्कंठा प्रबल हो गई।

मुख्यमंत्री बहुत ही मेधावी थे। उन्होंने अपने वाक्य को स्वयं विस्तार दे दिया। वे बोले–'तमिलनाडु जैन धर्म का प्रभावी केन्द्र रहा है। हमारी सभ्यता, संस्कृति, भाषा और साहित्य की श्री-वृद्धि में जैन मनीषियों का बहुत बड़ा कर्तृत्व है। आप यहां आए हैं, इसका हमें कोई आश्चर्य नहीं है। हमें आश्चर्य इस बात का है कि इतने वर्षों तक आप यहां नहीं आए; अपने घर को नहीं सम्हाला।'

मुख्यमंत्री के वक्तव्य के साथ-साथ अतीत हमारी आंखों के सामने पुनरावृत्त हो रहा था।

तेईस सौ वर्ष पहले का दक्षिण भारत। भद्रबाहु स्वामी का पूर्वी भारत से दक्षिण भारत में आगमन। सम्राट् चन्द्रगुप्त का साहचर्य, हजारों-हजारों जैन मुनियों का पाद-विहार। तंजौर, त्रिचनापल्ली, मदुरै, कन्याकुमारी, श्रवणबेलगोला, आरकाट आदि क्षेत्रों के परिपार्श्व, पर्वतीय गुफाएं, मंदिर और प्रतिमाएं आज भी यह साक्ष्य प्रस्तुत कर रही हैं कि इस क्षेत्र ने कभी हजारों मुनियों को साधना का वातावरण दिया था।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

दक्षिण भारत में भद्रबाहु से पहले भी जैन धर्म प्रवेश पा चुका था। वहां श्रमण-परम्परा बहुत पहले ही पनप चुकी थी। आजीवक संप्रदाय बहुत प्रभावी था। जैन मुनि वहां पर्यटक के रूप में नहीं गए थे। वे वहां स्थायी रूप से रहे। उन्होंने उस प्रदेश के कण-कण के साथ तादात्म्य स्थापित किया। आज भी जीवन के हर पहलू पर उसका प्रतिबिम्ब है, स्पष्ट और सुस्पष्ट।

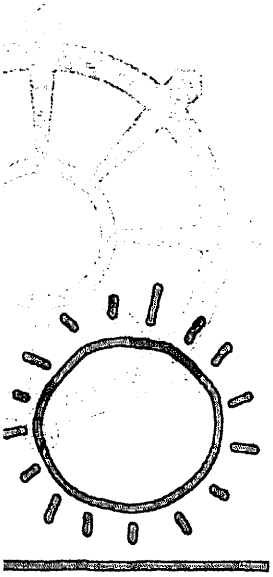

उसी दक्षिण भारत में आचार्यश्री तुलसी की यात्रा अतीत और वर्तमान के मध्य एक कड़ी बन गई। हिन्दी-विरोधी समिति के श्री विश्वनाथन् हमारे सामने उपस्थित हुए। तमिल साहित्य के अधिकृत विद्वान्, मनीषी और विचारक। वार्तालाप के विषय थे–तमिलनाडु के मानस पर जैन धर्म का प्रभाव, तमिल साहित्य की प्राचीनता, तमिल संत आदि-आदि। आचार्यश्री ने कहा–'दक्षिण में आने से पूर्व मेरी यह कल्पना नहीं थी कि तमिल के साहित्य, संस्कृति व जीवन पर जैन धर्म का इतना प्रभाव है।'

श्री विश्वनाथन्–'आपके यहां आने से पूर्व हमारी भी यह कल्पना नहीं थी कि जैन धर्म आज जीवित धर्म है। हम लोग उसे तमिल साहित्य में परिसीमित धर्म मान चुके थे।'

चिदम्बरम् एक छोटा-सा, किन्तु सुन्दर नगर। प्रसिद्ध वकील श्री जी. टी. कृष्णमूर्ति आचार्यश्री की सन्निधि में वे भाव-प्रवण स्वर में अपने मन का एक उद्‌गार प्रकट करने के लिए उपस्थित हुए। बोले–'आचार्यश्री! अतीत में चैतन्य महाप्रभु का विशाल संघ हमारे यहां आया था। उस समय धर्म का व्यापक वातावरण बना था। आज के इस विशाल धर्म-संघ के आगमन से फिर उसी घटना की पुनरावृत्ति हुई है। आज चिदम्बरम् का कण-कण आपकी वाणी से पुलकित हो रहा है। हजारों-हजारों आदमी निरंतर एक ही दिशा में प्रवाहित होते देखे जा सकते हैं।'

जैन धर्म के मूर्च्छित संस्कार आचार्यश्री का माध्यम प्राप्त कर पुनरुज्जीवित हो उठे। स्वागत में बोलने वाला साहित्यकार हो या लेखक, कवि हो या पत्रकार, व्यवसायी हो या राजनयिक–ऐसा कोई भी नहीं आया, जिसने जैन धर्म के अतीत की स्मृति न की हो। दक्षिण भारत के जनमानस में जैन धर्म के प्रति अत्यन्त आदर का भाव है। उसका सबसे बड़ा कारण जैन मनीषियों की दक्षिण भाषाओं की सेवाएं हैं।

शिमोगा, मैसूर राज्य का शैक्षणिक नगर। रात्रिकालीन प्रवचन का समय। हजारों लोगों की उपस्थिति। नेहरू विमन्स कॉलेज के प्रिंसिपल श्री पंचाक्षरी का जैन धर्म के विषय में अभिभाषण। हमने सोचा–ये जैन हैं। हर जैन को भी जैन धर्म की इतनी अच्छी जानकारी नहीं होती। पूछने पर पता चला कि ये जन्मना जैन नहीं हैं। एम. ए. की परीक्षा में कन्नड़ के अनेक जैन ग्रंथ पढ़ने होते हैं इसलिए ये जैन धर्म के अच्छे अभिज्ञ हैं।

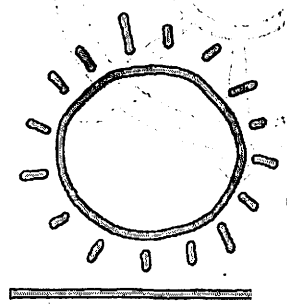

जैन धर्म के इतिहास को उजागर करने वाली अगणित वार्ताएं मेरे सामने स्फुरित हो रही हैं, पर विहंगावलोकन में उन सबके लिए अवकाश नहीं है।

दक्षिण में हमने यह स्वर सुना–जैन धर्म का पुनः प्रचार होना चाहिए–एक बार नहीं, अनेक बार।

तमलिनाडु राज्य की स्वतंत्र पार्टी के नेता शा. गणेशन् के शब्दों में–'जैन धर्म आज भी हमारी धमनियों में शोणित की भांति प्रवाहित है।'

लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष अनन्तशयनम् आयंगर के शब्दों में–'यह कौन अनुभव नहीं करता कि हमारे पूर्वज जैन थे?'

जैन धर्म की इस लोकप्रियता के पीछे उसका उज्ज्वल इतिहास है, कर्तृत्व है, उदार व विशाल दृष्टिकोण है, साहित्य की साधना है और है जनकल्याण के उदात्त प्रयत्न। जैन लोगों ने पुराने जमाने में दक्षिण भारत में वही जनकल्याणकारी कार्य किया था जो आज ईसाई मिशनरी कर रही है।

मैंने अनेक बार इस रहस्य को जानने का यत्न किया कि आचार्यश्री सर्वप्रथम अणुव्रत या मानव धर्म की बात करते हैं, फिर भी दक्षिणी जनता जैन धर्म की प्रशस्ति में अधिक रस क्यों लेती है?

कुछ प्रसंगों के पश्चात् मेरे मन का समाधान हो गया। तमिल और कन्नड़ के आदिकालीन साहित्य की स्पष्टता के लिए जैन धर्म की चर्चा करना दक्षिण भारतीयों के लिए सहज है। वे सहज अपेक्षा से उसकी प्रशस्ति करते हैं, आचार्यश्री को प्रसन्न करने के लिए नहीं।

हमारी यात्रा का अग्रिम दल त्रिवेन्द्रम् पहुंचा। वह विधानसभा के अध्यक्ष दामोदरपोत्ती से मिला। उसके प्रवक्ता ने कहा–'आचार्य तुलसी यहां आ रहे हैं। उनकी यात्रा मानव धर्म की व्याख्या के लिए हो रही है। किसी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से नहीं हो रही है।' प्रवक्ता ने और अधिक स्पष्ट कहा–'वे जैन धर्म का प्रसार करने के लिए नहीं आ रहे हैं।'

दामोदरजी बोले–'जैन धर्म का प्रसार क्यों नहीं होना चाहिए? क्या मैं जैन नहीं हूं? अहिंसा और नीति हमारी संस्कृति के मौलिक अंग हैं। उसमें आस्था रखने वाला कौन मनुष्य जैन नहीं है?'

जैन धर्म के सिद्धांतों के साथ अपने धर्मों की तुलना करना वहां गौरव माना जाता है। कोई विद्वान् उपस्थित होता और स्वामी रामलिंगम् के विचारों की जैन दर्शन से तुलना प्रस्तुत करता। कोई विद्वान् आता और महाराज बसव के सिद्धांतों की जैन धर्म से तुलना प्रस्तुत करता।

इन सारी स्थितियों के संदर्भ में मुझे संत विनोबा की एक बात याद आ गई। उन्होंने एक बार लिखा था–'चीनी दूध में लीन होकर उसमें अपनी मिठास भर देती है, उसी प्रकार जैन धर्म जनमानस में लीन होकर अपने उदात्त विचारों से जनता में मिठास भर दे तो कोई हानि नहीं होगी। दक्षिण भारत में मूल निवासी जैन बहुत कम संख्या में हैं। फिर भी वहां जैन धर्म की मिठास बहुत व्यापक है। नाम और रूप का विसर्जन करने पर उसकी स्थूलता अवश्य ही कम हुई, पर उसकी सूक्ष्मता हमें अणु की असीम शक्ति का बोध करा रही थी।'

बिम्ब-प्रतिबिम्ब

आचार्यश्री राजनीति और सरकार पर समय-समय पर प्रहार करते। राजनेता उसे सुनते पर परमार्थ की भूमिका से आने वाले प्रहार को वे कटुता का परिधान नहीं देते।

भाषा की भी समस्या थी। आचार्यश्री सर्वत्र हिन्दी में बोलते। कई उत्तर भारतीय बड़े-बड़े लोगों का सुझाव था–'आपको वहां सार्वजनिक भाषण हिन्दी में नहीं करना चाहिए।' हमने देखा, आचार्यश्री का संत रूप इतना निखार पा रहा था कि भाषा का प्रश्न उसके सामने गौण हो गया। चिदम्बरम् का अन्नामलै विश्वविद्यालय हिन्दी-विरोधी गढ़ था। वहां आचार्यश्री ने हिन्दी में प्रवचन किया। अध्यापक और छात्र–सभी ने उसमें बहुत रस लिया। दूसरी बार फिर प्रवचन के लिए निमंत्रण दिया।

समूचे तमिलनाडु में हमें महर्षि पतंजलि के 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः' के स्थान पर 'मानवधर्मप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ भाषाविरोधत्यागः' का अनुभव हुआ।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

दक्षिण में ब्याज स्वयं एक समस्या बन रहा था। आचार्यश्री ब्याज की निरंकुशता का विरोध कर रहे थे। व्यापारी उससे चिन्तित थे। कुछ लोग विरोध के लिए खुले मैदान में उतर आए। समूचे दक्षिण में विरोध का सबसे बड़ा निमित्त यही बना।

आचार्यश्री राजस्थानी लोगों को समझा रहे थे–'आप यहां रहते हैं और आपको यहां रहना है तो दक्षिणवासी जनता के साथ आपका तादात्म्य स्थापित होना चाहिए। एक आगंतुक व्यापारी के रूप में रहना आपके हित में नहीं है।'

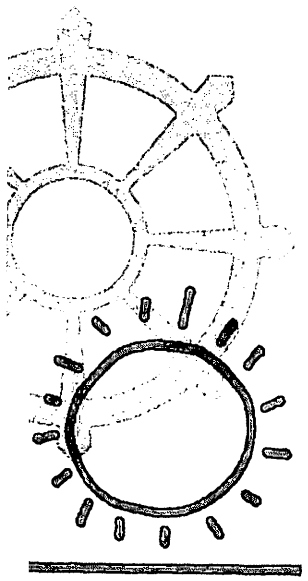

आचार्यश्री की यात्रा से राजस्थानी लोगों में सामाजिक कर्तव्य का दायित्व-बोध बढ़ा। चिकमंगलूर में एक तेरापंथी श्रावक ने चिकित्सालय के लिए साठ हजार रुपये की राशि देकर वहां चल रहे खिंचाव को शांत कर दिया। शिमोगा के कॉलेज की समस्या को तेरापंथी श्रावकों ने चालीस हजार रुपये की राशि देकर सुलझा दिया।

तमिल और कन्नड़ के साहित्य और पुरातत्त्व के शोध की उपेक्षा पग-पग पर अनुभव हो रही थी। कुछ तेरापंथी श्रावकों ने मिलकर दो लाख की राशि की व्यवस्था की और उस कार्य के लिए 'प्राच्यविद्या शोध संस्थान' स्थापित कर दिया।

आचार्यश्री का प्रभाव दिन-प्रतिदिन व्यापक होता गया। जनता अधिक से अधिक आत्मीयता अनुभव करने लगी। चिदम्बरम् के साम्यवादी कार्यकर्ता ने कहा–'आप यहां दो दिन रुकिए। आपकी प्रवास-कालीन व्यवस्था का भार मैं वहन करूंगा।'

न जाने कितने साम्यवादी युवकों ने आचार्यश्री को सुना और उनके धर्म की व्याख्या को अपने विचारों के अनुकूल पाया।

अणुव्रत धर्म का सिद्धांत है, जीवन व्यवहार की व्याख्या है, मानवता के शाश्वत सत्य का उद्घोष है, इसलिए उसमें हर आदमी को अपनेपन का अनुभव हो रहा था। धारवाड़ विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री अड़के के शब्दों में आचार्यश्री अणुव्रत के माध्यम से 'बसव' के सिद्धांतों का पुनरुच्चार कर रहे हैं। सब लोगों को यही अनुभव हो रहा था कि आचार्यश्री हमारे ही विचारों का प्रतिपादन कर रहे हैं।

मैसूर राज्य के मुख्यमंत्री श्री वीरेन्द्र पाटिल ने कहा–'आचार्यजी, आपके आने से जनता में जागृति की नई लहर दौड़ पड़ी है। मैं मानता हूं आपको सब लोग चाहते हैं। इसलिए मैं यह नहीं कहूंगा कि आप यहीं रुकिए। मेरा अनुरोध सिर्फ इतना ही है कि आप पांच वर्षों के बाद एक बार अवश्य हमारे बीच आएं और हमें जागरण का संदेश दें।'

इस प्रकार की भावनाओं में से संचार करते हुए आचार्यश्री आंध्र की श्रद्धाप्रवण जनता से विदा लेकर उत्तर भारत की ओर आगे बढ़े। उनकी धर्मक्रांति की लौ जीवन के अंतिम क्षण तक निरंतर प्रज्वलित बनी रही।

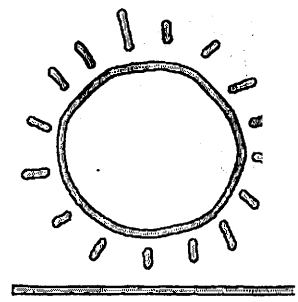

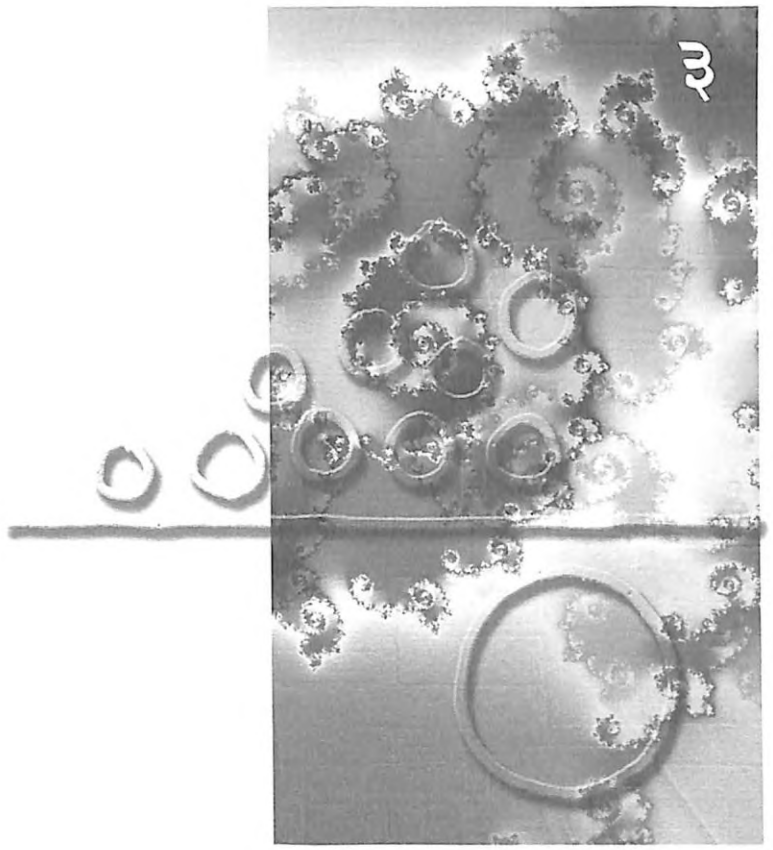

तेरापंथ के आचार्य

आचार्यश्री कहा करते थे–'मनुष्य सबसे पहले मनुष्य है, फिर वह और-और है। कार्य-विभाजन की दृष्टि से क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य आदि है; भौगोलिक दृष्टि से भारतीय और अभारतीय है; संप्रदाय की दृष्टि से जैन, बौद्ध, वैष्णव आदि है।' आचार्यश्री दीक्षा की दृष्टि से तेरापंथ के आचार्य। चरित्रोपासना की दृष्टि से अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक। श्रुतोपासना की दृष्टि से कवि और वक्ता। साम्य-योग की दृष्टि से केवल धर्माचार्य। अनुशासन की दृष्टि से शास्ता। तेरापंथ के प्रति उनकी आस्था के पीछे ये ही तत्त्व कार्य कर रहे थे। जहां चरित्रोपासना, श्रुतोपासना, साम्ययोग और अनुशासन–ये चार तत्त्व थे, वहीं उनका तेरापंथ था और जहां ये नहीं थे, वहां उनका तेरापंथ नहीं था।

तेरापंथ के आचार्य

आचार्यश्री के पट्टोत्सव का अभिनन्दन करते मैंने एक बार लिखा था–

जब तक तुम इस 'तुम' के भीतर, बंधे हुए थे स्वामी।
तब तक तुम 'तुम' में पलते थे, थे अपने तन के स्वामी॥
कौन तुम्हारी अर्चा करने, कब कहां था आया।
किसने इन कोमल चरणों में, था अपना शीश झुकाया॥
जब तुमने सद्बोधि लाभकर, 'तुम' की मर्यादा तोड़ी।
जन-जन के अन्तर मानस से, ममता समता जोड़ी॥
स्वामी! तब से बन पाए हो, जन-मन के अधिकारी।
अन्तर्यामी बन पाए हो, जन-जन की बलिहारी॥

धर्मचक्र का प्रवर्तन

वह अतीत, जो उज्ज्वल वर्तमान शृंखला का संकलन करता है, जिसके गर्भ में सारी शक्तियां छिपी रहती हैं, क्या वह अभिव्यक्ति के बाद भुलाने की वस्तु है? नहीं। जो व्यक्ति अपने अतीत के अध्याय को नहीं पढ़ता, कार्य-कारण के परिणामों पर दृष्टि नहीं डालता, जागृति और अभ्युदय, भूल और सुधार के पन्ने को नहीं उलटता, वह सफल मानव नहीं बन सकता। मानव किस रूप में आता है और क्या से क्या बनता है, यह अतीत ही बता सकता है।

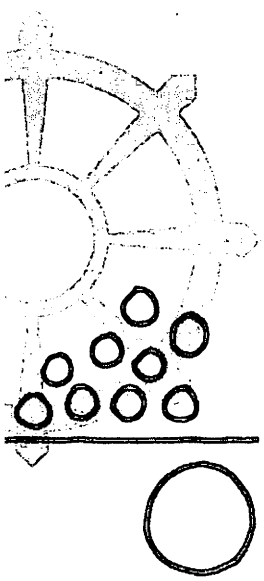

पारिवारिक स्थिति

एक संपन्न ओसवाल परिवार में आप जन्मे। आपके पिताजी का नाम झूमरमलजी और मातुश्री का नाम वदनाजी है। आपने 'अतीत के कुछ संस्मरण' शीर्षक से अपने बाल-जीवन की स्मृतियां लिखी। उसमें आपकी तात्कालिक पारिवारिक स्थिति का सजीव चित्रण है–

'मेरे संसारपक्षीय दादा राजरूपजी और पिता झूमरमलजी का देहावसान क्रमशः मेरी तीन और पांच वर्ष की अवस्था में हो चुका था। मेरे दादाजी दृढ़, विशालकाय, प्रसिद्ध खुराक, धर्मप्रेमी और बड़े प्रतिष्ठित थे। मेरे पिताजी सरल प्रकृति के थे। उनको अंतिम वर्षों में संग्रहणी की बीमारी हो गई थी। परिवार बड़ा था। पिताजी कभी-कभी चिन्ता करने लगते कि अभी तक कोई ऐसा 'कमाऊ', व्यापार-कुशल नहीं है, घर का काम कैसे चलेगा? तब दादाजी कहते–'क्या चिन्ता है? परिवार में कोई एक ऐसा जीव पैदा होगा जिसकी पुण्याई से सब चमक उठेंगे।'

मातुश्री वदनाजी प्रारंभ से ही शुद्ध हृदय और सहज-सरल स्वभाव वाली थीं। वे दादाजी, दादीजी

और मेरे पिताजी की बड़ी भक्ति से सेवा करती रहीं। समूचे परिवार का पोषण, बुजुर्गों की सेवा, घर का संरक्षण आदि काम करने में उन्होंने अच्छा यश प्राप्त किया।

हमारे छह भाइयों में बड़े भाई मोहनलालजी थे। पिताजी के गुजर जाने के बाद समूचे घर का भार उन पर आया। उस समय हमारा घर कर्जदार था। परन्तु मोहनलालजी बड़े साहसी और विचारक थे। उन्होंने अपनी कमाई से समूचा कर्ज चुकाकर घर को स्वतंत्र बनाया। हम सब भाई मोहनलालजी को पिता-तुल्य समझते थे। मैं तो उनसे इतना डरता था कि उनके सामने बोलना तो दूर रहा, इधर से उधर देखने में भी सकुचाता था।'

हिन्दुस्तान में चिरकाल से संयुक्त परिवार की प्रथा चली आ रही है। एक मुखिया के संरक्षण में रहना, अनुशासन और विनय का पालन करना, नम्रभाव रखना, बड़ों के सामने अनावश्यक न बोलना, हंसी-मजाक न करना आदि-आदि इसकी विशेषताएं हैं। झूमरमलजी की अपने परिवार के लिए चिन्ता करना, अन्य भाइयों का मोहनलालजी को पिता-तुल्य समझना, उनसे सकुचाना आदि-आदि इस संयुक्त परिवार की प्रथा के पीछे रही हुई भावना के परिणाम हैं। परिवार का लालन-पालन, घर की सार-संभाल, बुजुर्गों की एवं पति की सेवा करना भारतीय नारी की आदर्श परम्परा रही है। वदनाजी के गृहस्थ जीवन में उसके पूर्ण दर्शन होते थे।

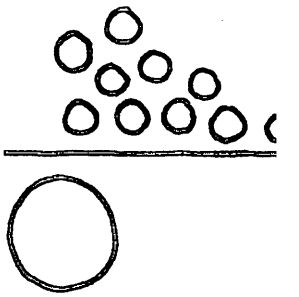

संस्कारों के बीज

परिवार की स्थिति का व्यक्ति के हृदय पर प्रतिबिम्ब पड़ता है। बालक की अपनी निजी विशेषताएं होती हैं। फिर भी परिवार के सदस्य और विशेषतः मां के कार्य-व्यवहार एवं आचार-विचार बालक के दिल को सीधे तौर पर छुए बिना नहीं रहते।

आचार्यश्री ने अपने संस्मरणों में लिखा–'मेरी माताजी की अधिक धार्मिक प्रवृत्ति होने के कारण सभी घर वालों में और मुझमें भी अच्छे धार्मिक संस्कार गहरे जम गए। रोजाना सतियों के दर्शन के लिए जाना, उनका व्याख्यान सुनना, सेवा करना, आदि कार्यों में बड़ी दिलचस्पी रहती थी।

मैं कभी व्याख्यान में नहीं जाता तो भी माताजी से पूछता रहता–'आज क्या व्याख्यान हुआ? क्या बात आई?'

मुझे बचपन से ही बीड़ी, सिगरेट, चिलम, तम्बाकू, गांजा, सुलफा, शराब आदि नशीली वस्तुओं का परित्याग था। मैंने पान तक कभी नहीं खाया।'

बालक के लिए माता सच्ची शिक्षिका होती है। बच्चा मां के प्यार-दुलार और लालन-पालन का ही आभारी नहीं बनता, उसकी आदतों का भी असर होता है। गर्भकाल से ही माता का रहन-सहन, खान-पान, चाल-चलन बच्चे को प्रभावित करने लग जाते हैं। इसीलिए शरीर-शास्त्रियों ने गर्भवती स्त्री को सात्विक आहार, सात्विक-विचार और सात्विक व्यवहार करने की बात बताई है और इसीलिए शिक्षा-शास्त्री कहते हैं कि अशिक्षित माताएं बच्चों के लिए अभिशाप हैं। उनके हाथों में बच्चों के उज्ज्वल भविष्य का निर्माण नहीं हो सकता। यह सही है।

वदनाजी के आचार-विचार की आचार्यश्री के हृदय पर अमिट छाप पड़ी और उससे संस्कार उद्‌बुद्ध हुए, इसमें कोई शक नहीं। मध्यकालीन भारतीय माताओं में स्कूली पढ़ाई की पद्धति नहीं रही। फिर भी वे

परम्परागत रीति-रस्मों में बड़ी निपुण होती थीं। उनके संस्कारी हृदयों को हम अशिक्षित नहीं कह सकते। आचार्यश्री से कई बार यह सुना कि वदनाजी बालकों की चिकित्सा अपने आप कर लेतीं।

भारतीय साहित्य में सत्पुत्र वह माना गया है जो मां-बाप अथवा गुरु से प्राप्त सम्पत्ति को बढ़ाए। यह बात हम आचार्यश्री के जीवन में पाते हैं। बीज रूप में मिले हुए संस्कारों को पल्लवित करने में आपने कुछ उठा नहीं रखा। बचपन में ही आपने अध्ययन, अध्यापन, अनुशासन, परोपकार और सचाई की पुष्ट परम्पराएं पूर्ण विकसित कर लीं। मैं इनके कुछ उदाहरण आचार्यश्री के शब्दों में ही उपस्थित करूंगा–

'विद्याध्ययन में मेरी रुचि सदा से रही। मैं जब ६-७ वर्ष का था, तब स्थानीय नन्दलालजी ब्राह्मण के स्कूल में पढ़ने जाया करता। फिर कुछ दिनों बाद हीरालालजी जैन के यहां पढ़ता था। तब मैंने हिन्दी, हिसाब आदि पढ़े। मैंने इंग्लिश की वर्णमाला भी पढ़ी। मुझे पाठ कंठस्थ करने का बड़ा शौक था। उस (पाठ) का स्मरण भी बहुधा करता रहता। मुझे याद है कि खेलकूद में भी बहुत कम जाया करता। जब कभी जाता तो खेलने के साथ-साथ पाठ का स्मरण भी करता रहता। पचीस बोल, चर्चा, हित-शिक्षा के पचीस बोल, जाणपणा के पचीस बोल, नमस्कार महामंत्र, सामायिक, पंचपद वंदना आदि मुझे छुटपन से ही कंठस्थ थे।

जब मैं स्कूल में पढ़ता तब और लड़कों को भी पढ़ाया करता। मेरे जिम्मे कई लड़के लगे हुए थे। उनकी देख-रेख भी मैं करता। स्कूल में जितने लड़के पढ़ते, उनके जो भी कोई अपराध हों लिखे जाते और शाम को मास्टरजी को दिखाए जाते। यह काम भी मेरे जिम्मे कई दफा रहता था। स्कूल में विक्रयार्थ जितनी पुस्तकें आतीं, उनका हिसाब (विक्रय मूल्य, संयोजन आदि) मेरे पास रहता। अनुशासन व अध्यापन ये दो कार्य बचपन से ही मेरे आदत रूप बन गए थे। इसी कारण तथा अन्य कई कारणों से भी मेरी पढ़ाई में काफी कमी रही अर्थात् दस वर्ष में जितनी पढ़ाई होनी चाहिए थी, नहीं हो पाई।

सचाई के प्रति मेरा सदा से अटूट विश्वास रहा। मुझे याद है कि एक दिन मोहनलालजी की बहू (बड़ी भाभी) ने मुझसे कहा–'मोती! ये पैसे लो, बाजार से, कुछ लोहे की कीलें ला दो।' नेमीचंदजी कोठारी, जो मेरे मामा होते थे, मैं उनकी दुकान पर गया। उन्होंने पैसे बिना लिए ही मुझे कीलें दे दीं। वापस आकर मैंने वे कीलें भाभीजी को दे दीं और साथ-साथ पैसे भी दे दिए। यदि मैं चाहता तो पैसे को आसानी से अपने पास रख सकता था, फिर भी सचाई के नाते मैंने वे नहीं रखे।'

मनोविज्ञान बताता है कि पांच वर्ष की अवस्था से ही भावी जीवन का निर्माण होने लग जाता है। बालक की सहज रुचि अपने भविष्य की ओर संकेत करती है। हम जानते हैं कि निर्माण में अड़चन भी कम नहीं आती। सन्धि-वेला में विकास और ह्रास का विचित्र संघर्ष होता है। अंतिम विजय उसकी होती है जिसकी ओर बालक का कर्तृत्व अधिक झुकता है। आचार्यश्री के जिस बाल-जीवन की पाठकों ने स्वर्णिम पंक्तियां पढ़ीं, उनमें कुछ विषाद की रेखाएं भी हैं। हर्ष ने विषाद पर विजय पा ली, यह दूसरी बात है। फिर भी इनका द्वन्द्व कम नहीं हुआ, प्रबल था।

संस्मरण की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं–'मुझे बचपन में गुस्सा बहुत आता था। जब मैं गुस्से में हो जाता, फिर सबका आग्रह हो जाने पर भी एक-एक, दो-दो दिन तक भोजन नहीं करता।

मैं प्रकृति का सीधा-सादा था, दावँ-पेचों को नहीं जानता था। मेरे एक कौटुंबिक ने मुझसे कहा– 'ओरणा में रामदेवजी का मंदिर है। (जहां तेरापंथ के अधिष्ठाता भिक्षु स्वामी विराजे थे) वहां देवता बोलता

है, पर उसको नारियल भेंट करना पड़ता है। अगर तुम अपने घर से ला सको तो....। मैं एक नारियल चोरी कर ले आया। हम मंदिर में गए। कोई व्यक्ति छिपा हुआ था। वह बोला, हमने बाहर से सुना और सोचा–देव बोल रहा है। क्या बोला, पूरा याद नहीं। इसी जालसाजी के बाद मैंने कई नारियल चुराए और औरों को खिलाए।'

प्रसाद की अपेक्षा विषाद की मात्रा कम है। बहु मात्रा अल्प मात्रा को आत्मसात् कर लेती है। यही हुआ। देवी संपदाओं के सामने आसुरी संघर्ष चल नहीं सका। गुस्से का स्थान अनुशासन ने, चोरी का स्थान आत्म-निरीक्षण ने ले लिया। सत् की संगति पा दोष भी गुण बन जाते हैं, ऐसा कहा जाता है। संभव है यही हुआ हो। खैर कुछ भी हो। आचार्यश्री के बाल-जीवन में भी प्रौढ़ता निखर उठी थी, इसमें कोई संदेह नहीं। बाल-जीवनोचित लीला-लहरियों में गंभीरता अपना स्थान प्रतिष्ठित किए हुए थी। सहज भाव से बालकों की रुचि खेलकूद में अधिक होती है। पढ़ने में जी नहीं लगता। परन्तु आचार्यश्री इसके अपवाद रहे।

आज विद्यालयों में पाठ कंठस्थ करने की प्रणाली नहीं के बराबर है। कई शिक्षा विशारद इसे अनावश्यक और विद्यार्थी पर भार समझते हैं। कुछ भी समझें, इस प्रणाली ने भारतीय ज्ञान-राशि को अक्षुण्ण रखने में बड़ी मदद की है। लिखने के साधन कम थे अथवा प्रथा नहीं थी। उस जमाने में जैनों का विशाल आगम-साहित्य तथा वैदिकों के वेद और उपनिषदों की सुरक्षा इसी से हुई है। धार्मिक क्षेत्र में आज भी इसका महत्त्व है। एक राजस्थानी कहावत है–'ज्ञान कण्ठा और दाम अण्टा।' आज के विद्यार्थी पुस्तकों के बिना एक कदम भी नहीं चल सकते। उसका इसकी उपेक्षा से कम संबंध नहीं है।

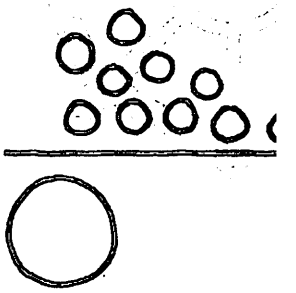

बालक चैतन्य की नवोदय भूमि होता है। उसमें शांति और क्रांति के मेल की जो अपूर्व लौ जलती है वह बुझाए नहीं बुझती। बचपन को सीधा और सरल समझा जाता है, पर वह अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त नहीं होता। एक ओर बड़ों की आज्ञा का पालन करने का प्रश्न आता है, दूसरी ओर अपनी भावना की रक्षा का। वहां एक बड़ी टक्कर होती है। विनय नाम की चीज न हो तो उसका हल नहीं निकल सकता। आचार्यश्री को बचपन में मांगने का काम बहुत बुरा लगता था। एक जगह आपने लिखा–'पहले हमारे घर में गायें रहती थीं। किन्तु बाद में जब ऐसा नहीं था तब माताजी पड़ोसियों के घरों से छाछ मांग लाने को मुझसे कहतीं। मुझे शर्म आती। आदेश का पालन करना होता पर उससे मुझे दुःख होता।'

साधारणतया यह कोई खास बात नहीं है। पड़ोसियों में ऐसा संबंध होता है। फिर भी अपने श्रम पर निर्भर रहने का सिद्धांत जिसे प्रिय लगता है, उसे वैसा कार्य अच्छा नहीं लगता। आचार्यश्री की स्वातंत्र्य वृत्ति और कार्य-पटुता का इससे मेल नहीं बैठता था। आप ८-९ वर्ष की उम्र में चाहते थे कि मैं परदेश (बंगाल) जाऊं, बड़े भाइयों का सहयोगी बनूं। एक बार मोहनलालजी परदेश को विदा हो रहे थे। तब आपने माताजी के द्वारा उनके साथ जाने की बहुत चेष्टा करवाई। पर वह सफल नहीं हो सकी। वे सागरमलजी (पांचवें भाई) को साथ ले जाना चाहते थे। आपने कहा–'मैं उनसे भी अच्छा काम करूंगा।' कारण कि आप सागरमलजी से अपने को अधिक होशियार समझते थे। प्रयास काफी हुआ किन्तु काम बना नहीं।

उक्त घटना एक बहुत बड़ा सामाजिक क्रांति का गुप्त बीज है। भारतीय सामाजिक जीवन में मांगना और श्रम का अभाव, ये दो शब्द घुसे हुए हैं। एक राष्ट्र में ६०-७० लाख भिखमंगों की फौज जो हो, वह उसका सिर नीचा करने वाली है। अगर मांगने में शर्म अनुभव होती, अपने श्रम पर भरोसा होता, तो कोई कारण नहीं कि एक व्यक्ति गृहस्थी में रहकर भीख मांगे। आचार्यश्री ने बचपन में ही व्यापार क्षेत्र में जाना

चाहा किन्तु वैसा हो नहीं सका या यों कहें कि धर्म क्षेत्र की आवश्यकताओं ने आपको वहां जाने नहीं दिया। आप देश में रहकर विरक्त बन जाएंगे, साधु बनने की तैयारी कर लेंगे, यह मोहनलालजी को पता नहीं था अन्यथा वे आपको वहां नहीं छोड़ते।

अकस्मात् सिराजगंज (पूर्वी बंगाल) तार पहुंचा। लाडांजी (आपकी बहिन) की दीक्षा होने की संभावना है, जल्दी आओ। मोहनलालजी तार पढ़ तुरन्त लाडनूं चले आए। स्टेशन पर पहुंचे। उन्होंने सुना 'तुलसी' दीक्षा लेगा। उन्होंने कहा–'मुझे यह खबर होती तो मैं नहीं आता।' खैर, घर पर आ गए। घर वालों तथा आपको भी बहुत कुछ कहा-सुना। जो बात टलने की नहीं, उसे कौन टाले?

इससे पूर्व आपके चौथे भाई चम्पालालजी स्वामी दीक्षित हो चुके थे। आप तुरन्त दीक्षा पाने को तत्पर थे। मोहनलालजी आपको दीक्षा की स्वीकृति देने को तैयार नहीं हुए।

तेरापंथ की दीक्षा-नियमावली के अनुसार अभिभावकों की लिखित स्वीकृति के बिना दीक्षा नहीं हो सकती। यह एक समस्या बन गई। श्रावकों ने, साधुओं ने, मंत्रीमुनि मगनलालजी स्वामी ने भी श्री मोहनलालजी को समझाया। मोह की बात है। दिल नहीं माना। वे स्वीकृति देने को तैयार नहीं हुए। आपने देखा, यह बात यों बनने की नहीं।

लाडनूं की विशाल परिषद् में श्री कालूगणी व्याख्यान कर रहे थे। आप वहां गए। व्याख्यान के बीच ही खड़े होकर बोले–'गुरुदेव! मुझे आजीवन व्यापारार्थ परदेश जाने और विवाह करने का त्याग करवा दीजिये।' लोगों ने देखा–यह क्या! परम श्रद्धेय गुरुदेव ने देखा–बालक का कैसा साहस है। मोहनलालजी ने देखा–वह मेरा भय और संकोच कहां? विभिन्न प्रतिक्रियाएं हुईं। गुरुदेव ने कहा–'तू अभी बालक है, त्याग करना बहुत बड़ी बात है।' आपने देखा–गुरुदेव अब मौन किए हुए हैं। सभी की दृष्टि आप पर टकटकी लगाए हुए है। आश्चर्य और प्रश्न की धीमी आवाजें उठ रही थी। साहस के बिना काम होगा नहीं। जो निश्चय कर लिया वह कर लिया। डर की क्या बात है? उत्तम कार्य है। मुझे अब अपने आत्मबल का परिचय देना है। यह सोचकर आप बोले–'गुरुदेव! आपने मुझे त्याग नहीं करवाए, किन्तु मैं आपकी साक्षी से आजीवन व्यापारार्थ परदेश जाने और विवाह करने का त्याग करता हूं।'

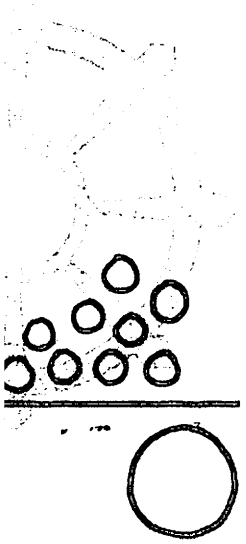

गुरुदेव ने सुना, लोगों ने सुना, मोहनलालजी ने भी सुना। बहुतों ने मोहनलालजी को समझाया था, नहीं समझे। आपने थोड़े में समस्या सुलझा दी। वे आपकी दीक्षा के लिए राजी हो गए। गुरुदेव से प्रार्थना की। दीक्षा की पूर्व स्वीकृति और आदेश दोनों लगभग साथ-साथ हो गए। यह एक विशेष बात थी। गुरुदेव से इतना शीघ्र दीक्षा का आदेश मिलना साधारण बात नहीं थी। आपको वह मिली। इसका कारण आपकी असाधारण योग्यता के सिवाय और क्या हो सकता था? इसमें कोई संदेह नहीं कि श्री कालूगणी ने उसी समय आपकी छिपी हुई महानता का अनुभव कर लिया था। आपके ज्ञाति भी इससे अपरिचित नहीं थे। हमीरमलजी कोठारी, जो आपके मामा होते हैं, आपसे बड़ा प्यार करते थे। वे आपको तुलसीदासजी कहकर संबोधित करते और कहते–'हमारे तुलसीदासजी बड़े नामी होंगे।'

प्रकाश प्रकाश में से नहीं निकलता, वह आवरण में से निकलता है। आवरण केवल ढांकना ही नहीं जानता, हटना भी जानता है। वह अंधों को ही दृष्टि नहीं देता, दृष्टि वालों को भी दृष्टि देता है।

आपका विशाल व्यक्तित्व बचपन के आवरण में छिपा हुआ था। फिर भी कृतज्ञता के साथ हमें कहना चाहिए कि उसने आपको पहचानने की दृष्टि दी।

कसौटी

मोहनलालजी स्वभावतः कुछ विनोद-प्रिय थे। दीक्षा की पूर्व-रात्रि में वे आपके पास आए और मीठी मुस्कान में बोले–'लो, यह लो।' आपने कहा–'क्या देते हैं भाईजी।' उन्होंने कहा–'देखो, यह सौ रुपये का नोट है। कल तुम दीक्षा लोगे। इसे साथ ले जाना। साधु-जीवन बड़ा कठोर है। कहीं रोटी-पानी न मिले तो इससे काम ले लेना।' मोहनलालजी के इस विनोदपूर्ण व्यंग्य से वातावरण हंसी से महक उठा। आपने हंसते हुए कहा–'भाईजी! यह क्या कह रहे हैं? इसका साधु-जीवन से क्या मेल? आप जानते हैं–साधु को यह रखना नहीं कल्पता।' भाई-भाई के हास्यपूर्ण संवाद से आस-पास में सोने वाले जाग उठे। आपकी बहिन लाडांजी ने पूछा–'क्या बात है? इतनी हंसी किस बात की?'

'तुलसी की परीक्षा हो रही है।' मोहनलालजी ने कहा।

मुनि-जीवन

जीवन का दूसरा अध्याय शुरू होते-होते आप द्विजन्मा बन गए। गृहस्थ-जीवन की समाप्ति और मुनि-जीवन की दीक्षा, दोनों एक साथ होते हैं। हजारों लोगों के देखते-देखते आप अपनी बहिन को साथ लिए वैरागी की पोशाक में दीक्षा-मण्डप में आए, कालूगणी को वंदना की, पास के कमरे में गए। वेश-भूषा बदली। साधु का पुण्य वेश धारण किया। वापस आए। दोनों हाथ जोड़कर गुरुदेव के सामने खड़े हो गए। दीक्षा देने की प्रार्थना की। मोहनलालजी अपने बंधुओं के साथ आगे आए। माता वदनाजी आईं। गुरुदेव से 'श्री तुलसी' और 'लाडां' को दीक्षित करने की प्रार्थना की।

गुरुदेव ने उनकी स्वीकृति पाकर दीक्षा का मंत्र पढ़ा। आजीवन के लिए समस्त पापकारी प्रवृत्तियों का–हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का त्याग कराया। आपने वह स्वीकार किया। गृहस्थ जीवन से तांता टूट गया। मुनि-संघ में मिल गए। वह पुण्य दिन था, वह पुण्य-वेला थी आपके भविष्य और संघ के सौभाग्य निर्माण की। सब प्रसन्न हुए। कालूगणी, मगनलालजी स्वामी और चम्पालालजी स्वामी अधिक प्रसन्न हुए। क्यों हुए, उसमें रहस्य था।

तेरापंथ के आचार्य अपने यथेष्ट उत्तराधिकारी को पाए बिना पूरे निश्चिन्त नहीं बनते। कालूगणी इसी बात की खोज में थे। उन्होंने आपको पाकर संतुष्टि का अनुभव किया। आपकी दीक्षा उनकी खोज की पूर्ण सफलता थी।

मगनलालजी स्वामी बचपन से ही कालूगणी के साथी और अभिन्न हृदय थे। कालूगणी की इच्छा-पूर्ति ही उनकी इच्छा-पूर्ति थी। इसके सिवाय आपकी दीक्षा के प्रेरक भी रहे। अपनी प्रेरणा की सफलता में अधिक खुशी स्वाभाविक ही है।

चम्पालालजी स्वामी एक तो आपके भाई ठहरे, वह भी दीक्षित। दूसरे उन्होंने आपकी दीक्षा-भावना से दीक्षा होने तक बहुत श्लाघनीय प्रयत्न किया। आप उनके इस प्रयत्न को अपने प्रति महान् उपकार मानते रहे। उनके प्रयत्न में कुछ शैथिल्य होता तो संभव है इतना शीघ्र दीक्षा-कार्य संपन्न न होता। इसलिए वे भी अपनी विशेष प्रसन्नता के अधिकारी थे। शैक्ष-मुनि तुलसी की प्रसन्नता का पलड़ा उन सबकी खुशी से भारी था। उस दिन तुलसी की कल्पना को आकार मिला। उनके सपने साकार हुए। तुलसी की पूर्व कल्पना यही थी–'मैं बचपन में माताजी को पूछता ही रहता। पूज्यजी महाराज कहां हैं? अपने यहां कब आएंगे?

जब कभी पधारते, सचमुच उनकी वह दिव्य-मूर्ति मेरे बाल-हृदय को खींचती रहती। मैं उनके सामने देखता ही रहता। उनका वह कोमल शरीर, गौरवर्ण, दीर्घ संस्थान, सिर पर थोड़े से सफेद बाल, चमकती आंखें, मैं देखता तब सोचता–'क्या ही अच्छा हो मैं छोटा-सा साधु बन हर समय उपासना में बैठा रहूं।'

मनुष्य संकल्प का पुतला होता है। दृढ़ संकल्प से असाध्य लगने वाली वस्तु एक दिन साध्य बन जाती है।

विरक्ति के निमित्त

कालूगणी के व्यक्तित्व का महान् आकर्षण आपकी संसार-विरक्ति का सबसे प्रमुख निमित्त बना। आपकी जन्मभूमि तेरापंथ का एक केन्द्र है। विशेषतः आप जिस पट्टी में रहते, वह धर्मपट्टी के नाम से प्रसिद्ध है। जन्मगत धार्मिक वातावरण, माता की दृढ़ धर्म-श्रद्धा और साधु-साध्वियों का बहु-संपर्क–ये सभी बातें उसका पल्लवन करने वाली थी। मुनि चंपालालजी स्वामी की सत्प्रेरणा का भी अपना स्थान था। सबसे बड़ी बात थी संस्कारिता।

हमें यह मानना पड़ता है कि व्यक्ति के संस्कार ही साधन-सामग्री पाकर उद्‌बुद्ध होते हैं और उसी दशा में व्यक्ति के कार्य-क्षेत्र का चुनाव होता है। कालूगणी को मुनि-जीवन का अनुभव था। वे आपको पवित्र पथ की ओर खींच ले गए।

रामकृष्ण परमहंस ने आकर्षण की इस वयोभूमि पर बहुत अनुभवपूर्ण बातें कही हैं–'आम, अमरूद इत्यादि के केवल साबुत फल ही ठाकुरजी के भोग में लग सकते हैं। कौए आदि के द्वारा काटा हुआ दागी फल न तो देव-पूजा में आ सकता है और न ब्राह्मण अपने कार्य ही में ला सकता है। इसी प्रकार पवित्र-हृदय बालकों या युवा पुरुषों को धर्म-पथ पर लाने की चेष्टा करना उचित है। जिस पुरुष के हृदय में एक बार भी विषय-बुद्धि प्रवेश कर गई है, उसका धर्म-पथ पर चलना बड़ा कठिन हो जाता है।

मैं कुमार बालकों को इतना प्यार करता हूं, जानते हो? बाल्यावस्था में उनका मन सोलह आने अपने वश में रहता है। पर बड़े होने पर धीरे-धीरे कई भागों में विभाजित हो जाता है। विवाह होने पर आठ आना स्त्री के पास चला जाता है। संतान होने पर चार आना बच्चों की ओर बंट जाता है। चार आना माता-पिता, मान-सम्मान और साज-सज्जा की ओर रहता है। इसीलिए जो लोग छोटी अवस्था में ईश्वर-लाभ की चेष्टा करते हैं, वे सहज ही में सफल हो जाते हैं। बूढ़ों के लिए सफलता पाना बड़ी कठिन समस्या हो जाती है।'

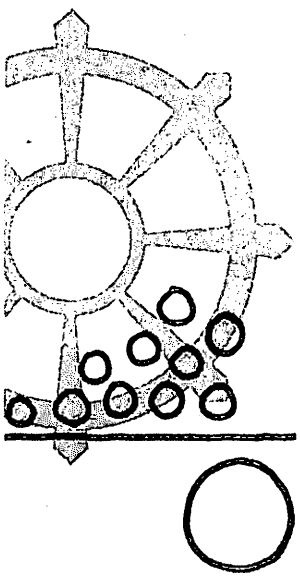

'तोते के गले में कण्ठी आने पर उसे फिर और नहीं पढ़ाया जा सकता। जब तक वह बच्चा रहता है, केवल तभी तक वह जो चाहे पढ़ना सीख सकता है। इसी प्रकार बूढ़े का मन सहज ही ईश्वर की ओर नहीं जाता, परन्तु बाल्यावस्था में थोड़ी-सी चेष्टा से ही मन स्थिर हो सकता है।

एक सेर दूध में यदि केवल एक छटांक पानी मिला हो तो थोड़ी आंच में ही खोआ बनाया जा सकता है परन्तु यदि एक सेर में तीन पाव पानी हो तो आसानी से खोआ नहीं बन सकता। बहुत लकड़ी और आंच की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार बालक के मन में विषय-वासना बिलकुल कम होने के कारण उसका मन ईश्वर की ओर सफलतापूर्वक ढल जाता है। परन्तु बूढ़ों के मन में विषय-वासना खूब ठूंस-ठूंस कर भरी रहने के कारण उनका मन ईश्वर की ओर नहीं जाता।

जैसे कच्चा बांस आसानी से झुकाया जा सकता है और पक्का बांस झुकाए जाने पर टूट जाता है, वैसे ही बच्चों का मन आसानी से ईश्वर की ओर झुकाया जा सकता है। परन्तु बूढ़ों के मन को यदि उस ओर झुकाने का प्रयत्न किया जाए तो वे उस सत्संग को त्याग देते हैं।

मनुष्य का मन मानो सरसों की पोटली है। यदि वह एक बार बिखर जाए तो इकट्ठा करना मुश्किल हो जाता है। उसी प्रकार मनुष्य का मन यदि एक बार संसार में इतस्ततः बिखरं जाए तो उसे संभालना कठिन हो जाता है। बालक का मन बिखरा न होने के कारण बहुत शीघ्र स्थिर हो जाता है। परन्तु बूढ़ों का मन सोलह आने संसार में बंटे रहने के कारण उसे संसार से हटाकर ईश्वर में लगाना बड़ा ही कठिन है।

सूरज निकलने से पहले यदि दही को मथा जाए तो बढ़िया मक्खन निकलता है। दिन चढ़ जाने पर वैसा मक्खन नहीं निकलता। इसी प्रकार बाल्यावस्था से ही जो ईश्वरानुरागी होते हैं और साधना में लगे रहते हैं, उन्हें ईश्वर अवश्य प्राप्त होता है।'[1]

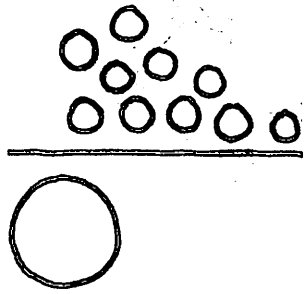

धर्मचक्र का प्रवर्तन

आशु-तोष

कालूगणी से दीक्षा पाकर आप प्रसन्न थे और अपना उत्तराधिकारी पाकर कालूगणी प्रसन्न थे। उन्होंने पहली दृष्टि में ही आपको अपना उत्तराधिकारी चुन लिया था। आचार्य प्रभव ने शय्यंभव के लिए जैसे प्रयत्न किया वैसे कालूगणी ने आपके लिए किया। वे वैदिक विद्वान् और विवाहित थे। आप जैन-कुल में उत्पन्न और अविवाहित। उन्हें 'तत्त्वं न ज्ञायते परम्' इस मुनि-वाणी से प्रेरणा मिली और आपके लिए प्रेरक बना मुनिश्री चंपालालजी का उपदेश। कालूगणी का आशु-तोष छिपा नहीं रहा। समूचा संघ आपके भावी जीवन का मूल्य आंकने लगा। कालूगणी का आप पर जितना वात्सल्य था उसे शब्द अपनी सीमा में नहीं बांध सकते। उसे वे ही समझ सकते हैं जिन्होंने देखा है। यहां जयाचार्य की वह उक्ति चरितार्थ होती है–

'जाण तिके नर जाणसी, अवर नै जाणै लिगारी हो।'

भावी का संकेत

सूर्य अस्त हो गया था। एक आवाज आई। सब साधु इकट्ठे हो गए। गुरु की वंदना की। प्रतिक्रमण–दैनिक-आत्मालोचन शुरू हुआ। मुहूर्त भर वही चला। फिर साधु उठे। गुरु के समीप आए। नम्र हो गुरु-वन्दना की। अपने-अपने स्थान पर चले गए। थोड़ी देर बाद कालूगणी ने आपको आमंत्रण दिया। आप आगे आए। आचार्यवर ने एक सोरठा कहा–

'सीखो विद्या सार परहो कर परमाद नै।
बधसी बहु विस्तार, धार सीख धीरज मनै॥'

और कहा कि यह सोरठा सबको सिखा देना। आपने आचार्यवर की आज्ञा शिरोधार्य की। रात का आदेश (पहर रात आने के बाद सोने की जो आज्ञा होती है) हुआ। साधु सो गए। चार बजे फिर जागरण हुआ। सूर्योदय में एक मुहूर्त बाकी रहा। एक आवाज आई। सब साधु फिर आचार्यवर को प्रातःकालिक वंदना करने के लिए एकत्र हो गए। वन्दना हुई। रात्रिक आत्मालोचन हुआ। सूर्य उगते-उगते साधु अपने दैनिक कार्य में लग गए। आपने आचार्यवर के आदेशानुसार वह सोरठा साधुओं को कंठस्थ करा दिया।

१. श्री रामकृष्ण उपदेश, पृष्ठ ५२-५५, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर।

समय की गति अबाध है। दिन पूरा हुआ, रात आई। जो कल हुआ, वह आज भी हुआ। आप आचार्यवर को वन्दना कर मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी को वन्दना करने गए। उन्होंने आपसे कहा– 'आचार्यवर ने जो तुझे सोरठा फरमाया, उसके उत्तर में तूने कुछ किया क्या?' आपने सकुचाते हुए कहा– 'नहीं'। मंत्री मुनि का संकेत पाकर आपने एक सोरठा रच आचार्यवर को निवेदित किया–

महर रखो महाराय, लख चाकर पदकमल नो।
सीख अपो सुखदाय, जिम जल्दी शिवगति लहूं॥

यह काव्यमय गुरु-शिष्य संवाद भावी गतिविधि का संकेत था। अगर आप साधु-संघ की दृष्टि में होनहार न होते तो यह संवाद अवश्य एक नई धारणा पैदा करता। वैसी स्थिति पहले बनी हुई थी, इसलिए यह इसका पोषक मात्र बना।

जीवन-सूत्र

प्रातः ४ बजे जागना और रात को १० बजे सोना, इसके बीच साधुचर्या का पालन करना, अतिरिक्त समय में अध्ययन, स्वाध्याय, स्मरण आदि करना; संक्षेप में आपकी यह दिनचर्या रहती थी। आप घंटों तक खड़े-खड़े स्वाध्याय करते। आपने कई बार रात के पहले प्रहर में तीन-तीन हजार श्लोकों का स्मरण-पुनरावर्तन किया। आप समय को बिलकुल निकम्मा नहीं गमाते। मार्ग में चलते-चलते कहीं दो मिनट भी रुकना होता, वहीं स्मरण करने लग जाते। यह अध्यवसाय आपके लिए साधारण था। 'एक क्षण भी प्रमाद मत कर' भगवान् महावीर के इस वाक्य को आपने अपना जीवन-सूत्र बना रखा था।

शिक्षा-लाभ

आपने मुनि जीवन के ग्यारह वर्षों में लगभग २० हजार श्लोक कण्ठस्थ कर पौराणिक कण्ठस्थ परम्परा में नई चेतना ला दी। वह एक युग था जब जैन आचार्य और साधु-संत विशाल ज्ञान-राशि को कण्ठात्-कण्ठ संचारित करते थे। किन्तु इस बदले वातावरण में २० हजार श्लोक याद करना आश्चर्यपूर्ण बात थी। आपके कण्ठस्थ ग्रंथों में मुख्य ग्रंथ व्याकरण, साहित्य, दर्शन और आगम विषयक थे। आपने मातृभाषा के अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत का अधिकारपूर्ण अध्ययन किया।

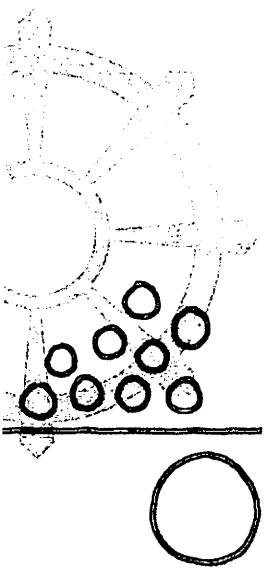

आपकी शिक्षा के प्रवर्तक स्वयं आचार्यश्री कालूगणी रहे। उनके अतिरिक्त आयुर्वेदाचार्य, आशुकविरत्न पं. रघुनंदनजी का भी सुंदर सहयोग रहा। पंडितजी के जीवन का बहुत भाग पूर्वाचार्य श्री कालूगणी तथा आचार्यश्री के निकट संपर्क में बीता। वे मुनिश्री चौथमलजी द्वारा रचित भिक्षुशब्दानुशासन की बृहद्वृत्ति के लेखक थे। 'प्राकृत काश्मीरं' इनकी छोटी किंतु सुंदरतम रचना थी। प्रकृति से साधु थे। इन्होंने निरवद्य विद्या-दान के रूप में तेरापंथ संघ की अमूल्य सेवाएं की।

सोलह वर्ष की अवस्था में मुनि तुलसी कवि बने। पट्टोत्सव, मर्यादोत्सव आदि विशेष अवसरों पर आपकी कविता लोग बड़े चाव से सुनते। आपने १८ वर्ष की उम्र में 'कल्याण-मंदिर' की समस्या-पूर्ति के रूप में 'कालू कल्याण मंदिर' नामक एक स्तोत्र रचा। आपका स्वर बड़ा मधुर था। आप उपदेश, व्याख्यान करते, गाते, लोग मुग्ध बन जाते। बहुधा ऐसा होता कि आप गीतिका गाते और कालूगणी उसकी व्याख्या करते। आप कई बार कहा करते–'मैं ज्यों-ज्यों अवस्था में बड़ा होता गया, त्यों-त्यों मोटे स्वर में गाने और

बोलने की चेष्टा करने लग गया। कारण कि ऐसा किए बिना प्रायः अवस्था परिवर्तन के साथ-साथ (१६ वर्ष के बाद) यकायक कण्ठ बेसुरे बन जाते हैं।'

आप सदा कालूगणी के साथ में रहे। सिर्फ एक बार शारीरिक अस्वस्थता के कारण कुछ महीनों के लिए आपको अलग रहना पड़ा। गुरुसेवा की सतत प्रवृत्ति के कारण आपको यह बहुत असह्य लगा। कालूगणी स्वयं आपको अलग नहीं रखना चाहते थे। मर्यादोत्सव के दिन साधु-साध्वी वर्ग की सारणा-वारणा के समय आचार्यवर सिर्फ आपकी ही सेवाएं लेते थे। शिक्षा के क्षेत्र में भी आपकी प्रवृत्तियों से आचार्यवर पूर्ण प्रसन्न थे। आखिरी वर्षों में वे इस चिंता से सर्वथा मुक्त रहे।

शिक्षा-दान

आपने दीक्षा के दो वर्ष बाद साधुओं को पढ़ाना शुरू किया। आपको केवल प्रतिभा नें ही अध्यापक नहीं बनाया, दूसरों को अपनाने की वृत्ति ने भी इसमें पूरा सहयोग किया। आप अपने मूल्यवान् समय का बहुलांश दूसरों को देते। सिर्फ पढ़ाने के लिए ही नहीं, कुछ बनाने के लिए भी। विद्यार्थी साधुओं की सार-संभाल करना, कार्यकुशल बनाना, आचार-विचार की निगाह रखना, रहन-सहन, खान-पान का ध्यान रखना, उनके निजी कार्यों की चिंता करना, अनुशासन बनाए रखना—ये आपकी अध्यापन क्रिया के अंग थे। आप कहीं बंधे या नहीं बंधे, पता नहीं, बांधने में बड़े दक्ष थे। आपकी उदारता से प्रभावित हो थोड़े वर्षों में आपके लगभग १६ स्थायी विद्यार्थी बन गए।

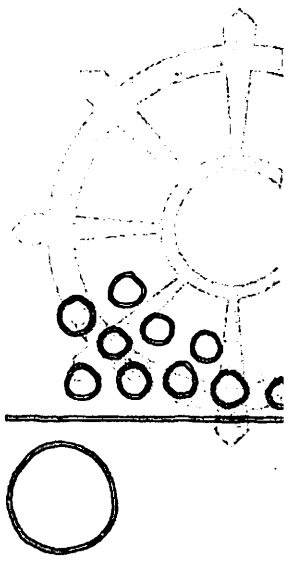

धर्मचक्र का प्रवर्तन

प्रसंगवश कुछ अपनी बात कह दूं। उन विद्यार्थियों में एक मैं भी था। यह हमारा निजी अनुभव है। हम पर जितना अनुशासन आपकी भौंहों का था, उतना आपकी वाणी का नहीं था। आप हमें कम से कम उलाहना देते थे। आपकी संयत प्रवृत्तियां ही हमें संयत रखने के लिए काफी थीं। आपमें शिक्षा के प्रति अनुराग पैदा करने की अपूर्व क्षमता थी। आप कभी-कभी हमें बड़ी मृदु बातें कहते—

'अगर तुम ठीक से नहीं पढ़ोगे तो तुम्हारा जीवन कैसे बनेगा, मुझे इसकी बड़ी चिन्ता है। तुम्हारा यह समय बातों का नहीं है। अभी तुम ध्यान से पढ़ो फिर आगे चलकर खूब बातें करना। यह थोड़े समय की परतंत्रता तुम्हें आजीवन स्वतंत्र बना देगी। आज अगर तुम स्वतंत्र रहना चाहोगे तो सही अर्थ में जीवन भर स्वतंत्र नहीं बनोगे। मेरा कहने का फर्ज है, फिर जैसी तुम्हारी इच्छा। इसमें जबरदस्ती का काम नहीं है, आदि आदि।'

विद्यार्थियों में उत्साह भरना आपके लिए सहज था। हमने नाममाला कंठस्थ करनी शुरू की। बड़ी मुश्किल से दो श्लोक कंठस्थ कर पाते। नीरस पदों में जी नहीं लगता। हमारा उत्साह बढ़ाने के लिए आप आधा-आधा घंटा तक हमारे साथ उसके श्लोक रटते, उनका अर्थ बताते। थोड़े दिनों बाद हम एक-एक दिन में छत्तीस-छत्तीस श्लोक कंठस्थ करने लग गए। और क्या, बात-बात में आप स्वयं कठिनाइयां सहकर भी हमारी सुविधाओं का खयाल करते। कारलाइल ने लिखा है—'किसी महापुरुष की महानता का पता लगाना हो तो यह देखना चाहिए कि वह अपने से छोटों के साथ कैसा बर्ताव करता है।'

आपका मुनि जीवन निस्संदेह एक असाधारण महानता लिए हुए था।

महान् उपलब्धि

दीक्षा लेते ही आप कालूगणी के सर्वाधिक कृपा-पात्र बन गए। कालूगणी की आप पर पहले क्षण में जो दृष्टि पहुंची वह अब साकार बन दूसरों के सामने आई। एक बार मंत्रीमुनि मगनलालजी स्वामी ने

बताया कि आपके विरक्ति-काल में ही कालूगणी का ध्यान आपकी ओर झुक गया था। आपके दुबले-पतले, कोमल शरीर की स्फूर्ति और विशाल एवं चमकदार आंखों का आकर्षण अपना उज्ज्वल भविष्य छिपाए नहीं रख सका।

तेरापंथ संघ में शिष्य के लिए आचार्यश्री के वात्सल्य का वही स्थान है जो प्राणी के जीवन में श्वास का। आपने कालूगणी का जो वात्सल्य पाया वह असाधारण था। आचार्य के प्रति शिष्य का आकर्षण हो यह विशेष बात नहीं; किन्तु शिष्य के प्रति आचार्य का सहज आकर्षण होना विशेष बात है। उसमें भी कालूगणी जैसे गंभीरचेता महापुरुष का हृदय पा लेना अधिक आश्चर्य की बात है। जिन्हें अपनी श्री-वृद्धि में बहिर्जगत् का प्रत्यक्ष सहयोग नहीं मिला, अपनी कार्यजाशक्ति, कठोर श्रम और दृढ़ निश्चय के द्वारा ही जो विकसित बने, वे कालूगणी अनायास ही ग्यारह वर्ष के नन्हे शिष्य को अपना हृदय सौंप दें, इसे समझने में कठिनाई है किन्तु सौंपा, इसमें कोई शक नहीं।

जैन साधुओं को आचार और विचार–ये दोनों परम्पराएं समान रूप से मान्य रही हैं। विचार-शून्य आचार और आचार-शून्य विचार पूर्णता की ओर ले जाने वाले नहीं होते। दीक्षा होने के साथ-साथ आपका अध्ययन क्रम शुरू हो गया। उसकी देख-रेख कालूगणी ने अपने हाथ में ही रखी। एक ओर जहां चरम सीमा का वात्सल्य भाव था, दूसरी ओर नियंत्रण और अनुशासन भी कम नहीं था।

साधु-संघ का सामूहिक अनुशासन होता है, वह तो था ही, उसके अतिरिक्त व्यक्तिगत नियंत्रण और अनुशासन जितना आप पर रहा, शायद ही उतना किसी दूसरे पर रहा हो। चाहे आप यों समझ लें–अनुशासन जितना आपने सहन किया, उतना शायद ही कोई दूसरा सहन कर सकता है। अथवा कालूगणी ने उसकी जितनी आवश्यकता आप पर समझी, शायद किसी दूसरे पर उतनी न समझी हो। आपकी इस तितिक्षा ने अवश्य ही आपको आगे बढ़ाया, बहुत आगे बढ़ाया।

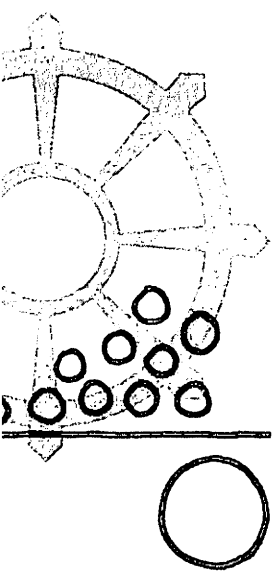

वात्सल्य और अनुशासन–इन दोनों के समन्वय से तितिक्षा के भाव पैदा होते हैं और उनसे जीवन विकासशील बनता है। कोरे वात्सल्य से उच्छृंखलता और कोरे नियंत्रण से प्रतिकार के भाव बनते हैं, यह एक सीधी-सादी बात है।

आप अपनी अनुशासन करने की आदत पर ही नहीं रहे, उसका पालन करने की भी आदत बना ली। यह उचित था। जो स्वयं अनुशासन को न पालें, उसे पलवाने की भी आशा नहीं रखनी चाहिए।

आपकी दैनिकचर्या पर चंपालालजी स्वामी निगरानी रखते थे। उनमें अपने बंधु के जीवन-विकास की ममता थी, उत्तरदायित्व की अनुभूति थी। आप उनका बहुत सम्मान रखते। उनकी इच्छा का भी अतिक्रमण नहीं करते।

अध्ययन में संलग्न रहना, गुरु-उपासना करना, स्मरण करना, कम बोलना, अपने स्थान पर बैठे रहना, अनावश्यक भ्रमण न करना, हास्य-कुतूहल न करना–ये आपकी प्रकृतिगत प्रवृत्तियां थीं।

कालूगणी ने आपको सामुदायिक कार्य-विभाग (जो सब साधुओं को बारी से करने होते हैं) से मुक्त रखा। उनके बहुमुखी अनुग्रह से समूचे संघ का ध्यान आपकी ओर खिंच गया। आप लोगों के लिए कल्पनाओं के केन्द्र बन गए। बड़े-बड़े साधु भी आपके प्रभाव की स्थिति को स्वीकार करते थे।

पूज्य कालूगणी के अंतिम तीन वर्ष जीवन के यशस्वी वर्षों में से थे। उनमें आचार्यप्रवर ने क्रमशः मारवाड़, मेवाड़ और मध्य-भारत की यात्रा की। उससे आपको भी अनुभव बढ़ाने का अच्छा मौका मिला। इससे पूर्व आपकी दीक्षा के बाद आचार्यवर सिर्फ बीकानेर स्टेट में ही रहे। वहां भी आप जन-संपर्क में बहुत कम आए। केवल अध्ययन-अध्यापन में ही रहे। यात्रा काल में आपने कुछ समय जन-संपर्क में लगाना शुरू किया। रात के समय बहुलतया व्याख्यान भी आप देने लगे। ये तीन वर्ष आपके लिए व्यावहारिक शिक्षा के थे। कालूगणी ने आपको कुछ बनाने का निश्चय किया। उसके पीछे बड़े बलवान् यत्न रहे। आपके विकास के प्रति आचार्यवर की सजगता की एक छोटी-सी किन्तु बहुमूल्य घटना मैं पाठकों के समक्ष रखूंगा।

जैन मुनि पाद-विहार करते हैं। यह बताने की जरूरत नहीं। आचार्यवर मध्य-भारत की यात्रा में थे, तब की बात है। आप विहार के समय आचार्यवर के साथ-साथ चलते। वृद्ध अवस्था के कारण आचार्यवर धीमी गति से चलते। समय अधिक लगता। इसलिए आचार्यवर ने एक दिन कहा–'तुलसी! तू आगे चला जाया कर, वहां जा सीखा कर।' आपने साथ रहने का नम्र अनुरोध किया, फिर भी आचार्यवर ने वह माना नहीं। इसे हम साधारण घटना नहीं कह सकते। आपके २०-२५ मिनट या आधा घंटे का उनकी दृष्टि में कितना मूल्य था, इसका अनुमान लगाइए।

आपने कालूगणी को जितनी त्वरा से अपनी ओर आकृष्ट किया उसका सूक्ष्म विश्लेषण करना दूसरे व्यक्ति के लिए संभव नहीं है। वे स्वयं इसकी चर्चा करते तो कुछ पता चलता। खेद है कि वैसी सामग्री उपलब्ध नहीं हो रही है। ऐसा सुना जाता है कि आपके प्रति कालूगणी की जो कृपा दृष्टि थी, वह संस्कार-जन्य थी। यह ठीक है, फिर भी कारण खोजने वालों को इतने मात्र से संतोष नहीं होता। वह कार्य-कारण के तथ्यों को ढूंढ़ निकाले बिना विश्राम नहीं ले सकता।

तेरापंथ के एकाधिनायक आचार्य में अनुशासन की क्षमता होना सबसे पहली विशेषता है। एक शृंखला, समान आचार-विचार और व्यवहार में चलने की नीति बरतने वाले संघ में योग्यता के साथ अनुशासन बनाए रखना बड़ी दक्षता का काम है। सैकड़ों साधु-साध्वियों और लाखों श्रावक-श्राविकाओं का एकाधिकारपूर्ण सफल नेतृत्व करना एक उल्लेखनीय बात है। हमें आचार्यश्री भिक्षु की सूझ और उनके कर्तृत्व पर सात्त्विक अभिमान है। उनके हाथों से बना हुआ संगठन एकता का प्रतीक है, बेजोड़ है। जहां संघ होता है वहां शासन भी होता है। शासन का अर्थ है–सारणा और वारणा, प्रोत्साहन और निषेध, उलाहना और प्रशंसा। इन दोनों प्रकार की स्थितियों में सबकी मनोभावनाओं को समान स्तरीय रखना, यही संघपति के कार्य की सफलता है।

दूसरी विशेषता है–आचार-कौशल। विचार की अपेक्षा आचार का अधिक महत्त्व है। आचारहीन व्यक्ति के विचार अधिक मूल्य नहीं रखते। श्रीमद्जयाचार्य ने लिखा है कि एक नौली में सौ रुपये होते हैं। उनमें ९९ रुपयों के बराबर आचार है और ज्ञान एक रुपये के समान है। हमारी परम्परा में आचार-कुशल का कितना महत्त्व है, यह निम्नलिखित एक धारणा से स्पष्ट हो जाता है–

एक आचार्य के सामने दो शिष्य हैं। एक अधिक आचारवान् और दूसरा अधिक पण्डित। आचार्य को अपना पद किसे सौंपना चाहिए? हमारी परम्परा बताती है, पहले को–आचार-कुशल को। आचार्य शब्द की उत्पत्ति भी आचार-कुशलता से हुई है–'आचारे साधुः–आचार्यः।'

गच्छाचार में बताया है–पुरुष चार प्रकार के होते हैं–

१. जितेन्द्रिय और अभीत परिषत् ३. जितेन्द्रिय और भीत परिषत्

२. भीत परिषत् और अजितेन्द्रिय ४. अजितेन्द्रिय और अभीत परिषत्।

तीसरी कोटि के व्यक्ति को आचार्य-पद देना चाहिए। अनुशासन को मैंने पहला स्थान आचार-कुशलता की पुष्टि के लिए दिया है।

एक साधु को आचार-कुशल होना चाहिए यह पर्याप्त हो सकता है, किन्तु आचार्य के लिए पर्याप्त नहीं होता। उनके साथ एक सूत्र और जुड़ता है, जैसे–स्वयं आचार-कुशल रहना और दूसरे साधु-साध्वियां आचार-कुशल रहें, वैसी स्थिति बनाए रखना। उस स्थिति का नाम है–अनुशासन। इसीलिए आचार्य के प्रसंग में आचार-कौशल से पहले अनुशासन को स्थान मिले, यह कोई अनहोनी बात नहीं है। अनुशासन की योग्यता रखने वाला आचार-कौशल ही एक मुनि को आचार्य-पद तक पहुंचा सकता है।

तीसरी विशेषता है–संघ-हितैषिता और चौथी है विद्या। कालूगणी ने आपको पहली बार देखा, तब आपके प्रति उनका सहज आकर्षण बना, उसे हम संस्कार मान सकते हैं। किन्तु बाद में उनकी आपको उत्तराधिकारी बनाने की धारणा पुष्ट होती गई, वह आपकी योग्यता का ही परिणाम था।

युवाचार्य

भाद्रपद कृष्णा अमावस्या का दिन। पूज्य कालूगणी ने आपको एकान्त में आमंत्रित किया। लगभग डेढ़ घंटे तक आप पूज्य गुरुदेव की सेवा में रहे। गुरुदेव ने शासन-संबंधी कुछ रहस्य लिखवाए और कुछ बताए। अपने उत्तराधिकारी के रूप में उनका आपसे मंत्रणा करने का यह पहला अवसर था। कालूगणी ऐसा करना नहीं चाहते थे। उनकी हार्दिक इच्छा कुछ और थी। वे अपनी तपोमूर्ति संसारपक्षीया मातुश्री छोगांजी के समक्ष बीदासर में आपको युवाचार्य-पद देना चाहते थे किन्तु ऐसा हो नहीं सका। उनके जीवन का यही एक ऐसा मनोभाव था, जो अधूरा रहा।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

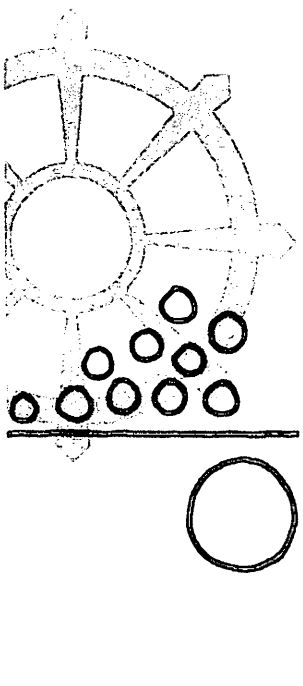

मध्य-भारत की सफल यात्रा से लौटते समय चित्तौड़ में उनके बाएं हाथ की तर्जनी में एक छोटा-सा व्रण निकला। वह धीमे-धीमे भीषण बन गया। बहुत उपचार हुए। फल नहीं निकला। आखिर उन्हें अपनी अंतिम स्थिति का निश्चय हो गया। तब उन्हें अपनी पुरानी धारणा बदलनी पड़ी। उसी का परिणाम अमावस्या के दिन सबके सामने आया।

भादवा सुदी २ के दिन तक गुरुदेव की प्रौढ़ कल्पनाओं से आप लाभान्वित होते रहे। साधु-साध्वियों के शिक्षा के अवसर पर गुरुदेव के द्वारा साधारण संकेत मिलते रहे। जैसे–समय पर आचार्य अवस्था में छोटे हों, बड़े हों, फिर भी सबको समान रूप से प्रसन्न रहना चाहिए। गुरु जो कुछ करते हैं वह शासन के हितों को ध्यान में रखकर ही करते हैं।'

इसके सिवाय स्पष्ट रूप में उन्होंने कभी कुछ नहीं कहा।

सूर्य की किरणें उल्लास लिये आईं। तीज का पुण्य प्रभात हुआ। आकाश और भूमि दोनों रूपवान बन गए। जो छिपने वाला नहीं है, वह छिप नहीं सकता। वह चमकेगा। अपने आप उसका रूप निखरेगा। उसके प्रति दूसरे उदार हों, इसमें शोभा है। इससे ऋण से उऋणता के भाव बनते हैं, उपकार्य-उपकारक का संबंध जुड़ता है, द्वैत से अद्वैत बनता है, श्रद्धा और पूजा की भूमि तैयार होती है।

कालूगणी की कृपा का दूसरा प्रवाह नया रूप लिए प्रवाहित हो रहा था। लोगों की कल्पनाएं मूर्त बन रही थी। आचार्यवर ने सब साधु-साध्वियों तथा श्रावकों की उपस्थिति में युवाचार्य-पद का पत्र लिखा। शरीर अस्वस्थ था। हाथ में अतुल वेदना थी। फिर भी कर्तव्य निभाने की असीम भावना थी। इस घड़ी से पहले उन्हें शासन-प्रबंध की चिन्ता मुक्ति नहीं दे रही थी। वे अपने उत्तरदायित्व में कोई खामी देखना नहीं चाहते थे। गुरुदेव ने आपको युवाचार्य-पद का उत्तरीय धारण कराया। अपना लिखा पत्र पढ़ा–

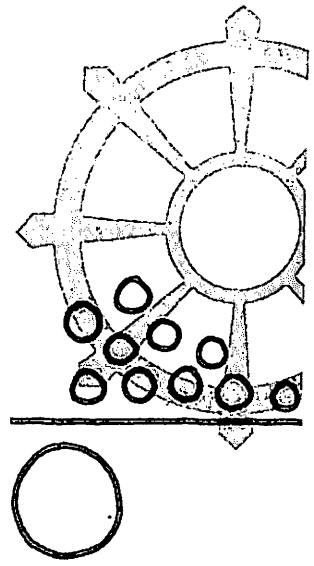

धर्मचक्र का प्रवर्तन

गुरुभ्यो नमः
भिक्षु पाट भारीमाल
भारीमाल पाट रायचन्द
रायचन्द पाट जीतमल
जीतमल पाट मघराज
मघराज पाट माणकलाल
माणकलाल पाट डालचन्द
डालचन्द पाट कालूराम
कालूराम पाट तुलसीराम
विनयवंत आज्ञा-मर्यादा प्रमाणे
चालसी सुखी होसी
(संवत् १९९३ भादवा सुदी ३ गुरुवार)

समूचे संघ में हर्ष की लहर दौड़ गई। योग्यतम धर्मनेता को पाकर सबको गौरव का अनुभव हुआ। समूचा संघ चिन्ता-विमुक्त हो गया। मंत्रीमुनि मगनलालजी स्वामी पूज्य कालूगणी के बचपन के साथी और परामर्शक थे। संघीय-हित की साधना में उनका पैर कालूगणी के पैर के साथ-साथ उठता था। युवाचार्य की नियुक्ति के समय उनका मन उल्लास से भरा हुआ था। उन्होंने अपने उल्लास को एक दोहे में अभिव्यंजना दी–

रंगभवन में रंगरली, पद युवराज प्रकास।
मुनिछत्र[1] महिमा निलो, पूरण कीधी आस॥

इसी अभिवंदना के पश्चात् मंत्रीमुनि मगनलालजी स्वामी ने संघ को युवाचार्य के प्रति करणीय व्यवहार का बोध दिया। वह अनायोजित सभा विसर्जित हो गई।

तेरापंथ में भावी व्यवस्था का भार एकमात्र आचार्य पर होता है। इसमें दूसरे किसी का हस्तक्षेप नहीं होता। आचार्य जिसे योग्य समझते हैं उसे अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर देते हैं। वह समूचे संघ को किसी ननु-नच के बिना मान्य होता है। इस कार्य में आचार्य के लिए किसी का मत या परामर्श लेना आवश्यक नहीं होता।

१. संघनायक आचार्य।

आचार्य उत्तराधिकारी की नियुक्ति को अपना सबसे बड़ा दायित्व मानते हैं। आचार्य तंत्रीय व्यवस्था में पूर्वाचार्य के द्वारा आचार्य का मनोनयन न होने पर संघ का भविष्य समस्यापूर्ण बन जाता है। पूज्य कालूगणी को इसका अनुभव था। माणकगणी अपने उत्तराधिकारी की नियुक्ति न कर सके, उससे संघ को कुछ समय तक समस्या का सामना करना पड़ा। कालूगणी ने यह सब अपनी आंखों से देखा था, इसलिए वे अपने दायित्व के प्रति बहुत जागरूक थे। उन्होंने अपने दायित्व को पूर्ण कर नैसर्गिक आनन्द का अनुभव किया।

पूज्य कालूगणी के सामने अपने उत्तराधिकारी की स्थिति बड़ी सुखद घटना थी। कुछ वर्षों तक यही स्थिति बनी रहती तो वह एक स्वर्ण-सुगंध का योग बनता।

मनुष्य का स्वभाव कल्पना करने का है। आखिर तो जो होना हो, वही होता है। कल्पना की मीठी घड़ियों को अधिक अवकाश नहीं मिला। छठ की शाम को सबके देखते-देखते परम श्रद्धेय गुरुदेव हम सबसे दूर हो गए। अब हमारे पास उनकी दैहिक संबंधों की स्मृति के सिवाय और कुछ नहीं रहा। संघपति के प्रति अटूट असीम भक्ति के कारण वह दिन समूचे संघ के लिए असह्य था। उस समय आचार्यश्री तुलसी ने अन्तः-वेदना के उपरान्त भी संघ को बड़ी सान्त्वना दी। आपका धैर्य, साहस दूसरों के लिए सिर्फ आश्चर्य में डालने वाला ही नहीं, किन्तु उन्हें साहसी बनाने वाला भी था। उसी दिन आपने शासन का पूर्ण उत्तरदायित्व संभाला।

आचार्यपद का अभिषेक

धर्मचक्र का प्रवर्तन

वि. सं. १९९३ की भाद्रपद शुक्ला नवमी के पूर्व की रश्मियां नया आलोक लिए भूमि पर उतरीं। गंगापुर की संकरी गलियों में से आए हजारों आदमी एक विशाल चौक में जमा हो गए। सबके चेहरों से खुशी झलक रही थी। उनके मनोभाव खिन्नता के बाद प्रसन्नता का अनुभव कर रहे थे। देखते-देखते चौक खचाखच भर गया।

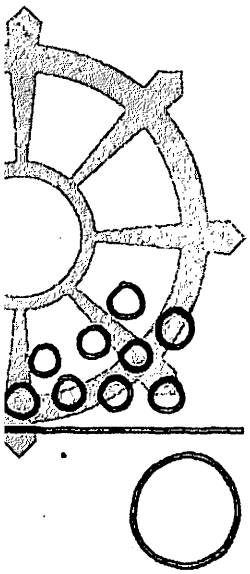

सबकी आंखें प्रतीक्षा में अधीर हो रही थीं। दो-चार साधु आए। चौक के दायीं ओर की चौकी पर एक बड़ा पाट बिछाया गया। उस पर श्वेत वस्त्र से बने आसन की आभा निराली थी। मृदु-गंभीर जयघोष ने प्रतीक्षा का बंधन तोड़ा। मझला कद, गौरवर्ण, सुन्दर आकार, पतला शरीर, गहरे बाल, विशाल भौंहे, कपोल को स्पर्श करती लंबी और चमकदार आंखें, गंभीर मुद्रा, सफेद वस्त्र धारण किए श्री तुलसी आचार्य-पद का अभिषेक पाने आ रहे थे। साधुओं की मण्डली साथ थी। जनता ने बद्धांजलि खड़े होकर अपने उदीयमान धर्म-अधिनायक का अभिनन्दन किया।

आप पाट पर विराज गए। आपके एक ओर साधु, दूसरी ओर साध्वियां बैठ गईं। सामने अपार जन-समुदाय था। परम श्रद्धेय श्री कालूगणी के स्वर्गवास के बाद यह पहला समारोह था।

सबसे पहले मंगलाचरण में नमस्कार महामंत्र का पाठ हुआ। उसके बाद मंत्रीमुनि मगनलालजी स्वामी ने आपको नई पछेवड़ी धारण कराई। यह था आपका पट्टाभिषेक। समूचे संघ ने संघ-गान 'जय जय नन्दा' गाकर आपका अभिनन्दन किया। विद्वान् साधु-साध्वी तथा श्रावक वर्ग ने कविताएं पढ़ीं। आपने एक संक्षिप्त प्रवचन किया। कालूगणी की अविस्मृत स्मृति कराते हुए उनके महान् व्यक्तित्व पर कुछ बातें कहीं। उत्सव के उपलक्ष में साधु-साध्वियों को गाथाएं बख्शिश कीं। समारोह संपन्न हो गया।

वह दिन लाखों व्यक्तियों के लिए अचरज का दिन था। उन्होंने देखा–तेरापंथ के एकतंत्रीय धर्म-शासन का भार एक २२ वर्षीय युवक ने संभाला है। उस समय जाना था कि इसकी रश्मियों में विश्व को आलोकित करने की शक्ति है। यह कोई संदेश लेकर आया है। वह दिन कल्पनाओं का दिन था।

उस दिन कालूगणी के मनुष्य के पारखी होने की बात कसौटी पर आई थी। जैन इतिहास में इतनी कम उम्र में आचार्य-पद पाने वाले आचार्य हेमचन्द्र आदि के एक-दो ही उदाहरण मिलते हैं। इसलिए लोगों के आश्चर्य को अतिरंजित नहीं कहा जा सकता।

आपने जब शासन का कार्य-भार संभाला, उस समय भिक्षु-संघ में १३९ साधु और २३३ साध्वियां थीं। उनमें ७६ साधु आपसे दीक्षा-पर्याय में बड़े थे। लाखों श्रावक थे।

आपका व्यक्तित्व, संघ का सौभाग्य, कालूगणी का प्रभाव या संघ-मर्यादा का महत्त्व–कुछ भी समझिए; आपके नेतृत्व का समूचे संघ ने जिस हर्ष के साथ अभिनन्दन किया, वह जड़ लेखनी का विषय नहीं बन सकता।

आचार्यश्री केवल चार दिनों तक ही युवाचार्य रह सके, किन्तु उस अल्प अवधि की चिर-स्मृतियां उन दिव्य एवं अलौकिक क्षणों की याद दिलाती रहती थी, जो उन्होंने अपने पूज्य गुरुदेव के सान्निध्य में उनके चिर-समाधि में लीन होने के पूर्व व्यतीत किए। पूज्य कालूगणी उन दिनों बहुत कम बोले किन्तु उनकी दिव्य आंखों, उनकी तेजस्वी मुखाकृति एवं उनका संकेतात्मक संप्रेषण–ये सब उनके मौन संदेश को जो अभिव्यक्ति दे रहे थे वह कई लाख शब्दों के माध्यम से भी संभव नहीं था। यही था वह शक्तिपात जिसने युवक तुलसी के व्यक्तित्व को इतना विराट्, इतना सशक्त एवं इतना दिव्य बना दिया।

पहला संदेश

नवमी के मध्याह्न में आपने साधु-साध्वियों को आमंत्रित कर अपनी नीति के बारे में एक वक्तव्य दिया। वह इस प्रकार है–

'श्रद्धेय आचार्यप्रवर श्री कालूगणी का स्वर्गवास हो गया, इससे मैं स्वयं खिन्न हूं, साधु-साध्वियां भी खिन्न हैं। मृत्यु एक अवश्यंभावी घटना है। इसे किसी प्रकार टाला नहीं जा सकता। खिन्न होने से क्या बने। इसलिए सभी साधु-साध्वियों से मेरा यह कहना है कि इस बात को विस्मृत बना दें। इसके सिवाय चित्त को स्थिर करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

अपना शासन नीतिप्रधान शासन है। इसके सभी साधु-साध्वियां नीतिवान हैं। रीति-मर्यादा के अनुसार चलने पर सदा आनन्द है। किसी को कोई विचार करने की जरूरत नहीं। श्रद्धेय गुरुदेव ने मुझे शासन का कार्य-भार सौंपा है। मेरे नन्हे कंधों पर उन्होंने अगाध विश्वास किया, इसके लिए मैं उनका अत्यंत कृतज्ञ हूं। मेरे साधु-साध्वियां बड़े विनीत, अनुशासित और इंगित को समझने वाले हैं। इसलिए मुझे इस गुरुतर भार को वहन करने में तनिक भी संकोच नहीं हुआ और न हो रहा है।

मैं पुनः वही बात याद दिलाता हूं कि सब साधु-साध्वियां अपने शासन की नियमावली का हृदय से पालन करें। मैं पूर्वाचार्य श्री कालूगणी की तरह सबकी अधिक से अधिक सहायता करता रहूंगा, ऐसा मेरा दृढ़ संकल्प है। जो मर्यादा की उपेक्षा करेंगे, उन्हें मैं सहन नहीं करूंगा, इसलिए मैं सबको सावधान किए देता हूं।'

नया युग : नए आचार्य

नन्हे-नन्हे कंधों ने वह बोझ उठाया, जिसे उठाने में पुष्ट कंधे भी सक्षम नहीं पाए गए। श्रद्धा की भाषा में कहूं तो यह पूज्य कालूगणी की दूरदर्शिता थी। वस्तुस्थिति की दृष्टि से यह नवयुग में नवनिर्माण की नियति थी। यदि कोई युग की भाषा को न समझने वाला आचार्य बनता तो तेरापंथ गरिमा के उच्च शिखर पर नहीं होता जहां वह आज है। हमारी अनुश्रुति है–जिस समय जैसे आचार्य की आवश्यकता होती है, वैसा ही आचार्य हमें मिल जाता है। नए युग को ऐसे आचार्य की जरूरत थी, जो युग-चेतना को प्रभावित कर सके।

राजनीतिक वातावरण

आचार्य तुलसी ने जब आचार्यपद का दायित्व संभाला तब वे पुराने वातावरण में सांस ले रहे थे। राजस्थान उनकी विहार-भूमि था। राजतंत्रीय शासन था। शिक्षा कम थी। सम्पर्क और संचार के सूत्र सीमित थे। नए विचारों के लिए भूमि उर्वरा नहीं थी। सामंती परिवेश और सामंती ठाठ-बाट की लहर चल रही थी। सामंतशाही की अपनी विशेषताएं थीं तो अपनी दुर्बलताएं भी थीं।

धर्मसत्ता और राज्यसत्ता दोनों एक-दूसरे को प्रभावित कर रही थीं। धर्म का राज्य पर प्रभाव था तो राज्य का सामंती दृष्टिकोण धर्म को भी प्रभावित कर रहा था। बीकानेर नरेश गंगासिंहजी हिन्दी बोलने वालों को पसन्द नहीं करते थे। पूज्य कालूगणी को भी 'हम तुम' बोलना पसन्द नहीं था। उन्हें पसंद थी मारवाड़ी बोली। संस्कृत भाषा में बोलना उन्हें बहुत अच्छा लगता था। आचार्य तुलसी को वही दृष्टिकोण धरोहर में मिला। आपने प्रथम दशक में हिन्दी का स्पर्श भी नहीं किया।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

सामाजिक वातावरण

जातिवाद का बोलबाला था। अछूत को छूने का तो प्रश्न ही नहीं था। साधारण जाति के लोगों के प्रति भी आदर की भावनाएं नहीं थीं। चांदी और सोने के आभूषण पहनने का बहुत प्रचलन था। आडम्बर और प्रदर्शन को मान्यता मिली हुई थी। परदा अनिवार्य था। स्त्री-शिक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता था। यह आम धारणा थी कि एक घर में दो लेखनी नहीं चल सकतीं। विवाह भी बहुत छोटी अवस्था में हो जाते थे। पारिवारिक-जन की मृत्यु हो जाने पर सार्वजनिक मार्गों में रोते हुए जाना, पति की मृत्यु होने पर वर्षों तक घर के कोने में बैठे रहना आदि सामाजिक परम्परा थी।

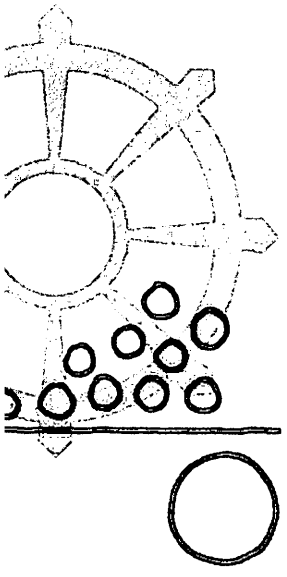

आर्थिक वातावरण

समाज में सम्पन्नता और गरीबी, दोनों विद्यमान थीं पर भुखमरी की समस्या नहीं थी। अमीर और गरीब, दोनों में पारस्परिक संबंध अच्छे थे। न गरीब अमीर से ईर्ष्या करता था और न अमीर गरीब की स्थिति को बदलने का प्रयत्न करता था। भाग्यवादी धारणा दोनों को यथास्थिति बनाए रखने के लिए आधार बन रही थी।

धार्मिक वातावरण

संप्रदाय धर्म के ऊपर अपना आसन जमाए हुए था। धर्म का स्थान संप्रदाय से ऊंचा है, यह चिन्तन ही नहीं था। साम्प्रदायिक कट्टरता अच्छी समझी जाती थी। परस्पर खंडन-मंडन बहुत चलता था। शास्त्रार्थ

के अखाड़े भी जमते थे। धर्म का क्षेत्र वाद-विवाद और संघर्ष से घिरा हुआ था। नैतिक व्यवहार बहुत कम था। प्रामाणिकता के प्रति आस्था नहीं थी। 'धर्म करो परलोक सुधर जाएगा'—यह पारलौकिक धारणा गहरे में पैठी हुई थी। वर्तमान जीवन के परिष्कार की बात कम सोची जाती थी।

युग की मांग थी—इस पुराने ग्रंथ की नई व्याख्या का निर्माण। आचार्यश्री अपने आचार्यकाल के प्रथम दशक में इस महाग्रंथ की नई व्याख्या नहीं लिख सके।

आचार्यश्री आचार्यपद का दायित्व संभालने के बाद गंगापुर से प्रस्थान कर पुनः तत्कालीन बीकानेर राज्य में आ गए। आपने ग्यारह वर्ष तक वहीं परिव्रजन किया। ध्यान केन्द्रित था व्यक्ति-निर्माण पर। आचार्यश्री साधु-साध्वियों को स्वयं अध्ययन कराते और लेखन, वक्तव्य आदि विविध प्रवृत्तियों में प्रेरित करते। अध्यापन का काम आपने मुनि अवस्था में ही शुरू कर दिया था। सोलह-सत्रह वर्ष की अवस्था में आपके पास अनेक छोटे साधु पढ़ते थे। उनमें मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ), मुनि बुद्धमल्लजी, मुनि जंवरीमलजी, मुनि दुलीचंदजी आदि प्रमुख थे। आचार्य काल में अध्यापन की प्रवृत्ति और अधिक सघन हो गई। आपके द्वारा अध्यापित शिष्य संस्कृत, प्राकृत, दर्शन, तुलनात्मक अध्ययन आदि अनेक शाखाओं में पारंगत हो गए।

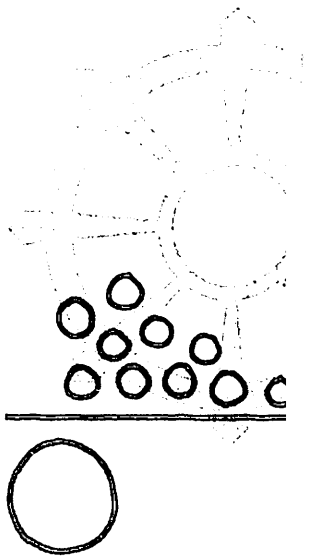

भविष्य के संकेत

हर व्यक्ति अपने वैभव के साथ जन्म लेता है। जन्म-कुण्डली उसकी संकेत-लिपि होती है। उसे पढ़कर भविष्य को देखा जा सकता है। आचार्यश्री के जीवन का केन्द्रीय तत्त्व था पराक्रम। सिंह लग्न वाला व्यक्ति पराक्रमी, तेजस्वी, प्रभावशाली और अजेय होता है। उसका व्यक्तित्व महान्, इच्छाशक्ति प्रबल होती है। छठे स्थान में बैठा गुरु संघर्ष पैदा करता है। तृतीय स्थान का मंगल और ग्यारहवें स्थान का शनि संघर्ष की स्थिति में भी मनोबल को ऊंचा बनाए रखता है। मकर राशि का गुरु जातक को कर्मनिष्ठ बनाता है। नवमांश कुण्डली में गुरु विद्याभाव को पूर्ण दृष्टि से देखता है, उससे शिक्षा के विकास और साहित्यिक प्रतिभा के निखार का योग बनता है। तीसरे घर का सूर्य सम्मान प्राप्ति का और तुला का मंगल आंतरिक स्फूर्ति का संकेत देता है। चन्द्र और बुध की युति इस बात का संकेत है कि जातक को जीवन-भर संघर्ष से गुजरना होगा। नवमांश कुण्डली में चन्द्र अपनी उच्च राशि में है। वह सूचित करता है कि जितना विरोध होगा, उतने ही उच्च-स्तरीय लोग सहयोगी बनेंगे। विरोध करने वाले भी आगे चलकर सहयोगी बन जाएंगे।

प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् पण्डित सूर्यनारायण व्यास का मत है कि नवमांश में गुरु शक्तिशाली नहीं बना होता तो संभव है विरोधी वातावरण चिन्तनीय बन जाता, किन्तु गुरु सबल है इसलिए विरोध उन्हें ऊपर उठने में सहायक बनता है, उन्हें गौरव प्रदान करता है।

हस्तरेखाविदों ने रेखाशास्त्र के आधार पर आचार्यश्री के जीवन का अध्ययन किया। उनके अध्ययन के कुछ निष्कर्ष ये हैं—

आचार्यश्री तुलसी का हाथ चमसाकार—समकोण आकार का है। समकोण हाथ वाला दूरदर्शी, आदर्शवादी और शासक होता है। चमसाकार मिश्रण के कारण वह क्रांतिकारी और नई प्रवृत्तियों का संस्थापक होता है। दाएं हाथ में अपूर्ण मंगल रेखा है इसलिए व्यवहार कुछ कठोर रहेगा। विरोधियों के प्रति सहिष्णुता रहेगी। दोनों हाथों में छोटी-छोटी रेखाएं हैं, इसलिए मानसिक चिन्ताएं अधिक रहेंगी। बाएं हाथ

में सूर्य, शनि और बृहस्पति के स्थान पर भाग्यरेखा जा रही है। यह कर्मनिष्ठ होने का सूचक है। प्रारंभ में आंतरिक विरोधों का सामना करना पड़ेगा। वृद्धावस्था में पूर्ण शांति का अनुभव करेंगे।

चन्द्र स्थान पर रेखाएं गहरी होकर शनि स्थान की ओर झुकती हैं। पदयात्रा जीवन-भर चलेगी।

सूर्यरेखा जीवनरेखा से निकली है। उसी स्थान से बुधरेखा निकल कर बुध के स्थान पर गई है। फलस्वरूप शोध की प्रवृत्ति बढ़ेगी। संघीय व्यवस्था में नए उन्मेष आएंगे। जीवन कुण्डली और हस्तरेखा के अध्ययन द्वारा जो भविष्य संकेतित है, उससे आचार्यश्री के जीवन का विश्लेषण और घटनाओं का मूल्यांकन किया जा सकता है। दोनों अध्ययनों के आधार पर जीवन का यह रेखाचित्र बनता है–

१. पराक्रमी
२. कर्मनिष्ठ
३. उद्यमशील
४. तेजस्वी
५. प्रभावशाली
६. इच्छाशक्ति और संकल्पशक्ति का धनी
७. संघर्षयुक्त
८. प्रतिकूल परिस्थिति में भी मनोबली
९. क्रांतिकारी
१०. नई धारणाओं का प्रवर्तक
११. महान् परिव्राजक
१२. शोध-अनुसंधान का प्रेरक
१३. संघीय-व्यवस्था में नव-उन्मेषकारक।

आचार्यश्री के जीवन की घटनाओं में इस रेखांकन की संवादिता खोजी जा सकती है।

उपकृति की रेखाएं

उपकारी होता है वह भी कभी उपकृत होता है। आचार्यश्री महान् उपकारी थे। एक दिन वे भी दूसरों द्वारा उपकृत हुए। परमपूज्य कालूगणी द्वारा उपकृत हुए, यह कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक संगत होगा कि आप जो कुछ हुए वह सब पूज्य कालूगणी की ही देन थी। उनसे आचार्यश्री का इतना तादात्म्य था कि इस अद्वैत में उपकारी और उपकृत की कल्पना करना भी न्याय नहीं है।

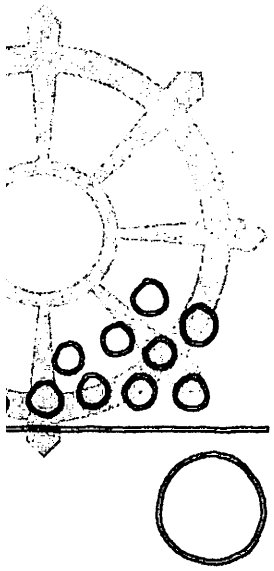

दो शब्दों में पूज्य कालूगणी को सीमित कर मैं अपनी भावना को कुण्ठा देना नहीं चाहता। उनका परिचय स्वयं आचार्यश्री थे और 'कालू यशोविलास' में आचार्यश्री ने उन्हें इस कौशल से अंकित किया कि वहां चित्रकार की भूमिका और कवि की कलम में कोई भेद नहीं रहा।

आचार्यश्री के निर्माण में दूसरा स्थान मंत्रीमुनि मगनलालजी स्वामी का रहा। उनके स्वर्गवास पर आचार्यश्री ने जो लिखा उसमें उनके जीवन की यथार्थ छाया है–'शाम को नानऊ नहर की कोठी में ठहरे थे। प्रभुदयाल और गौरीशंकरजी आए। मंत्रीमुनि के गिरते हुए स्वास्थ्य का संवाद मिला। गौरीशंकरजी बोले–इस बार उनका शरीर रह नहीं सकता। वे वापस चले गए। रात्रिकालीन प्रार्थना हो रही थी। बीच में ही चंदन कठौतिया आए। 'मंत्रीमुनि स्वर्गवासी हो गए', यह संवाद सुनाया। प्रार्थना के बाद मैंने यह घोषणा की तो सब स्तब्ध से रह गए। मौन और ध्यान किया। मुझे एक बार धक्का-सा लगा। बहुत अटपटा लगा। उनके एक-एक दिन याद आने लगे। कालूगणी के स्वर्गवास पर जितनी कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ उतना आज हुआ। मेरे निर्माण में उनका कितना हाथ रहा, मैं बखान नहीं कर सकता।

मेरे मंत्री, ओह! कितने विनीत, चित्तानुवर्ती, मानसिक शांति देने वाले, इंगितज्ञ, दूरदर्शी, मनस्वी, सम्मति-दाता, सूझ-बूझ के धनी, शासन-प्रभावक, इतिहास-वेत्ता, उदारमना, परिश्रमी, निगर्वी, महामेधावी, समयज्ञ, शासन-सेवी, पथ-प्रदर्शक, कुशल-वैद्य, चार-तीर्थ के हित, मित और पथ्य के चिन्तक। खेद, आज वे सदा के लिए अपना स्थान रिक्त कर गए।[1]

इस महान् व्यक्तित्व के निर्माण में एक महत्त्वपूर्ण स्थान सेवाभावी मुनिश्री चंपालालजी का रहा। भाई सब भाई ही हों, यह आवश्यक नहीं। वह भाई न होकर भी भाई बन जाता है जो निर्माण में योग देता है। जो भाई भी हो और निर्माण में सहयोगी भी हो, उसके दोनों पक्ष स्वस्थ होते हैं। सेवाभावी मुनिश्री चम्पालालजी ने अनेक उड़ानें लीं। उसका रहस्य यही है कि उनके दोनों पक्ष स्वस्थ थे। वे सहज ऋजु थे। प्रकृति में उफान, पर दूध की भांति स्नेह-युक्त। आचरण विशुद्ध था और वे स्वभावतः निरपेक्ष थे। इसीलिए स्वतंत्र मनोभाव को अधिक पसन्द करते थे। बहुत शीघ्र द्रवित हो जाते थे। चिन्तन से भी करुणा आगे थी। गर्व नहीं था पर हीनता भी प्रिय नहीं थी। पुराने होकर भी नित नए थे। भिक्षु शासन के प्रति अटूट आस्था थी और धर्म से सहज अनुराग था। अनुशासनप्रिय थे। उनकी प्रवृत्तियों ने आचार्यश्री को प्रभावित किया।

आचार्यश्री के अध्ययन व वक्तृत्व के प्रारंभ में मुनिश्री चौथमलजी का भी कुछ योगदान रहा। उनका जीवन महाव्याकरण 'भिक्षुशब्दानुशासन' के निर्माण में खपा। उन्होंने 'भिक्षुग्रंथरत्नाकर' का श्रम-साध्य संकलन किया। उनका स्वर्गवास होने पर आचार्यश्री ने लिखा–'एक सेवाभावी, श्रद्धानिष्ठ, शासन-सेवी, गुरुभक्त, गुण-संपन्न साधु आज शासन से सदा के लिए विदा हो गए।'[2]

मुनिश्री भीमराजजी स्वामी और हेमराजजी स्वामी का भी आचार्यश्री के निर्माण में योगदान रहा। आगमिक ज्ञान-सम्पदा की वृद्धि में इन दोनों का सहकार मिला। ये दोनों ही शास्त्रों के पारगामी विद्वान् व वाद-विद्या में निपुण थे। दोनों का दृष्टिकोण अनाग्रहपूर्ण और प्रशस्त था।

पण्डित रघुनन्दनजी की सेवाएं भी अविस्मरणीय थीं। आचार्यश्री की ज्ञान-सम्पदा में उनका विशिष्ट योगदान था। वे आयुर्वेदाचार्य और अप्रतिम प्रतिभा के धनी थे। उन जैसा प्रशस्त आशु कवि हमने आज तक नहीं देखा। वे प्रसिद्धि से दूर भागते थे। मौन और शांत। जीवन में मुनि के जैसा विराग। उनकी समयज्ञता, विद्यानुरागिता, संयतता और उदार चिन्तन से आचार्यश्री बहुत प्रभावित थे।

आचार्यश्री ग्रहणशील थे इसीलिए उन्होंने और भी अनेक साधुओं व गृहस्थों से कुछ न कुछ लिया और उसे आत्मसात् किया।

तेरापंथ के आचार्य : पहला वर्ष

आचार्यश्री ने आचार्य-पद का दायित्व संभाला। जनता में मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। अवस्था बहुत छोटी है। दायित्व का निर्वाह कैसे होगा? यह संदेह प्रकट किया गया। व्यक्तित्व अच्छा है। अध्ययन गहरा है। तेरापंथ को सक्षम नेतृत्व मिलेगा। सही मार्गदर्शन मिलेगा। यह संतोष प्रकट किया जा रहा था। पूज्य कालूगणी के प्रति

१. वि. सं. २०१६ पौष सुदी, अलीगढ़।
२. वि. सं. २०१६ पौष बदी ५, कानौड़।

गहन श्रद्धा थी इसलिए दोनों प्रतिक्रियाओं के पीछे समान रूप से हर्ष का स्वर मुखर था। पूज्य कालूगणी ने जो किया वह अच्छा ही किया—यह वाणी पुनः-पुनः उच्चरित हो रही थी।

आचार्यश्री ने सोचा—तेरापंथ का आचार्य एकछत्र शासन का अधिशास्ता होता है। उसके सामने कोई कठिनाई नहीं होती। साधु-साध्वियां सब विनीत हैं। आचार्य की आज्ञा को शिरोधार्य किए रहते हैं। श्रावक-श्राविकाएं भी बहुत अनुशासित हैं।

आचार्यश्री ने भगवती सूत्र का पारायण शुरू किया। जयाचार्यकृत भगवती जोड़ का वाचन भी साथ-साथ चल रहा था। मंत्रीमुनि मगनलालजी आदि कई बड़े-बड़े साधु उस पारायण में भाग ले रहे थे। आचार्यश्री ने भगवती की जोड़ के समीक्षणीय स्थलों में कुछ पद्यात्मक टिप्पणियां लिखीं। संघ को पहली बार आपकी समीक्षात्मक दृष्टि का परिचय मिला।

साध्वियों को अध्ययन कराना शुरू किया। सात-आठ साध्वियां पढ़ने के लिए आईं। संस्कृत व्याकरण और साहित्य के अध्ययन का क्रम चला। यह पूज्य कालूगणी के प्रति पहली श्रद्धांजलि थी। यह वाचिक नहीं किन्तु उनकी इच्छा की क्रियान्विति करके दी गई श्रद्धांजलि थी।

पहला मर्यादा महोत्सव ब्यावर (राजस्थान) में आयोजित किया गया। मर्यादा महोत्सव तेरापंथ धर्मसंघ का पृष्ठरज्जु है। उस समय आचार्य साधु-साध्वियों की वार्षिक यात्रा, चातुर्मासिक प्रवास आदि कार्यक्रम का निर्धारण करते हैं। विगत वर्ष के कार्यक्रम का निरीक्षण और परीक्षण करते हैं। उस समय देशभर से हजारों-हजारों यात्री एकत्र होते हैं। साधु-साध्वियों के प्रवास के लिए अपनी मांग प्रस्तुत करते हैं।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

ब्यावर में जैन समाज बहुत बड़ा है, तेरापंथ के अनुयायी कम हैं। पहले जैन समाज के सहयोग का आश्वासन मिला। आयोजन के कुछ दिनों पूर्व असहयोग का वातावरण बन गया। एक बार श्रावक समाज में थोड़ी-सी घबराहट हुई, किन्तु आचार्यश्री के आत्मविश्वास और साहस का संबल पाकर उसका मनोबल जाग उठा। मर्यादा महोत्सव का आयोजन पूर्ण सफलता के साथ संपन्न हुआ। कुछ विरोध की चिनगारियां उछलीं, मगर 'अतृणे पतितो वह्निः' की भांति वे बुझ गईं। कुछ लोगों ने सोचा—आचार्यश्री की अवस्था बहुत छोटी है। हम उन्हें विरोध कर अभिभूत कर देंगे। वे आए, बातचीत की। आचार्यश्री का ओजस् देखा तो उन्हें अपनी धारणा पर अनुताप हुआ। सिंह का शावक क्या छोटा क्या बड़ा? इस जनोक्ति की सचाई का उन्हें अनुभव हुआ।

आचार्यश्री बीकानेर राज्य में पहुंचे। पूज्य कालूगणीजी की माता साध्वी छोगांजी बीदासर में विराजमान थीं। आचार्यश्री पहला चातुर्मासिक प्रवास उनके पास करना चाहते थे। एक दिन बीकानेर नरेश गंगासिंहजी का विशेष दूत आचार्यश्री के पास आया। उसने प्रार्थना की—'इस वर्ष का चातुर्मासिक प्रवास आप बीकानेर शहर में करें। महाराजा साहब की स्वर्ण जयंती मनाई जा रही है। बहुत बड़ा आयोजन होगा। हजारों-हजारों व्यक्ति बाहर से आएंगे। आपके समाज के साथ राजघराने का घनिष्ठ संबंध रहा है। मैं महाराजा की ओर से प्रार्थना लेकर आया हूं। आप इस पर ध्यान दें।'

आचार्यश्री ने देश और काल की अनुकूलता का अनुभव कर पहला चातुर्मास बीकानेर में बिताया।

मंत्रीमुनि मगनलालजी ने प्रार्थना की—'मैंने मारवाड़ी के व्याख्यान सप्तमाचार्य डालगणी से बहुत सुने। संस्कृत गद्यमय व्याख्यान कालूगणी से सुने। संस्कृत के पद्यमय व्याख्यान सुनने की इच्छा है। आप प्रवचन में उनका वाचन करें, अन्यथा इस बात की मन में रह जाएगी।'

आचार्यश्री ने महाकाव्य शांतिनाथ चरित्र का वाचन शुरू किया। उसकी रसात्मकता से मंत्रीमुनि मुग्ध हो जाते।

पूज्य कालूगणी आधुनिक तेरापंथ के जनक थे। उन्होंने अपने हाथों नई सृष्टि का सृजन किया। संस्कृत, प्राकृत, न्यायशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि विद्या-शाखाओं के ग्रंथों का स्वयं चुनाव किया और मुनि तुलसी को उन्हें कंठस्थ करने की अनुज्ञा दी।

जैन-न्याय के लिए आपने वादी देवसूरी का 'प्रमाण-नयतत्त्वालोक' चुना। लाक्षणिक ढंग का यह सुंदर ग्रंथ है। इस पर 'स्याद्वाद रत्नाकर' नामक बृहत्काय स्वोपज्ञ टीका है। उसके आधार पर रत्नप्रभ सूरी की रची हुई 'स्याद्वाद रत्नावतारिका' नामक लघु टीका है। न्याय का विषय स्वयं जटिल था। टीका की भाषा उसे जटिलतम बनाए हुए था। विषय के हृदय पर भाषा का घना आवरण डाला हुआ था। तीसरी बात—न्यायशास्त्र के क्षेत्र में यह पहला चरण था। सहयोगी बने पंडित रघुनन्दनजी, जिनका जैन-न्याय से परिचय नहीं था। अध्ययन चला। दूसरे कुछ मुनि भी पास थे। वे ग्रंथ की कठोरता से घबरा गए। उन्होंने सुझाया—पहले छोटा और सरल ग्रंथ पढ़ा जाए, फिर इसका अध्ययन चले। आचार्यवर ने संकल्पपूर्वक कहा—'पैर चल पड़े तो मार्ग अपने आप मिलेगा। फिर वापस मुड़ना अच्छा नहीं।' उस अध्ययन में कठिनाई काफी रही, पर मंजिल तय हो गई। विषय गम्य बन गया—

खुली खिड़कियां
खुला द्वार
जब जागा संकल्प तुम्हारा
उठा पैर पीछे न हटेगा
अपने आप मिलेगा मार्ग।

आचार्यश्री ने ३१ व्यक्तियों को एक साथ दीक्षित किया। एक साथ इतने व्यक्तियों को दीक्षित करने का तेरापंथ धर्मसंघ में पहला अवसर था। आज तक भी पहला ही अवसर है। उस दीक्षा समारोह की एक उल्लेखनीय घटना है—साध्वीश्री वदनाजी की दीक्षा। किसी आचार्य ने अपनी मां को दीक्षा दी हो, यह विरल घटना है और तेरापंथ धर्मसंघ की पहली घटना। उस समय साध्वीश्री वदनाजी की अवस्था अट्ठावन वर्ष की थी। इतनी बड़ी अवस्था में दीक्षित करना एक प्रश्न था और यह भी प्रश्न था कि पुत्र के आचार्य बनने पर माता दीक्षा ले रही है। आपने उनकी दीक्षा को सहज भाव से स्वीकार नहीं किया। मुनिश्री चंपालालजी की प्रबल भावना थी कि मातुश्री को दीक्षित किया जाए। आचार्यश्री उसे टाल रहे थे। आखिर ऐसा वातावरण बना। मंत्रीमुनि मगनलालजी स्वामी और समाज के प्रमुख श्रावकों की आग्रहपूर्वक प्रार्थना पर आचार्यश्री ने उन्हें दीक्षा की स्वीकृति दी।

शारदापीठ के शंकराचार्य से मिलन हुआ। जहां दो धर्माचार्यों का मिलन होता है वहां समस्या होती है बैठने की। किसका पट्ट ऊंचा और किसका नीचा—अनुयायियों का ध्यान इस पर जाता है, मिलन के महत्त्व पर नहीं जाता। आचार्यश्री ने कहा—हम फर्श पर आसन बिछाकर बैठेंगे। यह सबके लिए समान आसन है, इसमें चर्चा का अवकाश ही नहीं रहता। वह मिलन बहुत ही मधुर और सौहार्दपूर्ण रहा।

चातुर्मास की सम्पन्नता। मध्याह्न एक बजे का समय। प्रस्थान की तैयारी। हजारों लोगों की भीड़। आचार्यश्री लालकोठी से विहार कर मुख्य सड़क पर आए तो देखा कि सामने से स्थानकवासी संप्रदाय के

एक आचार्य गणेशीलालजी महाराज का जुलूस आ रहा है। रांगड़ी चौक के पास दोनों जुलूस आमने-सामने हो गए। तत्काल एक समस्या उभर आई, कौन किसे रास्ता दे? एक-दो क्षण के लिए कुछ कुलबुलाहट हुई। आचार्यश्री ने तत्काल निर्णय लिया और साधुओं से कहा, रास्ता छोड़ दो। रांगड़ी चौक में आ जाओ। इस आदेश का पता चलते ही जुलूस के आयोजकों में खलबली मच गई। ईसरचदंजी चौपड़ा उस समय के बीकानेर राज्य के सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्तियों में से थे। केशरीचंदजी बोथरा आदि अनेक जन आचार्यश्री के पास आकर बोले–'हम क्यों हटें? हम क्यों रास्ता छोड़ें? हमारा समय निश्चित था। पहले ही हम विहार के समय की घोषणा कर चुके थे। सामने वाले पक्ष को यह पता था। उन लोगों ने जानबूझ कर समस्या पैदा की है। इस समय हम पीछे हट गए तो हमारी कमजोरी लगेगी। क्या हम कमजोर हैं? रांगड़ी चौक में जाने का आदेश न दें।'

आचार्यश्री–'हम कमजोर हैं इसलिए नहीं हट रहे हैं, किन्तु हमें अकारण ही कोई संघर्ष पैदा नहीं करना है। हम शांति के लिए सड़क छोड़ रहे हैं।' यह कहकर आचार्यश्री रांगड़ी चौक में चले गए। उनके पीछे-पीछे साधु चले और सारे जुलूस का गन्तव्य पथ वह चौक बन गया। सामने वाले पक्ष के लिए सड़क खाली कर दी। आचार्यश्री की सूझ-बूझ और सही निर्णय से एक संभावित संघर्ष टल गया। इसकी चर्चा पूरे शहर में फैली। वह महाराज गंगासिंहजी के पास भी पहुंची। उन्होंने कहा–'पूज्यजी महाराज की अवस्था तो छोटी है पर काम बहुत समझदारी का किया।'

आचार्यकाल का पहला वर्ष पूरा हो चुका था। दूसरे वर्ष के बाल सूर्य की पहली रश्मि ने एक नया प्रकाश दिया उससे एक नया व्यक्तित्व निखर कर सामने आया–

धर्मचक्र का प्रवर्तन

'बाल सूर्य की प्रथम किरण ने
जब आलोक बिखेरा,
आलोकित आंखों में उभरा
उजला रूप तुम्हारा।'

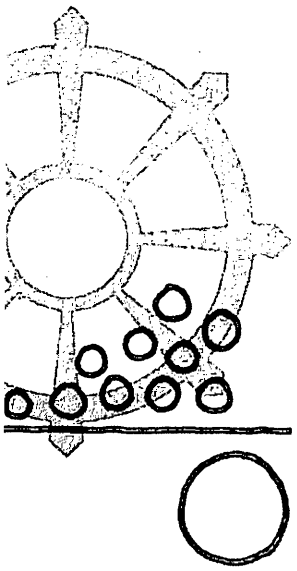

व्यक्ति-निर्माण

आचार्यश्री का जीवन ग्यारहवर्षीय समय-चक्र के साथ बदलता रहा। ग्यारह वर्ष तक आप गृहस्थ में रहे। ग्यारह वर्ष पूज्य कालूगणी की सन्निधि में मुनि जीवन में बिताए। तीसरे ग्यारहवर्षीय समय-चक्र में व्यक्ति-निर्माण के लिए अपनी शक्ति का नियोजन किया। आपने सोचा–'जनता की आध्यात्मिक चेतना का जागरण शक्ति के बिना नहीं किया जा सकता और शक्ति गंभीर अध्ययन के बिना प्राप्त नहीं हो सकती। इस चिंतन के साथ आपने साधु-साध्वियों को पढ़ाने पर ध्यान केन्द्रित किया। आपने संस्कृत के विकास को प्राथमिकता दी। उसकी प्रेरणा पूज्य कालूगणी से प्राप्त थी।

संस्कृत विकास का इतिहास

आचार जीवन का स्वयंभू पक्ष है। विचार भाषा के द्वारा प्रवहमान होता है। वह किसी एक ही भाषा में बंधा हुआ नहीं होता। अलग-अलग प्रदेशों में पैदा हुए महापुरुषों ने अलग-अलग भाषाओं में विचार गूंथे। उनकी भाषाई-अनेकता विचारों की एकता में निखर उठती है। इसीलिए जैन आचार्यों ने भाषा को स्वतंत्र मूल्य नहीं दिया। स्वतंत्र मूल्य की अर्हता विचारों में है। भाषा उनकी वाहक है। जिस देश-काल में

जो उन्हें वहन करने की अधिक क्षमता रखे उसी में उन्हें बिठाया जाए, इस अभिमत की ध्वनि एक पुराने श्लोक में मिलती है–

बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां, नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृते कृतः॥

जैनाचार्य सदा जनभाषा के साथ चले। उन्होंने मागधी, मराठी, तेलुगु, तमिल, कन्नड़, अपभ्रंश आदि प्राकृत भाषाओं में बहुत लिखा। जिनका जो विहारक्षेत्र रहा उन्होंने उसी की भाषा में अपने विचार प्रवाहित किए। संस्कृत का महत्त्व बढ़ा तो प्राकृत से परिमाण की स्पर्धा करने वाला संस्कृत वाङ्मय रचा गया। विक्रम की शताब्दियां संस्कृत साहित्य में जैन-ग्रंथ रचना के इतिहास से भरी पड़ी हैं। जैन वाङ्मय के मार्मिक अनुशीलन के लिए प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाएं पढ़ना आवश्यक हो गया है। विक्रम की सोलहवीं-सत्रहवीं सदी तक जैन परम्परा का साहित्यिक क्षेत्र प्रदीप्त रहा। फिर उसमें कुछ मन्दता छा गई। भाषा पर जो अधिकार था वह छिन-सा गया। कई संप्रदायों में तो विच्छिन्न ही हो गया। संस्कृत व्याकरण पढ़ना पाप जैसा माना जाने लगा। इस मान्यता का परिणाम तेरापंथ को भी भुगतना पड़ा। विक्रम की उन्नीसवीं सदी में आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ का प्रवर्तन किया। 'संस्कृत पढ़ना पाप है'–उनकी ऐसी मान्यता नहीं थी। फिर भी उनका युग जैन-शासन में संस्कृत परम्परा के अपक्रमण का युग था। उनका अध्ययन-अध्यापन संस्कृत की विच्छिन्न परम्परा में ही हुआ। इसलिए तेरापंथ की प्रवर्तना के बाद भी वर्षों तक तेरापंथ में संस्कृत का बीज अंकुरित नहीं हो सका।

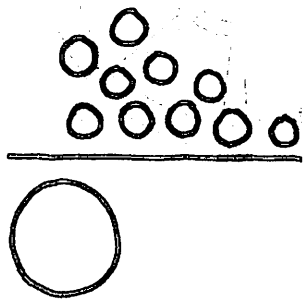

धर्मचक्र का प्रवर्तन

तेरापंथ की प्रवर्तना के सौ वर्ष बाद सहज भाव से संस्कृत का बीज-वपन हुआ। श्रीमज्जयाचार्य (तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य) ने एक संस्कृत विद्यार्थी से कुछ सुना, सीखा और धारा। ब्राह्मण विद्वान् जैनों को संस्कृत पढ़ाना अपने हित में नहीं मानते थे। कभी-कभी 'जैनों को पढ़ाना, सांप को दूध पिलाना' जैसी कट्टर धारणाएं भी बाधक बन जाती। यही कारण है कि उनकी कुशाग्रीय प्रतिभा को संस्कृत के मर्म-स्पर्श का अवसर नहीं मिल सका। उनके उत्तराधिकारी आचार्यश्री मघराजजी ने उसे कुछ सींचा, पर सामग्री के अभाव में पनप नहीं सका।

वि. सं. १९६४ की बात है। तेरापंथ के सातवें आचार्य डालचंदजी बीदासर (बीकानेर) में थे। वहां के जागीरदार हुकुमसिंहजी ने एक संस्कृत श्लोक भेजा। उसमें क्रियापद (धातुरूप) गुप्त था। उसका समाधान नहीं किया जा सका। वह उनके उत्तराधिकारी (तेरापंथ के आठवें आचार्य) श्री कालूगणी को बहुत चुभा। उनकी मानसिक अधीरता सीमा पार कर गई। उनकी तड़प ने एक व्यक्ति को ढूंढ़ निकाला। उनका नाम था–पं. घनश्यामदासजी। अनेक कठिनाइयां झेलकर भी वे कालूगणी के सहयोगी बने। बत्तीस वर्ष की पकी अवस्था, आचार्यपद का उत्तरदायित्व। फिर भी वे बालक की-सी रट लगाते-लगाते हजारों श्लोक और वार्तिक, शब्द-कोश (हेमचन्द्र का अभिधान-चिन्तामणि जिसके १५४२ श्लोक हैं) और व्याकरण (सारस्वत का पूर्वार्द्ध और सिद्धान्त चन्द्रिका का उत्तरार्द्ध) कंठस्थ कर गए। संस्कृत का वह बीज अंकुरित हो उठा। उन्होंने उसके पल्लवन की दिशा ढूंढ़ी। उसमें से एक सरल और सुबोध संस्कृत व्याकरण का उदय हुआ। पण्डित रघुनन्दनजी शर्मा (आशुकविरत्न, आयुर्वेदाचार्य) की विनीत सेवाएं भी उन्हें सुलभ हुईं। इधर उन्होंने अपने शिष्यों को इस ओर प्रोत्साहित किया। पुरस्कार, सात्त्विक-प्रलोभन और महान् भविष्य की कल्पनाएं कार्यशील बनीं। परिणामस्वरूप कई साधु संस्कृत-व्याकरण पर अधिकार पा गए। मुनिश्री

चौथमलजी और पं. रघुनन्दनजी के संयुक्त परिश्रम ने महाव्याकरण 'श्रीभिक्षुशब्दानुशासन' का निर्माण कर डाला। एक के बाद एक उसके अंग बनते गए। कालूगणी के देखते-देखते वह प्रायः सांगोपांग बन गया।

आचार्यश्री तुलसी का दीक्षा-संस्कार महाव्याकरण के नव-निर्माण-काल में हुआ। निर्माण-काल संपन्न नहीं हुआ था इसलिए आपने पहले सिद्धान्त-चन्द्रिका का पाठ कण्ठस्थ किया। उसकी साधनिका कालूगणी स्वयं कराते। उन्हें समय नहीं होता तब पं. घनश्यामदासजी कराते। वे शब्द-रूपों के पण्डित थे। अर्थ बताने तथा प्रयोग करने की क्षमता उनमें अत्यल्प थी। इससे आपको पूरा संतोष नहीं होता। कालूगणी ने इनके पास संस्कृत कैसे सीखी, यह प्रश्न भी उत्पन्न हो जाता।

उन दिनों बीकानेर तथा जयपुर के कई कस्बों (चूरू, रतनगढ़, राजगढ़, फतेहपुर) में संस्कृत के अच्छे-अच्छे विद्वान् थे। वे संपर्क में आते। विद्या देने को कुछ राजी होते। किन्तु 'पयः पानं भुजङ्गानां, केवलं विषवर्द्धनम्' जैसी उक्तियां सुनाकर उन्हें जैन साधुओं से दूर रहने को बाध्य किया जाता। फलस्वरूप किसी भी विद्वान् का सहयोग नहीं मिल सका। पं. रघुनन्दनजी को भी जैन विरोधी तत्त्वों ने बहुत उभारा। एक बार वे उनके जाल में फंस भी गए। पर आखिर उनका भावुक अंतःकरण कालूगणी के सहज-सुलभ वात्सल्य से प्रभावित हुए बिना रह नहीं सका। उन्होंने निष्काम विद्यादान शुरू किया पर यह संयोग भी निर्बाध नहीं था। उनका प्रधान कार्य चिकित्सा था। इसलिए गांव-गांव में साधुओं के साथ-साथ घूमना उनके लिए संभव नहीं था और एक गांव में स्थिरवास किए रहना आपके लिए असंभव था। चातुर्मास के सिवाय शेष काल (आठ मास) तक पाद-विहार रहता। इसी कारण उनका सहयोग स्वल्पकालीन होता।

सबसे बड़ी कठिनाई थी वैतनिक पण्डितों के पास न पढ़ना, एक गांव में स्थिर न रहना। ये साधु-जीवन के मौलिक नियम रहे और थे अनतिक्रमणीय। इस प्रकार आचार साधना में तपी हुई तेरापंथ परम्परा में संस्कृत पल्लवन का कार्य सरल नहीं था। वह कठोर तप तपने वाले व्यक्तित्व की प्रतीक्षा में था।

अध्ययन की उमड़ी हुई लालसा ने आपको कल्पनाशील बना दिया। संकल्प का बल था पर उसकी पूर्ति का साधन नहीं मिल पा रहा था। 'सिन्दूर-प्रकर' जैसे विद्यार्थी-गम्य शतक का अर्थ समझ लेना, अन्वय लगा देना बहुत बड़ी बात लगती थी। नव-निर्माण की बात दूर रही। पाठ्यक्रम का उचित परामर्श मिलना भी सुलभ नहीं था। इस स्थिति में कालूगणी ने आपके लिए एक मार्ग चुना, वह था ग्रंथों के कण्ठीकरण का। बड़ा ही रूखा, टेढ़ा और सिर पचाने वाला। पर गतिशील रुकना नहीं जानता। आप एक-एक कर ग्रंथों को कंठस्थ करने लगे। लगभग बीस-बाईस हजार ग्रंथाग्र (अनुष्टुप् श्लोक परिमाण) कण्ठस्थ कर लिया। उनमें कई ग्रंथ ऐसे हैं जो सदियों में भी किसी संस्कृत विद्यार्थी के कण्ठाभरण नहीं बने होंगे। आपने 'गणरत्न-महोदधि' और 'उणादि' जैसे विरलरूपेण वाचनीय प्रकरण रटे और उनका पुनरावर्तन करते रहे। यह कार्य भी सरल नहीं था। प्रतियां सुलभ नहीं थीं। कई विद्वान् छपी हुई पुस्तकें देने को भी राजी नहीं होते थे। आप अपने हाथ से प्रति लिखते और उसे कंठस्थ करते। इस प्रकार आपका कालूगणी की चरणसेवा का एकादशवर्षीय सहवास लगभग व्याकरण के अध्ययन का ही रहा।

आपने दर्शनशास्त्र के अध्ययन का सूत्रपात किया। आचार्य हरिभद्र का 'षड्दर्शन' कुछ पढ़ा। आचार्य सिद्धसेन की अमर कृति 'कल्याणमंदिर' के दूसरे चरण की समस्यापूर्तिरूप कालूगणी के गुणवर्णनमय एक छोटा-सा काव्य भी रचा, पर समय का अधिकांश भाग व्याकरण की चर्चा में ही बीता। इससे कई लाभ हुए। संस्कृत के मूल का स्थिरीकरण हो गया, जो पल्लवन की पहली शर्त थी। आपने नवनिर्मित व्याकरण

के परिमार्जन में भी हाथ बढ़ाया। हम विद्यार्थी मुमुक्षुओं को व्याकरण पढ़ने में सुविधा, व्यवस्था और पर-निरपेक्षता मिली। आप अपने अध्ययन के साथ-साथ अध्यापन कराने लग गए। आपकी पाठन-पद्धति के प्रति हमारा आकर्षण था, पर यह सब व्याकरण तक ही सीमित रहा।

बाईस वर्ष की अवस्था में आप कालूगणी के उत्तराधिकारी बने। एक विशाल संप्रदाय का दायित्व अपने गुरु से मिला। संस्कृत के पल्लवन का दायित्व आपने स्वयं ओढ़ा। पूज्य गुरुदेव का संकेत उसके साथ था। आपने साध्वियों को संस्कृत पढ़ने के लिए बहुत प्रोत्साहित किया। उससे उनमें भावना और गति भी आ गई।

आपने आचार्य बनते ही पहले जैन आगमों का पारायण किया। उसके बाद जैन-काव्य (शांतिनाथ चरित्र, पद्मानन्द महाकाव्य आदि) पढ़े। उनको पढ़ना भी एक समस्या थी। उन पर टीकाएं नहीं थी। अध्येता को अपने श्रम से ही उनका हार्द पकड़ना होता था। आचार्यश्री ने उन्हें गहराई से पढ़ा और फिर परिषद् में उनका वाचन किया। यह प्रयत्न उच्चतम काव्य-साहित्य के अध्ययन की पहली आलोक रेखा थी। उसका पंजीकृत रूप महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' और आचार्य हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' के परिशीलन के साथ-साथ हुआ। यह तेरापंथ में संस्कृत अध्ययन की व्यवस्थित परम्परा का पच्चीसवां वर्ष था। इसी बीच जैन दर्शन के प्रामाणिक ग्रंथों का अध्ययन भी प्रारंभ हो चुका था। फिर तो जैन व जैनेतर न्याय के अनेक ग्रंथों का पारायण किया। दर्शन और साहित्य के अध्ययन-पथ के प्रशस्तीकरण के साथ-साथ नव-निर्माण की ओर भी आपका ध्यान आकृष्ट हुआ। आपने स्वयं संस्कृत ग्रंथ (कर्तव्य-षट्त्रिंशिका, शिक्षा-षण्णवति, कथा-प्रदीप, जैन सिद्धान्त दीपिका, भिक्षु न्यायकर्णिका आदि) लिखे।

विद्या का कल्पतरु अनन्त-शाखी होता है। उसकी शाखा, प्रशाखा, पत्तों, कोंपलों, फल और फूलों के अनुमापन की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती। फिर भी नम्रतापूर्वक इतना कहा जा सकता है कि आचार्यश्री ने अपने अथक परिश्रम से तेरापंथ में संस्कृत को पल्लवित किया। अपने पूर्वज आचार्यों की भावना को मूर्तरूप दिया। वह उनकी सतत साधना और अटूट लगन का, संस्कृत जगत् के इतिहास में, कभी भी नहीं भुलाया जाने वाला पृष्ठ है। परिणामस्वरूप विद्या की आराधना में आज तेरापंथ की तपस्वी परम्परा स्वावलंबी और स्वयम्भू है।

ऐकाह्निक शतक

वि. सं. २००० की बात है। आचार्यश्री उन दिनों भीनासर में थे। मैंने ऐकाह्निक-शतक लिखा। आशुकवित्व की ओर यह पहला चरण था। एक दिन में सौ श्लोक लिखना उस समय आश्चर्य की बात थी। आचार्यश्री ने मुझे पुरस्कृत किया। फिर अनेक शतक बने। मुनि राकेशजी ने एक दिन में एक हजार श्लोक बनाए। मुनि गुलाबचंद 'निर्मोही' ने डेढ़ हजार श्लोक बनाए।

संस्कृत में वक्तव्य

वि. सं. २००२ का चातुर्मास श्रीडूंगरगढ़ में था। वहां काव्यानुशासन का वाचन पूर्ण हुआ। व्याकरण, न्यायशास्त्र, काव्य आदि अनेक शाखाओं का अध्ययन पूर्ण हो चुका था। आचार्यश्री को संतोष था कि पूज्य कालूगणी की इच्छा फलवती हो रही है। आज कालूगणी होते तो उन्हें कितना हर्ष होता! रात का समय। चांद अपनी चांदनी को बिछा रहा था। धरती उसकी आभा से खिल रही थी। साधु-गण गुरुवंदना

में लीन थे। उस समय मैं भी वन्दना करने गया। आचार्यश्री ने कहा–'हमारी अध्ययन परम्परा को प्रारंभ हुए २५ वर्ष हो गए हैं। हमने बहुत सारे विषयों को हस्तगत करने का यत्न किया है। पूज्य गुरुदेव की असीम कृपा से हम सफल भी हुए हैं किन्तु एक बात की कमी अखर रही है। अभी तक संस्कृत में प्रत्येक विषय पर घण्टों तक धाराप्रवाह भाषण करने का विकास नहीं हुआ है।'

आचार्यश्री की इच्छा-शक्ति अथाह थी। वह दूसरों में प्राण भर देती थी। अगले प्रभात को हम लोग गांव के बाहर सुदूर एकान्त में बालू के ऊंचे-ऊंचे टीलों पर खड़े-खड़े संस्कृत में वक्तव्य कर रहे थे। सुनने वाला कोई नहीं था और कोई नहीं था मार्गदर्शन देने वाला। केवल आचार्यश्री की प्रेरणा ही साथ थी। वह बुला रही थी और हम बोल रहे थे। एक महीने बाद आडसर में संस्कृत भाषण प्रतियोगिता शुरू हुई। लगभग २० साधुओं ने उसमें भाग लिया। एक महीने तक भाषण दे और उसमें एक भी अशुद्धि न आए, उसे पुरस्कार देने की घोषणा की गई। सरदारशहर में वह ग्यारह सौ गाथाओं का पुरस्कार मुझे मिला। आचार्यश्री के मन में जो विचार उठा, उसे उनकी इच्छाशक्ति ने पूर्ण कर दिया।

आशुकवित्व

राजलदेसर में मैंने और मुनि बुद्धमल्लजी ने आचार्यश्री के समक्ष आशुकवित्व के प्रयोग रूप में कुछ श्लोक रचे। अभ्यास हम पहले कर चुके थे। पं. रघुनन्दनजी के आशुकवित्व की मूक प्रेरणा थी। आचार्यश्री पण्डितजी के साथ आशुकवित्व पर वार्तालाप चलाते थे। वह भी प्रेरक बना। आशुकवित्व करने का उत्साह बढ़ गया। आचार्यश्री ने हमें पुरस्कृत किया। यह धारा भी हमारे शासन की संपदा बन गई।

समस्यापूर्ति

समस्यापूर्ति करने का अभ्यास कालूगणी के युग में ही पक चुका था। आचार्यश्री तथा अनेक संत 'कल्याणमंदिर' व 'भक्तामर' जैसे प्रसिद्ध स्तोत्रों की समस्यापूर्ति कर चुके थे। आचार्यश्री ने समस्यापूर्ति को फिर प्रोत्साहन दिया। कई वर्षों तक सर्दी के दिनों में बहुत साधुओं के एकत्र होने पर इसके आयोजन किए। हम लोगों, जो संस्कृत अध्ययन की दूसरी पीढ़ी में थे, के लिए वह कार्यक्रम बहुत ही लाभदायक रहा।

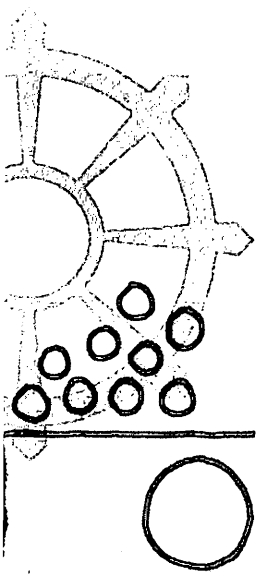

निबन्ध और कहानियां

साहित्य के विषय में शुभकरणजी दस्सानी के परामर्श मिलते रहे और आचार्यश्री हमें प्रेरणा देते रहे। महीने में एक संस्कृत-कथा लिखना हमारे लिए अनिवार्य कर दिया गया। कुछ कथाएं लिखीं, फिर प्रतिमास निबन्ध लिखना आवश्यक हुआ। निबन्ध प्रतियोगिता भी हुई। इस प्रकार संस्कृत में लिखना, बोलना, कविताएं करना साधुओं के लिए सहज हो गया। संस्कृतज्ञ मुनियों के साथ संस्कृत में ही बोलने की साप्ताहिक, पाक्षिक प्रतिज्ञाएं चलतीं। उस समय ऐसा वातावरण बना कि भाषा-जगत् संस्कृतमय ही लगता। उसी वातावरण से प्रभावित होकर महामहोपाध्याय गिरधर शर्मा ने कहा–'आचार्यश्री संस्कृत के जंगम विश्वविद्यालय हैं।'

साहित्य साधना

आचार्यश्री उन व्यक्तियों में नहीं थे, जो केवल अतीत की गाथा गाएं, वर्तमान का कोई मूल्य न आंकें। वे आज को बलवान बनाकर ही कल की ओर झांकते। उनकी दृष्टि में अतीत वर्तमान के लिए

था, किन्तु वर्तमान अतीत के लिए नहीं था। प्राचीन जैन साहित्य बहुत समृद्ध रहा। किन्तु वर्तमान का जैन साहित्य दरिद्र रहे तो केवल पुराने साहित्य की समृद्धि के बल पर हम अपनी गौरवमयी मर्यादा को बनाये नहीं रख सकते। आचार्यश्री ने स्वयं लिखा और लिखने की प्रेरणा दी। साहित्य की धारा बह चली। आज हमारा साधु-साध्वी समाज वर्तमान की साहित्य धारा का प्रतिनिधित्व करने में पूर्ण समर्थ है। आचार्यश्री को इस स्थिति से संतोष मिला। आप बहुधा कहते–'साधु-साध्वियों की साहित्यिक प्रगति देख मुझे संतोष है, पर पूर्णरूपेण नहीं।' वह पूर्ण होना भी नहीं चाहिए। तोष की अपूर्णता में से ही पूर्णता प्रकट हो सकती है।

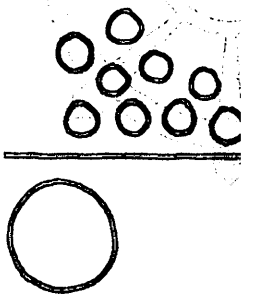

प्राकृत की दिशा में प्रस्थान

वि. सं. १९९२। उदयपुर चातुर्मास। एक दिन पूज्य कालूगणी ने मुनि तुलसी से कहा–'आचार्य हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण कंठस्थ करो।' उसे आपने कंठस्थ करना प्रारंभ कर दिया। कुछ दिनों बाद मुझे कहा–'तुम भी प्राकृत व्याकरण कंठस्थ करो।' आचार्यवर के निर्देशानुसार मैं भी उसे कंठस्थ करने लगा। नियति पूज्य कालूगणी के मानस में छिपी हुई थी। मुझे क्या पता था कि इसी प्राकृत व्याकरण की प्रक्रिया मुझे लिखनी है। इसका भी पता नहीं था कि आगम संपादन का कार्य करना है और प्राकृत की गहराई में डुबकियां लगाना है। वि. सं. १९९८ राजलदेसर चातुर्मास। आचार्यश्री ने मुझे निर्देश दिया कि तुम प्राकृत व्याकरण की प्रक्रिया तैयार करो। उस समय मैं स्वयं विद्यार्थी था। पर आचार्यवर की प्रेरणा थी। कार्य संपन्न हो गया। इसमें पंडितप्रवर रघुनंदनजी शर्मा का सहयोग मिला। इस बृहत्प्रक्रिया का नाम 'तुलसीमंजरी' रखा। इसके अध्ययन से हमारे संघ में प्राकृत भाषा की परम्परा पुष्ट हो गई।

हिन्दी का स्पर्श

हमारा विहार-स्थल बीकानेर राज्य था। वहां हिन्दी से चिढ़ थी। स्वतंत्रता आंदोलन की प्रवृत्तियों पर अंकुश था। और भी बहुत कुछ था। हम लोग भी संस्कृत या मारवाड़ी में लिखते थे। हमारे साधु दूर-दूर प्रदेशों में विहार करते थे। वि. सं. २००० की बात है। कई साधुओं ने मुझे सुझाया–'मैं 'पचीस बोल' की हिन्दी में व्याख्या लिखूं। मैंने संकोचवश उसे स्वीकार नहीं किया। बार-बार अनुरोध किया तो मैं उसे टाल नहीं सका। मैंने 'जीव-अजीव' नाम से उसकी व्याख्या लिख डाली। पर मन संकोच से भरा था, कहीं आचार्यश्री को इसका पता न लग जाए? आखिराकार एक दिन पता लग गया। उन दिनों बीकानेर राज्य की विधानसभा में चंपालालजी बांठिया ने 'बालदीक्षा निरोधक' प्रस्ताव रखा था। उससे हम सहमत नहीं थे। हमारा दृष्टिकोण स्पष्ट करने के लिए कुछ निबंध लिखने आवश्यक हुए। आचार्यश्री ने शुभकरणजी दस्सानी के सामने चर्चा की। उन्होंने और-और लेखकों के साथ मेरा नाम भी रख दिया। मैं हिन्दी में कुछ लिखता हूं, यह सुनकर आचार्यश्री को भी आश्चर्य हुआ।

मैंने 'बाल-दीक्षा और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण'–शीर्षक निबंध लिखा और उसे शुभकरणजी को दिखाया। संस्कृत से सीधा हिन्दी में लिखने लगा था। हिन्दी संस्कृत-बहुल थी। मैं हिन्दी में कविताएं भी लिखने लगा। आचार्यश्री को यह सब अज्ञात था। शुभकरणजी ने एक ही शब्द में सारी बात रख दी और मुझे जो संकोच था वह सहज ही दूर हो गया। हिन्दी में लिखने का पथ प्रशस्त हो गया।

यह उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा कि शुभकरणजी दस्सानी ने विकास की अनेक दिशाओं में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया। वे सूझ-बूझ के धनी थे। उनमें चिन्तन भी था और परामर्श देने की क्षमता भी।

कल्पना भी थी और उसे आकार देने की अर्हता भी। उन्होंने अपनी अर्हता का प्रयोग गण-विकास के लिए बड़ी तन्मयता से किया।

शिक्षा-क्रम

आचार्यश्री का स्वभाव ग्रहणशील था। वे जहां कहीं अच्छी प्रवृत्ति देखते, उसे निस्संकोच अपना लेते। एक दिन आचार्यश्री एक पत्रिका पढ़ रहे थे। उसमें रूस के शिक्षा-क्रम की जानकारी थी। आचार्यश्री के मन में सहज ही चिंतन स्फुरित हुआ—अपने यहां भी एक शिक्षा-क्रम होना चाहिए। आचार्यश्री ने उसी समय मुझे अपना मनोभाव बताया। थोड़े दिनों बाद वह तैयार हो गया। उसका नाम रखा गया—आध्यात्मिक शिक्षा-क्रम। योग्य, योग्यतर और योग्यतम—ये तीन परीक्षाएं रखी गईं। वह बनने से अगले वर्ष ही हमारी शिक्षा-पद्धति का मानदण्ड बन गया।

प्रथम बार परीक्षाएं जयपुर में हुईं। उसमें लगभग ३०-३५ साधु-साध्वियां बैठे। संस्कृत और प्राकृत पढ़ने की क्षमता जिनमें कम हो, उनके लिए एक सैद्धान्तिक शिक्षा-क्रम तैयार हुआ। समय-समय की नई-नई प्रेरणाओं ने शिक्षा का क्षेत्र विस्तीर्ण बना दिया। आचार्यश्री मानते थे—'यह सब पूज्य कालूगणी की दूरदर्शिता का परिणाम है। यदि उन्होंने हमारी शिक्षा की ओर इतना ध्यान नहीं दिया होता तो आज हम इतनी दृढ़ता के साथ युग का साथ नहीं दे पाते।' हमारा अभिमत यह है—'आचार्यश्री ने कालूगणी के संकेतों को विस्तार नहीं दिया होता तो हम इतनी दृढ़ता के साथ युग का साथ नहीं दे पाते।'

धर्मचक्र का प्रवर्तन

आज हमारे धर्मसंघ में अनेक साधु-साध्वियां, समणियां और मुमुक्षु बहिनें साहित्य सृजन, लेखन, कवित्व, शोध आदि क्षेत्रों में कार्यरत हैं। यह सब आचार्यश्री द्वारा शिक्षा-क्षेत्र में किए गए प्रयत्नों का ही परिणाम है। संघ में दीक्षित होने वाले मुमुक्षु व्यक्तियों के लिए 'ब्राह्मी विद्यापीठ महाविद्यालय' चल रहा है। वहां स्नातक कक्षा तक की पढ़ाई चल रही है। स्नातकोत्तर कक्षा की पढ़ाई पहले 'जैन विश्व भारती' और वर्तमान में जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय द्वारा कराई जाती है। दीक्षित होने के पश्चात् अध्ययन का दूसरा क्रम शुरू हो जाता है। इस प्रकार शिक्षा दीक्षा को तेजस्वी बना रही है।

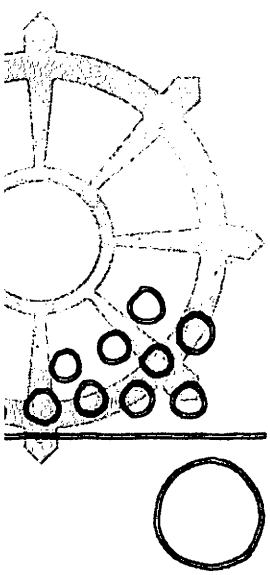

अवधान

अवधान-विद्या चित्त की एकाग्रता और स्मृति का स्फूर्त चमत्कार है। जैन परम्परा में यह दीर्घकाल से प्रचलित रही है। पहले धीरजलाल टी. सा. ने वि. सं. १९९६ बीदासर में आचार्यश्री के सामने अवधान के सौ प्रयोग प्रस्तुत किए। आचार्यश्री ने उस विद्या का संघ में प्रवेश चाहा। मुनि धनराजजी (सिरसा) ने इस क्षेत्र में पहल की। मुनि राजकरणजी ने पांच सौ, मुनि चम्पालालजी (सरदारशहर) और मुनि धर्मचन्दजी ने एक हजार और मुनि श्रीचंदजी 'कमल' ने डेढ़ हजार तक एक साथ प्रयोग किए। मुनि महेन्द्रकुमारजी (मुंबई) ने राजदूतावास के अधिकारियों तथा वैज्ञानिकों के बीच अवधान के प्रयोग किए। अवधान के कुछ प्रयोगों की रीलें जर्मनी आदि देशों में टी. वी. में प्रदर्शित की गईं।

आज हमारे संघ में तीस से अधिक साधु-साध्वियां अवधानकर हैं। महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों, विज्ञान भवन तथा बुद्धिजीवियों के बीच अवधान के अनेक बार प्रयोग किए गए। स्मृति और एकाग्रता की शक्ति तथा गणित के चमत्कार ने बौद्धिक मानस को प्रभावित किया। यह प्रयोग आध्यात्मिक साधना के प्रति आकर्षण पैदा करने का निमित्त बना और बन रहा है।

हस्तलिखित पत्रिकाएं

साधु-साध्वियों की अभ्यास वृद्धि के लिए हस्तलिखित संस्कृत मासिक पत्रिका भी निकाली गई। जयाचार्य की पावन-स्मृति में उसका नाम 'जय-ज्योति' रखा गया। तेरापंथ में संस्कृत का बीज-वपन उन्होंने किया था। इस पत्रिका ने भाषा-परिष्कार और विचार-संवर्धन में प्रशस्त योगदान दिया। दूसरा संस्कृत पत्र निकाला 'प्रयास'। आगम संपादन के संदर्भ में एषणा और अन्वेषणा पत्रिकाएं शुरू की गईं। इस प्रकार बहुमुखी प्रवृत्तियों के द्वारा आचार्यश्री ने संस्कृत कल्पतरु को शतशाखी बना दिया।

जैन मुनियों के लिए प्राकृत का अध्ययन संस्कृत से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनके सभी आगम-सूत्रों की भाषा वही है। आचार्यश्री ने उसके अध्ययन को भी प्रोत्साहित किया। आप स्वयं आचार्य हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण पूज्य कालूगणी के समय में ही पढ़ चुके थे। इस दिशा में भी विशेष प्रयत्न किए। तेरापंथ के बौद्धिक विकास में आचार्यश्री का कर्तृत्व सदा संजीवित रहेगा।

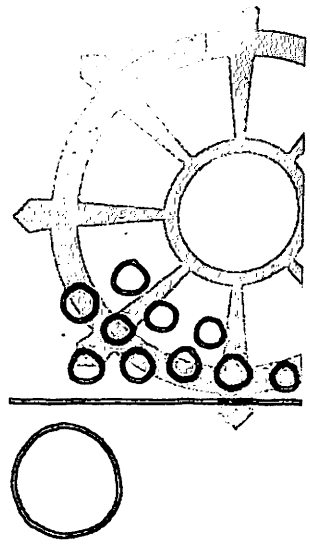

धर्मचक्र का प्रवर्तन

महान् स्वप्नद्रष्टा

भगवान् महावीर ने आचारांग में कहा–'पुरिसा परमचक्खू! विपरक्कमा'–'निर्मल ज्योति वाले पुरुष! तू पराक्रम कर।' यह हमारे जीवन की सफलता का सूत्र है। जीना एक बात है और सफल जीवन जीना दूसरी बात। जिसको श्वास मिला है वह हर प्राणी जीता है। कीड़ा-मकोड़ा, पशु-पक्षी भी जीता है। जीने का लक्षण श्वास है। मनुष्य को सोचना चाहिए कि मेरा जीवन सफल कैसे हो? जीवन में प्रगति कैसे करूं? जिस व्यक्ति में उन्नति या प्रगति करने की भावना नहीं होती वह नामधारी मनुष्य है। सफलता वह आदमी पा सकता है जो बड़े स्वप्न ले। वे लोग ही आगे बढ़े हैं जिन्होंने जीवन की किसी भी दिशा में स्वप्न लिए हैं। गहरी नींद में स्वप्न नहीं आते। जो नींद टूटती है उसमें स्वप्न आते हैं। वायुविकार और मस्तिष्क की कमजोरी से भी स्वप्न आते हैं। मैं इन स्वप्नों की बात नहीं कर रहा हूं। मैं दो महान् आत्माओं के स्वप्न की चर्चा करना चाहता हूं। प्रारंभ में भिक्षु स्वामी ने बहुत बड़ा स्वप्न लिया। सात साधुओं को लेकर ऐसी मर्यादा बनाई जो ७०० साधुओं के लिए भी उपयोगी है। उन्होंने जो व्यवस्था दी वह आज भी उपयोगी है।

फिर स्वप्न लिया कालूगणी ने। उनको आभास हुआ कि गाय के पीछे छोटे-छोटे बछड़े घूम रहे हैं। उनकी कल्पना साकार हुई। वे बछड़े काम के निकले। उनमें एक मैं भी हूं। छोटे गांव में जन्मा, थोड़ा पढ़ा-लिखा था। गांव का होने के कारण ऋजु भी था। न परीक्षा दी, न प्रगति-पत्र मिला। दीक्षित हो गया। उनके मन में स्वप्न था–छोटे-छोटे साधुओं को तैयार करना है। पढ़ाना शुरू किया। वह आज की प्रगति के बीज बोने का समय था। कालूगणी के स्वप्न ने आकार लिया। किसी भी महापुरुष का स्वप्न खाली नहीं जाता। कोई दस वर्ष पहले पूरा होता है, कोई दस वर्ष बाद। वे एक-एक व्यक्ति को तैयार करने में ध्यान रखते थे। सब साधु यह समझते कि कालूगणी ने मेरे पर ज्यादा मेहनत की और मेरे पर अधिक कृपा रही। वे बाल-साधुओं को ललकारते भी थे और पुचकारते भी। उनकी भावना थी, आदमी को तैयार करना है। मुनि तुलसी से 'गणरत्नमहोदधि' कंठस्थ कराया। साधुओं ने पूछा–'इसकी उपयोगिता क्या है?' आप फरमाते–'तुम नहीं जानते।'

कालूगणी ने एक दिन मुझसे पूछा–'धातुकोष सीखा या नहीं?' मैंने कहा–'नहीं।' उन्होंने कहा–'तो अभी शुरू करो और (प्राकृत का) आठवां अध्याय भी शुरू करो।' उस समय उपयोगिता कम नजर

आ रही थी। उस समय प्राकृत का अध्ययन नहीं होता तो हम आगम का कार्य हाथ में नहीं ले पाते। 'प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार' का चुनाव कालूगणी ने ही किया। बीज बोने के समय कैसे आशा करें कि फल मिल जाए? उनके मन में कल्पनाएं थीं, वे सारी सफल हुई।

एक बड़ा स्वप्न लिया आचार्य तुलसी ने। छापर चातुर्मास में कहते–'दूर देशों में जाना है। लोग संपर्क में आएंगे। पहले से तैयारी होनी चाहिए।' बैरिस्टर डालमचंदजी सेठिया मेरे पास आए और कहा–'धर्माचार्य बड़ी-बड़ी कल्पना करते हैं। जीवन में होने वाली बात न कर कहां की सोचते हैं? जैनों में तेरापंथ का नाम भी नहीं है।'

आचार्यश्री ने जो स्वप्न लिए वे दस वर्ष बाद साकार होने लगे। किसने कल्पना की थी कि हमारे ग्रंथ विद्वानों के हाथों में जाएंगे। उन पर पीएच.डी. होगी। लोगों से संपर्क होगा। आज भिक्षु साहित्य पर अनेक महानिबन्ध लिखे जा चुके हैं। साधु-साध्वियों और समणियों द्वारा लिखे गए ग्रंथ भी बहुत हैं। कहां था हमारा संपर्क और कहां था हमारा साहित्य? इस स्थिति का निर्माण क्यों हुआ? एक स्वप्न के कारण।

पूना शहर गए, जो पुराने पंडितों का गढ़ माना जाता है, वहां वाग्वर्धनी सभा में आचार्यश्री का प्रवचन हुआ। फिर मुझे आशु कविता के लिए कहा गया। विषय दिया–

समयज्ञापकं यंत्रं, नव्यानां करभूषणम्।
स्रग्धराछंदमालम्ब्य, वर्ण्यतां मुनिपुंगव!॥

मैंने आशु कविता की। फिर तो पूना के विद्वानों की मांग आने लगी। पहले स्थिति यह थी कि कार्यकर्ता जब पूना गए तो जैन भाइयों ने कहा–'आप जैन लोगों में ही प्रोग्राम रखिए। सार्वजनिक प्रोग्राम में जैन लोग टिक नहीं पाएंगे तो अच्छा नहीं होगा। यहां पंडितों का जोर है। आप थोड़े दिन ठहर कर अपने भाइयों में ही प्रोग्राम रख लीजिए।'

आचार्यश्री ने कहा–'यह मेरी प्रकृति के प्रतिकूल है, चहारदीवारी में बैठना मुझे नहीं आता।'

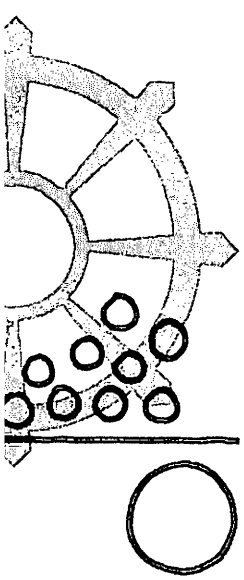

आचार्यश्री नौ दिन पूना ठहरे, तीस प्रोग्राम हुए। उन विद्वानों के बीच हुए जिनसे जैन भाई घबराते थे। यह क्यों हुआ? आचार्यश्री के स्वप्न के कारण ही।

मुंबई में भी एक कॉलेज में प्रोग्राम था। संस्कृत का कार्यक्रम था। पहले जब हम गए तो वे वेश-भूषा देखकर हंसने लगे। जब भाषण सुना तो वे प्रभावित हुए। एक प्रोफेसर मेरे पास आए और पूछा–'आपने किस विश्वविद्यालय में अध्ययन किया है।'

मैंने कहा–'तुलसी विश्वविद्यालय में।'

प्रोफेसर–'हिन्दुस्तान में है या बाहर?'

मैंने कहा–'आचार्यश्री के साथ चलता-फिरता विश्वविद्यालय है।'

बनारस के पंडितों के बीच भी प्रोग्राम हुआ। उन लोगों को भी आश्चर्य हुआ।

जीवन की सफलता के लिए स्वप्न लेना चाहिए। धार्मिक लोग निराश हो जाते हैं, क्योंकि उनके मन में निवृत्ति की धारणा जम गई है। जीवन के विकास में संतोष क्यों कर लेते हैं? हमारा आदर्श है–अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत आनन्द और अनंत शक्ति। क्या हम शक्तिहीन होकर कोने में बैठ जाएं? क्या हम

ज्ञानहीन होकर कोने में बैठ जाएं? यह आदर्श के प्रतिकूल है। हमारे पैर निरन्तर आगे बढ़ने चाहिए। दुर्बल होकर जीना इस दुनिया में कोई जीना नहीं है। डार्विन ने कहा–'इस दुनिया में वही जीने का अधिकारी है जो शक्तिशाली है।' विवेकानन्द ने कहा–'प्रयत्न करो, असफल होने पर फिर प्रयत्न करो। हजार बार प्रयत्न करने पर सफलता न मिले तो भी एक हजार एकवीं बार फिर करो।'

यहां होता क्या है? काम प्रारंभ किया, एक बार असफल होने पर उसे छोड़ देते हैं। यह चिंतन का दोष है। हर व्यक्ति सफलता की ओर झांकता है, असफलता कोई नहीं चाहता। जीवन की सफलता का महान् सूत्र है–पुरुषार्थ करना, निष्क्रिय होकर न बैठना। पहले ज्ञान और दृष्टि साफ करें, फिर पुरुषार्थ करें। कोरा काम करें और दृष्टि साफ न हो तो सफलता नहीं मिलती। दृष्टि साफ हो और काम न हो तो भी सफलता नहीं मिलती।

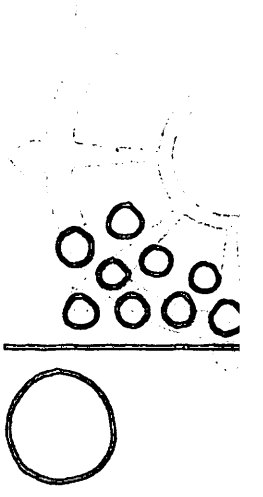

धर्मचक्र का प्रवर्तन

प्रवेश एक नए क्षितिज में

आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ का प्रवर्तन किया। उन्होंने अहिंसा की व्याख्या साध्य और साधन की एकरूपता के आधार पर की। उस व्याख्या के कुछ फलितों में गहराई आ जाती है। गहराई में गोता न लगाने वाले लोगों ने आचार्य भिक्षु द्वारा प्रतिपादित अहिंसा के सिद्धान्त को तोड़-मरोड़कर जनता के सामने प्रस्तुत किया। उसको तेरापंथ के प्रति घृणा फैलाने का एक माध्यम बना लिया। लम्बे समय से यह चक्रव्यूह चल रहा था। आचार्यश्री के मन में इस चक्रव्यूह को तोड़ने का संकल्प जगा।

आपने अहिंसा के प्रतिपादन की शैली में परिवर्तन शुरू किया। यह घटना विक्रम संवत् १९९९ की है। उस समय आप चूरू और झुंझुनूं जिले के गांवों में विहार कर रहे थे। वह शैली युगीन थी। मुझे वह बहुत आकर्षक लगी। मैं प्रतिदिन व्याख्यान में जाता और आचार्यश्री के नई शैली में प्रस्फुटित विचारों को संकलित कर लेता। उसके आधार पर मैंने 'अहिंसा और उसके विचारक' पुस्तक लिखी। उन्हीं दिनों आपने जैन दर्शन के विद्यार्थियों के लिए 'जैन सिद्धान्त दीपिका' की संस्कृत सूत्रशैली में रचना की। उसमें एक अध्याय आचार्य भिक्षु की अहिंसा के सिद्धान्त का है। इस नई शैली से आचार्य भिक्षु के अहिंसा सिद्धांत को दार्शनिक रूप मिल गया।

अशान्त विश्व को शांति का संदेश

द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हो गया। उसके अवशेष समाप्त नहीं हुए। सारा संसार अशांति का अनुभव कर रहा था। मानसिक तनाव ताप पैदा कर रहा था। उस समय धर्म के लोग आगे आए। उन्होंने लंदन में विश्वधर्म सम्मेलन की आयोजना की। उद्देश्य था पुनः शांति की स्थापना। आचार्यश्री ने उस अवसर पर एक संदेश दिया। उसका शीर्षक था–'अशांत विश्व को शांति का संदेश[1]। उस विश्वधर्म सम्मेलन में भाग लेने वालों ने उसे बहुत महत्त्वपूर्ण माना।

'अशान्त विश्व को शान्ति का संदेश' यह आपका पहला संदेश था। द्वितीय महासमर की भीषण लपटों से झुलसे हुए संसार ने इसका हार्दिक स्वागत किया। देश और विदेश में सब जगह अच्छी प्रतिक्रिया हुई। महात्मा गांधी ने 'संदेश' की पुस्तिका पर कई जगह टिप्पणियां लिखीं। शान्ति-संदेश दिनांक २२.६.१९४५ के

१. २२ जून, १९४५ वि. सं. २००१ आषाढ़ कृष्णा ४, देखें 'आचार्यश्री तुलसी के अमर संदेश', पृ. १९-२३।

दिन दिया गया था परन्तु प्रकाशित काफी लम्बे समय के बाद हुआ इसलिए भूमिका के पृष्ठ पर महात्माजी ने लिखा–'ऐसे सन्देश निकालने में देरी क्यों?' विश्व शांति के उपायों का निर्देश करते हुए 'सम्यक्त्व' का जिक्र किया गया है। उसके बारे में पृष्ठ ११ पर महात्माजी ने लिखा–'क्या इस सम्यक्त्व का प्रचार किया गया?' पृष्ठ २१ पर विश्व-शांति के सार्वभौम उपायों का निर्देश करते हुए नौ बातें बतलाई गई हैं, इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा–'क्या ही अच्छा होता कि दुनिया इस महापुरुष के इन नियमों को मानकर चलती।'

न्यूयार्क के साइरेक्यूज विश्वविद्यालय के डॉ. रेमण्ड एफ. पीपर ने एक पत्र में लिखा कि उन्होंने तुलनात्मक अध्ययन के लिए अपने छात्रों के पाठ्यक्रम में जैन तेरापंथ के नवमाचार्य तुलसी द्वारा गत २२ जून, १९४५ को दिए गए प्रवचन 'अशांत विश्व को शांति का संदेश' के महत्त्वपूर्ण अंशों को सम्मिलित कर लिया है।

मानवीय समस्याओं को सुलझाने के लिए धर्म का उपयोग हो सकता है, इस दिशा में चिंतन का सूत्रपात हो गया। विचार-विनिमय की शृंखला निरंतर आगे बढ़ती रही। प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में आयोजित एशियाई कॉन्फ्रेन्स में आपने आदर्श राज्य की परिकल्पना प्रस्तुत की।[1]

अहमदाबाद में आयोजित धर्म परिषद् के अवसर पर आपने 'धर्म सन्देश' शीर्षक के माध्यम से अपने विचार प्रस्तुत किए।[2]

सरोजिनी नायडू की अध्यक्षता में आयोजित विश्व धर्म सम्मेलन में 'धर्म रहस्य' विषय पर आपके विचार पढ़े गए।[3]

प्रार्थना और वंदना

तेरापंथ के छठे आचार्य माणकगणी ने प्रार्थना चालू की। उससे पूर्व प्रार्थना करने की पद्धति प्रचलित नहीं थी। दोनों संध्याओं में प्रतिक्रमण किया जाता है। उसके साथ स्तव-स्तुति मंगल होता है। वह सहज प्रार्थना हो जाती है। माणकगणी ने प्रतिक्रमण समय से अतिरिक्त प्रार्थना का प्रयोग शुरू किया। वह थोड़े समय तक चला फिर बंद हो गया।

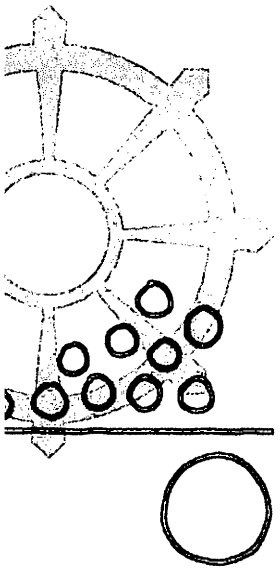

आचार्यश्री ने (वि. सं. २००१) उसे फिर से चालू किया। प्रारंभ बीदासर में हुआ। 'जय-जय-जय त्रिभुवन अभिनंदन त्रिशला नंदन तीर्थपते' यह था सबसे पहला संगान। फिर जयपुर चातुर्मास (वि. सं. २००६) से 'महावीर प्रभु के चरणों में श्रद्धा के कुसुम चढ़ाएं हम' प्रार्थना के ये स्वर प्रिय बने। दक्षिण यात्रा में प्रार्थना को वंदना का रूप मिल गया। आज वह अर्हत् वंदना के नाम से प्रसिद्ध है। प्रातः और सायंकाल दोनों समय वह की जाती है।

आदर्श साहित्य संघ की स्थापना

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा तेरापंथ की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था थी। नए युग में प्रवेश का पहला चरण बना आदर्श साहित्य संघ। सन् १९४६ में इसकी स्थापना हुई। इसके संस्थापकों में

१. ता. २३.३.१९४७, देखें 'आचार्यश्री तुलसी के अमर संदेश', पृ. ३४-४२।

२. हिन्दी तत्त्वज्ञान प्रचारक समिति, अहमदाबाद द्वारा ता. ११.३.१९४७ को आयोजित। देखें 'आचार्यश्री तुलसी के अमर संदेश', पृ. ४३-५६।

३. ता. २१.३.१९४७, देखें 'आचार्यश्री तुलसी के अमर संदेश', पृ. ५७-७४।

प्रमुख थे–जयचंदलालजी दफ्तरी, सुगनचंदजी आंचलिया, देवेन्द्रकुमार कर्णावट, हणूतमलजी सुराणा और मोहनलालजी कठोतिया। शुभकरणजी दस्साणी इसके साहित्य मंत्री बने। छगनलालजी शास्त्री इसके कार्यालय व्यवस्थापक थे। इसने साहित्य प्रकाशन का कार्य शुरू किया। 'जनपथ' नाम के मासिक-पत्र का प्रकाशन भी हुआ। उसका संपादन मूलचंद सेठिया ने किया।

तेरापंथ के वातावरण में प्राचीन परम्पराओं, विचारों और मूल्यों की अधिक प्रतिष्ठा थी। आदर्श साहित्य संघ की स्थापना, साहित्य का प्रकाशन और प्रचार-प्रसार एक नई घटना थी। इसके विषय में अनेक ऊहापोह खड़े हुए। अनेक बार महासभा में इसके विलीनीकरण की चर्चा चली। किसी भी नई घटना को सहजतया मान्यता नहीं मिलती। इसका आंखों देखा सच है–आदर्श साहित्य संघ। इसका शिविर कार्यालय निरन्तर वर्तमान आचार्य के साथ रहता है। वह विज्ञप्ति के प्रकाशन और पत्राचार के माध्यम से संपर्क-सूत्र का काम करता है। साहित्य, अणुव्रत यात्रा और अणुव्रत प्रसार–इन सब कार्यों में इस संस्था की महत्त्वपूर्ण सेवाएं रही हैं। आचार्यश्री के विचार-प्रसार में इसका उल्लेखनीय योगदान रहा है।

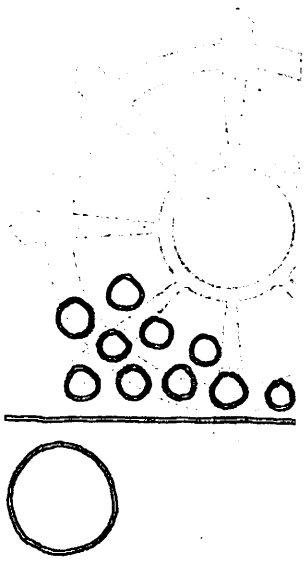

धर्मचक्र का प्रवर्तन

मेरा पंथ

आचार्यश्री की पहचान पहले केवल तेरापंथ के आचार्य के रूप में थी फिर अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक के रूप में हुई। आचार्यश्री के व्यक्तित्व की जिज्ञासा ने तेरापंथ के प्रति जिज्ञासा को जन्म दिया।

आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ नाम की व्याख्या की थी–'हे प्रभो! यह तेरा पंथ। आचार्य तुलसी ने इसके साथ एक व्याख्या और जोड़ दी–'मानव! यह तेरा पंथ।' ये दोनों व्याख्याएं बड़ी हृदयग्राह्य हुईं। लोकसभा के अध्यक्ष अनन्त शयनम् आयंगर ने तेरापंथ की व्याख्या सुनते ही कहा–'यह तेरा नहीं है, यह है मेरा पंथ।'

डॉ. मोहनसिंह इस नाम पर झूम उठे। उन्होंने लिखा–'मुझे तेरापंथ का नाम बहुत प्रिय है। वास्तव में नाम ही किसी संस्था का प्राण हुआ करता है। एक बार गुरु नानकदेव ऐसे ध्यानमग्न हुए कि एक-दो गिनते-गिनते तेरह तक आए और अपने को सर्वथा भूल गए। वास्तव में नाम में बड़ी शक्ति है। क्राइस्ट का वास्तविक नाम जीसस था। क्राइस्ट का अर्थ है–तपस्या पर विजय पाने वाला। मुझे तेरापंथ नाम से मस्ती छा गई।'

तेरापंथ की व्याख्या

आचार्यश्री कहते–'मनुष्य सबसे पहले मनुष्य है, फिर वह और-और है। कार्य-विभाजन की दृष्टि से क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य आदि है; भौगोलिक दृष्टि से भारतीय और अभारतीय है; संप्रदाय की दृष्टि से जैन, बौद्ध, वैष्णव आदि है।' आचार्यश्री दीक्षा की दृष्टि से तेरापंथ कै आचार्य थे। चरित्रोपासना की दृष्टि से वे अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक थे। श्रुतोपासना की दृष्टि से वे कवि और वक्ता थे। साम्य-योग की दृष्टि से वे केवल धर्माचार्य थे। अनुशासन की दृष्टि से वे शास्ता थे। तेरापंथ के प्रति उनकी आस्था के पीछे ये ही तत्त्व कार्य कर रहे थे। जहां चरित्रोपासना, श्रुतोपासना, साम्ययोग और अनुशासन–ये चार तत्त्व थे वहीं उनका तेरापंथ था। और जहां वे नहीं थे वहां उनका तेरापंथ नहीं था।

तेरापंथ और आचार्यश्री की व्याप्ति

जनसाधारण की दृष्टि से तेरापंथ कोरा संप्रदाय है। आचार्यश्री की दृष्टि में तेरापंथ धर्म-शक्ति का अविरल स्रोत है। उसका आत्मकेन्द्रित अनुशासन सचमुच अचरज की वस्तु है। उसका साम्ययोग उसके

असाम्प्रदायिक रूप की परिणति है। उसके अनुसार सत्य दो नहीं हैं और उसकी उपलब्धि के साधन भी दो नहीं हैं। अमृत-तत्त्व की आराधना करने वाले सब धार्मिक हैं, अविभक्त हैं, भले फिर वे संप्रदाय के नाम से विभक्त हों। इस व्यापक दृष्टिकोण ने ही आचार्यश्री को सबसे पहले तेरापंथ का आचार्य बना रखा था और इसी दृष्टिकोण ने उन्हें अणुव्रत-आंदोलन का प्रवर्तक बनाया। तेरापंथ को पाकर आचार्यश्री तुलसी और आचार्यश्री तुलसी को पाकर तेरापंथ गौरवान्वित हुआ। भारत के सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति श्री वी. पी. सिन्हा ने जैसे कहा–'मेरी समझ में तेरापंथ की सबसे बड़ी देन आचार्यश्री तुलसी हैं, जिन्होंने ठीक समय पर सारे देश में नैतिक जागरण का शंख फूंका है।'

आचार्यश्री के माध्यम से असंख्य व्यक्तियों ने तेरापंथ को समझा। मैं भी उन्हीं में से एक हूं। तेरापंथ के माध्यम से आचार्यश्री को कितनों ने समझा, मैं नहीं कह सकता।

अनुशासन और व्यवस्था

तेरापंथ का विकास अनुशासन और व्यवस्था के आधार पर हुआ है। साधना के क्षेत्र में बल-प्रयोग के लिए कोई स्थान नहीं है। जो होता है वह हृदय की पूर्ण स्वतंत्रता से होता है। आचार्य अनुशासन व व्यवस्था देते हैं, समूचा संघ उसका पालन करता है। उसके माध्यम में श्रद्धा के अतिरिक्त दूसरी कोई शक्ति नहीं है।

आचार्यश्री तुलसी के शब्दों में 'श्रद्धा और विनय हमारे जीवन-मंत्र हैं। आज के बौद्धिक जगत् में इन दोनों के प्रति तुच्छता का भाव पनप रहा है। वह अकारण भी नहीं है। बड़ों में छोटों के प्रति वात्सल्य नहीं है। बड़े लोग छोटे लोगों को अपने अधीन ही रखना चाहते हैं। इस मानसिक द्वन्द्व में बुद्धिवाद अश्रद्धा और अविनय की ओर मुड़ जाता है। हमारा जगत् आध्यात्मिक है। उसमें छोटे-बड़े का कृत्रिम भेद है ही नहीं। अहिंसा सबका धर्म है। उसकी सीमा में प्रेम और वात्सल्य के सिवाय और है ही क्या? जहां अहिंसा है, वहां पराधीनता हो नहीं सकती। आचार्य शिष्य को अपने अधीन नहीं रखते। किन्तु शिष्य अपने हित के लिए आचार्य के अधीन रहना चाहता है।'

धर्मचक्र का प्रवर्तन

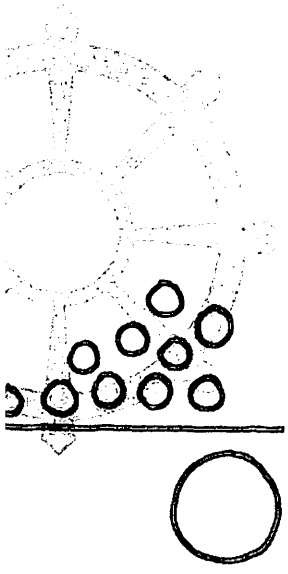

तेरापंथ के प्रवर्तक आचार्य भिक्षु ने व्यवस्था के लिए जो समता का सूत्र दिया, वह समाजवाद का विकसित प्रयोग है। साधु-संघ में सबके सब श्रमिक हैं और सबके सब पंडित। हाथ, पैर और मस्तिष्क में अलगाव नहीं है। सामुदायिक कार्यों का संविभाग होता है। एक रोटी के चार टुकड़े हो जाते हैं, यदि खाने वाले चार हों तो। एक सेर पानी पाव-पाव कर चार भागों में बंट जाता है, यदि पीने वाले चार हों तो।

तेरापंथ का यह स्वरूप सार्ध द्वि-शताब्दी पुराना है। जनता को इसका परिचय नहीं मिला था, इसलिए उसे आधुनिकतम लगा और यह जान कर आश्चर्य हुआ कि यह व्यवस्था सार्ध द्वि-शताब्दी पार कर रही है। जयप्रकाश नारायण जयपुर में आचार्यश्री से पहली बार मिले। आचार्यश्री ने उन्हें संघीय व्यवस्था का परिचय दिया तो वे झूम उठे। उन्होंने कहा–'आपके यहां तो सवा सोलह आना समाजवाद है। हम जो लाना चाहते हैं वह आपके यहां शताब्दियों पहले आ चुका है। एक के लिए सब और सबके लिए एक का सिद्धान्त तो समाजवाद का ही सिद्धान्त है। तेरापंथ साधु-संस्था का संगठन बहुत ही कठिन समाजवादी सिद्धान्तों के आधार पर निर्मित हुआ है। हिन्दू और जैन धर्म में जो अन्यान्य संस्थाएं हैं उनके पास बड़े-बड़े मठ और असंख्य धन-वैभव है। उनकी तुलना में यह संस्था बहुत ही उच्चकोटि की है। परन्तु साधु-संस्था के इन उत्कृष्ट सिद्धान्तों को गृहस्थ जीवन में भी लागू करना चाहते हैं। न्याय और समता के आधार पर हमें

'बहुजनहिताय' समाज व्यवस्था करनी है और इस कार्य में आशा है कि आचार्यश्री का आशीर्वाद हमारे साथ रहेगा।'

तेरापंथ के अंतस्तल में क्रांति के जो बीज छिपे पड़े थे, वे जनता की दृष्टि में अंकुरित होने लगे। आचार्यश्री को एक क्रान्तदर्शी के रूप में पहचाना जाने लगा। कुछ विचार उन्हें तेरापंथ की परम्परा से मिले थे और कुछ उन्होंने स्वयं अर्जित किए थे। परम्परा-लब्ध विचारों ने उन्हें यशस्वी बनाया तो स्वयं-प्राप्त विचारों ने तेरापंथ को यशस्वी बनाया।

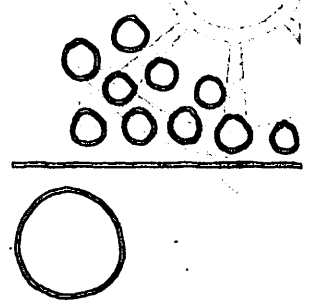

संघ व्यवस्था का प्रतीक : मर्यादा-महोत्सव

संघ सिद्धांतों का प्रतिबिम्ब होता है। उनकी विशालता उसी से नापी जाती है। तेरापंथ के विनम्र व हृदय-प्रेरित अनुशासन और आचार्य-केन्द्रित व्यवस्था सचमुच आश्चर्य की वस्तु है। उसका प्रतीक है–मर्यादा-महोत्सव। वह माघ शुक्ला सप्तमी को मनाया जाता है। आचार्य उस दिन आचार्य भिक्षु की मर्यादावलि का वाचन करते हैं। साधु-साध्वीगण पंक्तिबद्ध खड़े हो उसे दोहराते हैं और अपनी सहर्ष स्वीकृति प्रकट करते हैं।

कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को चातुर्मास समाप्त होता है। उस समय साधु-साध्वीगण, जहां आचार्य होते हैं, उस ओर विहार कर देते हैं। वे बीच में विशेष परिस्थिति के बिना एक गांव में दो रात नहीं रहते। अविच्छिन्न पाद-विहार करके वे आचार्य के पास आ जाते हैं। आगमन के प्रथम क्षण में जो 'सिंघाड़ा' के प्रमुख होते हैं, वे पुस्तकों को, अपने सहयोगी साधु-साध्वियों और अपने आपको आचार्यश्री के चरणों में समर्पित करते हैं। समर्पण की भाषा यह होती है–'गुरुदेव! ये पुस्तकें, ये साधु-साध्वियां और मैं–सब आपकी सेवा में प्रस्तुत हैं। आप जहां रखेंगे वहीं हम रहेंगे।' इस समर्पण के बाद ही वे अन्न-जल ग्रहण करते हैं। तीन दिन के भीतर-भीतर वे अपना लिखित वार्षिक विवरण आचार्य के सामने प्रस्तुत करते हैं। विवरण-पत्रों को आचार्य स्वयं पढ़ते हैं। उसके बारे में जो निर्देश देने हों, वे देते हैं। प्रत्येक सिंघाड़े की चर्या और रहन-सहन का मौखिक विवरण सुनते हैं।

शिशिर ऋतु जनता के लिए शरीर-पोषण का, तेरापंथ के लिए ऐक्य-पोषण का और आचार्य के लिए श्रम का समय है। वसन्त पंचमी से आगामी वर्ष की व्यवस्था का प्रारंभ होता है। वह दृश्य बड़ा मनोहारी होता है जब आचार्य 'सिंघाड़े' के अग्रणियों को आगामी वर्ष के विहार का निर्देश देते जाते हैं और वे करबद्ध खड़े हो, उसे स्वीकार करते जाते हैं। विनय और वात्सल्य का ऐसा अनुपम दृश्य इस युग में सहज-सुलभ नहीं।

उन दिनों आचार्यश्री राजलदेसर में थे। पेरिस विश्वविद्यालय के संस्कृत प्राध्यापक लुई रेन्यू और डॉ. सूर्यकान्त एम.ए., डी.लिट्, एम.फिल. वहां आए। उन्होंने महोत्सव देखा। अगले वर्ष के विहार निर्देश का उल्लेख करते हुए डॉ. सूर्यकान्त ने लिखा–'तीन घंटे के कार्यक्रम के बाद आचार्यश्री ने साधु-साध्वियों के छोटे-छोटे संघ निर्धारित किए। उन्हें भारत के कोने-कोने में पाद-विहार करने का आदेश दिया। ऐसे ही संघों ने बौद्ध-धर्म को भारत के बाहर प्रतिष्ठित किया था। ऐसे ही संघों ने जैन-धर्म की भारत में दुंदुभि बजाई थी। सैकड़ों वर्षों के बाद फिर से अहिंसा के पुजारियों ने अहिंसा प्रतिष्ठापना का संकल्प किया है और अशान्त संसार को शान्ति का संदेश देने का आयोजन किया है।'

त्रिवेणी-संगम

तेरापंथ में श्रद्धा, बुद्धि और कला–तीनों को मान्यता प्राप्त है। अपने लिए जहां श्रद्धा प्रधान होती है वहां दूसरों के लिए बुद्धि प्रधान होती है। बुद्धि का प्रयोग केवल दूसरों को प्रभावित करने के लिए नहीं होना चाहिए तो श्रद्धा को दूसरों के सामने अवगुंठित ही नहीं रखना चाहिए। तेरापंथ के प्रति आचार्यश्री का दृष्टिकोण जितना श्रद्धाशील था, उतना ही विवेचक था। इसलिए वे प्रत्येक तथ्य को विवेचन के साथ प्रस्तुत करते थे। उन दिनों अलगूराय शास्त्री उत्तरप्रदेश कांग्रेस के उपाध्यक्ष और केन्द्रीय विधान परिषद् के सदस्य थे। उन्होंने आचार्यश्री के सान्निध्य में तेरापंथ को पढ़ा और जो समझा, उसे इस रूप में प्रस्तुत किया–

'मैंने तेरापंथ साधुओं के अनेक कलापूर्ण काम देखे। जैन-दर्शन के विषय में मैंने पहले ही से कुछ सुन रखा था और करीब २० वर्षों से जैन-धर्म की गंभीरता से पूर्ण प्रभावित हूं। कितना बड़ा पांडित्य हमें यहां देखने को मिला, इसका वर्णन करना असंभव-सा है।'

'मैं एक वैज्ञानिक समाज को मानने वाला व्यक्ति हूं। प्रत्येक बात को वैज्ञानिक ढंग से देखता हूं। आचार्यश्री की आत्मा कितनी ऊंची है। वे व्यवहार की बात करके भी परमार्थ की ओर जाते हैं। अपने आदर्श से नीचे बिलकुल नहीं उतरते, इसका मैंने पूर्ण अनुभव किया है।'

प्रो. तान-युन शान चीन भवन (शांतिनिकेतन) के अध्यक्ष थे। वे कई बार तेरापंथ को निकटता से देख चुके थे। जयपुर में वे आचार्यश्री के सान्निध्य में आए तब उन्होंने लिखा था–'मैं जयपुर में अब से ५ वर्ष पूर्व भी आया था और अब दूसरी बार श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथ के आचार्यश्री के दर्शनार्थ आया हूं। मुझे यहां की सुन्दर सड़कों, चौड़े रास्तों व खूबसूरत इमारतों ने आकर्षित नहीं किया, बल्कि आचार्यश्री तुलसीगणी के सदाचारयुक्त महान् कार्यों ने अत्यन्त प्रभावित किया।'

'श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथ संप्रदाय के साधु बड़ी कठिन तपस्या का जीवन बिताते हैं। उनका जीवन परम पवित्र और सरल है। जहां तक मैं जानता हूं, मैंने किसी भी धर्म के अनुयायियों को इतनी कठिन प्रतिज्ञाओं का पालन करते नहीं देखा। इस संप्रदाय के साधु-साध्वी कला-कार्य में भी स्तुत्य हैं। भिक्षापात्र, हस्तलिखित धर्मग्रंथ, रजोहरण आदि कलामय वस्तुओं को देखकर व्यवसायी कलाकारों को भी नतमस्तक होना पड़ता है।'

अर्थ से अलिप्त

राजघाट पर आचार्यश्री और विनोबा भावे के बीच वार्तालाप हुआ। जैनेन्द्रकुमारजी भी वहीं थे। उन्होंने तेरापंथ का परिचय देते हुए विनोबाजी से कहा–'यह एक बहुत बड़ी शक्ति है। साधुओं और श्रावकों का बड़ा भारी बल है। विशेष बात यह है कि पूंजी इनके पैरों में लुठती है। ये पूंजी के पीछे नहीं हैं।' विनोबाजी ने कहा–'यही होना चाहिए। महात्मा गांधी भी इस प्रवृत्ति को पसन्द करते थे।'

महान् दार्शनिक का पथ

उन दिनों डॉ. सतकोड़ी मुखर्जी कोलकाता विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग के अध्यक्ष थे। दिल्ली में मिले। उन्हें तेरापंथ के मंतव्य बताए। वे बोले–'आचार्य भिक्षु मारवाड़ में पैदा हुए। यदि वे जर्मनी में पैदा हुए होते तो वे जर्मन दार्शनिक काण्ट से कम विश्रुत नहीं होते।' तेरापंथ उन्हीं आचार्य भिक्षु का राजपथ है।

हृदय-परिवर्तन

उन दिनों डॉ. राजेन्द्रप्रसाद विधान परिषद् के अध्यक्ष थे। जयपुर में आचार्यश्री से मिलने आए। वार्तालाप के प्रसंग में आचार्यश्री ने हृदय-परिवर्तन के सिद्धांत को स्पष्ट करते हुए कहा–'बलात् या प्रलोभनवश जीव-वध रोकना अहिंसा नहीं है। अहिंसा तो व्यक्ति का हृदय बदलने पर ही होती है।' राजेन्द्र बाबू ने कहा–'एक बार गांधीजी के सामने भी ऐसा प्रसंग आया था। गाय की रक्षा को लेकर हिन्दू-मुसलमानों में लड़ाई हो जाती थी। कभी-कभी हिन्दू गो को बचाने के लिए मुसलमानों को मार भी डालते थे। इस पर गांधीजी ने कहा–'गोरक्षा का यह सही मार्ग नहीं है। मुसलमानों का हृदय-परिवर्तन करो, जिससे गऊओं को मारने की भावना ही उनमें न उठे। मनुष्य को मार कर यदि गाय को बचाया तो क्या रक्षा हुई?'

अहिंसा की आराधना

डॉ. एफ. डब्ल्यू. टामस जैन-दर्शन की जानकारी के लिए आचार्यश्री के पास आए। कई दिन रहे। उन्होंने जाते समय कहा–'बीदासर में तेरापंथ समाज से मिलकर, आचार्यश्री के दर्शन का सौभाग्य पाकर, इतने विद्वान् व विनीत साधु-साध्वियों से मिलकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। साधु और साध्वियों की धर्म पर दृढ़ आस्था, सत्यनिष्ठा, गृहस्थों का भक्तिभाव विसंवाद रहित है। तेरापंथी-गण जैन धर्म के त्याग-वैराग्य का संपूर्ण पालन करता है और वह सांसारिक कार्यों से निर्लिप्त रहता है। इसलिए उस पर दूसरों के प्रति संवेदना-राहित्य के आक्षेप का अवसर मिलता है। किन्तु उनके अहिंसा के महान् सिद्धांत और कार्यकारी दयालुता व मैत्रीभाव से यह आक्षेप सर्वथा निर्मूल हो जाता है।'

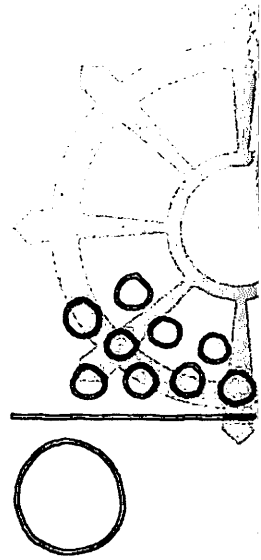

तेरापंथ के सिद्धांत से वे लोग सहमत नहीं होते जो कोरे संवेदनशील होते हैं। जिनमें संवेदनशीलता के साथ-साथ यथार्थता का भाव होता है और जिन्हें मोक्ष के अस्तित्व में आस्था होती है, उसके स्वभाव का ज्ञान होता है, वे पूर्ण सहमत न भी हों परन्तु पूर्ण असहमत भी नहीं होते। अहिंसा और संयम के विशुद्ध दृष्टिकोण ने अनेक विद्वानों को प्रभावित किया। धर्म और कर्तव्य एक ही नहीं है–इस व्याख्या ने अनेक विचारकों के सम्मुख विचार-सामग्री प्रस्तुत की।

करवट

शाश्वत सत्यों के विषय में तेरापंथ का दृष्टिकोण बहुत ही स्पष्ट रहा। सामयिक स्थितियों में उसका साधु समाज प्रभावित नहीं हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। वि.सं. २००० तक आचार्यश्री भी युग को सही रूप में नहीं आंक पाए थे। उसका पहला कारण था–उनका विहार-क्षेत्र बहुत सीमित था। दूसरा कारण था–अध्ययन के विषय सीमित थे। विचारों का संगम बहुत कम था। तीसरा कारण था–अध्यात्म की भावना को जीवित रखने के लिए कितनी क्षमता अर्जित करनी चाहिए, इस ओर चिंतन स्फुरित ही नहीं हुआ था। आचार्यश्री ने यकायक करवट ली तो सब लोग आश्चर्यचकित रह गए। जिनकी दृष्टि में तेरापंथ सर्वाधिक प्रतिगामी संप्रदाय था, वह उन्हीं की दृष्टि में सर्वाधिक प्रगतिशील बन गया। दस वर्ष पहले तक अनेक जैन लोग तेरापंथ का जैन संप्रदाय के रूप में उल्लेख करते हुए सकुचाते थे। वे दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी–इन्हीं तीनों में सबका समावेश कर देते थे। किंतु जैसे-जैसे लोगों को इसका परिचय मिला, वैसे-वैसे उनका आग्रह टूटता गया। अब वे तेरापंथ के अस्तित्व को स्वीकार करने में अनुदार नहीं रहे।

जो नहीं जानते थे कि तेरापंथ क्या है, तब तक उनके लिए वह अच्छा भी नहीं था और बुरा भी नहीं था। अच्छाई या बुराई का भाव परिचय से प्राप्त होता है। आचार्यश्री के प्रयत्नों से जैसे-जैसे तेरापंथ प्रकाश में आया, परिचय बढ़ा, वैसे-वैसे वह कसौटी पर चढ़ा। किसी ने उसकी अच्छाइयों को पकड़ा, किसी ने खामियों को और किसी ने दोनों को। जो अनुरक्त होता है वह केवल अच्छाइयों को पकड़ता है। जो द्विष्ट होता है वह केवल खामियों को पकड़ता है और जो मध्यस्थ होता है वह दोनों को पकड़ता है।

संस्थान जो होता है, वह ऐसा नहीं होता कि उसमें केवल खामियां ही हों या केवल अच्छाइयां ही हों। मात्रा-भेद से कहा जाता है–यह अच्छा है, यह बुरा है।

आचार्य भिक्षु ने जो धर्म की व्याख्या दी वह उस सामन्तशाही युग के अनुकूल नहीं थी, किन्तु वर्तमान युग को उसमें समाधान मिल सकता है–आचार्यश्री ने इस तथ्य को पकड़ा और उसे युग-धर्म के रूप में प्रस्तुत किया।

हिन्दुस्तान स्वतंत्र हुआ। जातीय संघर्ष अपने पूरे वेग पर थे। एक ओर 'इस्लाम खतरे में' तो दूसरी ओर 'हिन्दू धर्म खतरे में' के नारे बल पकड़ते जा रहे थे। ठीक उसी समय आचार्यश्री ने जनता को यह घोष दिया–'अमर रहेगा धर्म हमारा।'

जयपुर में आचार्यश्री ठोलिया भवन में ठहरे हुए थे। एक साम्यवादी भाई आया। धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक–सभी चर्चाएं चलीं। आचार्यश्री ने कहा–'क्या धार्मिक स्वतंत्रता को सुरक्षित रखते हुए समाज का आर्थिक ढांचा नहीं बदला जा सकता?'

धर्मचक्र का प्रवर्तन

उन्होंने कहा–'यह कैसे संभव है? धर्म का प्रभाव रहे तब तक सामाजिक परिवर्तन करना कठिन है।'

आचार्यश्री ने कहा–'यही तो भूल है। मैं दृढ़ता से कहता हूं कि धर्म समाज-विकास में बाधक नहीं है। मेरे अभिमत में धर्म के बिना समाज का शरीर स्वस्थ रह ही नहीं सकता। क्या अभय, मैत्री, सत्य, प्रामाणिकता, अपरिग्रह और अशोषण के बिना समाज स्वस्थ रह सकता है?'

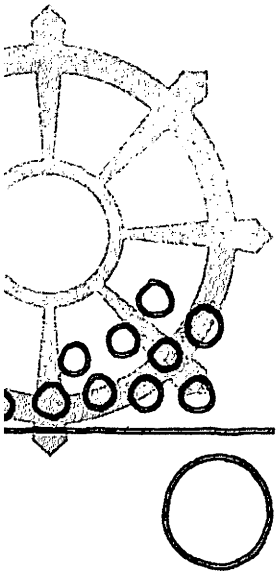

वे बोल उठे–'नहीं।'

आचार्यश्री ने कहा–'तो फिर धर्म और क्या है? वे ही तो धर्म हैं। संप्रदाय तो धर्म नहीं है, वह तो धर्म की व्याख्या देने वाला संस्थान है। धर्म जन्म-लब्ध पैतृक निधि भी नहीं है। वह व्यक्ति-व्यक्ति की पवित्र साधना द्वारा अर्जित गुण है। पूंजी और सत्ता से इसका कोई संबंध नहीं है। आचार्य भिक्षु ने दो शताब्दी पूर्व कहा था–'धन से धर्म नहीं होता।' मेरी धारणा में धन और धर्म का संबंध ३६ के अंक जैसा है। संप्रदाय, जाति, वर्ण, रंग और भौगोलिक भेद धर्म को विभक्त नहीं करते। वह सबके लिए एक है। सब उसके अधिकारी हैं। धूप और छांह, पवन और जल, जैसे सबके लिए हैं वैसे ही धर्म भी सबके लिए मुक्त है।'

धर्म की इस व्याख्या ने उन्हें विस्मय में डाल दिया और वे कह उठे–'धर्म का यह रूप हो तो वह हमारी क्रांति की कल्पना में बाधक नहीं है।'

धर्म की इस व्याख्या को आचार्यश्री नें हजारों बार दोहराया। हजारों बुद्धिवादी व्यक्तियों को इससे धर्म संबंधी विचारों को परिमार्जित करने की प्रेरणा मिली।

तेरापंथ के विषय में दूसरे जैन विद्वान् बहुत कम जानते थे और जो जानते थे, वे भी प्रामाणिकता से बहुत कम जानते थे। इसलिए साहित्य में तेरापंथ की चर्चा बहुत कम हुई और जो हुई वह भी प्रामाणिक नहीं हुई। साधारणतः तेरापंथ की पहचान चूहे-बिल्ली जैसे उदाहरणों द्वारा होती थी। बिल्ली चूहे को मारे और उसे कोई छुड़वाए, उसमें तेरापंथी पाप बतलाते हैं। लगभग एक सौ तिरानबे वर्ष तक तेरापंथ की आलोचना इसी स्तर पर होती रही। उसके मन्तव्यों की गहराई को समझने का यत्न नहीं किया गया।

जैन-दर्शन के विद्वान् पंडित सुखलालजी और उनके साथी तेरापंथ को अज्ञानियों का समुदाय मानते थे। दूसरे-दूसरे जैन सम्प्रदाय भी तेरापंथ की चिन्तनधारा को बहुत हलकी दृष्टि से देखते थे, इसलिए उनके मन में तेरापंथ के मन्तव्यों के प्रति जिज्ञासा उभरे, वैसी स्थिति ही नहीं थी। इधर तेरापंथ का साहित्य भी आज की भाषा में प्रकाशित नहीं था। विद्वानों से संपर्क बहुत कम था। कहीं-कहीं श्रावक लोग उनसे मिलने पर यथार्थ व्याख्या न दे सकने के कारण उन्हें और उलझा देते थे। इस स्थिति में उच्चस्तरीय आलोचना की आशा नहीं की जा सकती थी।

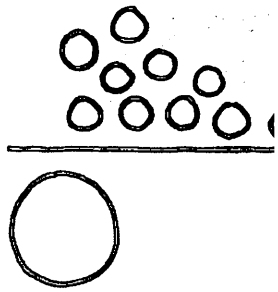

आचार्यश्री आलोचना के इस निम्न स्तर से बहुत चिन्तित थे। वे इसे अपनी लक्ष्य-पूर्ति में एक विघ्न मानते थे। दिल्ली के नगर निगम के मैदान में एक ओर अणुव्रत आंदोलन का पहला अधिवेशन हो रहा था और दूसरी ओर तेरापंथ की निम्नस्तरीय आलोचना के पर्चे बंट रहे थे। लोगों का ध्यान निर्माण की अपेक्षा आलोचना में अधिक केन्द्रित होता है। भारतीय मानस तो इस विषय में बहुत अभ्यस्त है। उस आलोचना के स्पष्टीकरण में आचार्यश्री का समय लगता, शक्ति खपती। किसी के विरोध में कुछ भी नहीं लिखना, यह तेरापंथ की प्रारंभ से आज तक निश्चित नीति रही है। इसलिए विरोध में आचार्यश्री और उनके शिष्यों की शक्ति कभी नहीं खपी। विरोध को शान्तभाव से सहने का वरदान भी तेरापंथ को प्राप्त है इसलिए विरोध के प्रति विरोध करने में भी उनकी शक्ति नहीं खपी। आचार्यश्री चाहते थे—शक्ति का यह व्यय भी न हो। इस चाह की पूर्ति के लिए उन्हें वर्षों तक सतत प्रयत्न करना पड़ा।

आचार्यश्री ने तेरापंथ के मंतव्यों को रखने की शैली में परिवर्तन किया। उन्हें दर्शन की भाषा में जनता के सामने रखा। उसकी प्रतिक्रिया हमारे संघ पर भी हुई और दूसरे संप्रदायों पर भी हुई। हमारे कुछ साधुओं और श्रावकों के मन में ऐसा भाव आया कि आचार्यश्री भिक्षु स्वामी के मंतव्यों को स्पष्ट भाषा में रखते हुए सकुचाते हैं। दूसरों की प्रतिक्रिया यह थी कि आचार्यश्री ने भिक्षु स्वामी के सिद्धांतों को बदल दिया है। आचार्यश्री इन दोनों प्रतिक्रियाओं को जानते थे पर उन्हें अपने आपमें आस्था थी और वे भिक्षु स्वामी के गूढ़ चिन्तन को आलोचना के उच्च स्तर पर ले जाना चाहते थे। इसलिए वे अपनी गति पर पूर्ण आश्वस्त रहे।

इस गति में उनका दूसरा चरण यह था कि उन्होंने अपने शिष्यों से इस विषय में साहित्य लिखवाया। 'अहिंसा', 'अहिंसा और उसके विचारक', 'धर्म और लोक-व्यवहार', 'उन्नीसवीं सदी का नया आविष्कार', 'दया-दान', 'अहिंसा तत्त्व-दर्शन'—ये ग्रंथ लिखे गए। आदर्श साहित्य संघ, तेरापंथी महासभा द्वारा ये प्रकाशित व प्रचारित किए गए।

तीसरे चरण में कुछ विद्वानों का संपर्क भी बढ़ा। आचार्यश्री का विश्वास गहरा होता गया। उनकी आस्था थी—जो तत्त्व हमें मिला है वह बहुत उपयोगी है। उसमें युग-धर्म के बीज छिपे हैं। उस पर निम्नस्तरीय

आलोचना का आवरण पड़ा है। उसे हटाया जा सके तो जनकल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सकता है, धर्मोदय हो सकता है। इस चिन्तन से आचार्यश्री ने जनसंपर्क बढ़ाने का प्रयत्न किया। दूसरे-दूसरे संप्रदायों के विद्वान् और स्वतंत्र विचारक निकट आने लगे। उन्हें तेरापंथ के विचार प्राणवान् लगे और आचार्यश्री के व्यक्तित्व में बहुत संभावनाओं के दर्शन हुए। वे तेरापंथ और आचार्यश्री के व्यक्तित्व को प्रशंसा के शब्दों में गूंथे बिना नहीं रहे।

'तरुण संघ' जैसे तेरापंथ के स्थायी आलोचकों के लिए यह बहुत अच्छी सामग्री थी। उन्होंने इस पर अनेक टीका-टिप्पणियां कीं। आचार्यश्री की प्रवृत्ति पर इसका कोई असर नहीं हुआ। वे अपने लक्ष्य में सफल होते गए।

घड़े पर एक बूंद गिरती है, सूख जाती है। दो, दस और बीस की भी वही गति होती है। परिणाम तब सामने आता है, जब उनकी मात्रा पर्याप्त हो जाती है। प्रयत्न अपना परिणाम अवश्य लाता है। आज चूहे-बिल्ली के स्तर की आलोचनाएं समाप्त हो गई हैं।

उच्चस्तरीय आलोचना का श्रीगणेश मुंबई में हुआ। 'प्रबुद्ध जीवन' के संपादक भाई परमानन्द कापड़िया ने ता. १५.११.१९५४ के अंक में 'अहिंसा नी अधूरी समजण' शीर्षक से अपना एक लेख प्रकाशित किया। उसमें तेरापंथ के अहिंसा संबंधी दृष्टिकोण की यौक्तिक आलोचना थी। आचार्यश्री उस समय मुंबई में ही थे। उन्होंने वह लेख पढ़ा। उसकी जो प्रतिक्रिया हुई उसे व्यक्त करते हुए आचार्यश्री ने मुझे कहा–'यह आलोचना आज तक की सभी आलोचनाओं से भिन्न है। इसमें न आक्षेप है, न गालियां और न लांछित करने का प्रयत्न। विरोधी आलोचना के उत्तर में कुछ भी न लिखा जाए–यह आज तक अपना निश्चय रहा। अब इसमें थोड़ा परिवर्तन आवश्यक है। इस कोटि की आलोचना की प्रत्यालोचना की जाए, इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं लगती।'

आचार्यश्री का आदेश पाकर मैंने उसके उत्तर में 'अहिंसा की सही समझ' शीर्षक लेख लिखा। वह हमारी ध्रुवनीति तथा आचार्यश्री की समन्वय-नीति से पूर्णतः भावित था। उसकी अच्छी प्रतिक्रिया हुई। विचार-भेद होने पर भी भाई परमानन्दजी ने उसे सहृदयता से देखा। उन्होंने ता. १.३.१९५५ के अंक में उस पर टिप्पणी करते हुए लिखा–'मुनि नथमलजी द्वारा प्रस्तुत की हुई विचार-सरणी मुझे स्वीकार नहीं है, फिर भी उन्होंने जिस उदात्त शैली में अपने विचारों को प्रस्तुत किया, उसके लिए मैं उन्हें धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकता। मेरी आलोचना में किसी स्थान पर थोड़ा बहुत कटाक्ष या आक्षेप मिल सकता है, पर उनकी प्रत्यालोचना में कोई कटाक्ष, आक्षेप, आवेश या असमता नहीं है। भाषा और निरूपण में एक विद्वान् और प्रसन्नचित्त मुनि को शोभा दे, वैसा माधुर्य, संयम, गांभीर्य और बहुश्रुतता दृष्टिगोचर होती है। उनके लेख को पढ़कर मैंने गहरी प्रसन्नता का अनुभव किया है। विचार-भेद यदि इस प्रणाली से प्रस्तुत किए जाएं तो परस्पर कभी कटुता उत्पन्न ही न हो। मतभेद में मनभेद जन्म ही न ले और समाज के विचार-वैभव में सत्कारार्ह इष्ट वृद्धि होती रहे।'

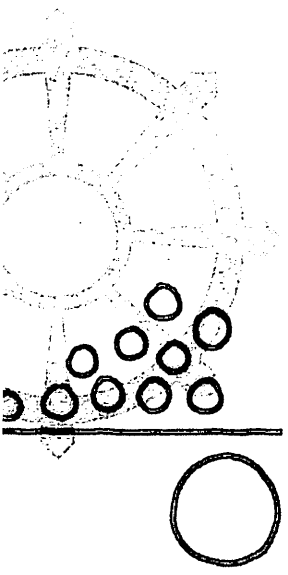

आचार्यश्री ने मध्यस्थ-भाव को जिस रूप में समझा और हमें समझाया उसके परिणाम ऐसे फलित हुए कि छिछली आलोचनाएं बंद हो गईं और उनका स्थान सैद्धांतिक आलोचनाओं ने ले लिया।

आचार्यश्री का मध्यस्थ दृष्टिकोण श्रावक समाज पर भी गहराई से प्रतिबिम्बित हो रहा था। 'जैन भारती' तेरापंथी महासभा द्वारा प्रकाशित होने वाला पत्र है। उस समय श्रीचंदजी रामपुरिया उसके संपादक

थे। उन्होंने 'अहिंसा नी अधूरी समजण' और 'अहिंसा की सही समझ'–दोनों लेख उसमें एक साथ प्रकाशित किए। यह एक आश्चर्य का विषय बन गया। इस पर टिप्पणी करते हुए भाई परमानन्दजी ने ता. १.३.१९५५ के अंक में लिखा–'अहिंसा की अधूरी समझ' जैसी प्रतिपक्ष की विस्तृत आलोचना को अपने पत्र में विस्तृत स्थान देकर जो उदार हृदयता का परिचय दिया है, उसके लिए श्रीचंदजी रामपुरिया धन्यवाद के पात्र हैं। पत्रकारों में ऐसी उदारता कहीं भाग्य से ही मिलती है।'

आचार्यश्री के पारिपार्श्विक वातावरण में जो समभाव फलित हो रहा था वह दूसरों के मानस को सरलता से छू रहा था।

फलित

आचार्यश्री ने तेरापंथ के सिद्धान्तों और प्रवृत्तियों को प्रकाश में ला विद्वानों को प्रभावित किया, यह उनके जीवन का एक पक्ष था। दूसरा पक्ष यह था कि तेरापंथ की परम्पराओं में कुछ परिवर्तन ला अपने अनुयायियों से भी विरोध मोल ले लिया।

आचार्यश्री को जितना यश मिला, उससे कहीं अधिक कटु आलोचनाएं सुनने को मिली। उनके जो श्रद्धालु थे वे आलोचक बन गए। उनके कुछ साधु उनसे अलग हो गए। संघर्षों का ज्वार आया। आचार्यश्री जैसे-जैसे मृदु होते गए, वैसे-वैसे कुछ अनुयायी कठोर होते गए।

तेरापंथ की परम्परा के अनुसार जो आचार्य करते हैं, उसका अनुसरण समूचा संघ करता है। आचार्य जो कहते हैं, उसका अनुमोदन समूचा संघ करता है। जिस प्रश्न का जो समाधान आचार्य देते हैं, उसका वही समाधान समूचा संघ देता है। एक आचार्य, एक आचार, एक निर्णय–ये तेरापंथ की अपनी विशेषताएं मानी जाती हैं। स्थिरता के समय वे यथावत् रही हैं, किन्तु परिवर्तन के क्षणों का इतिहास इससे भिन्न भी है। यह सहज भी है। शान्त समुद्र एकरूप होता है। उसमें लहरें तब अनेकता लाती हैं जब पवन की गति बढ़ती है। चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य ने परम्पराओं में परिवर्तन किया, तब एक तूफान आया था। फिर चार आचार्यों के समय स्थिति शान्त रही। आचार्यश्री ने जैसे ही परिवर्तन का चरण बढ़ाया, इतिहास की पुनरावृत्ति होने लगी। आचार्यश्री के प्रति अश्रद्धा का भाव बढ़े, वैसे प्रयत्न होने लगे। आचार्यश्री जो कहते, कुछ साधु भिन्न कहते। आचार्यश्री जो निर्णय देते, कुछ साधुओं का निर्णय उससे भिन्न होता। लाखों व्यक्तियों को इस स्थिति से कष्ट हुआ। उन्होंने इतनी अश्रद्धा, इतना भेद और अनुशासन के प्रति इतनी उदासीनता कभी नहीं देखी थी। वे तेरापंथ में ऐसा देखना नहीं चाहते थे। गण की इस स्थिति का कितने प्रमुख व्यक्तियों ने न जाने कितनी बार आचार्यश्री के सम्मुख भयावह चित्र खींचा। आचार्यश्री स्वयं भी ऐसी स्थिति लाना नहीं चाहते थे। उन्होंने सबको साथ ले चलने के लिए जी-भर प्रयत्न किए। पर आरंभ में वे पूर्ण सफल नहीं हुए। आचार्यश्री जो परिवर्तन लाना चाहते थे, वह उन्हें इष्ट नहीं था और वे पूर्ववत् स्थिति बनाए रखने के पक्ष में थे, वह आचार्यश्री को इष्ट नहीं था। इस स्थिति में जो विरोध या विभेद हुआ वह उस परिवर्तन का निश्चित परिणाम था। आचार्यश्री जैसे परिवर्तन को आवश्यक मानते थे, वैसे ही उसके निश्चित परिणाम को भी वे जानते थे इसलिए वे उस अप्रिय स्थिति से भी खिन्न नहीं थे। सचाई यह है कि तेरापंथ को नया रूप देकर उन्होंने खोया कुछ भी नहीं, पाया बहुत। वे कुछ विफलताओं के उपरान्त भी बहुत सफल रहे। उनकी सफलता उनकी विफलता में से ही फलित हुई। जब दूसरों द्वारा बाधाएं खड़ी की

जाएं तो समझना चाहिए कि गति हो रही है और जब अपने ही अनुयायियों द्वारा बाधाएं खड़ी की जाएं, तब समझना चाहिए कि प्रगति हो रही है। काका कालेलकर जब पहली बार मिले तो उन्होंने बताया–'मैं तेरापंथ के विरोध ही विरोध में सुनता रहा हूं। उससे मुझे जिज्ञासा हुई है। जिसका इतना विरोध है उसमें अवश्य चैतन्य है। मृत का कहीं पर भी विरोध नहीं होता।'

भाई किशोरलाल मश्रुवाला ने हरिजन में अणुव्रत-आंदोलन की समालोचना लिखी, तब उनके पास इतना तेरापंथ विरोधी साहित्य पहुंचा कि वे चकित रह गए। उन दिनों आचार्यश्री भिवानी में मर्यादा महोत्सव मना रहे थे। भाई मश्रुवाला ने एक पत्र में लिखा–'जब से मैंने वह टिप्पणी की है तब से मेरे पास विरोधी साहित्य आने लगा है। विरोधी पुस्तकों का एक ढेर-सा हो गया है।'

तेरापंथ ने विरोध में अविरोध भाव को बनाए रखा इसलिए वह अपनी गति से आगे बढ़ा। आचार्यश्री तुलसी ने उसी आदर्श को अपने में प्रतिफलित किया।

एकता के पथ पर

विश्व के प्रांगण में अनेक संप्रदाय हैं। कुछ सामाजिक, कुछ राजनीतिक और कुछ धार्मिक। जो अनेकता में एकता ढूंढ़े, वह एक का होकर भी सबका होता है। इसीलिए आचार्यश्री एक धर्म-संप्रदाय के होते हुए भी सबके थे। ऐसा व्यक्ति कोई नहीं होता जो किसी एक का न हो। कोई भी मनुष्य आकाश से नहीं टपकता। वह किसी देश, जाति और संप्रदाय की परंपरा में जन्म लेता है, किसी वातावरण में पलता-पुसता है, किसी से उपकृत होता है और किसी के प्रति कृतज्ञ भी होता है। आचार्यश्री हिन्दुस्तान में जन्मे। ओसवाल उनकी जाति थी। वे तेरापंथ के मुनि बने, आचार्य बने। वे तेरापंथ संप्रदाय के प्रति कृतज्ञ थे। उसके सिद्धांतों में उनकी दृढ़ आस्था थी। वे उसका विकास चाहते थे। उनकी भाषा में तेरापंथ के विकास का अर्थ है चरित्र का विकास और चरित्र के विकास का अर्थ है तेरापंथ का विकास।

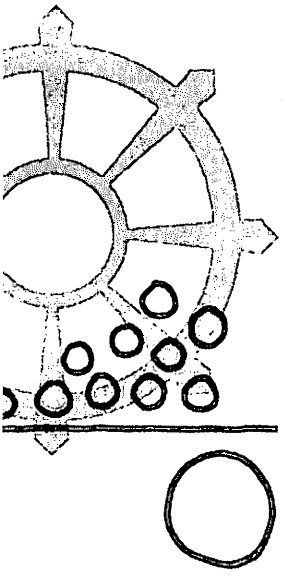

तेरापंथ है, वह जैन-शासन से अभिन्न है और जैन-शासन सत्य से अभिन्न है। यथार्थ में धर्म जो है वह सत्य से भी नहीं है। सत्य जैन परम्परा के लिए जितना प्राप्य है उतना ही बौद्ध और वैदिक आदि सभी परम्पराओं के लिए प्राप्य है। सत्य जितना जैन परम्परा से मुक्त है, उतना ही दूसरी परम्पराओं से भी मुक्त है। वह किसी की पैतृक संपत्ति नहीं है। वह उन सबके लिए है जो उसकी उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील हैं। इसलिए दूसरे संप्रदायों में सत्य देखा ही न जाए और अपने संप्रदाय में ही सत्य देखा जाए–यह आग्रह का मनोभाव है। जैन-दृष्टि को यह अभिप्रेत नहीं है।

आचार्यश्री के जीवन में अनाग्रह का क्रमिक विकास हुआ। स्याद्वाद उनका मान्य सिद्धांत था। अनेकान्तदृष्टि उन्हें परम्परा से प्राप्त थी। किन्तु अपने विवेक से जो प्राप्त होता है, वह परम्परा-प्राप्त से अधिक मूल्यवान् होता है।

एक समय था–आचार्यश्री का मनोभाव लोगों को तेरापंथ में दीक्षित करने का अधिक था। एक समय वह आया, जब उनमें जनता को चरित्रवान् बनाने की भावना अधिक प्रगाढ़ हुई। तेरापंथ के कुछ अनुगामी पहली प्रवृत्ति को अधिक महत्त्व देते थे। उनका यह आक्षेप रहा–आचार्यश्री तेरापंथ के विकास के लिए विशेष प्रयत्न नहीं करते। आचार्यश्री तेरापंथ संप्रदाय में दूसरे व्यक्तियों को दीक्षित नहीं कर सके, इसलिए वे लोग आचार्यश्री को सफलता का श्रेय देना नहीं चाहते थे।

संप्रदाय शरीर है और धर्म उसकी आत्मा है। आचार्यश्री की दृष्टि में आत्मा के विकास का अधिक मूल्य था और उनके कुछ अनुयायियों की दृष्टि में शरीर-विकास अधिक मूल्यवान्। आचार्यश्री उनकी दृष्टि को सर्वथा तथ्यहीन नहीं मानते थे पर वह तथ्य इतना छोटा था कि उसके लिए बहुत बड़े तथ्य को गौण नहीं किया जा सकता था। अन्यान्य संप्रदायों के लाखों व्यक्तियों को चरित्र-विकास की प्रेरणा मिली, वह आचार्यश्री के उस दूसरे दृष्टिकोण से मिली।

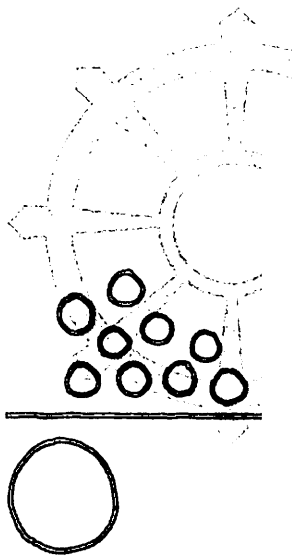

आचार्यश्री ने एक बार कहा–'धर्म संप्रदायों में समन्वय के तत्त्व अधिक हैं, विरोधी तत्त्व कम। उस स्थिति में धार्मिक व्यक्ति विरोधी तत्त्वों को आगे रख आपस में लड़ते हैं, यह उनके लिए शोभा की बात नहीं है। उनको समन्वय की चेष्टा करनी चाहिए।' इस विचार ने श्रोताओं को विस्मय में डाल दिया। तेरापंथ को दूसरे संप्रदाय वाले अधिक कट्टर मानते थे। उसके आचार्य के विचार इतने विशाल हैं, यह उनकी कल्पना नहीं थी।

आचार्यश्री लोगों को धर्म-निष्ठ देखना चाहते थे, संप्रदाय-निष्ठ नहीं। उनके अभिमत में संप्रदाय धर्म-निष्ठा का प्रेरक होना चाहिए, बाधक नहीं। वे न संप्रदायों को मिटाना चाहते थे और न एक-दूसरे को एक-दूसरे में विलीन करना चाहते थे। ये दोनों कार्य समझौता-नीति के हैं। समझौतावाद सत्ता और अधिकार की देन है। धार्मिक विश्वास में समझौता नहीं होता। वहां सबकी स्वतंत्रता मान्य है।

आचार्यश्री की भाषा में साम्प्रदायिक एकता का अर्थ था–समन्वय, अविरोध और सहिष्णुता। उनका मंतव्य था–'एक संप्रदाय दूसरे संप्रदाय के प्रति अन्याय न करे, घृणा न फैलाए, आक्षेप न करे, विचार-सहिष्णु रहे, तो फिर एकता ही है। विचार-भेद मिट जाए, सब संप्रदाय एक ही विचार के हो जाएं, इसमें न मेरा विश्वास है और न मैं इसे कोई विवेकपूर्ण कार्य मानता हूं।'

आचार्यश्री की मान्यता थी–विचार-भेद विकास का लक्षण है। उसे जड़ात्मक एकता के द्वारा मिटाने की आवश्यकता नहीं है। वे बहुत बार कहते–'लोग यह क्यों सोचते हैं कि विचार-भेद मिट जाए। जबकि सोचना यह चाहिए–विचार-विरोध मिट जाए। उंगलियों को एक बनाने की क्या आवश्यकता है? उनकी भिन्नता अनुपयोगी नहीं है। उनकी परस्परता ही उनकी एकता है। संघर्ष का मूल मनभेद है।' मतभेद होता है इसलिए मनभेद नहीं होता। अपने से भिन्न मत के प्रति असहिष्णुभाव होता है, इसलिए मनभेद होता है। आचार्यश्री ने एकता का जो बीज बोया, उसे अंकुरित, पुष्पित और फलित होते भी देखा। उन्हें दूसरे संप्रदायों के द्वारा जो श्रद्धा और स्नेह मिला, वह सहज सुलभ नहीं था। उन्हें एक भारतीय संत के रूप में ख्याति मिली, वह उनकी असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति का ही प्रतिफल था।

तेरापंथ का प्रादुर्भाव स्थानकवासी संप्रदाय से हुआ है। वे हमारे अधिक निकट हैं, इसीलिए अधिक दूर रहे। इन वर्षों में वह दूरी कम हुई।

उपाध्याय मुनिश्री अमरचंदजी को मैं निकटता से जानता हूं। वे स्थानकवासी संप्रदाय के अग्रणी विद्वान्, उदारचेता और मेधाशील व्यक्ति थे। वे आगरा में थे। आचार्यश्री वहां पधारे। पहला प्रवचन रत्न जैन हाई स्कूल में किया। वहां से आचार्यश्री शहर में जा रहे थे। संसद सदस्य सेठ अचलसिंहजी आदि स्थानकवासी संप्रदाय के श्रावक साथ थे। वे आचार्यश्री को उस मार्ग से ले गए जिसके बीच में वह स्थान पड़ता था, जहां उपाध्यायजी ठहरे हुए थे। वह स्थान आया। अचलसिंहजी आदि आचार्यश्री के आगे खड़े हो गए। उन्होंने कहा–'यहां अमरचंदजी महाराज हैं। आप अन्दर पधारिए।'

आचार्यश्री ने कहा–'अभी?'

वे बोले–'बीच में आ गया है, कृपा करिए।'

आचार्यश्री साधुओं सहित सीढ़ियों पर चढ़े। आंगन में पहुंचे। इतने में उपाध्यायजी भी ऊपर से आ गए। उल्लास की मुद्रा में बोले–'आज आप आए हैं। लोग आग्रह कर रहे थे, पर आप यहां आएंगे, यह कल्पना नहीं थी।' फिर तो आचार्यश्री लगभग ढाई बजे तक वहां ठहरे। जो उल्लास बरसा वह दृश्य ही था, वर्ण्य नहीं। वहां हमें समन्वय नीति का एक प्रस्फुट परिणाम देखने को मिला। उपाध्यायजी की 'अहिंसा-दर्शन' नाम की एक पुस्तक कई वर्षों पहले प्रकाशित हुई थी। उसमें कई स्थलों पर तेरापंथ की आलोचना थी। बातचीत के प्रसंग में मैंने उस ओर उनका ध्यान खींचना चाहा। पन्ने पलटे। जो देखना था वह कहीं मिला नहीं। उपाध्यायजी ने मुस्कान भरते हुए कहा–'आप क्या देखते हैं, यह दूसरा संस्करण है। जो आप देख रहे हैं, वह इसमें नहीं है।' मुझे लगा कि आचार्यश्री की समन्वय-नीति का यह पहला संस्करण है।

तेरापंथ संगठन के प्रति उनके मन में भी सराहना का भाव था जो उसके प्रति उदार नहीं थे। आचार्यश्री इस परम्परा-लब्ध शक्ति को अपने लिए वरदान मानते थे। कुछ विचारक इसे दूसरी दृष्टि से देखते थे। जैनेन्द्रजी के शब्दों में–'वे आचार्य पद पर हैं। एक समुदाय और समाज उनके पीछे है। कोई सात सौ साधु-साध्वी उनके आदेश पर हैं। यह एक ही साथ उनकी शक्ति और मर्यादा है। यदि वे आरम्भ में अकेले होते और प्रयोग के लिए मुक्त, तो क्या होता? इस संभावना पर कभी कल्पना जाकर रमना चाहती है तो लगता है तब मार्ग सरल न होता। पर शायद कठिन ही हम लोगों के लिए कीमती हो जाता।'

महात्मा गांधी की भांति आचार्यश्री का जीवन भी अपने आपमें एक बहुविध प्रयोगशाला था। उनके पीछे कोई परम्परा या संप्रदाय नहीं था, यह कहने के लिए बहुत बड़ा साहस चाहिए। पर यह सच है कि आचार्यश्री के पीछे जो परम्परा और संप्रदाय था, वह उनसे कहीं अधिक नियंत्रित रहा। इसलिए वे गांधीजी की भांति अपना चाहा करने के लिए सर्वथा उन्मुक्त नहीं थे। वे उन्हें छोड़ने की स्थिति में नहीं थे, जिनकी गति बहुत धीमी थी। इससे अवश्य ही गतिरोध उत्पन्न होता था पर धीमी गति से चलने वालों के लिए धीमे चलने को आचार्यश्री क्षम्य मानते थे। यदि वे चलना ही न चाहें तो आचार्यश्री उनसे बंधे हुए भी नहीं थे।

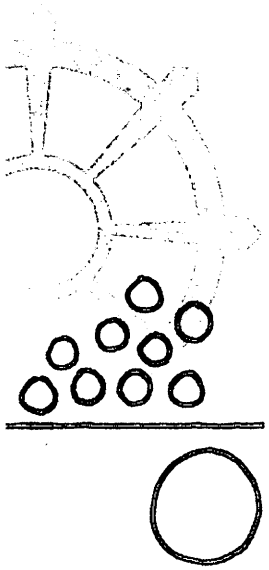

महात्मा गांधी अहिंसा के द्वारा राजनीति को प्रभावित कर रहे थे। आचार्यश्री उसके द्वारा जीवन व्यवहार को प्रभावित कर रहे थे। महात्मा गांधी का 'गीता' में अधिक विश्वास था और आचार्यश्री का विश्वास 'आचारांग' में अधिक था। महात्मा गांधी की अहिंसा का मानदण्ड था–'अनासक्ति योग' और आचार्यश्री की अहिंसा का मानदण्ड था–'संयम योग'। फिर भी बहुत बड़ा साम्य था और उसी साम्य को देखकर गांधीवादी विचारक जैनेन्द्र को यह कल्पना हुई कि आचार्यश्री आरंभ में अकेले होते और प्रयोग करने के लिए मुक्त, तो क्या होता?' इस कल्पना में सचाई अवश्य है। कुछ अनुयायियों द्वारा यदा-कदा कार्य में बाधाएं उत्पन्न की जाती थी। एक बार तो उन्हें भयंकर तूफान का सामना करना पड़ा। समूचे तेरापंथ में एक भूचाल-सा आ गया। तब मैं भी इसी कल्पनालोक में पहुंचा कि आचार्यश्री के पीछे कोई संप्रदाय नहीं होता तो उनकी शक्ति इन व्यर्थ की बातों में न खपती। किंतु फिर सोचा, प्रभावशाली व्यक्ति के आस-पास जो लोग इकट्ठे होते हैं, वह संप्रदाय बन जाता है। वह एक परिवार है। निभाने में, साथ ले चलने में, यदि अहिंसा सफल न हो तो उसका दूसरों पर कैसे असर होगा? गांधीजी के अनेक जीवन-प्रसंग इसकी साख देते हैं कि

वे कांग्रेस के लोगों को कैसे निभाते थे। सहगति जो है, उसे भले ही कोई बुद्धिवादी प्रगति न कहे, वह अहिंसा का स्वभाव अवश्य है।

आचार्यश्री अहिंसा-स्वभावी थे इसलिए वे जितने अपने संप्रदाय के थे उतने ही दूसरों के थे। यह भी प्रतीत होता था कि वे दूसरों के लिए जितने थे, उतने अपने संप्रदाय के लिए नहीं। सच यह था कि उनकी दृष्टि में अपना-पराया जैसा भेद रहा ही नहीं। वे अनेक संप्रदाय के लोगों के बीच रह कर जितनी प्रसन्नता का अनुभव करते थे, उतनी प्रसन्नता उन्हें एक ही संप्रदाय के लोगों के बीच में रहने में नहीं होती। जैन शासन, जो वैश्य जाति में ही सीमित है, वह उन्हें प्रिय नहीं था। वे कहते–'जो धर्म सबका है, वह एक जाति की सीमा में ही क्यों? जो जनसाधारण के लिए न हो, केवल बड़े-बड़े व्यक्तियों के लिए ही हो, उसमें अवश्य ही कोई खामी है। जैन धर्म में मुझे कोई खामी नहीं लगती। यह खामी उन जैनों की है तो संकुचित दृष्टि की बलि बने हुए हैं।' आचार्यश्री की भाषा में–'सम्यक् दृष्टि, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की आराधना जो है, वही जैन धर्म है। अनेकान्त, स्याद्वाद और अध्यात्म का विचार जो है, वही जैन-दर्शन है। अहिंसा, अपरिग्रह और अभय की साधना जो है, वही जैन-शासन है।' वे जैन-धर्म को इसी रूप में स्वीकार करते थे। जोधपुर के रोटरी क्लब में प्रवचन था। राजस्थान के मुख्य न्यायाधीश डॉ. कैलाशनाथ वांचू आदि अनेक विद्वान् उपस्थित थे। एक भाई ने पूछा–'जैन धर्म के सिद्धांत इतने अच्छे हैं, फिर भी जैन इतने कम क्यों?'

आचार्यश्री ने कहा–'मेरी मान्यता में जैन कम नहीं हैं। अहिंसा और राग-द्वेष की विजय में जिनका विश्वास है, उन सबको मैं जैन मानता हूं और जो जैन कहलाते हैं, वे सब जैन ही हैं, यह मैं नहीं मानता।'

जनसाधारण की धारणा में जैन-मुनि बनियों के गुरु हैं। आचार्यश्री ने इस धारणा को तोड़ने के लिए बहुत प्रयत्न किया। साधु सबके हैं और उन पर सबका समान अधिकार है। उनका द्वार सबके लिए खुला है। इस विषय पर आचार्यश्री ने एक बहुत ही प्रिय गीत लिखा–

संतों के द्वार सबके लिए खुले हैं।
कोई चाहे जब जाकर देख ले
द्वार ही उनके प्रहरी हैं
वृक्ष की छांह, चांद की चांदनी
सूरज की धूप–ये सीमा से मुक्त हैं
इन पर सबका समान अधिकार है
संतों के द्वार सबके लिए खुले हैं।
भले कोई निर्धन हो या धनवान्
पुण्यहीन हो या पुण्यवान्
हरिजन हो या महाजन
मजदूर हो या किसान
हिन्दू हो या मुसलमान
वहां जाति की जांच नहीं होती

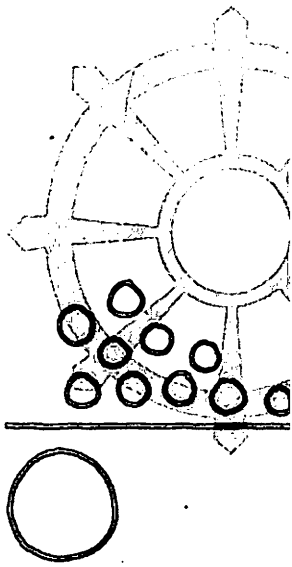

वहां मानवता की जांच होती है
ऊंच है या नीच? यह जाना जाता है
वाणी से, आचार से, व्यवहार से।

जातिवाद और संप्रदायवाद की छाया से न तेरापंथ ही बचा था और न आचार्यश्री भी। किन्तु जैसे ही आचार्यश्री ने अहिंसा की व्यापक भावना को पकड़ा, जैन-दर्शन के मर्म को हृदयंगम किया, वैसे ही वे इन भावों से एक साथ ऊपर उठ गए। उन्होंने अपने अनुयायियों को उठाने का प्रयत्न प्रारंभ किया। बहुत उठे, कुछ नहीं उठे। कुछेक ने बाधाएं उपस्थित करने का यत्न किया। लाडनूं आचार्यश्री की जन्मभूमि है। वहीं एक दिन हरिजन प्रवचन में आने वाले थे। कुछ लोगों ने कहा–'वे अन्दर नहीं आ सकेंगे।' आचार्यश्री को इसका पता चला। उन्होंने कहा–'हमारा प्रवचन सबके लिए है, उसमें किसी को भी रोका नहीं जा सकता। हरिजन को यहां आने से रोकने का अर्थ मुझे रोकना होगा। जहां मेरा प्रवचन सुनने वालों को रोका जाए, वहां मैं नहीं रह सकता।' इसके आगे वे झुक गए। हरिजनों ने उनके साथ बैठ प्रवचन सुना।

विचारों के पंख नहीं होते, फिर भी उनमें उड़ने की क्षमता पक्षियों से अधिक होती है। आचार्यश्री के विचार सहसा प्रसार पा गए। उनके प्रवचनों में सभी जातियों और संप्रदायों के लोग आने लगे। भारतीय संस्कृति और इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. कालिदास नाग लाडनूं आए। उन्होंने स्थिति का आकलन करते हुए लिखा–'आचार्यश्री रास्ते के एक ओर वेदी पर बैठ धर्मोपदेश कर रहे थे। कितने ही श्रोता उनकी वाणी सुनने के लिए आए थे। उनमें केवल उनके संप्रदाय के लोग ही नहीं बल्कि सब धर्मों के लोग थे। मुसलमान भी थे। साधु की वाणी सबके लिए है। साधु-संत यही करते आए हैं।' यह स्थिति प्रारंभ की है। आगे तो यह प्रश्न ही नहीं रहा कि कौन आता है और कहां बैठता है? आचार्यश्री का प्रवचन-पण्डाल सबके लिए अपना ही हो गया।

समन्वय : एक गतिशील प्रक्रिया

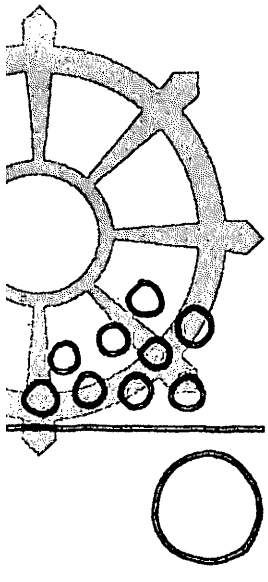

आचार्यश्री ने समन्वय की चर्चा को बहुत व्यापक दृष्टि से आगे बढ़ाया। वे चाहते थे–'विरोध किसी के साथ न हो, पर जिनकी गति का लक्ष्य सम है उनमें विशेष सहयोग हो।' उन्होंने अहिंसकों की भेदक मनोवृत्ति पर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा–'क्या कारण है कि चार चोरों का तो एक संगठन हो सकता है पर चार भद्रपुरुष चतुष्कोण के चार बिन्दुओं की तरह अलग-अलग ही रहते हैं? बुराई की ताकतों से लोहा लेने के लिए यह आवश्यक है कि भले आदमियों का भी सुदृढ़ संगठन हो।' इस विचार ने सर्वोदयी नेता श्री जयप्रकाश नारायण को बहुत खींचा और उनकी प्रेरणा से अणुव्रत आंदोलन और सर्वोदय के कार्यकर्ताओं में सहयोग भी बढ़ा।

आचार्यश्री की मैत्री भावना को समय-समय पर विचारकों द्वारा बल मिलता रहा। राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने यह सुझाया था कि सर्वोदय ब अणुव्रत आंदोलन समन्वित रूप से कार्य करें तो बहुत अच्छा हो। इस सुझाव से आचार्यश्री की भावना को बल मिला। आचार्यश्री जोधपुर में थे। वहां कृष्णदासजी जाजू आए। उन्होंने कहा–'महाराज! आप जैन एकता के लिए कुछ प्रयास कीजिए।' उनका यह वचन आचार्यश्री के हृदय में चुभा। उनकी सद्भावना पर प्रसन्नता हुई। जैन-जगत् की दुर्बलता पर खेद हुआ। जहां अनेकान्त है, विश्व के सभी दृष्टिकोणों का समन्वय करने वाली दृष्टि है, वहां इतना विरोध! सचमुच चिन्तनीय है।

उस चुभन में से सांप्रदायिक एकता के पांच व्रतों का उद्भव हुआ। मैत्री का प्रयत्न पहले से चल ही रहा था। जाजूजी के परामर्श ने उसमें तीव्रता ला दी। आचार्यश्री दूसरों के सुझावों को बहुत गहराई से लेते हैं। उनमें जितना देने का भाव था, उससे कहीं अधिक लेने का भाव था। जोधपुर से आचार्यश्री का विहार मुंबई की ओर हुआ। वहां कुछ जैन लोग तेरापंथ के विचारों को तोड़-मरोड़ कर रख रहे थे। आचार्यश्री को बहुत अखरा। आचार्यश्री पहली बार मुंबई आए थे। उनके सामने आंदोलन का व्यापक कार्यक्रम था। वे देना कुछ और ही चाहते थे, मिल कुछ और ही रहा था। जैनों के इस रूप का जनता को परिचय मिले, यह उन्हें इष्ट नहीं था। आचार्यश्री ने उस समय एकता की योजना प्रस्तुत की। उसके पांच व्रत ये हैं–

१. मण्डनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरों पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किए जाएं।

२. दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।

३. दूसरे संप्रदाय या उसके साधु-संघ के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।

४. संप्रदाय-परिवर्तन के लिए दबाव न डाला जाए। स्वेच्छा से कोई व्यक्ति संप्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।

५. धर्म के मौलिक तथ्य–अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

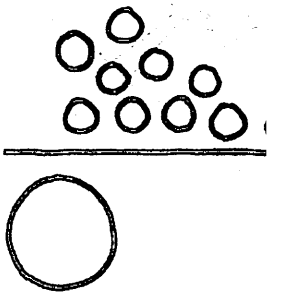

धर्मचक्र का प्रवर्तन

पंडित नेहरू ने राजनीति के मंच से पंचशील का प्रवर्तन किया, उससे थोड़े वर्ष पूर्व आचार्यश्री ने इन पांच व्रतों का प्रवर्तन किया था। इनकी प्रतिक्रिया सुखद हुई। विचारों की तोड़-मरोड़ का कार्य शिथिल हो गया।

धार्मिक सहिष्णुता उन व्यक्तियों में होती है जो धर्म के प्रति उदासीन होते हैं। दूसरे, उनमें होती है जो धर्म की गहराई में पैठ जाते हैं। आचार्यश्री धर्म के प्रति उदासीनता से उत्पन्न धार्मिक सहिष्णुता नहीं चाहते थे। वे चाहते थे कि लोग धर्म की गहराई में पैठकर धार्मिक सहिष्णुता बढ़ाएं।

विचार स्वातंत्र्य का अधिकार जैसे सबको है वैसे ही विचार-प्रतिपादन का अधिकार भी सबको है। दूसरों के विचारों को तोड़-मरोड़कर रखने का अधिकार किसी को नहीं है। आचार्यश्री के शब्दों में–'मनुष्य की हत्या पाप है, तो विचारों की हत्या भी उससे कम पाप नहीं है। सचमुच मारने वाला एक-दो या कुछेक को मारता है पर विचारों की हत्या करने वाला अगणित लोगों की मानसिक हत्या कर डालता है। दूसरों के विचारों के साथ उतना ही न्याय किया जाए जितना अपने लिए चाहे।'

दूसरों के प्रति न्याय सहिष्णुता और प्रेम की स्थिति में ही किया जा सकता है। सहिष्णुता और सामुदायिक प्रेम की वृद्धि के लिए धर्म के मूलभूत तथ्यों का ज्ञान और आचरण अपेक्षित है। इस भूमिका पर आचार्यश्री ने संप्रदाय-मैत्री की भावना को बहुत संपुष्ट किया।

समन्वय की उदार भावना के लिए आचार्यश्री अनेकांत दृष्टि के अतिरिक्त सिद्धसेन, समंतभद्र, अकलंक, हरिभद्र आदि जैन आचार्यों के विचारों से भी प्रभावित थे। वे प्रवचन के प्रारंभ से समन्वय-मूलक श्लोकों को गाते थे–

भवबीजांकुरजनना, रागाद्याः क्षयमुपागताः यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

जिसके संसार-बीज को अंकुरित करने वाले राग-द्वेष नष्ट हो चुके हैं, उसे मैं नमस्कार करता हूं, भले फिर उसका नाम ब्रह्मा हो या विष्णु, हर हो या जिन।

आचार्यश्री में अन्य संप्रदायों की सचाई को स्वीकार का मनोभाव विकसित था। इसलिए उनका स्वरूप संप्रदायस्थ होते हुए भी संप्रदायातीत था। चौराहे पर खड़ा होकर गोली दागने वाला कोई उदार नहीं होता और कोठरी में बैठकर मानवता को विकसित करने वाला कोई संकीर्ण नहीं होता।

आलोचना और प्रतिक्रिया

आलोचना के बारे में हमारा एक सिद्धांत है। उसके अनुसार व्यक्ति की आलोचना नहीं की जाती, आलोच्य विषय की आलोचना की जाती है। आचार विकृत न बने, विचार लोक-प्रवाही न बने, इस स्थिति को बनाए रखने के लिए आलोचना आवश्यक है। सत्य को प्रकाश में लाना आवश्यक है। आलोचना जिस पर लागू होती है उसमें विरोध उभरता है। यह बड़ी उलझन है। मौन विकार लाता है और आलोचना विरोध। विकार बढ़े, यह भी उचित नहीं। विरोध बढ़े, यह भी अवांछनीय है। आलोच्य विषय की आलोचना भी हो और विरोध भी न बढ़े, ऐसा मध्यम-मार्ग कठिन है।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

आचार्यश्री ब्यावर में प्रवचन कर रहे थे। प्रसंगवश कहा–'साधुओं के लिए मकान नहीं बनना चाहिए। यदि बने तो नाम बदलने मात्र से क्या हो? राजाओं के मकान को महल, सेठों के मकान को हवेली, वैसे ही साधुओं के मकान को मठ या स्थानक कहा जाता है। इनमें नाम-भेद है, अर्थ-भेद नहीं।' इसे सुन स्थानकवासी लोगों के मन में विरोध उभर आया। उन्होंने आचार्यश्री से यह कहलाने का यत्न किया कि भविष्य में इस तथ्य को नहीं दोहराया जाएगा। आचार्यश्री को तेरापंथ का नेतृत्व संभाले केवल छह मास हुए थे। उस समय उनकी अवस्था २२ वर्ष की थी किन्तु उनके पीछे पौने दो सौ वर्ष की परम्परा थी। उसका अनुभव था। उन्होंने कहा–'मैंने तथ्यपरक आलोचना की है, व्यक्तिपरक नहीं। सिद्धांतपरक आलोचना की है, द्वेषमूलक या स्वार्थमूलक नहीं। भविष्य में इस तथ्य को कभी नहीं कहूंगा–इसके लिए मैं वचनबद्ध कैसे हो सकता हूं?'

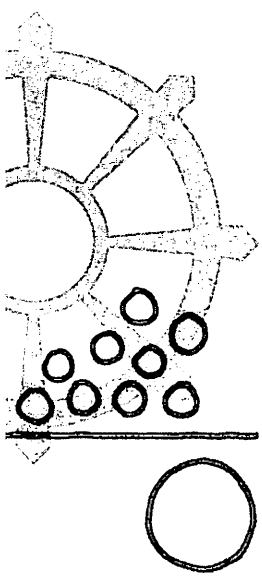

आचार्यश्री जहां कहीं भी खामी देखते उसके प्रति अपनी असहमति प्रकट कर देते थे। एलोरा की गुफाओं के अवलोकन के बाद आचार्यश्री ने कहा–'इन गुफाओं में जैन, बौद्ध और वैदिक संस्कृति की त्रिवेणी प्रवाहित हुई है। लगता है संघर्ष के युग में भी एक समन्वयात्मक प्रयास किया गया था। हमें ऐसी मूर्ति नहीं मिली जो खंडित न हो। समन्वय की प्रतीक इन गुफाओं में यह असहिष्णुता की पराकाष्ठा है।'

बोधगया के पुरातत्त्व संग्रहालय में बुद्ध की एक त्रैलोक्य-विजय की मूर्ति है। उसके पैर शिव की छाती पर टिके हुए हैं। उसे देख आचार्यश्री ने कहा–'क्या श्रमण संस्कृति का यही स्वरूप है? ऐसी मूर्ति जिसने बनवाई है उसने श्रमण संस्कृति का यश उज्ज्वल नहीं किया है। महात्मा बुद्ध की भावना को आगे नहीं बढ़ाया है।' इस आलोचना में संतुलन है, विवेक है।

कभी-कभी तेरापंथ का इतिहास बतलाने में भी स्थिति जटिल बन जाती थी। आचार्यश्री उन दिनों जोधपुर में थे। सांवत्सरिक पर्व था। प्रवचन में तेरापंथ का प्रवर्तन किन स्थितियों में हुआ, इस पर प्रकाश डाला गया।

सांवत्सरिक दिन जैन जगत् के लिए उत्कृष्ट पर्व है। उस अवसर पर जीव-मात्र से क्षमा ली-दी जाती है। उस समय श्री वर्धमान श्रमण संघ के उपाचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज आदि वहां थे। आचार्यश्री ने श्रावकों से कहा–'सांवत्सरिक पर्व है। इस अवसर पर सभी साधुओं से क्षमा-याचना की जाए।' आचार्यश्री का संकेत पाकर वे लोग गए। वातावरण अच्छा बना। दूसरे दिन उनके श्रावक भी सम्मिलित हो आचार्यश्री के पास आए। क्षमा-याचना की। आचार्यश्री ने उनसे क्षमा मांगी। बीच में ही एक व्यक्ति बोल उठा–'इस क्षमा-याचना से क्या होना-जाना है, कल ही तो आपने हमारे संप्रदाय के बारे में विष उगला है।' लोग अवाक् से रह गए।

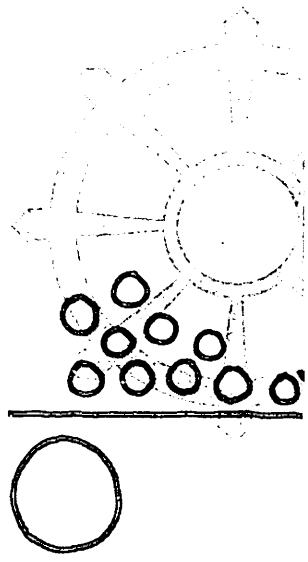

आचार्यश्री ने कहा–'मैंने अपनी स्थिति स्पष्ट की, किसी के प्रति कोई भी ओछी बात नहीं कही। इतिहास के जो तथ्य थे, वे रखे। इसे आप विष उगलना मानें तो भले मानें।' इतने में एक व्यक्ति सुजानसिंहजी ढड्ढा खड़ा हुआ। वह उन्हीं के संप्रदाय का था, उन्हीं के साथ आया था। उसने कहा–'मैं कल आदि से अंत तक आचार्यश्री के प्रवचन में था। मैं अपने इकलौते बेटे की सौगंध खाकर कहता हूं–आचार्यश्री ने अपने प्रवचन में ऐसा एक भी वाक्य नहीं कहा जिसे आक्षेप कहा जा सके।'

कभी-कभी मूर्ति का प्रकरण भी वाद बढ़ा देता था। आचार्यश्री स्पष्ट कहते थे–'मूर्तिपूजा में मेरा विश्वास नहीं है। मैं चैतन्य की उपासना में विश्वास करता हूं।' इस विचार को भी अनेक बार तूल दिया गया।

'ईश्वर कर्तृत्व में मेरी आस्था नहीं है। मैं मनुष्य को अपने भाग्य का विधाता मानता हूं'–इस विचार को भी कुछ ईश्वरवादियों ने अपने पर आक्षेप समझा।

आचार्यश्री ने क्रांति और समन्वय के संगम पर खड़े होकर अनेक परिस्थितियों का सामना किया। कुछ विरोधी लोगों की धारणा में आचार्यश्री का बाहरी रूप समन्वय और आंतरिक रूप संप्रदाय संवर्धन का था। कुछ अनुयायियों ने यह प्रचार किया कि आचार्यश्री समन्वय के मोह में फंस अपने सिद्धांतों को स्पष्ट शब्दों में नहीं रख रहे हैं। अपनी-अपनी दृष्टि से दोनों सही थे। वस्तुस्थिति से दोनों दूर। पहले वर्ग ने आचार्यश्री के मानस को नहीं पकड़ा और दूसरे वर्ग ने आचार्यश्री की भाषा और शैली को नहीं पकड़ा। आचार्यश्री के नेतृत्व में आगम-संपादन का भगीरथ कार्य हुआ। आचार्यवर ने हम लोगों से अनेक बार कहा–'गवेषणा-कार्य में संप्रदाय की दृष्टि प्रधान नहीं होनी चाहिए। कोई ऐसा तथ्य सामने आए, जो संप्रदाय-सम्मत न हो और उसकी सचाई अबाधित हो तो, उसे स्वीकार करने में हमें कोई संकोच नहीं होना चाहिए।' प्रयाण गीत में उन्होंने लिखा–

आत्म-शुद्धि का जहां प्रश्न है, संप्रदाय का मोह न हो।
चाह न यश की और किसी से भी कोई विद्रोह न हो।
स्वर्ण विघर्षण से ज्यों सत्य निखरता संघर्षों के द्वारा,
प्रभो! तुम्हारे पावन पथ पर जीवन अर्पण है सारा॥

आचार्यश्री में आग्रह का भाव कतई नहीं था, यह तो कोई कैसे कह सकता है। लेकिन तथ्यों को समझ लेने पर संप्रदाय की परम्परा उनके ऋजु और अनाग्रही मानस को कभी नहीं बांध सकी, यह कहने में कोई कठिनाई नहीं है।

आचार्यश्री पहले अनेक वर्षों तक चर्चावाद में समय लगाते थे। कालान्तर में उनका इसमें कोई रस नहीं रहा। जिज्ञासा देखते तो अपना अभिमत समझाने का यत्न करते। केवल वाद के लिए वाद जान पड़ता

तो वे थोड़े में ही छुट्टी पा लेते। वे स्पष्ट शब्दों में कह देते–'मेरा अभिमत यह है। आपको जचे तो आप मानें, समझ में न आए तो फिर सोचें। यदि मुझे पराजित करने से आपकी तृप्ति होती हो तो आप मुझे वाद-विवाद में घसीटे बिना ही मान सकते हैं कि आप जीत गए, मैं हार गया।' उज्जैन में एक ऐसा ही प्रसंग बना और आचार्यश्री के इस उत्तर ने विवाद की ज्वाला को एक जलकण से ही शांत कर दिया।

आचार्यश्री का अनेक लोगों से विचार-भेद था और उनसे भी था जो उनके बहुत निकट संपर्क में थे। वे दूसरों से उदारता चाहते ही नहीं थे, उन्हें देते भी थे। इसलिए वे किसी भी धर्म-स्थान में बिना किसी झिझक के चले जाते थे। जैनों, बौद्धों व वैष्णवों के मंदिर, गुरुद्वारा, मस्जिद, दरगाह, चर्च आदि धर्म-स्थानों में वे गए। वहां भगवान् की स्तुति, प्रार्थना की। इसे उनके कुछ अनुयायियों ने अनावश्यक माना और वहां जो कुछ समन्वय की भाषा में कहा, उसे सैद्धांतिक अस्पष्टता माना। इसलिए माना कि वे आचार्यश्री की भाषा को समझ सकें उतनी क्षमता प्राप्त करने का उन्होंने यत्न नहीं किया।

दूसरों की भावना पर चोट न हो, इसे आचार्यश्री ने बहुत गहराई से पकड़ा इसलिए वे ऐसी भाषा के प्रयोग के पक्ष में थे जिससे अपने अभिमत की हत्या भी न हो और दूसरों को आघात भी न लगे। वे जहां गए, वहां उनकी विधि का अनादर नहीं किया तो अपनी विधि को भंग भी नहीं किया। एक गुरुद्वारे में आचार्यश्री का प्रवचन रखा गया। अंदर जाते समय एक व्यक्ति ने विनम्र भाव से कहा–'सिर ढके बिना अंदर जाने की विधि नहीं है।'

आचार्यश्री ने कहा–'सिर ढकना हमारी विधि नहीं है।' प्रवचन नीचे खुले में ही हुआ।

इसी प्रकार आचार्यश्री अजमेर की प्रसिद्ध दरगाह में गए। वहां के अधिकारी ने कहा–'सिर ढके बिना अंदर नहीं आ सकते।'

आचार्यश्री ने कहा–'अच्छी बात है।' आचार्यश्री वापस जाने को मुड़े।

उन्होंने कहा–'आप चले क्यों जाते हैं?'

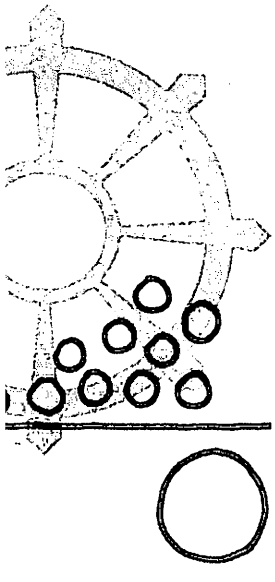

आचार्यश्री–'इस प्रकार सिर ढकें, यह हमारी विधि नहीं है।'

उन्होंने कहा–'तो आप आ सकते हैं।'

आचार्यश्री ने कहा–'आपको कोई आपत्ति न हो तो?'

उनकी हृदय से अनुमति मिली तब वहां गए और एक संक्षिप्त प्रवचन किया। आचार्यश्री ने कहा–'जो लोग धर्म को संघर्ष का साधन बना लेते हैं, वे धर्म के नाम पर अधर्म को पोषण देते हैं। धर्म को जाति के आधार पर बांटना उचित नहीं। जातियों के विभाग का आधार सामाजिक स्थिति है। धर्म जीवन-शोधन का तत्त्व है। वहां हिंदू, मुसलमान का कोई भेद नहीं।'

राणकपुर का जैन मंदिर कला की दृष्टि से प्रसिद्ध मंदिरों में से एक है। कोलकाता से लौटते समय आचार्यश्री वहां पहुंचे। स्वाध्याय के लिए मंदिर में गए। स्वाध्याय के पश्चात् लोगों ने चाहा कि थोड़ा प्रवचन हो। एक जैन भाई बोल उठा–'मंदिर के प्रांगण में प्रवचन नहीं हो सकता।' आचार्यश्री ने कहा–'भगवान के सामने उन्हीं की वाणी का पाठ न हो, यह तो आश्चर्य की बात है।' फिर वहां के प्रबंधक आए और प्रवचन करवाया।

आचार्यश्री ने कहा–'मैं नहीं चाहता कि किसी की विधि का भंग हो। हम जहां जाएं वहां की विधि को भंग करें, यह हमारी सहृदयता नहीं है। हमें विनम्रता से उनकी विधि का सम्मान करना चाहिए।' आचार्यश्री में दूसरों की विधि को तोड़ने का भाव नहीं था तो अपनी विधि के प्रति उपेक्षा का भाव भी नहीं था।

'खंडनात्मक या निंदात्मक बातों के प्रति हमारी विरक्ति रहे'–तेरापंथ के इस नीति-सूत्र को आचार्यश्री ने बहुत पुष्ट किया। गंगाशहर की बात है। स्थानकवासी संप्रदाय के एक मुनि आए। आचार्यश्री से समय मांगा। आचार्यश्री ने सद्भावना के साथ उन्हें समय दिया। आचार्यश्री को उनकी भावना का पता नहीं था इसलिए पूछा–'आप किस विषय में बात करना चाहते हैं?' उन्होंने कहा–'मेरे आचार्य के दुर्व्यवहारों का सारा विवरण मैं आपको सुनाना चाहता हूं।' आचार्यश्री ने तत्काल अपना रुख बदलते हुए कहा–'इससे क्या लाभ होगा? आप अपनी कठिनाइयों को अपने आचार्य के पास ही प्रस्तुत करें। उसका कोई परिणाम होगा। मेरे सामने आप उनकी कोई ओछी बात करेंगे, उससे आपको कोई लाभ नहीं होगा। मैंने अपना समय इसलिए नहीं दिया है।' आचार्यश्री उठ खड़े हुए और अपने कार्य में लग गए।

जिस प्रकार दूसरों की निंदा में रस नहीं था, उसी प्रकार अपने विचारों की आलोचना का भय भी नहीं था। तेरापंथ के मंतव्यों पर बोलने के जितने अवसर आचार्यश्री को मिले, उतने संभवतः किसी को नहीं मिले। तेरापंथ के मंतव्यों को विचारकों के समक्ष रखने का जो प्रयत्न आचार्यश्री ने किया, वह आज तक किसी ने नहीं किया। तेरापंथ के मंतव्यों की आचार्यश्री ने जिस तुलनात्मक पद्धति से बुद्धि-संगत व्याख्या की, वैसी किसने की है? तेरापंथ के मंतव्यों पर आचार्यश्री को जितना गौरव था, उतना सर्वसुलभ नहीं है। उनके प्रवचन, प्रश्नोत्तर, वार्तालाप और जीवन-प्रसंग, इन तथ्यों के स्वयं साक्षी बने हुए हैं।

जनता जैसे अणुव्रत आंदोलन से प्रभावित थी वैसे ही आचार्यश्री के संगठन और धार्मिक व्याख्याओं से प्रभावित थी।

व्यवस्था में परिवर्तन

आचार्यश्री के व्यक्तित्व की एक विशेषता थी ग्रहणशीलता। ग्रहणशील व्यक्ति नई बात को अपना सकता है। विकास की प्रक्रिया है परिवर्तन। आचार्यश्री की आचार्य पदावधि का पहला दशक परिवर्तन की पृष्ठभूमि बना। दूसरे दशक के आते-आते परिवर्तन का क्रम चालू हो गया। शाश्वत को नहीं बदला जा सकता और सामयिक को अपरिवर्तनीय नहीं माना जा सकता। इस सिद्धांत के आधार पर परिवर्तन की प्रक्रिया चली।

हमारा सौभाग्य है कि हमें सुव्यवस्थित धर्म-संघ मिला है। आचार्य भिक्षु महान् व्यवस्था-दक्ष पुरुष थे। उन्होंने जो व्यवस्थाएं दीं और संघ को जिस प्रकार संगठित किया, वह अनुपमेय है। उनकी मौलिक व्यवस्थाओं में स्थिरता का महान् योग है। किंतु सामयिक व्यवस्थाएं शीघ्र परिवर्तन मांगती हैं। आचार्यश्री ने उनकी मांग को समय-समय पर पूरा किया। व्यवस्था-परिवर्तन की दिशा में आचार्यश्री का पहला चरण था–विभाग का पृथक्करण। वि.सं. २००५ तक साधु-साध्वियां जो भिक्षा लातीं, वह सब एकत्र की जाती, फिर उसका विभाग होता। माघ महोत्सव के समय ४००-५०० साधु-साध्वियों के आहार का विभाग करना बहुत बड़ा कार्य हो जाता। दीक्षाक्रम में छोटे साधुओं के साहाय्य थे। उनके तथा साध्वियों के विभाग आने में बहुत विलंब हो जाता। साधु-साध्वियों की संख्या-वृद्धि के साथ यह व्यवस्था अपने आपमें समस्या

बनती जा रही थी। आचार्यश्री ने इसे अनुभव किया और राजलदेसर मर्यादा महोत्सव (वि. सं. २००५) के अवसर पर विभाग की सामूहिक व्यवस्था में परिवर्तन ला दिया। उसके अनुसार साधुओं और साध्वियों की भिक्षा का विभाग पृथक्-पृथक् होने लगा।

भिक्षा में जो वस्तुएं आती वे सब दो भागों में विभक्त होती। उनमें जो समुच्चय की होती वे विभाग-स्थल में रख दी जाती और जो स्वकीय होती, उन्हें भिक्षा लाने वाले आचार्यश्री को दिखाकर अपने आहार-स्थल पर ले जाते। पहले बाजरे की रोटियां ही स्वकीय थीं। गेहूं के फुलके समुच्चय के थे। फिर आचार्यश्री ने यह व्यवस्था की–'जितने फुलके मंगवाएं, उतने समुच्चय में रख लिए जाएं और जो अधिक हों वे भिक्षा लाने वाले को दे दिए जाएं।' साग के लिए भी यह व्यवस्था की। स्वकीय की रेखा को बहुत विस्तृत बना दिया।

आचार्यश्री कोलकाता से राजस्थान की ओर आ रहे थे। लम्बी यात्रा थी। दो बार विहार होते। शाम को विहार कर जाते, तब समय की बड़ी तंगी रहती। आचार्यश्री ने एक दिन प्रयोग किया–'अपनी-अपनी गोचरी में अपने साहाय्य में जितना आवश्यक हो उतना आहार ले आएं।'[1] समय की बचत हुई। विभाग में जो समय लगता, वह नहीं लगा। काम शीघ्र निबट गया। फिर उसे स्थिर रूप दे दिया। द्वि-शताब्दी के बाद आचार्यश्री ने समुच्चय की वस्तुओं को बहुत ही सीमित कर दिया।

पहले आचार्यश्री के वस्त्र धोने की परम्परा थी। साधु-साध्वियों के दिन में पहनने-ओढ़ने के वस्त्र नहीं धोए जाते थे। आचार्यश्री ने उन्हें दो वर्ष पूर्व धोने की स्वीकृति दे दी।[2] आचार्यश्री ने कहा–'आचार्य के वस्त्र धोने के पीछे जो हमारा तर्क है–जनता में अवज्ञा न हो, वही तर्क आज साधु-साध्वियों के वस्त्र धोने के पीछे है। उसी के सहारे मैं इसकी स्वीकृति देता हूं।'

आचार्यश्री का मन अहिंसा से ओत-प्रोत था। उन्होंने कुछ परिवर्तन उसी की सहज प्रेरणा से किए। शाम को गर्म आहार करने की साधारण रीति नहीं थी। उसमें आचार्यश्री ने परिवर्तन कर दिया।[3] उसके पीछे और-और कारणों की अपेक्षा सर्वोपरि कारण मानसिक द्वंद्व ही था–गर्म आहार करने की व्यवस्था हो तो सबके लिए क्यों न हो? इसी में से इस व्यवस्था का उदय हुआ।

तेरापंथ द्वि-शताब्दी मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर और भी अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। परिवर्तन के पीछे चिंतन की लंबी धारा रही। कोई भी परिवर्तन आकस्मिक नहीं हुआ। आज हम माइक पर बोलते हैं। पहले नहीं बोलते थे। डाबड़ी में किसान सम्मेलन आयोजित था। लगभग चार-पांच हजार किसान उसमें भाग ले रहे थे। जयप्रकाश नारायण उस सभा में उपस्थित थे। आचार्यश्री ने अपना प्रवचन शुरू किया। जयप्रकाशजी उठे और माइक लाकर आचार्यश्री के सामने रख दिया। आचार्यश्री ने कहा–'जयप्रकाश बाबू! अभी मैं माइक पर नहीं बोलूंगा।'

जयप्रकाशजी बोले–'आप जैसे क्रांतिकारी, प्रगतिशील माइक पर बोलने से क्यों कतराते हैं?'

आचार्यश्री ने कहा–'हम भीतर जाकर बात करेंगे।'

१. कुमारढबी (बिहार) वि.सं. २०१६ मार्गशीर्ष कृष्णा १४।
२. वि. संवत् २०१५ चैत्र कृष्णा १२, लाडनूं।
३. वि. संवत् २०१७ माघ शुक्ला १०, आमेट।

जयप्रकाशजी ने माइक को हटा लिया। कार्यक्रम के पश्चात् बातचीत शुरू हुई। आचार्यश्री ने बताया–'इस विषय पर वर्षों से हमारा चिंतन चल रहा है। हम इस निष्कर्ष पर भी पहुंच चुके हैं कि माइक पर बोलने में कोई दोष नहीं है। फिर भी यह चिंतन संघ के गले उतारना है। मैं अकेला चलने में विश्वास नहीं करता, सबको साथ लेकर चलने में विश्वास करता हूं।' जयप्रकाशजी इस तर्क से सहमत हो गए। यह घटना ईस्वी सन् १९६६ की है और माइक पर बोलने की प्रवृत्ति शुरू हुई ईस्वी सन् १९६७ में। प्रत्येक परिवर्तन के पीछे सुचिंतित और सुव्यवस्थित शृंखला उपलब्ध होती है।

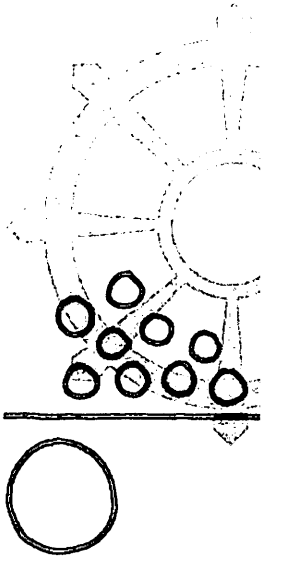

धर्मचक्र का प्रवर्तन

विहार-क्षेत्र का विकास

आचार्य भिक्षु का विहार-क्षेत्र राजस्थान ही रहा। तेरापंथ के तीसरे आचार्य ऋषिराय ने गुजरात की यात्रा की। जयाचार्य भी उनके साथ थे। साधु-साध्वियों का विहार-क्षेत्र मुख्यतया राजस्थान, मालवा (मध्यप्रदेश) और हरियाणा तक ही सीमित था। पूज्य कालूगणी ने विहार-क्षेत्र को थोड़ा विस्तार दिया और साधुओं के कुछ वर्गों को खानदेश और मुंबई (महाराष्ट्र) भेजा। आचार्यश्री ने साधु-साध्वियों के विहार-क्षेत्र को और अधिक विस्तार दे दिया। इस क्रम में पंजाब, तमिलनाडु, हिमाचलप्रदेश, कर्नाटक, आन्ध्रप्रदेश, असम, बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश, सिक्किम, मेघालय, नागालैण्ड और त्रिपुरा तथा भारत के बाहर भूटान और नेपाल में भी साधु-साध्वियों की पदयात्रा का पथ प्रशस्त हो गया।

प्रारंभ में साधु-साध्वियों को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अब वातावरण बदल चुका है। जैन संघों में परस्पर सौहार्द और सामंजस्य बढ़ा है। समन्वय विकसित हुआ है। आज से चार-पांच दशक पहले का वातावरण इससे भिन्न था। उसका संक्षिप्त-सा उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

सन् १९४८ में आचार्यश्री ने सौराष्ट्र में साधु-साध्वियों को भेजा। वहां स्थानकवासी बंधुओं ने घोर विरोध किया। 'चूड़ा' में कुछ लोग तेरापंथ के अनुयायी बने, उन्हें जाति-बहिष्कृत किया गया। हमारे साधुओं के पास जाने वालों के साथ रोटी-बेटी का व्यवहार बंद किया गया। 'बाव'–गुजरात में जो व्यक्ति तेरापंथ के अनुगामी बने, उनके लिए भी मन्दिरमार्गी जैनों द्वारा ऐसा ही किया गया। ब्यावर में आचार्यश्री ने मर्यादा-महोत्सव किया, उस समय स्थानकवासी बंधुओं द्वारा स्थान-बहिष्कार किया गया। यह परम्परा बहुत पुरानी है। आचार्य भिक्षु के पास जाने वालों के लिए सामाजिक दण्ड का विधान था। मैं यह इसलिए नहीं बता रहा हूं कि इन संप्रदायों के प्रति हमारा मन क्षुब्ध हो। मैं यह इसलिए बता रहा हूं कि हमने विरोधी वातावरण में भी सहिष्णु और संतुलित रहने का वरदान पाया है। तेरापंथ का छोटे से छोटा साधु भी इस परीक्षा में उत्तीर्ण होता है। इस स्थिति में आचार्यश्री तुलसी जैसे महामनीषी विरोधी वातावरण में अनुद्विग्न रहे, यह कोई विशेष अचरज की बात नहीं थी।

यह प्रसन्नता का विषय है कि अब स्थानकवासी और मंदिरमार्गी बहुल क्षेत्रों में तेरापंथी साधु-साध्वियों को बड़ी श्रद्धा के साथ स्थान दिया जाता है और उनके साथ सद्भावनापूर्ण व्यवहार किया जाता है। इस परिवर्तन में परस्पर मिलन और विचार-विनिमय–ये दोनों निमित्त बने हैं। इस विहार-क्षेत्र के विस्तार ने सीमा से असीम की ओर जाने की दृष्टि, चिन्तन और स्फुरणा दी।

दीक्षा

भारतीय चिंतन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है त्याग और त्याग का मूर्तिमान रूप है–दीक्षा। तेरापंथ धर्मसंघ में मुनि-दीक्षा की एक विशिष्ट परम्परा है। सब साधु-साध्वियां केवल आचार्य के ही शिष्य होते हैं। दीक्षित

करने का मूल अधिकार आचार्य में ही निहित है। दूसरे साधु-साध्वियां क्वचित्-कदाचित् किसी को दीक्षित करते हैं तो दीक्षित व्यक्ति उनका शिष्य नहीं होता। वह केवल आचार्य का ही शिष्य होता है। आचार्यश्री ने अपने शासनकाल में ८७२ व्यक्तियों–२५५ साधुओं और ६१७ साध्वियों, को दीक्षित किया। सन् १९९३ तक तेरापंथ धर्मसंघ में २३५३ दीक्षाएं हुईं। उनमें ८ आचार्यों ने १४८१ व्यक्तियों को दीक्षित किया।

दीक्षा साधना का जीवनव्यापी प्रयोग है फिर भी कुछ व्यक्ति मध्यकाल में ही दीक्षा को छोड़कर संघ से अलग हो जाते हैं। उसके कई कारण हैं–१. असमर्थता, २. सैद्धांतिक मतभेद, ३. महत्त्वाकांक्षा, ४. स्वच्छंदता या अनुशासनहीनता। आचार्य भिक्षु ने यह संवैधानिक स्वतंत्रता दी–कोई साधु-साध्वी संदेहपूर्वक गण में न रहे। आचार्य, संघ और साधुत्व के प्रति पूर्ण आस्था हो तभी संघ में रहे; अन्यथा न रहे।

व्यक्ति को संघ से अलग होने का अधिकार है। वैसे ही आचार्य को भी किसी व्यक्ति को संघ से अलग करने का संवैधानिक अधिकार है। आचार्यश्री ने समय-समय पर इस अधिकार का उपयोग किया। आचार्यश्री कोलकाता की यात्रा पर थे। उस समय राजस्थान में विहार करने वाले दो साधुओं ने आचार-शिथिलता प्रदर्शित की। उनकी शिथिलता से श्रावक समाज में असंतोष पैदा हो गया। आचार्यश्री को इसका पता चला। आपने वहीं से कड़ी व्यवस्था की। यात्रा संपन्न कर बीदासर (राजस्थान) आए। उन दोनों साधुओं का परिषद् के बीच संघ से संबंध-विच्छेद कर दिया। उस समय आचार्य भिक्षु का यह पद जनता के सामने सजीव हो उठा–

कहो साधु किणरा सगा, तडकै तोड़े नेह।
आचारी स्यूं हिलमिलै, अणाचारी नै छेह॥

व्यक्ति-निर्माण

आचार्यश्री का जीवन आध्यात्मिक तथ्यों के परीक्षण की एक विशाल प्रयोगशाला था। बोल-चाल, रहन-सहन, बात-व्यवहार, खान-पान आदि में संयम का अनुत्तर विकास किया जाए, यह प्रश्न आपके मन की परिधि का मोह छोड़ता नहीं था। अपनी वृत्तियों से दूसरों को कष्ट न हो, इतना ही नहीं किंतु अपने आपमें भी इन्द्रियां और मन अधिक समाधिवान रहें, इसी भावना से आपका चिन्तन और उसके फलित प्रयोग चलते ही रहते थे। यों तो आपने समूचे गण को ही प्रयोग-केन्द्र बना रखा था।

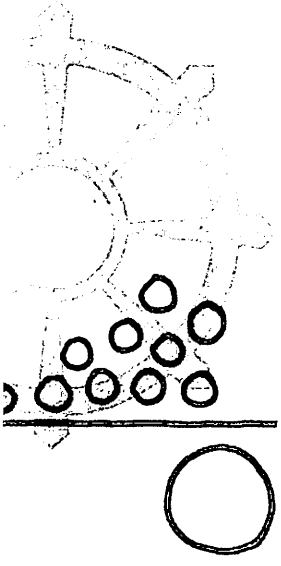

गण की व्यवस्था करने में प्रायश्चित्त और प्रोत्साहन–ये साधन उपयोग में आते हैं। गलती करने वालों को उलाहना कम या अधिक, रूखे शब्दों में या मृदु शब्दों में, एकान्त में या सबके सामने कैसे दिया जाए–इन विकल्पों का आप एक-एक गण-सदस्य पर प्रयोग करके देखते थे। जिस प्रयोग का जिस पर स्थायी असर होता, अपनी भूलों से छुट्टी पाने की शक्ति पाता, उसकी विशुद्धि में उसी का प्रयोग होता। तपस्या, उपवास आदि प्रायश्चित्त के विविध पहलुओं की भी यही बात थी। कई बार इस तथ्य को पकड़ने में साधुओं को भी संदेह हो जाता था। कठोरता की आशंका में मृदुता और मृदुता की आशंका में कठोरता पाकर वे कभी-कभी सोचने लगते कि क्या बात है? आचार्यश्री कठोरता को काम में ही नहीं लाते और कभी-कभी यह अनुभव होने लगता कि आपके पास मृदुता नाम की वस्तु है ही नहीं।

प्रोत्साहन के दोनों अंग–प्रशंसा और अनुग्रह की भी यही गति रही। किसी को साधारण कार्य पर ही प्रशंसा या अनुग्रह अथवा दोनों से प्रोत्साहित कर देते तो कोई असाधारण कार्य करके भी कुछ नहीं पाता।

आचार्यश्री ने एक बार अपनी कार्य-प्रणाली पर प्रकाश डालते हुए कहा–'मेरे कार्यक्रम का मूल आधार है व्यक्ति का विकास। मैं जिस प्रकार जिस व्यक्ति के लाभ होता देखता हूं; उसके साथ उसी तरीके से बरतता हूं। इसलिए इसमें किसी को अधिक कल्पना करने की जरूरत नहीं है।'

आचार्यश्री विभिन्न परिस्थितियों व आंतरिक उपलब्धियों के जगत् में रहे। उन्हें वहां जो संस्कार-बीज मिले वे उनके जीवन में अंकुरित, पुष्पित और फलित होते गए। उनमें आकर्षण था, लुभावनी शक्ति थी और मन पर टिक जाने वाला प्रभाव था। इसलिए उनका जीवन दर्शनीय, अध्ययनीय, मननीय और अनुकरणीय बन गया।

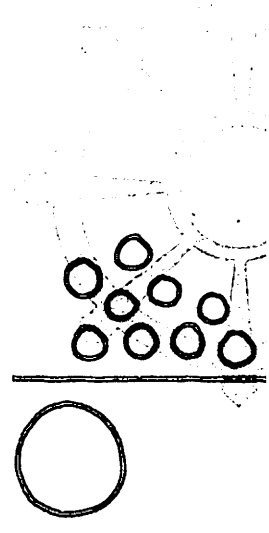

व्यक्ति-निर्माण में कुछ कठिनाइयां भी रहीं। एक नेतृत्व की अपनी विशेषता है तो कुछ कठिनाइयां भी। बड़े संघ में आचार्य का सब शिष्यों के साथ व्यक्तिगत संपर्क कठिन हो जाता है। उस स्थिति में वे अपने शिष्यों को पर्याप्त पोषण नहीं दे पाते। पोषण के अभाव में कुछ शिष्य मार्ग से इधर-उधर भी हो जाते हैं। इस समस्या से आचार्यश्री भी मुक्त नहीं रह पाए। उन्हें अनेक बार शिष्यों के द्वारा उत्पन्न की गई उलझनों का सामना करना पड़ा। यह स्वीकार करना एक वास्तविकता है कि व्यक्ति-निर्माण में जितनी शक्ति और समय लगना चाहिए उतना नहीं लग पाया। फलतः उसके परिणाम भी झेलने पड़े।

शिष्य-संपदा

आचार्यश्री को अनेक शिष्य परम्परा से मिले, जिनका निर्माण पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा हो चुका था। आपने स्वयं अपने हाथों शिष्यों को दीक्षित किया और उनका जीवन गढ़ा। आपके द्वारा निर्मित सैकड़ों साधु-साध्वियां साधना का समर्थ जीवन जी रहे हैं। जनकल्याण की दिशा में भी वे बहुत उपयोगी कार्य कर रहे हैं। सक्षम और विकासशील नेतृत्व का वरदहस्त सचमुच प्राण-संचार कर देता है। हमारा धर्मसंघ इसका ज्वलंत उदाहरण बना हुआ है। विद्या की दृष्टि से जितना समर्थ शिष्य-वर्ग आचार्यश्री के पास रहा, उतना वर्तमान में संभवतः किसी के पास नहीं है। अतीत में भी किसी एक आचार्य के पास इतना समर्थ शिष्य-वर्ग था या नहीं, यह खोज का विषय है। शिष्य-वर्ग केवल विद्या-संपन्न ही नहीं किंतु विनय-संपन्न भी मिला। वह अनुशासन और व्यवस्था के प्रति बहुत जागरूक रहा। विद्या और विनय दोनों से संपन्न शिष्य-वर्ग का मिलना एक सौभाग्य की बात है। तेरापंथ को आचार्य तुलसी जैसा नेतृत्व मिला–यह एक सौभाग्य की बात थी तो आचार्य तुलसी को ऐसा विनीत और प्रबुद्ध शिष्य-वर्ग मिला–यह भी कम सौभाग्य की बात नहीं थी।

तपस्या

जैन शासन में तपस्या की परम्परा बहुत प्राचीन है। मोक्ष मार्ग की आराधना के चार अंग हैं–ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। चारों का अपना-अपना मूल्य है। इसमें न कोई हीन और न कोई उत्कृष्ट। अपने-अपने स्थान पर सब मूल्यवान् हैं। क्षमता और रुचि के कारण इनमें से किसी एक को प्रधानता मिल जाती है। तपस्या वही कर सकता है जिसमें क्षमता और उसके प्रति आकर्षण होता है। हमारे संघ में प्रारंभ से ही तपस्वी साधु-साध्वियों की एक शृंखला रही है। जयाचार्य के समय में छह व्यक्तियों ने छह-छह मास का उपवास किया। आचार्यश्री के शासनकाल में अनेक उल्लेखनीय तपस्याएं हुई हैं, जैसे–लघुसिंह निष्क्रीड़ित तप के चतुश्चरण की संपन्नता, भद्रोत्तर तप, महाभद्रोत्तर तप, आयंबिल की तेरहमासी, केवल आछ (गर्म

छाछ का निथरा हुआ पानी) पीकर बारह महीने की तपस्या, छाछ के आगार पर ४६२ दिन की तपस्या, आदि।

संघ-व्यवस्था और अनुशासन

धर्मसंघ की तेजस्विता के दो आधार-स्तम्भ हैं–अनुशासन और व्यवस्था। जिस संघ के सदस्य इन दोनों के प्रति जागरूक होते हैं वही संघ गतिशील और विकासशील होता है। आचार्यश्री ने जिस संघ का नेतृत्व किया, उस संघ को अनुशासन और व्यवस्था के प्रति जागरूकता का मंत्र जन्मघुट्टी के रूप में प्राप्त है।

संघ के विकास का मूल आधार है–आचार। आचार्यश्री अपने दायित्व और कर्तव्य के प्रति बहुत जागरूक रहे इसीलिए उनके नेतृत्व में संघ का बहुत विकास हुआ। स्थानांग सूत्र में विकास के सात हेतु निर्दिष्ट हैं–

१. आचार्य गण में आज्ञा व धारणा का सम्यक् प्रयोग करते हैं।

२. आचार्य गण में बड़े-छोटे के क्रम से वंदना का सम्यक् प्रयोग करते हैं।

३. आचार्य जिन-जिन सूत्र रहस्यों को धारण करते हैं उनकी उचित समय पर गण को सम्यक् वाचना देते हैं।

४. आचार्य गण के ग्लान तथा नवदीक्षित साधुओं की यथोचित सेवा के लिए सतत जागरूक रहते हैं।

५. आचार्य गण को पूछकर अन्य प्रदेश में विहार करते हैं, उन्हें पूछे बिना विहार नहीं करते।

६. आचार्य गण के लिए अनुपलब्ध यथोचित उपकरणों को उपलब्ध करते हैं।

७. आचार्य गण में प्राप्त उपकरणों का सम्यक् प्रकार से संरक्षण तथा संगोपन करते हैं। विधि का अतिक्रमण कर संरक्षण और संगोपन नहीं करते।

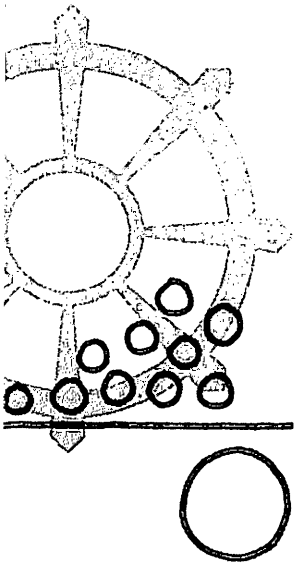

आचार्यश्री का जीवन विकास के इन सात सूत्रों का निदर्शन था। उनके पूरे जीवन-दर्शन का इन सात सूत्रों के संदर्भ में मूल्यांकन किया जा सकता है। कुछ सूत्रों की समीक्षा करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

आचार्यश्री ने अपने शिष्यों को विद्या के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ाया। एक सामान्य धारणा रही कि शिष्यों को बहुत पढ़ाना सिरदर्द मोल लेना है। उन्हें उतना ही पढ़ाना चाहिए कि जितना पढ़कर वे काम चला सकें और सेवा करते रहें। आचार्यश्री ने इस धारणा को मान्य नहीं किया। उन्होंने मुक्त भाव से विद्या का दान किया। इसीलिए विद्या के क्षेत्र में उनका शिष्य-वर्ग बहुत समृद्ध बना।

सेवा के क्षेत्र में तेरापंथ धर्मसंघ का एक विशेष दृष्टिकोण रहा है। आचार्य भिक्षु ने आगमिक निर्देशों को व्यवस्था का रूप दिया तो सेवा को परम-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया। हमारे धर्मसंघ में उसकी विशिष्ट परम्परा बन गई। वृद्ध साध्वियों के लिए जयाचार्य ने लाडनूं में सेवाकेन्द्र की स्थापना की। आचार्यश्री ने इसके अतिरिक्त बीदासर में समाधि केन्द्र, श्रीडूंगरगढ़ और राजलदेसर में सेवाकेन्द्र की व्यवस्था की। वृद्ध साधुओं की सेवा के लिए छापर में सेवाकेन्द्र की व्यवस्था है। सर्वोदयी नेता कृष्णराज मेहता ने लाडनूं के सेवाकेन्द्र को देखा, सूक्ष्म दृष्टि से उसका अध्ययन किया। वे आमेट में आए। उन्होंने कहा–'आचार्यश्री! मैं हिन्दुस्तान के अनेक सेवाकेन्द्रों में गया हूं, किन्तु इतना व्यवस्थित सेवाकेन्द्र कहीं

नहीं देखा। सेवा करने वाली साध्वियां बड़ी तन्मयता से सेवा करती हैं। सेवा लेने वाली साध्वियां बड़ी प्रसन्नता से उनकी सेवा स्वीकार करती हैं। दोनों में अद्भुत तादात्म्य है।' आचार्यश्री की जागरूकता ने सेवा को बहुत मूल्यवान् बनाया।

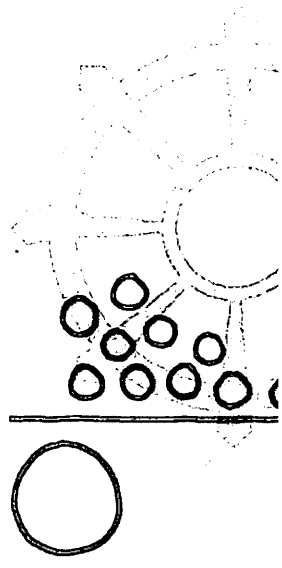

यात्रा की दिशा में भी आचार्यश्री ने आगम के निर्देश का अनुसरण किया। दक्षिण की यात्रा के समय आपने धर्मसंघ की सम्मति ली और उसके पश्चात् सुदूर प्रदेश की यात्रा की।

महावीर का निर्देश है कि आचार्य आठ कर्तव्य-बिन्दुओं के प्रति निरंतर जागरूक रहे–

१. अश्रुत धर्मों को सम्यक् प्रकार से सुनने के लिए जागरूक रहे।

२. सुने हुए धर्मों के मानसिक ग्रहण और उनकी स्थिर स्मृति के लिए जागरूक रहे।

३. संयम के द्वारा नए कर्मों का निरोध करने के लिए जागरूक रहे।

४. तपस्या के द्वारा पुराने कर्मों का पृथक्करण और विशोधन करने के लिए जागरूक रहे।

५. असंगृहीत शिष्यों को आश्रय देने के लिए जागरूक रहे।

६. नवदीक्षित मुनि को आचार-गोचर का सम्यक् बोध कराने के लिए जागरूक रहे।

७. ग्लान की अग्लान भाव से वैयावृत्य करने के लिए जागरूक रहे।

८. साधर्मिकों में परस्पर कलह उत्पन्न होने पर–ये मेरे साधर्मिक किस प्रकार अपशब्द, कलह और 'तू-तू' 'मैं-मैं' से मुक्त हों, ऐसा चिन्तन करते हुए लिप्सा और अपेक्षा-रहित होकर, किसी का पक्ष न लेकर मध्यस्थ भाव को स्वीकार कर उसे उपशान्त करने के लिए जागरूक रहे।

संघ विकास और जागरूक नेतृत्व दोनों को एक साथ ही देखा जा सकता है। जागरूकता की कसौटी है देश और काल की समझ। आचार्यश्री ने देशातीत और कालातीत सत्य के साथ दैशिक और कालिक सत्य का भी मूल्यांकन किया। तेरापंथ द्वि-शताब्दी (ई. सन् १९६०) के अवसर पर आचार्यश्री ने एक मंत्री परिषद् के निर्माण की परिकल्पना की। राजसमंद के एक पर्वत पर दयालशाह का देहरा। वहां साप्ताहिक एकान्तवास। स्वस्थ और शांत वातावरण। पीछे की ओर राजसमंद झील की लहरें पर्वत की तलहटी को नहला रही थीं। आगे की ओर पेड़ों की हरीतिमा आंखों को शांति दे रही थी। उस पवित्र वातावरण में आचार्यश्री अपने आचार्य-पीठ पर बैठे। साप्ताहिक चिंतन-मंथन की अवधि में मंत्री परिषद् का प्रारूप तैयार किया गया। एकान्तवास के पश्चात् आचार्यश्री पुनः चातुर्मासिक प्रवास-स्थल में पधारे। प्रसंगवश मंत्री परिषद् की अस्पष्ट-सी चर्चा साधु-साध्वियों की परिषद् में प्रस्तुत की गई। वातावरण में एक हलचल-सी पैदा हो गई। अनेक साधु अपना-अपना निवेदन लेकर आचार्यश्री के पास पहुंचे। उनका निवेदन था–हमें एक नेतृत्व में विश्वास है, इसलिए विकेन्द्रीकरण वाली बात हमारे गले नहीं उतरती। हमारी प्रार्थना है, आप इस पर पुनर्विचार करें। आचार्यश्री ने संघ-हितैषी साधुओं की भावना को समझा और उस कल्पना को स्थगित कर दिया।

निकाय व्यवस्था

आचार्य भिक्षु द्वारा कृत एक नेतृत्व की व्यवस्था को हम मौलिक मर्यादा मानते हैं। उसमें परिवर्तन की कल्पना कभी नहीं की गई, फिर भी संघ-विस्तार और कार्य-विस्तार को देखते हुए एक सहयोगी व्यवस्था

की कल्पना होती रही। ई. सन् १९६३ में लाडनूं चातुर्मास में निकाय व्यवस्था का प्रयोग शुरू किया गया। साध्वी कस्तूरांजी, कानकंवरजी, संघमित्राजी, राजीमतीजी को प्रबंध, साहित्य आदि के कार्य सौंपे गए। इन साध्वियों ने साध्वीप्रमुखा लाडांजी की सहयोगिनी के रूप में अपना कार्य प्रारंभ किया। वह प्रयोग दो वर्ष तक चलता रहा। ई. सन् १९६६ (वि. सं. २०२२) हिसार मर्यादा महोत्सव के अवसर पर निकाय व्यवस्था को प्रबंध निकाय, साधना निकाय, शिक्षा निकाय और साहित्य निकाय–इस चतुर्निकायात्मक व्यवस्था में रूपान्तरित कर 'निकाय सचिव' का दायित्व मुझे सौंपा गया। इन सभी कार्यों को व्यवस्थित रूप देने के लिए चार साधु और चार साध्वियों की नियुक्ति की गई। यह प्रयोग विधिवत् चलता रहा। हैदराबाद मर्यादा महोत्सव (ई. सन् १९७०) के अवसर पर मेरे आग्रहपूर्ण अनुरोध पर मुझे निकाय सचिव के पद से मुक्त कर दिया।

आचार्यवर ने मेरे अनुरोध के उत्तर में कहा–'मुनि नथमलजी की प्रगति और कार्य से मैं संतुष्ट हूं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता है गुरु के इंगित को अपना लक्ष्य मानना। अपने इस गुण से ही ये उत्तरोत्तर गति कर रहे हैं। आज ये विशेष साधना की दृष्टि से सचिव पद से मुक्त होने की प्रार्थना कर रहे हैं। मैं इन्हें कार्यमुक्त तो नहीं कर सकता, पर इनकी तीव्र इच्छा जानकर 'निकाय सचिव' की उपाधि से मुक्त करता हूं। इनकी मुक्ति के साथ निकाय व्यवस्था से संबंधित साधु-साध्वियां सहज ही मुक्त हो गए हैं। आवश्यकता होने पर इस व्यवस्था को पुनः कार्यान्वित किया जा सकता है।'

गंगाशहर मर्यादा महोत्सव (ई. सन् १९८२) के अवसर पर कुछ परिवर्तन के साथ निकाय व्यवस्था का प्रयोग पुनः चालू किया गया। उसमें व्यवस्था निकाय के प्रमुख का दायित्व मुनि बुद्धमल्लजी को सौंपा गया। इस व्यवस्था के कारण तेरापंथ के एक नेतृत्व वाले अनुशासन में कोई अन्तर नहीं आया। किन्तु इसमें अनेक व्यक्तियों को कार्य करने का प्रशिक्षण मिला और आचार्य ने अपने अनेक सहयोगियों से कार्य संपन्न करवा कर प्रसन्नता का अनुभव किया।

साध्वीप्रमुखा की नियुक्ति

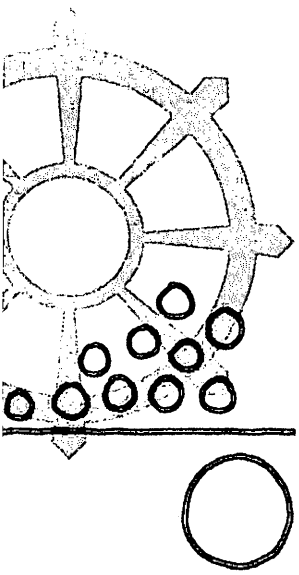

तेरापंथ के संविधान के अनुसार साध्वीप्रमुखा की नियुक्ति स्वयं आचार्य करते हैं। वे साध्वियों के कार्य-संचालन में साध्वीप्रमुखा का सहयोग लेते हैं।

साध्वियों की व्यवस्था के संचालन का मूल अधिकार आचार्य में ही निहित है। वे साध्वीप्रमुखा से काम लेते हैं, पर उसकी पूरी जानकारी उन्हें रखनी जरूरी है। आचार्यश्री के आचार्य-काल का तीसरा-चौथा वर्ष चल रहा था। एक दिन मंत्रीमुनि ने पूछा–'आप साध्वियों का काम स्वयं देखते हैं या नहीं?'

आचार्यश्री ने बताया–'थोड़ा बहुत मैं देखता हूं, शेष कार्य साध्वीप्रमुखा झमकूजी कर लेती हैं।'

मंत्रीमुनि बोले–'यह ठीक नहीं है। व्यवस्था का सारा कार्य आपको देखना चाहिए, अन्यथा यह कार्य गतरस हो जाएगा।'

आचार्यश्री ने मंत्रीमुनि की प्रार्थना पर ध्यान दिया और साध्वियों की प्रत्येक व्यवस्था को बड़ी जागरूकता से देखना शुरू कर दिया।

आचार्यश्री ने तीन साध्वीप्रमुखाओं की नियुक्ति की–

१. साध्वीप्रमुखा झमकूजी, ई. सन् १९३६ (संवत् १९९३) गंगापुर।

२. साध्वीप्रमुखा लाडांजी, ई. सन् १९४६ (संवत् २००३) राजगढ़।

३. साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी, ई. सन् १९७२ (संवत् २०२८) गंगाशहर।

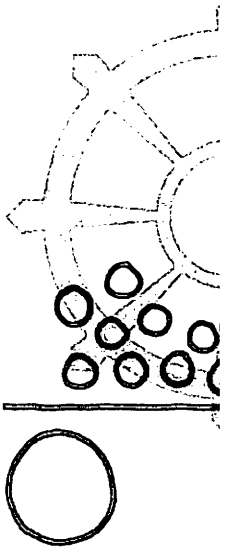

पूज्य कालूगणी के अस्तित्व काल में साध्वीप्रमुखा थीं कानकंवरजी। वे अस्वस्थ होने के कारण एक स्थान में ही अवस्थित थीं। पूज्य कालूगणी के साथ साध्वी झमकूजी रहती थीं और वे ही साध्वियों की देखरेख का काम करती थीं। पूज्य कालूगणी के स्वर्गवास से दो सप्ताह पूर्व साध्वीप्रमुखा कानकंवरजी का स्वर्गवास हो गया। उनका स्थान रिक्त था। आचार्यवर द्वारा झमकूजी की साध्वीप्रमुखा के स्थान पर नियुक्ति स्वाभाविक लगी। वह चर्चा का विषय नहीं बनी। लाडांजी की साध्वीप्रमुखा के स्थान पर नियुक्ति अप्रासंगिक नहीं थी, फिर भी वह क्वचित् किंचित् चर्चा का विषय बन गई। चर्चा का आधार-बिन्दु इतना ही था कि लाडांजी विशेष पढ़ी-लिखी नहीं हैं। वे आचार्यवर की संसारपक्षीया बहन हैं, इसलिए उन्हें साध्वीप्रमुखा बनाया गया है। इस आलोचना को सर्वथा अकारण नहीं कहा जा सकता किन्तु आलोचना का दृष्टिकोण वर्तमान से जुड़ा होता है और नियुक्ति का दृष्टिकोण वर्तमान और सुदूर भविष्य–दोनों से जुड़ा रहता है। आचार्यश्री ने नियुक्ति से पूर्व मंत्रीमुनि मगनलालजी स्वामी से परामर्श किया था। उन्होंने निवेदन किया–'साध्वियों का कार्य आपको ही करना है, साध्वीप्रमुखा उसमें एक माध्यम है। अभी लाडांजी से अच्छा माध्यम और कौन बन पाएगी? इसलिए उन्हें साध्वीप्रमुखा बनाना उचित ही लगता है।' मंत्रीमुनि का परामर्श सार्थक रहा। साध्वीप्रमुखा लाडांजी ने अपने कर्तव्य से अपनी उपयोगिता सिद्ध कर दी। वे साध्वियों के लिए प्रेरणा-स्रोत बन गईं। उनके कार्यकाल में अनेक साध्वियां प्रबुद्ध बनीं। आज भी हमारे संघ में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिस प्रवृत्ति का परिणाम सुन्दर होता है उस प्रवृत्ति का प्रारंभ सुन्दर और सुचिंतित अपने आप प्रमाणित हो जाता है।

साध्वीप्रमुखा लाडांजी का स्वर्गवास ई. सन् १९७० (वि. सं. २०२७) में हो गया था। आचार्यश्री ने तत्काल साध्वीप्रमुखा के स्थान पर किसी की नियुक्ति नहीं की। लगभग पौने दो वर्ष साध्वी कमलूजी साध्वियों की देख-रेख का कार्य करती रहीं। इस अवधि में यह अनुभव हुआ कि किसी एक व्यक्ति को प्रमुख बनाए बिना भावना केन्द्रित नहीं होती। धर्मसंघ का कार्य भावना या आस्था के सहारे चलता है। आस्था के मुख्य केन्द्र होते हैं आचार्य। साध्वियों की देख-रेख के लिए किसी साध्वी को प्रमुखा बनाना आवश्यक है। इस आवश्यकता की अनुभूति हुई और साध्वीप्रमुखा के रिक्त स्थान को भरने का चिंतन शुरू हुआ। आचार्यश्री का चिंतन था–वर्तमान परिस्थिति में किसी प्रबुद्ध साध्वी को साध्वीप्रमुखा बनाया जाए। प्रबुद्धता के साथ आचार-कुशलता और तटस्थता–ये दोनों अवश्यंभावी हैं। जो इन तीनों अपेक्षाओं को पूरा कर सके, ऐसी साध्वी को खोजना आचार्यवर की सूक्ष्म दृष्टि का कार्य था। आपकी दृष्टि साध्वी कनकप्रभा पर गई। उस समय वह एक अनजानी-सी साध्वी थी। साध्वीप्रमुखा की नियुक्ति के लिए जिनके नाम चर्चा में थे, उनकी सूची में इनका कहीं नाम भी नहीं था। हमारे धर्मसंघ की विशेषता है कि नियुक्ति उसी की होती है जो आचार्य की कसौटी में खरा उतरता है। उसका चर्चित होना आवश्यक नहीं। कनकप्रभाजी की साध्वीप्रमुखा के स्थान पर नियुक्ति एक विशेष वातावरण में हुई। साधु-साध्वियों की कल्पना किसी दूसरे व्यक्ति के नाम पर अटकी हुई थी। वे उस नाम से आशंकित और आतंकित थे इसलिए वातावरण में कहीं-कहीं क्षोभ का स्वर भी फूट रहा था। वह स्वर मेरे पास और आचार्यश्री

के कानों तक भी पहुंचा। जो होने वाला था उससे मैं अनजान नहीं था। आचार्यवर अपने निश्चय पर दृढ़ थे इसलिए उस क्षोभ को अहेतुक मानकर उसकी उपेक्षा की गई। चिंतन यही रहा कि नियुक्ति के साथ वातावरण अपने आप स्वच्छ हो जाएगा। आचार्यवर द्वारा कनकप्रभाजी की साध्वीप्रमुखा के स्थान पर नियुक्ति ने सबको आश्चर्य में डाल दिया। वातावरण अपने आप स्वस्थ और स्वच्छ हो गया। फिर वही स्वर सुनने को मिला कि आचार्यवर ने लोहावरण क्यों बनाए रखा? इस नियुक्ति से यह स्पष्ट हो गया कि आचार्य के सामने कोई व्यक्ति सर्वोपरि नहीं होता, सर्वोपरि होता है संघ का हित। आचार्यवर संघहित के प्रति बहुत जागरूक हैं, यह छवि जनमानस पर अंकित हो गई।

युवाचार्य की नियुक्ति : पृष्ठभूमि

गंगाशहर का चातुर्मासिक प्रवास। १२ नवम्बर १९७८। दीक्षा का समारोह। आचार्यवर ने उस समारोह के मध्य 'स्वामीजी थांरी साधना री, मेरु सी ऊंचाई'– इस गीतिका का संगान किया। उसकी व्याख्या करते हुए आचार्यवर ने कहा–'तीर्थंकरों के लिए, गणधरों के लिए, यशस्वी और मेधावी आचार्यों के लिए 'प्रज्ञा' शब्द का प्रयोग हुआ है। मैं स्वयं इस शब्द को बहुत महत्त्व देता हूं। इस सुंदर समारोह में मैं आज इस प्रज्ञा शब्द को साकार रूप देना चाहता हूं। हमारे धर्मसंघ के एक मुनि आपके सामने बैठे हैं जिन्होंने अपनी प्रखर प्रज्ञा के द्वारा साहित्य की, साधना की धारा बहाई है। मैं चाहता हूं कि मुनि नथमलजी खड़े हो जाएं। मैं इनके साहित्य को, जैनों के लिए ही नहीं समस्त धार्मिकों के लिए, बौद्धिक जगत् के लिए, उपयोगी मानता हूं। मुनि नथमलजी ने अपनी विशिष्ट साधना और अभ्यास के द्वारा आज की युवापीढ़ी को आकृष्ट किया है, धर्म के प्रति झुकाया है। मैं मानता हूं कि जो व्यक्ति ऐसा काम करते हैं, उन्हें किसी अपेक्षा की जरूरत नहीं होती और अपेक्षा वाले से कुछ होता भी नहीं है। मैं आज इस शुभ अवसर पर मुनि नथमलजी को 'महाप्रज्ञ' विशेषण से विभूषित करना चाहता हूं।'

मैंने आचार्यवर के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त की। मेरी आकांक्षा का स्वर था–'मैं केवल प्रज्ञा की साधना करूं, साक्षात्कार के लिए समर्पित होऊं। मेरा एकमात्र लक्ष्य है–प्रत्यक्ष दर्शन। परोक्ष के प्रति मेरा बहुत आकर्षण नहीं है। आचार्यवर! मैं आपके सब अनुग्रहों को स्वीकार करता आया हूं, आज तक करता आया हूं और एक छोटे बच्चे की तरह स्वीकार करता आया हूं। तो मेरी एक प्रार्थना आप भी स्वीकार कर लें कि जो व्यक्ति निर्विशेषण और निरुपाधिक सत्ता से और आगे बढ़ना चाहता है, उसे आप क्षमा करें और इस विशेषण की बात से मुक्त कर दें। प्रज्ञा बढ़ाएं। मैं बहुत अच्छा मानता हूं कि मेरी प्रज्ञा और आगे बढ़े। उसमें निरन्तर आपका आशीर्वाद मुझे उपलब्ध होता रहे। किंतु यह विशेषण वाली बात बहुत अटपटी होती है। मेरी प्रज्ञा को मेरे भीतर ही रहने दें।'

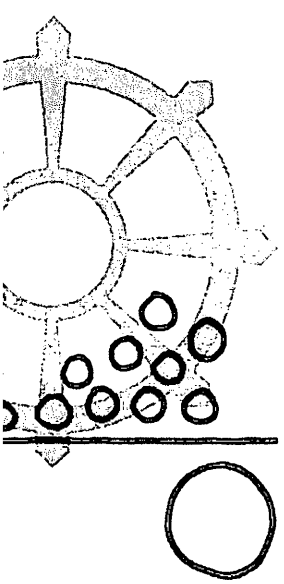

१३ नवम्बर को 'महाप्रज्ञ' अलंकरण के उपलक्ष में अभिनंदन का कार्यक्रम आयोजित किया गया। उसमें आचार्यवर ने महाप्रज्ञ शब्द की मीमांसा प्रस्तुत की। आपने कहा–'पंडित, मनीषी आदि के लिए महाप्रज्ञ शब्द का उपयोग किया जाता है। जो विद्वान् होता है, शास्त्रों का पारगामी होता है और उनका भाष्यकार होता है, वह प्रज्ञ या प्राज्ञ होता है। किन्तु यह अर्थ मुझे स्वीकार नहीं है। फिर आप कहेंगे कि जो मौन करता है, एकान्त ध्यान करता है, साधना करता है, वह महाप्रज्ञ होगा? मुझे यह अर्थ भी स्वीकार नहीं है। जिसमें विद्या और साधना का पूर्ण समावेश हो, दोनों का संयुक्त समावेश हो, दोनों अलग-थलग न पड़ें, वह होता है महाप्रज्ञ।'

आचार्यवर ने आशीर्वाद की मुद्रा में कहा–'महाप्रज्ञ! तुम संघ में अपनी प्रज्ञा को बिखेरो, अनेक व्यक्ति प्रज्ञावान् बनें, ऐसा उपक्रम करो।' मैंने आचार्यवर के आशीर्वाद को प्रणत मुद्रा में शिरोधार्य किया।

आचार्यश्री ने अपने वक्तव्य में कुछ ऐसे बिन्दु प्रस्तुत किए, जो भावी की ओर इंगित कर रहे थे। डा. एस. आर. मेहता के सुझाव पर पंजाब यात्रा में परिवर्तन, राजलदेसर मर्यादा महोत्सव की आकस्मिक घोषणा और इस बार का मर्यादा महोत्सव उल्लेखनीय होगा–ये सब किसी अज्ञात का संकेत दे रहे थे।

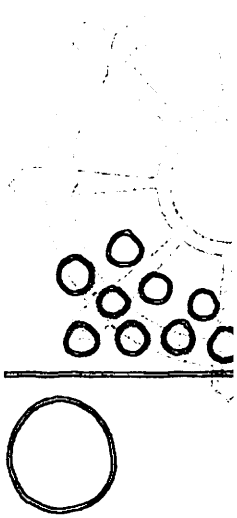

युवाचार्य की नियुक्ति : कार्यक्रम

राजलदेसर का विशाल प्रवचन पंडाल। माघ शुक्ला ६ का पवित्र दिन, हजारों-हजारों की उपस्थिति। आचार्यश्री ने प्रातःकालीन प्रवचन की सम्पन्नता के क्षणों में कहा–'कल सप्तमी को कुछ अभूतपूर्व होगा। जो उससे वंचित रहेगा, वह जीवनभर पछताएगा।' इन शब्दों के उच्चारण के साथ आचार्यश्री का मुख-मंडल अलौकिक छटा से व्याप्त हो गया। एक विलक्षण व्यक्ति ने मुख पर खचित होने वाली उन रेखाओं को पढ़ा। उसने कहा–'जो प्रसन्नता आज मुख-मंडल पर है वह संकेत देती है कि उनके हृदय में प्रसन्नता का सागर लहरा रहा है।' आचार्यवर के शब्द सभी उपस्थित नर-नारियों के कानों में गूंज रहे थे। सर्वत्र एक ही प्रश्न पूछा जा रहा था–कल क्या होगा? कल क्या होगा? प्रश्न के साथ-साथ लोग अपने आनुमानिक उत्तर भी दिए जा रहे थे।

सप्तमी का सूर्योदय हुआ। आज का सूर्य कुछ नया लेकर आया था। सारे लोग मध्याह्न में आयोजित होने वाले मर्यादा महोत्सव में उपस्थित होने की पूर्व तैयारी में लगे थे। आचार्यश्री के वे शब्द 'कुछ घटित होगा'–सबके कानों में गूंज रहे थे।

उत्सुकता चरम सीमा पर

जनता की उत्सुकता चरम शिखर को चूम रही थी। साधु-साध्वी उत्सुक, श्रावक-श्राविका उत्सुक। एक-दूसरे से पूछने पर कुछ भी समाधान नहीं मिला। डागा परिवार की बाड़ी में नवनिर्मित विशाल मंच पर आचार्यश्री तथा उनका श्रमण-श्रमणी परिवार उपस्थित था। आचार्यश्री ऊंचे आसन पर विराजमान थे। उनके दायीं ओर श्रमणी परिवार और बायीं ओर श्रमण परिवार था। आज आचार्यप्रवर विशेष हर्षित थे। चेहरे पर प्रसन्नता टपक रही थी। मर्यादा महोत्सव पर प्रकाश डाला। आचार्यप्रवर ने अपनी नवनिर्मित गीतिका सहज, सरल ढंग से प्रस्तुत की। संगीत के उन समवेत स्वरों में सारी जनता आकण्ठ डूब गई। सबके मन संगीत की स्वर-लहरियों के साथ थिरक रहे थे, पर वे उत्सुकता से उस घड़ी की प्रतीक्षा में थे, जब कुछ अकल्पित घटित होने वाला था।

उत्तराधिकारी नियुक्त करना है

समय आया। घड़ी की सूई ने ढाई बजे का संकेत दिया। आचार्यश्री के एक शब्द ने सारी जनता को आश्चर्यचकित कर दिया। आचार्यश्री ने कहा–'अब कुछ अकल्पित होगा।' सबके मन और अधिक उत्कंठित हो उठे। क्या होगा? कैसे होगा? क्यों होगा? क्या, कैसे और क्यों से सबके हृदय धड़कने लगे। धड़कन बढ़ती ही जा रही थी और आचार्यप्रवर और अधिक रहस्यमय बनते जा रहे थे। आचार्यश्री ने कुछ ही क्षणों के बाद कहा–'आज मुझे धर्मसंघ का नेतृत्व और दायित्व निभाते ४३ वर्ष हो गए। मैंने अपने

दायित्व को मनसा, वाचा, कर्मणा निभाया और निभाता रहूंगा। आज मेरी अवस्था ६५ वर्ष की हो गई है। आप देखते आ रहे हैं कि हमारे धर्म-संघ के अब तक जितने आचार्य हुए हैं, एक को छोड़कर सभी आचार्यों ने इस उम्र से पहले-पहले अपना दायित्व औरों को सौंप दिया। मैं भी आज एक घोषणा करना चाहता हूं। (सारी सभा में एक सन्नाटा)। एक नाम की घोषणा करना चाहता हूं। (लोगों की उत्सुकता तीव्रतम हो गई) कुछ लोगों में बेचैनी है। क्या? ६५ वर्ष की उम्र है, अब तक उत्तराधिकार की कोई चर्चा नहीं है, कहीं माणकगणी की तरह बरतारा न बीत जाए। कुछ लोगों को यह चिंता है कि आचार्यश्री परेशानी में हैं, करना चाहते हैं, किंतु कर नहीं सकते। कुछ लोग यह कहते हैं कि करें क्या, साधुओं में बड़ा भारी विरोध है, न जाने कब क्या हो जाए। ऐसी बातें पागलपन की उपज हैं, निरर्थक हैं और असत्य हैं। आज तक मेरे मन में इसके लिए कभी भी एक क्षण बेचैनी नहीं हुई। इस बारे में कभी मैंने निर्णय लिया ही नहीं। एक-दो बार मेरे मन में यह बात जरूर आई। आकस्मिक बीमारी आई। तब मैंने सोचा कि अकस्मात् कोई काम हो जाए तो क्या करना चाहिए। मैंने कोई चिंतन भी किया फिर उसे छोड़ दिया। मैं ठीक कह रहा हूं। धर्मसंघ के सब साधु-साध्वी बैठे हैं। मैंने इस विषय में कभी चिन्ता नहीं की। मुझे लगता है, आज भी मेरे लिए वि. सं. १९९३ है। मेरे उल्लास, मेरी प्रसन्नता में कोई कमी नहीं है। लेकिन आज मैं एक नाम घोषित करना चाहता हूं। लोग चिंतन कर रहे होंगे। नाम पुराना है। भारतवर्ष में ही है, बाहर नहीं है। (लोगों का धैर्य विचलित हो रहा था। सब आचार्यश्री की ओर टकटकी बांधे हुए थे।) मेरी दृष्टि में, मेरी आज्ञा में, मेरे चिंतन और इंगित पर चलने वाले साधु का नाम है। साधु सक्षम है मेरा दायित्व निभाने को। अब किन-किन का नाम लूं। मैं जिस किसी पर हाथ रख कर कहूं कि तुम निभाओ, वही निभा सकता है। अब आप लोग आतुर हो रहे होंगे। मेरे समूचे जीवन का सबसे बड़ा निर्णय है। यह निर्णय समूचे संघ का निर्णय है। किसी साधु को कल्पना नहीं है कि क्या होने वाला है आज? यह पत्र (उत्तराधिकार) मेरे हाथ में है। इस पत्र को मैंने आज ही दिन के साढ़े ग्यारह बजे लिखा है। अब मैं अपने उत्तराधिकारी का नाम घोषित कर रहा हूं। मुनि नथमलजी खड़े हो जाओ।'

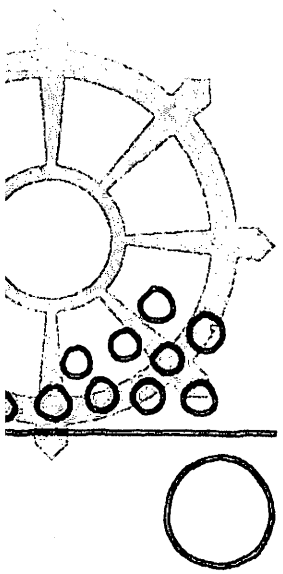

सबके मन शान्त। उत्सुकताएं समाहित। नामों की दौड़-धूप समाप्त। अब सबके मन आनन्दित, प्रमुदित और प्रफुलित होकर आगे की कार्यवाही सुनने को उत्सुक थे। सभी उत्कर्ण थे।

आचार्यप्रवर ने आगे कहा–'मैं आज तेरापंथ धर्मसंघ के ११५वें मर्यादा महोत्सव समारोह में अपने उत्तराधिकारी के रूप में 'महाप्रज्ञ मुनि नथमल' को नियुक्त करता हूं।' बस, इतना सुनते ही आचार्यश्री तुलसी की जय-जयकार से आकाश गुंजित हो उठा। लोग थिरकने-से लगे। खुशी का अपार समुद्र लहराने लगा। आचार्यश्री ने जनता के हर्ष को और अधिक वृद्धिंगत करते हुए मुझे अपनी श्वेत, धवल चादर ओढ़ाई।

आचार्यश्री ने अपने उत्तराधिकार-पत्र का वाचन कर वह पत्र मेरे हाथों में थमा दिया। उस क्षण जनता के जयनाद से एक बार फिर आकाश गूंज उठा।

आचार्यप्रवर ने आगे कहा–'मैं चाहता हूं कि युवाचार्य महाप्रज्ञ एक क्षण के लिए मेरे आसन पर बैठें। ये संकोच कर रहे हैं। यह कोई नया काम नहीं है। जयाचार्य ने ऐसा किया था। जयाचार्य ने किसी विशिष्ट साधु को अपने पास बिठाया था। मैं तो युवाचार्य को बिठा रहा हूं। सब लोग अपने-अपने स्थान पर बैठे-बैठे इनका अभिवादन करें। (उपस्थित जन-समुदाय हर्षविभोर होकर वन्दन करता है।)

मुझे बहुत प्रसन्नता है इस दायित्व को सौंप कर। तथापि मैं अपने को हलका अनुभव नहीं कर रहा हूं। दायित्व तो मैंने सौंप दिया, परंतु मेरा भार तो मुझे वहन करना ही होगा। ये किसी दूसरे काम में संलग्न हैं। मैं बाधक बनना नहीं चाहता। मैं इनको आश्वासन देता हूं कि तुम निश्चिंत रह कर अपनी साधना को चलाओ। बाकी सब काम मैं सम्हालता रहूंगा। अभी मैं स्वयं सक्षम हूं काम करने के लिए।' हमारी साध्वीप्रमुखा ने कहा–'आप यह काम कर तो रहे हैं, क्या आपको इस कार्य से राहत मिलेगी?' 'मुझे राहत नहीं मिलेगी और न मैं यह चाहता हूं। इतना सुन्दर वातावरण देखकर मैं स्वयं हर्ष-विभोर हो रहा हूं। धर्मसंघ के लिए एक अकल्पित काम हुआ है जिससे धर्मसंघ की शोभा बढ़ेगी और इसका बहुमुखी विकास होगा। मैं अत्यन्त प्रसन्न मन से इनको आशीर्वाद देता हूं कि इनके नेतृत्व में धर्मसंघ फले-फूले।'

आचार्यश्री ने उत्तराधिकार का पत्र पढ़ा और वह मुझे सौंप दिया।

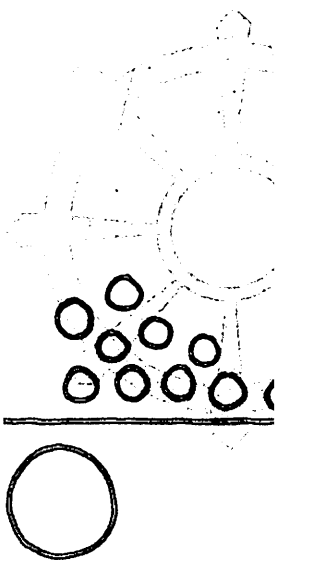

उत्तराधिकार-पत्र

अर्हम्

॥ नमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स॥

॥ श्री भिक्षु भारिमाल ऋषिराय जयजस मघवा माणक डालचन्द कालु गुरुभ्यो नमो नमः॥

मैं आज तेरापंथ धर्मसंघ के ११५वें मर्यादा महोत्सव समारोह में अपने उत्तराधिकारी के रूप में महाप्रज्ञ शिष्य मुनि नथमल को नियुक्त करता हूं।

मुनि नथमल प्रारम्भ से ही मेरे प्रति समर्पित रहा है और अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति करता रहा है। मेरा विश्वास है, मुनि नथमल अपने दायित्व का समग्रता से निर्वाह करते हुए हमारे धर्मसंघ को उत्तरोत्तर विकासोन्मुख बनाता रहेगा।

वि. सं. २०३५, माघ शुक्ला ७ — **आचार्य तुलसी**

शनैश्चर, दिनमान–साढ़े ग्यारह बजे — **साक्ष्य : साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा**

नाहर-भवन, राजलदेसर (राज.)

३-२-१९७९

आचार्यप्रवर ने प्राकृत पद्यों में आशीर्वाद दिया–

नथमल-नामगं सीसं, महापण्णं समप्पियं।
आयरियो तुलसीऽहं, उत्तराहिगारमप्पेमि॥१॥

णाणेणं दंसणेणं य, पेहाझाणेण संतयं।
विगासं कुणमाणो सो, चिरं अच्छउ सासणे॥२॥

संतो दंतो सुई दक्खो, ओयंसी सुपइट्ठिओ।
गहीयनव्वदाइत्तो, चिरं अच्छउ सासणे॥३॥

साहुणो साहुणीओ य, सावगा साविया तहा।
सम्मं आसासयंतो सो, चिरं अच्छउ सासणे॥४॥

संघे णवणवायामा, नवुम्मेसा णवक्कमा।
णिच्चं उग्घाडयंतो सो, चिरं अच्छउ सासणे॥५॥

उन क्षणों में मैं एक विचित्र स्थिति का अनुभव कर रहा था। न कोई हर्ष था और न कोई उद्वेग। किंतु दिशा-परिवर्तन का अनजाना बोझ मुझे भारी बना रहा था। मैं आत्मस्थता की दिशा में जाना चाहता था। उस दिशा में जहां एकान्त है, अनुभूति की तीव्रता है और अन्तर्जगत् के विराट् दर्शन की अभीप्सा है। हुआ कुछ दूसरा ही, अतर्कित और अकल्पित। मैंने उस द्वन्द्व के क्षण में अपने कुछ उद्गार प्रकट किए। वे संतुलित थे या असंतुलित, मैं नहीं जानता। यह मैं जानता हूं कि वे सचाई का स्पर्श कर निकल रहे थे। मैंने कहा–'आचार्यवर ने मुझे एक नया दायित्व सौंपा है। आज तक आचार्यवर ने मुझे जो काम सौंपा उसमें मैं शत प्रतिशत सफल हुआ हूं। मैं आत्मविश्वास के साथ आचार्यवर के चरणों में विनम्र निवेदन करता हूं कि आपने जो काम सौंपा है, वह भी आपके आशीर्वाद से शत प्रतिशत सफल होगा।

परम पूज्य आचार्य भिक्षु से आचार्य कालूगणी तक की एक महान् परम्परा, जिस परम्परा को आप लंबे समय से प्रगति की ओर अग्रसर कर रहे हैं, उसी परम्परा की कड़ी में मुझे जोड़कर आपने मुझे प्रगति का भागीदार बनाया है। इसके लिए मैं कृतज्ञता जैसे छोटे शब्द का प्रयोग करना नहीं चाहता। आचार्यवर! आपने अनन्त उपकार से मुझे उपकृत किया है, उसके लिए कोई नया शब्द खोजूं या गढ़ूं, यह संभव नहीं है। मैं चाहूंगा कि आचार्यवर का यह आशीर्वाद और असीम करुणा मुझे निरंतर उपलब्ध रहे। मैं अपने महान् आचार्यों की महान् परम्परा को और अधिक गतिशील बना सकूं, तेरापंथ धर्मसंघ के गौरव को और अधिक बढ़ा सकूं, बस यही आशीर्वाद मैं आपसे चाहता हूं।

मैं एक अनगढ़ पत्थर के रूप में आपके पास आया था। आपने उसे उत्केरा और उसे एक प्रतिमा का रूप दे दिया। उसकी प्राण-प्रतिष्ठा कर उसे भगवान् भी बना दिया। यह सब आपकी असीम करुणा का प्रसाद है। उस असीम अनुकंपा के प्रति मैं प्रणत ही हो सकता हूं, वाक्पटु नहीं। आप मेरी अन्तःभावना को पढ़ें, मेरी शब्द-शक्ति की अकिंचनता के लिए मुझे क्षमा करें।'

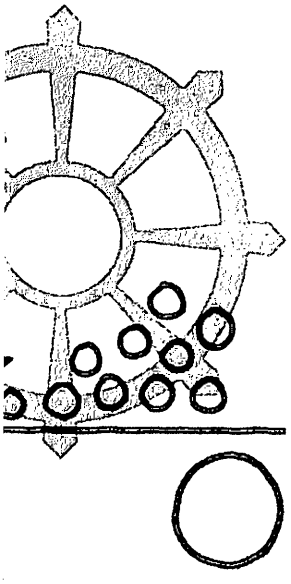

इस अवसर पर साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा ने साध्वी समाज की ओर से आचार्यवर के कार्य की अभिनन्दना की–

आज मुदित है संघ-चतुष्टय, कण-कण में छाया उल्लास।
मनोनयन शुभ युवाचार्य का, नए सृजन का वर इतिहास॥१॥
गणमाली ने निज हाथों से जिस पौधे को सींचा है।
उसने भी ऊपर से नीचे तक पूरा रस खींचा है॥२॥
ज्योतिपुंज आचार्यप्रवर से, ऊर्जा मिलती है पल-पल।
युवाचार्य की ऊर्जाधारा, हुई प्रवाहित अब कल-कल॥३॥
कलाकार के कुशल करों ने, जिस प्रतिमा को उत्केरा।
आज उसी की अर्चा करने, उत्कंठित है मन मेरा॥४॥
युवाचार्य आचार्यप्रवर का, युगल रहे युग-युग अविचल।
जयघोषों से रहे निनादित, धरा और पूरा नभ तल॥५॥

सविनय साध्वी-संघ समूचा, करता हार्दिक अभिनन्दन।
हर संकेत तुम्हारा प्राणों में भर दे अभिनव स्पन्दन॥६॥
अभिनन्दन आचार्यप्रवर का, युवाचार्य का अभिनन्दन।
धर्मसंघ का अभिनन्दन है, इस पल का भी अभिनन्दन॥७॥

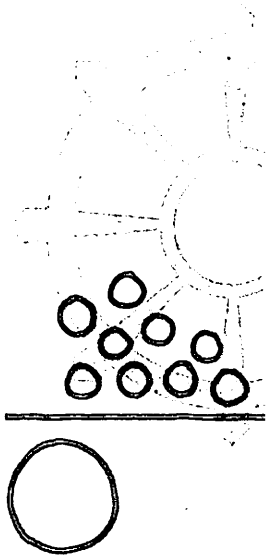

श्रमण-श्रमणी परिवार द्वारा अभिनन्दन-पत्र समर्पित किए गए। मुनि बुद्धमलजी ने भावपूर्ण भाषा में आचार्यश्री के कर्तृत्व की अभिवंदना की। शुभकरणजी दस्साणी, मोहनलालजी कठौतिया आदि अनेक श्रावकों ने आचार्यश्री के चरणों में अपनी विनम्र भावाञ्जलि प्रस्तुत की। जैसे-जैसे संवाद जनता तक पहुंचा वैसे-वैसे आचार्यश्री के कर्तृत्व की प्रशस्तियां होने लगीं। आचार्यवर ने कहा–'मैंने अनेक कार्य किए हैं और उनसे मुझे यश भी मिला है। किंतु जितना यश इस कार्य से मिला है उतना पहले कभी नहीं मिला और किसी कार्य से नहीं मिला। अनेक कार्यों में प्रशंसा मिली तो साथ-साथ में आलोचना भी हुई। केवल यह कार्य ऐसा हुआ है जिसमें केवल प्रशंसा मिली, आलोचना नहीं।'

तेरापंथ धर्मसंघ में आचार्य के जीवन की कसौटी है अपने उत्तराधिकारी का मनोनयन। जो आचार्य अपने उत्तराधिकारी का मनोनयन कर देता है वह अपने आपको ऋणमुक्त या भारमुक्त अनुभव करता है। आचार्यश्री ने अपने दायित्व का निर्वाह कर अनिर्वचनीय प्रसन्नता का अनुभव किया।

युवाचार्य की नियुक्ति के पश्चात् मेरा नामकरण किया गया। तीन माह पूर्व महाप्रज्ञ एक विशेषण था। अब उसे नाम बना दिया गया। मुनि नथमल, यह नाम अन्तर्हित और महाप्रज्ञ नाम स्थापित हो गया।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

युवाचार्य की नियुक्ति के पश्चात् दूसरे दिन आचार्यश्री ने कहा–'मेरे जीवन का करणीय कार्य संपन्न हुआ। काम करने के बाद इतनी प्रसन्नता हुई कि कल रात को नींद भी निश्चिंतता की आई। मैंने अपना कार्य किया है। समूचा संघ प्रसन्न है।'

पूज्य कालूगणी ने बाईसवर्षीय मुनि तुलसी को अपना उत्तराधिकारी बनाया यह महान् आश्चर्य का विषय था और आचार्यश्री तुलसी ने उनसठवर्षीय मुनि को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया, यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं थी। इससे फलित होता है कि उत्तराधिकारी के मनोनयन में अवस्था एक घटक है किन्तु दूसरे घटक शक्तिशाली होते हैं तो उनके साथ वह अपना योग स्थापित कर लेती है।

एक सार्थक भविष्यवाणी

डीडवाना निवासी वकील जयसिंहजी मुणोत एक वर्ष पूर्व आचार्यश्री के पास आए। उन्होंने कहा–'६५ वर्ष की आयु में अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करेंगे।' आचार्यश्री ने कहा–'मैंने इस विषय में कोई निर्णयात्मक चिंतन नहीं किया है। यह तुम्हारी भविष्यवाणी कैसे सच होगी?' जयसिंह ने विश्वास के साथ कहा–'यह बिलकुल सही प्रमाणित होगी। आपके उत्तराधिकारी के नाम का पहला अक्षर 'मकार' होगा।' आचार्यश्री ने 'मकार' वाले नामों पर ध्यान दिया पर किसी नाम पर ध्यान केन्द्रित नहीं हुआ। फिर भी जयसिंह के निवेदन को आचार्यश्री ने अपनी डायरी में नोट कर लिया। ६४ वर्ष की संपन्नता के साथ युवाचार्य की नियुक्ति और महाप्रज्ञ नामकरण ने उस हस्तरेखाविद् की भविष्यवाणी को सार्थक बना दिया।

आचार्यश्री राजलदेसर से प्रस्थान कर दिल्ली पहुंचे। भूतपूर्व केन्द्रीय मंत्री एवं कांग्रेस दल के तत्कालीन नेता श्री यशवन्तराय चव्हाण १३ मार्च, १९७९ को आचार्यश्री से मिले। अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान आदि के

विषय में बातचीत हुई। आचार्यश्री ने युवाचार्य के मनोनयन की बात बताई। चव्हाण बोले–'आचार्यजी! हमारे राजनीति के क्षेत्र में उत्तराधिकारी चुनना बड़ा जटिल काम होता है। आपने इसे इतनी सरलता से कैसे कर दिया?' आचार्यश्री ने उन्हें तेरापंथ का संविधान दिखाया। उसके अनुसार कोई भी साधु-साध्वी पद के लिए उम्मीदवार नहीं हो सकता। आचार्य जिसे चाहे उसे अपना उत्तराधिकार सौंप देते हैं। उसमें अन्य किसी व्यक्ति का हस्तक्षेप नहीं होता। जिस व्यक्ति को यह महत्त्वपूर्ण दायित्व सौंपा जाता है उससे भी इस विषय में परामर्श नहीं किया जाता। इसलिए उत्तराधिकारी का मनोनयन विवाद-जाल से मुक्त रहता है।

आचार्यश्री युवाचार्य की नियुक्ति के कुछ दिनों बाद दिल्ली पहुंचे। दिल्ली के नागरिकों और बुद्धिजीवियों ने नए संदर्भ में आचार्यश्री का अभिनन्दन किया। साक्षात् मिलकर बधाइयां दीं। अक्षयकुमार जैन ने कहा–'आचार्यश्री! आपने अपने जीवन में अनेक निर्णय लिए हैं, इस निर्णय को मैं उन सबसे अधिक विवेकपूर्ण निर्णय मानता हूं। आप मेरी हार्दिक वन्दना स्वीकार करें।'

जैन आचार्य

आचार्यश्री जैन धर्म के आचार्य थे। जैन दर्शन, साधना पद्धति और जीवन-प्रणाली के प्रति आपकी गहरी निष्ठा थी। आप इन्हें प्राप्त कर धन्यता का अनुभव करते थे। जैन दर्शन के अनेकान्तवाद से आपको उदार दृष्टिकोण मिला। उसी के आधार पर आपने समन्वय, एकता और सह-अस्तित्व के सिद्धांत और प्रयोग व्यवहार के धरातल पर प्रस्तुत किए। पंडित दलसुख मालवणिया के शब्दों में जैन धर्म और आचार्य तुलसी अभिन्न हो गए। जहां जैन धर्म का प्रसंग आता वहां आचार्य तुलसी सहज उपस्थित हो जाते।

आचार्यश्री हिसार में चातुर्मास बिता रहे थे। एक दिन अकस्मात् काका कालेलकर आए। आचार्यश्री ने पूछा–'आप अभी कैसे आए?' काका बोले–'आपको उलाहना देने आया हूं। मैं अपने मन के आवेग को रोक नहीं सका, इसलिए आया हूं। सब लोग अपने-अपने धर्म का प्रचार करते हैं। आप जैन धर्म का प्रचार क्यों नहीं करते? जैन धर्म में विश्व-धर्म होने की क्षमता है। उसके पास अनेकान्त जैसा महान् सिद्धांत है। उसके द्वारा मैत्री, समन्वय और सह-अस्तित्व की स्थापना की जा सकती है। मनुष्य जाति की एकता में विश्वास करने वाले धर्म की आज विश्व को आवश्यकता है।' काका कम बोल रहे थे। उनके मन की वेदना अधिक बोल रही थी। आचार्यश्री ने उनकी वेदना को पढ़ा और उनकी भावना पर विचार करने का आश्वासन दिया।

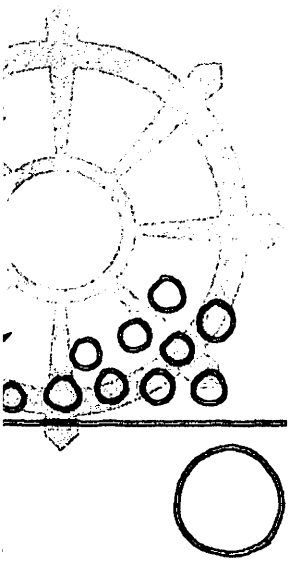

हिन्दुस्तान से बाहर जैन धर्म के प्रचार की योजना, चर्चा और विचारणा सामने आई। इस विषय में हमारा दृष्टिकोण स्पष्ट था। धार्मिक उपनिवेशवाद का विस्तार हमें इष्ट नहीं था। जिन धर्मों में धर्म और जाति की एकता स्थापित है और जो धर्म के आधार पर उपनिवेशवाद या साम्राज्यवाद स्थापित करना चाहते हैं वे मानव जाति के लिए खतरा पैदा कर रहे हैं। जैन धर्म जाति नहीं है। वह विशुद्ध आध्यात्मिक अवधारणा है इसलिए उसके विश्वव्यापी बनने में मानव जाति का हित है। जैन धर्म का अनेकान्तवाद विश्व के सामने प्रस्तुत हो, इस विषय में चिंतन हुआ और भविष्य में भी इस बारे में सुचिन्तित योजना बने, इसकी अपेक्षा है।

आचार्यश्री दिल्ली में चातुर्मास बिता रहे थे। बेंगलुरू से दो वैज्ञानिक आए। उन्होंने बताया–'बेंगलुरू में वैज्ञानिकों की एक गोष्ठी थी। उसमें भोजन, पोषण आदि विषयों पर विचार-विमर्श हुआ। 'रात को

खाना चाहिए या नहीं', विमर्श का एक बिन्दु यह भी था। विमर्श के दौरान एक विचार आया कि जैन लोग रात्रि-भोजन नहीं करते। रात्रि-भोजन के निषेध का कारण क्या है, यह उनसे जानना चाहिए। आप जैन धर्म के महान् आचार्य हैं इसलिए हम आपके पास आए हैं।'

उन्हें बताया गया कि सूर्यास्त के पश्चात् पाचन तंत्र निष्क्रिय हो जाता है। प्राचीन भाषा में नाभि-कमल सिकुड़ जाता है इसलिए सूर्यास्त के बाद भोजन नहीं करना चाहिए। जैनों में 'नवकारसी' करने की पद्धति भी है। सूर्योदय के बाद अड़चास मिनट तक कुछ भी खाया-पीया नहीं जाए। सूर्य का ताप जैसे-जैसे बढ़ता है वैसे-वैसे पाचन तंत्र सक्रिय होता है। इस परम्परा को जानकर उन्होंने आश्चर्य और हर्ष प्रकट किया।

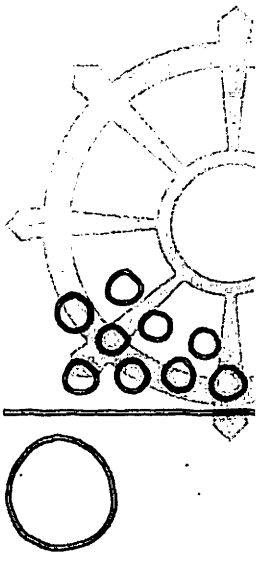

धर्मचक्र का प्रवर्तन

युगप्रधान की पूर्व भूमिका

वि. सं. १९८७ का इतिवृत्त है। मुनि तुलसी थे सोलह वर्ष के नवयुवा अध्यापक और मैं था ग्यारह वर्ष का किशोर विद्यार्थी। मैंने देखा–वि. संवत् १९९३ में मुनि तुलसी आचार्य तुलसी बन गए। आपके कोमल हाथों की कोमल उंगलियों ने तेरापंथ धर्मसंघ का शासन-सूत्र संभाल लिया। इस घटना के पीछे आपके अतीत का कर्तृत्व स्फटिक मणि का काम कर रहा था।

वि. सं. २००५ में आचार्य तुलसी अणुव्रत-अनुशास्ता बने। तेरापंथ का आचार्यत्व गुरु-कृपा से प्राप्त था किन्तु अणुव्रत अनुशास्ता का पद अपने कर्तृत्व से अर्जित किया। इस कर्तृत्व के पीछे दो प्रबल प्रेरणाएं कार्य कर रही थीं–सर्व जनहित और असाम्प्रदायिक धर्म का उदय। इन दोनों क्षेत्रों में आचार्यश्री ने जो कार्य किया, वही आपके युगप्रधान होने की भूमिका का निर्माण करता रहा।

आचार्यश्री विद्या और आचरण दोनों की समन्विति के संगायक थे। आपने साधु-संघ में विद्या की अनेक शाखाएं खोलीं। अध्ययन के समान्तर अनुसंधान भी चला।

भगवान् महावीर की वाणी प्राकृत भाषा में गुंफित है। वह आगम की संज्ञा से अभिहित है। समय-समय पर आचार्यों ने आगम की वाचनाएं कीं। इन शताब्दियों में आगम पर सर्वांगीण वाचना नहीं हुई। आचार्य तुलसी ने उसका प्रारंभ किया और वे वाचना-प्रमुख हो गए।

विश्व का हर कण शक्ति का अक्षय भण्डार और असीम स्रोत है। विश्व का दीप वह बनता है जो इस सत्य को अभिव्यक्ति देता है और दूसरों में अनुभूति की क्षमता जागृत करता है।

हर युग हजारों संभावनाओं को लिए हुए हमारे सामने प्रस्तुत होता है। युग का नेतृत्व वह करता है जो उन संभावनाओं को वर्तमान का परिधान दे पाता है।

वर्तमान युग संघर्षों का युग है। आज का प्रबुद्ध मनुष्य प्राचीन मूल्यों के प्रति आस्थावान् होकर नए मूल्यों की स्थापना के लिए कृत-संकल्प है। युग का प्रधान वही हो सकता है जो इस संकल्प की पूर्ति में योग दे सकता है।

वर्तमान युग की मांग है शाश्वत और अशाश्वत का सामंजस्य। कुछ लोग शाश्वत के प्रति एकांगी आग्रह रखते हैं। वे अपने एकांगी आग्रह के कारण पुराणपंथी या रूढिवादी बन गए हैं। कुछ लोगों में परिवर्तन के प्रति एकांगी आग्रह पनप चुका है। वे जीवन के स्थायी मूल्यों की खोज में बुरी तरह असफल हो रहे हैं। वर्तमान में असंतोष का बहुत बड़ा हेतु है जीवन के स्थायी मूल्यों के प्रति अनास्था। आचार्यश्री तुलसी ने युग को रूढिवाद और अनास्था–इन दोनों समस्याओं से उबारने का प्रयत्न किया।

व्यक्ति और व्यक्ति का द्वंद्व वर्तमान युग की सबसे बड़ी समस्या है। कुछ लोग स्वतंत्रता के नाम पर व्यक्ति को अतिरिक्त मूल्य देते हैं तो कुछ लोग व्यवस्था के नाम पर समाज को अतिरिक्त मूल्य देते हैं। इन दोनों छोरों में व्यक्ति और समाज के बीच स्वस्थ संबंध स्थापित नहीं हो रहे थे। व्यक्ति स्वार्थों के पूंजीकृत स्वरूप का प्रतिनिधित्व कर रहा था। उसके सामने विसर्जन का सूत्र प्रस्तुत कर आचार्यश्री ने व्यक्ति को व्यापकता प्रदान की, उसके सामाजिक स्वरूप को नया आयाम दिया।

समाज अपनी संगठित शक्ति के बल पर नियंत्रण का प्रतिनिधित्व कर रहा है। हम सब यह जानते हैं और अनुभव करते हैं कि हृदय-परिवर्तन के बिना व्यवस्था प्राणवान् नहीं बनती। जो हृदय की स्वतंत्रता से स्वीकृति नहीं होती, वह कुंठा उत्पन्न करती है। आचार्यश्री ने हृदय-परिवर्तन के प्रयोग को प्रतिष्ठा देकर समाज को व्यक्ति-विमुख होने से बचाया।

समाज वर्ग-चेतना की अनुभूति से संत्रस्त है। संपन्न वर्ग विपन्न वर्ग के और विपन्न वर्ग संपन्न वर्ग के अस्तित्व को नकारने को व्यग्र दिखाई दे रहा है। बुद्धि-कौशल और श्रम-कौशल के बीच सामंजस्य स्थापित करने वाला सेतु निर्मित नहीं हो रहा है। महात्मा गांधी ने इस दिशा में ट्रस्टीशिप का सूत्र दिया था। वह वर्ग-संघर्ष की समाप्ति का बहुमूल्य प्रयोग है, पर खेद है कि भारतीय जनता ने उसे क्रियान्वित नहीं किया। आचार्यश्री तुलसी ने भारतीय जनता के सामने विसर्जन का सूत्र प्रस्तुत किया। यह ट्रस्टीशिप का अग्रिम चरण है। मैं नहीं कह सकता, जनता इसे कितना मूल्य देगी? किन्तु यह आर्थिक साम्य का सबल अहिंसक साधन है।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

इन गतिशील दृष्टिकोणों, विचारों और क्रियाकलापों ने आचार्य तुलसी को युगप्रधान के गरिमामय पद पर आसीन किया।

युगप्रधान की समायोजना

बीदासर का मर्यादा महोत्सव। साधु-साध्वियों का विशाल सम्मेलन। लगभग २० हजार लोगों की उपस्थिति। उस अवसर (४ फरवरी, १९७२) पर संघ की ओर से आचार्यवर को 'युगप्रधान' के पद से अभिषिक्त किया गया। मैंने चतुर्विध धर्मसंघ की ओर से 'युगप्रधान' आचार्य की उपाधि की सूचना देते हुए कहा–'आचार्यप्रवर! आप साधु-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं को समय-समय पर सम्मानित करते रहे हैं। आज संघ आपको सम्मानित कर रहा है।' सेवाभावी मुनिश्री चम्पालालजी स्वामी ने संघ की ओर से एक चादर भेंट की। चतुर्विध धर्मसंघ की ओर से अभिनंदन-पत्र समर्पित किया गया। पूरे संघ ने उल्लास के साथ आचार्यवर की अभिवन्दना की। तत्कालीन राष्ट्रपति वी. वी. गिरि ने युगप्रधान के पदाभिषेक के अवसर पर आचार्यवर के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा अभिव्यक्त की।

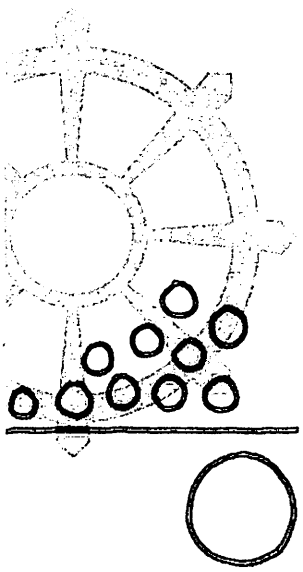

पंडित दलसुख मालवणिया ने आचार्यवर के कर्तृत्व की मीमांसा करते हुए लिखा–'आचार्यश्री तुलसी को उनके संघ ने युगप्रधान का पद दिया है और आचार्य काल में ५० वर्ष की संपन्नता के प्रसंग पर अमृत-महोत्सव वर्ष का आयोजन किया है, वह निरर्थक नहीं है, झूठी प्रशंसा नहीं है।'

जनधर्म प्रवचनकार

कुछ विचारकों ने कहा–'आप अणुव्रत का कार्य करते हैं। यदि आप संप्रदाय-मुक्त होकर यह कार्य करें तो उसमें गति आ सकती है।' इस बारे में आचार्यश्री का अपना चिंतन था। आपका मानना

था–संप्रदाय एक शक्ति है और कार्य करने के लिए उसकी सदा जरूरत रहती है। अतः संप्रदाय को छोड़ना जरूरी नहीं है। उसे ऐसा रूप देना जरूरी है जो दूसरों के हितों में बाधक न बने, साम्प्रदायिक अभिनिवेश उत्पन्न न हो।

आचार्यश्री ने जैनधर्म को जनधर्म का रूप दिया। पूज्य कालूगणी ने आपको तेरापंथ के आचार्य का दायित्व सौंपा था किन्तु आपने अपने कर्तृत्व के द्वारा जनधर्म के आचार्य का दायित्व अपने पर ले लिया। सचमुच आपने जैनधर्म को अभिव्यक्ति दी, विश्व के मानचित्र में उसका स्थान बनाया और उसके गरिमामय व्यक्तित्व से जन-जन को परिचित कराया।

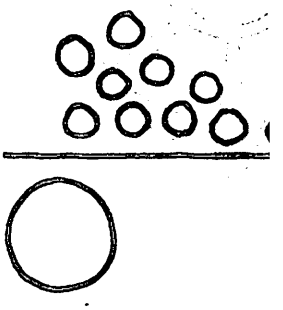

संप्रदाय और साम्प्रदायिकता

आचार्यश्री का चिंतन गतानुगतिक नहीं था। वे अपने प्रति आस्थावान थे इसलिए उनके विचारों में आस्था का ही प्रतिबिम्ब था। आज की भाषा में सम्प्रदाय का अर्थ संकीर्णता है। आचार्यश्री इसे मान्य नहीं करते थे। उनकी भाषा में सम्प्रदाय का अर्थ संकीर्ण और संकुचित बाड़ा-बंदी नहीं है। उसका अर्थ है–गुरु-क्रम, गुरु-परम्परा या सत्य के अन्वेषण की एक सतत प्रवहमान धारा।

जो सम्प्रदाय हमें विशाल दृष्टि दे, सापेक्ष चिंतन दे, अनाग्रह की भावना दे और सत्य-शोध की संपत्ति दे, वह कभी अनुपादेय नहीं होता, भले फिर उसका बाहरी आकार व्यापक न हो। आचार्यश्री के शब्दों में–'संकीर्णता तथा विशालता की पहचान बाहरी आकार नहीं है। दूरवीक्षण का संकड़ा कांच विशाल-दर्शन देता है। क्या हम उसे संकीर्ण मानें? जो हमारी दृष्टि को विशाल बनाए वह संकीर्ण नहीं होता, भले ही फिर उसका बाहरी रूप कैसा ही क्यों न हो।'

आचार्यश्री विभिन्न संप्रदायों के एकीकरण के पक्ष में नहीं थे। वे इस प्रयत्न को पांचों अंगुलियों को एक बनाने के प्रयत्न जैसा मानते थे। उनके स्वतंत्र चिंतन और सिद्धांत को कुंठित करने की चेष्टा आचार्यश्री के अभिमत में मूल्यवान् नहीं थी। आचार्यश्री विभिन्न संप्रदायों के तुलनात्मक अध्ययन के बहुत बड़े समर्थक थे। उनका अभिमत रहा–'यदि विभिन्न संप्रदायों के मौलिक तत्त्वों का पर्यवेक्षण किया जाए तो हम पाएंगे कि उनमें समानता या समन्वय के तत्त्व अधिक हैं, असमानता के कम। आज आवश्यकता इस बात की है कि समानता के तत्त्वों को आगे रखा जाए। यही वह पथ है जो विभिन्न संप्रदायों के लोगों में मैत्री और बन्धुभाव का प्रतिष्ठापन कर सकता है।'

आचार्यश्री संप्रदाय के पक्ष में थे किन्तु साम्प्रदायिकता उन्हें प्रिय नहीं थी। अपने सिद्धांत में कोई दृढ़ रहे, यह निरापद है। आपत्ति वहां होती है जहां दृढ़ता का आधार दूसरों के प्रति घृणा उत्पन्न करना होता है। आचार्यश्री की भाषा में साम्प्रदायिकता वही है जिसमें दूसरे सम्प्रदायों के प्रति घृणा और तिरस्कार के भाव होते हैं। आपका विश्वास विचार स्वातंत्र्य में था। आप इसे विकास का अवरोध मानते थे कि एक व्यक्ति जैसा सोचे वैसे ही सब सोचें, कोई नया चिंतन स्फुरित ही न हो। आचार्यश्री ने लिखा–'धर्म एक प्रवाह है। सम्प्रदाय उसका बांध है। बांध का पानी सिंचाई और अन्य कार्यों के लिए उपयोगी होता है। वैसे ही संप्रदाय से धर्म सर्वत्र प्रवाहित होता है। इसके बीच सम्प्रदायों में कट्टरता, संकीर्णता, साम्प्रदायिकता आ जाए तो वह केवल स्वार्थ-सिद्धि का अंग बनकर कल्याण के स्थान पर हानिकारक और आपसी संघर्ष पैदा करने वाला हो जाता है।'

बंगाल के तत्कालीन खाद्य मंत्री श्री प्रफुल्लचंद्र सेन ने पूछा–क्या सभी धर्म सम्प्रदायों में एकता संभव है?

आचार्यश्री–हां।

सेन–कैसे?

आचार्यश्री–'विचार-भेद मिट जाए, सभी सम्प्रदाय विलीन हो जाएं, यह संभव नहीं है। किन्तु एक संप्रदाय दूसरे संप्रदाय के साथ अन्याय न करे, परस्पर घृणा न फैलाए, विचार के प्रति सहिष्णु रहे। मतभेद न हो तो एकता संभव है।'

आचार्यश्री ने इस एकता की दृष्टि को विकसित किया और उससे आपका तेरापंथ का आचार्यत्व अधिक गरिमाशाली बना। आप रक्षिता के तुल्य नहीं थे जो संपदा की केवल सुरक्षा करे। आप रोहिणी की भांति निरंतर संपदा को बढ़ाने में विश्वास करते रहे इसीलिए आचार्य तुलसी का शासनकाल तेरापंथ का स्वर्णकाल बन गया।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

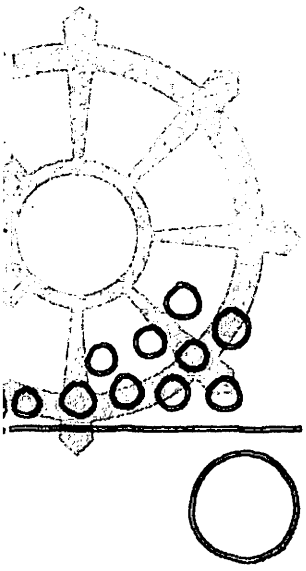

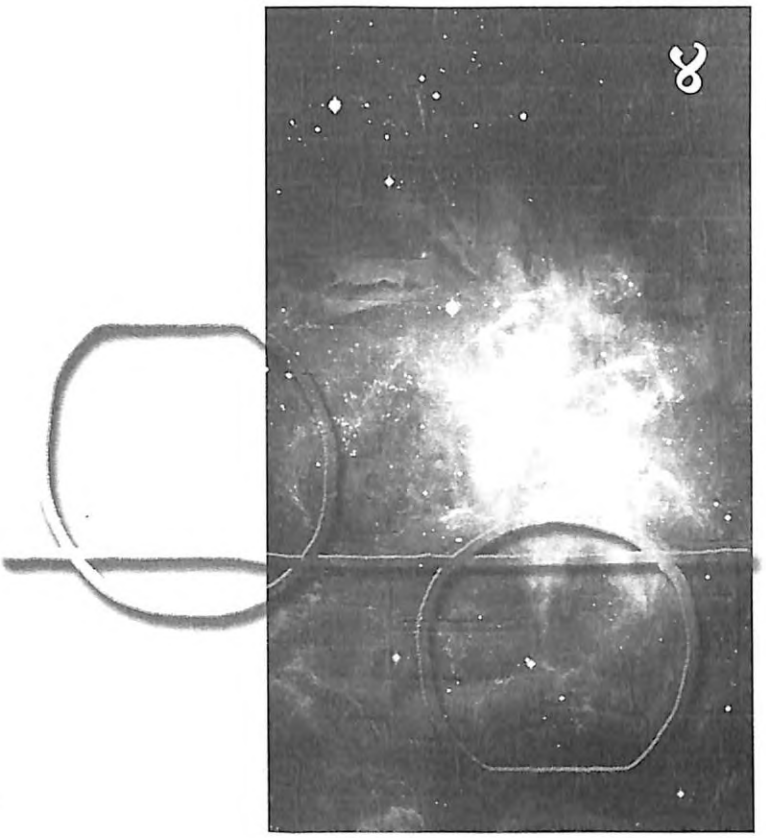

संघर्ष की वेदी पर

मैंने 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक में राम और सीता के चरित्र को आदर्श चरित्र के रूप में प्रतिष्ठित किया, इसलिए मैं उसे स्थगित करना नहीं चाहता था, किन्तु उपद्रवों के शांत होने पर मैंने सोचा कि हिंसा के साथ बार-बार मेरा नाम जुड़ता है, इसका मुझे स्थायी प्रतिकार करना चाहिए। श्री जयप्रकाशजी जैसे अहिंसानिष्ठ व्यक्तियों ने भी मेरे सामने यह प्रश्न रखा कि हिंसा के साथ आपका नाम जुड़ता है, यह अच्छा नहीं लगता, इसलिए आप इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार करें।

संघर्ष की वेदी पर

संतुलन

'मैं जहां जाता हूं वहां तराजू के दोनों पलड़े बराबर रहते हैं। स्वागत भी बहुत होता है और विरोध भी बहुत। स्वागत ही स्वागत हो तो संभव है, अहंभाव बढ़ जाए। विरोध ही विरोध हो तो संभव है, हीनभावना आ जाए। स्वागत कार्य की सही दिशा की सूचना देता है और विरोध आत्म-चिन्तन का अवसर। दोनों मिलकर स्थिति को संतुलित बनाए रखते हैं।' आचार्यश्री तुलसी के ये उद्‌गार शाश्वत सत्य जैसे हैं।

आचार्यश्री पहली बार दिल्ली गए तब मिश्रित स्वागत हुआ। अणुव्रत आंदोलन का स्वागत हुआ, तेरापंथ की विचारधारा का कुछ विरोध हुआ। स्वागत किया जनसाधारण ने और विरोध किया कुछेक जैनों ने। समाचार-पत्रों ने आचार्यश्री को नैतिक आंदोलन के प्रवर्तक के रूप में स्थान दिया तो 'बाल-दीक्षा के कट्टर समर्थक' इस विशेषण को भी उनके साथ जोड़ा। इस प्रकार स्थितिपालक और प्रगतिशील–इन दो रूपों में आचार्यश्री का व्यक्तित्व आंका गया।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

दीक्षा को चुनौती

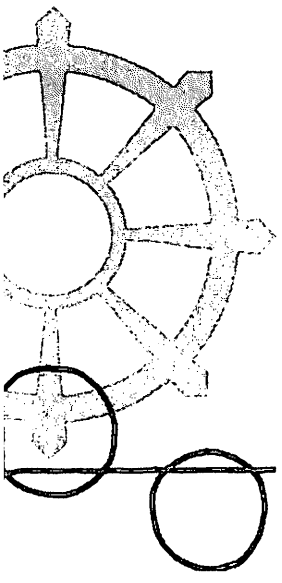

जैन संघ में चार तीर्थ होते हैं–साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। जिन श्रावक-श्राविकाओं में विराग का उदय होता है वे गृहस्थ-जीवन को त्यागकर मुनि-जीवन की दीक्षा लेते हैं। दीक्षा सभी संप्रदायों में होती है, तेरापंथ में भी होती है। वि. सं. २००६ का चातुर्मास जयपुर में था। चातुर्मास में दीक्षा होगी, यह निश्चय हुआ और जो विरोध करना चाहते थे, उन्हें उसका माध्यम मिल गया। स्थानीय व्यक्तियों ने बाल-दीक्षा विरोधी समिति का गठन किया और विरोध का तूफान-सा ला दिया। उस समय राजस्थान के मुख्यमंत्री हीरालाल शास्त्री थे। उनके मंत्रिमंडल के कई सदस्य इस समिति की प्रवृत्तियों का संचालन कर रहे थे। जयपुर की गली-गली में विरोध उभर रहा था। आचार्यश्री ने थोड़े समय तक स्थिति का अध्ययन किया। फिर यह निश्चय हो चला कि विरोध का आधार दीक्षा नहीं है, वह तो एक माध्यम है। मूलतः उनका विरोध तेरापंथ के समर्थ आचार्य और उनके प्रभावशाली साधु-संघ से है। उस समय जो दीक्षित हो रहे थे उनमें एक भी ऐसा बालक नहीं था, जिससे वे विरोध करने के लिए बाध्य हों। इधर बाल-दीक्षा विरोधी समिति के सदस्य दीक्षा को चुनौती दे रहे थे उधर दीक्षा लेने वाले अपने संकल्प पर दृढ़ थे। तेरापंथ के श्रावक इस विश्वास पर चल रहे थे कि दीक्षा किसी भी स्थिति में नहीं रुकेगी। आचार्यश्री का चिंतन यह रहा कि दीक्षा लेने वालों का संकल्प दृढ़ रहा तो वह होगी और उनका संकल्प दृढ़ नहीं रहा तो वह नहीं होगी। आचार्यश्री ने आश्विन कृष्णा ६ को जैन-दीक्षा विषय पर एक सार्वजनिक प्रवचन दिया।

पौने दो घंटे तक दीक्षा के विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला। उसमें हजारों व्यक्ति उपस्थित थे। बाल-दीक्षा विरोधी समिति के सदस्य भी थे। उस प्रवचन ने जनसाधारण की भावना में बहुत बड़ा परिवर्तन ला दिया।

आचार्यश्री ने कहा–'विरोध करने वाले दूर रहकर विरोध क्यों करते हैं? वे निकट से मुझे समझना और अपना दृष्टि-बिन्दु मुझे समझाना क्यों नहीं चाहते?' इसकी तात्कालिक प्रतिक्रिया हुई और आश्विन कृष्णा ११ को बाल-दीक्षा विरोधी समिति का एक प्रतिनिधिमंडल आया। उसमें प्रमुख व्यक्ति थे–लोकवाणी के प्रबंध संपादक जवाहरलाल जैन, रामचंद्र कासलीवाल, सोभागमल श्रीमाल और बालचंद सुराणा। शिष्टाचार के बाद मूल विषय पर चर्चा चली। ढाई घंटे तक वह चलती रही। प्रारंभ में जवाहरलाल जैन ने कहा–'लोकवाणी में बाल-दीक्षा पर जो संपादकीय लेख था, वह आपने पढ़ा होगा?'

आचार्यश्री ने कहा–'पढ़ा है।'

उन्होंने उसी आधार पर बातचीत करने की इच्छा प्रकट की। आचार्यश्री ने उसे स्वीकार कर लिया। उन्होंने चार प्रश्न रखे–

१. बालक के विचार परिपक्व नहीं होते। वे अपने भविष्य का निर्माण नहीं कर सकते। उनमें खेल-कूद की प्रवृत्ति अधिक होती है। दीक्षा कठोर साधना है। उस ओर वे सहजतः प्रवृत्त हो ही नहीं सकते।

२. बचपन में जो दीक्षित होते हैं, उनका अध्ययन पूरा नहीं होता। फिर वे पण्डितों के पास पढ़ते हैं। उनसे जो मिलता है, वही साधु लोग जनता को सिखाते हैं। फलतः युवकवर्ग पर उसका कोई असर नहीं होता।

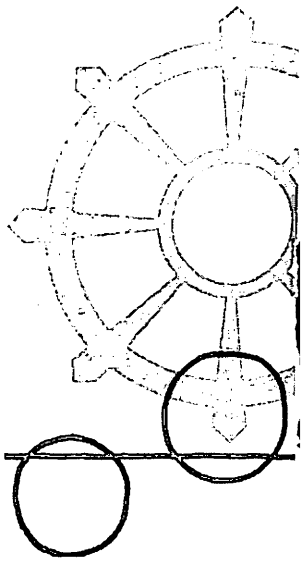

धर्मचक्र का प्रवर्तन

यदि वे १८-२० वर्ष की अवस्था तक अपने साथियों के बीच रहकर उनकी गतिविधियों का अध्ययन करें और मुनि बनें तो वे अपने अनुभव के आधार पर जनता को बहुत कुछ दे सकते हैं।

३. बचपन में दीक्षित होने वाले जवानी में डिग जाते हैं। तब उन्हें समाज कोई सहयोग नहीं देता। उन्हें पग-पग पर कठिनाइयां झेलनी पड़ती हैं। लोग उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उनका जीवन बोझिल बन जाता है।

४. मानस-शास्त्र के अनुसार व्यक्ति अपने जीवन का ध्येय १८ से २१ वर्ष की अवस्था के बीच निश्चित कर सकता है, उससे पहले नहीं। इसलिए बालक को दीक्षित करना किसी प्रकार से उचित नहीं है।

आचार्यश्री ने अपना दृष्टिकोण उन्हें समझाया–

१. आप विचारों को महत्त्व देते हैं, इसलिए आपका तर्क है–बालक के विचार परिपक्व नहीं होते। मैं संस्कारों को महत्त्व देता हूं, इसलिए मेरा मत यह है–जन्म-जन्मान्तर के संचित संस्कार कहीं-कहीं बचपन में भी जागृत हो जाते हैं। भविष्य का निर्णय करना बालकों के लिए ही नहीं, युवकों और बूढ़ों के लिए भी कठिन है, ऐसा मैं मानता हूं। प्रवृत्ति का आधार व्यक्ति का वर्तमान ही बनता है। बालकों में खेलकूद की प्रवृत्ति नहीं होती, यह तो कैसे कहूं, पर मनुष्य स्वभाव की विचित्रता को मैं भुला भी नहीं सकता। मैंने अनेक बालकों को शांत-स्वभाव का देखा है।

२. साधना के लिए मैं अध्ययन को उतना आवश्यक नहीं मानता, जितना पवित्र हृदय को मानता हूं। नवदीक्षित साधु का अध्ययन गुरु-परम्परा से होना चाहिए, इस विचार से मैं सहमत हूं। तेरापंथ में ऐसा ही

होता है, यह मैं कह सकता हूं। मेरी मान्यता में सत्य की अनुभूति जितनी ध्यान व मनन से होती है, उतनी बाहरी स्थितियों के अध्ययन से नहीं होती।

३. आप कहते हैं–बचपन में दीक्षित होने वाले जवानी में डिग जाते हैं और मैं कहता हूं–जवानी में दीक्षित होने वाले जवानी में डिग जाते हैं। मेरा अनुभव यह है कि बालकों की अपेक्षा युवक और बूढ़े अधिक डिगते हैं। डिगने के बाद वह सम्मान की भावना कैसे हो सकती है, जो पहले होती है। किन्तु घृणा नहीं होनी चाहिए।

४. मानस-शास्त्रियों ने जीवन परिवर्तन की दो अवस्थाएं बतलाई हैं। ११-१२ या १८-२० वर्ष की अवस्था में जीवन का प्रवाह बदलता है, भोग या त्याग की ओर मुड़ता है। इसलिए १८-२० वर्ष से पहले व्यक्ति अपना ध्येय निश्चित नहीं कर सकता, यह कैसे माना जाए?

आचार्यश्री का दृष्टिकोण जानकर उन्होंने संतोष व्यक्त किया। उन्होंने कहा–'आप दीक्षा के लिए १८ वर्ष की अवस्था का नियम बना दें तो हमें अधिक प्रसन्नता होगी।

आचार्यश्री ने कहा–'नियम मैं कैसे बनाऊं? मेरा इस अवस्था के सिद्धांत में विश्वास ही नहीं है। नाबालिग को दीक्षित किया जाए या नहीं, यह स्थिति-सापेक्ष हो सकता है। अयोग्य दीक्षा का मैं आपसे कम विरोधी नहीं हूं, पर इसमें भी सचाई नहीं देखता कि योग्यता का संबंध अवस्था से है। बालक को ही दीक्षा दी जाए, यह मेरा आग्रह नहीं है। मेरा आग्रह यह है कि दीक्षा योग्य व्यक्ति को दी जाए। यह मैं नहीं मानता कि दीक्षा के लिए बालक सब अयोग्य ही होते हैं और युवक व बूढ़े सबके सब योग्य ही होते हैं। जिसके संस्कार पवित्र होते हैं, जिसके मोह का भाव कम होता है, वही दीक्षा के योग्य होता है, भले फिर वह बालक हो, युवक हो या बूढ़ा हो। वे युवक और बूढ़े भी दीक्षा के लिए अयोग्य हैं जो संस्कारों से पवित्र नहीं हैं और जिनका मोह उपशान्त नहीं है।'

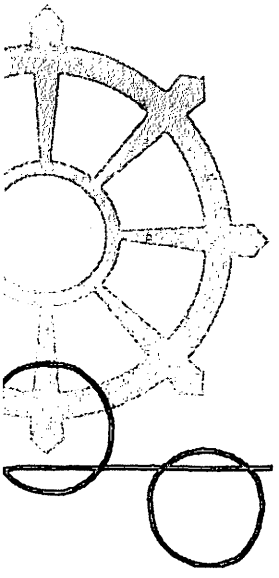

आचार्यश्री तेरापंथ के आचार्य थे। तेरापंथ का मूल आधार है दीक्षा। इसलिए दीक्षा का प्रश्न आचार्यश्री के साथ जुड़ा हुआ था। तेरापंथ की दीक्षा-प्रणाली प्रारंभ से ही निरापद रही और समय-समय पर आचार्यों ने परिष्कार किया। इस परिष्कृत प्रणाली के आधार पर ही आचार्यश्री ने अपना स्पष्ट दृष्टिकोण उनके सामने रखा। आचार्यश्री ने उन्हें बताया–'मैं समय की गति व जनमानस को समझता हूं, इसलिए मैं कहना चाहता हूं कि आप इस विषय में इतने चिंतित न रहें। तेरापंथ की मर्यादा के अनुसार आचार्य ही दीक्षा देते हैं। अभिभावकों की लिखित स्वीकृति मिले बिना दीक्षा नहीं दी जाती। आवश्यक ज्ञान और चरित्र की साधना के पश्चात् दीक्षा दी जाती है। दीक्षित होने के बाद कोई डिग जाए तो उस पर कोई नियंत्रण नहीं है। जो संघ से अलग हो जाए, उसके साथ हमारा कोई विरोध भी नहीं है। हमारी दीक्षा प्रणाली में मैं कोई कमी नहीं देखता इसलिए मैं नहीं समझता कि अभी मुझे इसमें कोई परिवर्तन लाना चाहिए।' उन्हें आचार्यश्री की स्पष्ट दृष्टि मिली, इसलिए संतुष्ट दीख रहे थे, किन्तु उन्हें जो इष्ट था वह नहीं मिला। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि वे पूर्ण तोष को लेकर गए। आचार्यश्री की दृढ़ता देख उनकी भावना में और अधिक तीव्रता आ गई। दीक्षा को रोकने के लिए उनके प्रयत्न और अधिक तीव्र हो गए। बाहर से विद्वानों को बुलाया गया। कई सभाएं आयोजित की गईं और कानून का सहारा लेने के लिए प्रयत्न भी किए गए।

तेरापंथ वैसे ही संगठित संप्रदाय है और जब सामने विरोध होता है तो संगठन स्वयं प्रबल हो जाता है। लोगों को यह अनुभव हुआ कि दीक्षा को रोकने का तीव्र प्रयत्न हो रहा है तो वे संगठित हो जयपुर में

आने लगे। राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश आदि प्रांतों के लगभग १५ हजार आदमी एकत्र हो गए। दीक्षा की निश्चित तिथि भी निकट आ गई। आचार्यश्री ने जनता को शान्त रखा और बताया कि दीक्षार्थी यदि दृढ़ हैं तो दीक्षा को कोई नहीं रोक सकता। अधिक-से-अधिक यह हो सकता है कि दीक्षार्थियों को ठीक समय पर मेरे पास न आने दें। उस समय दीक्षार्थी स्वयं दीक्षा ले लें। आचार्यश्री ने भीड़ को संबोधित करते हुए कहा–'हम साधन-शुद्धि में विश्वास रखते हैं। इसलिए हिंसा के प्रति हिंसा व उत्तेजना न लाएं। विरोध का प्रतिकार न करें, यह मैं नहीं कहता। किन्तु वह अहिंसक ढंग से किया जाए, यह मैं दृढ़ता के साथ कहता हूं और मेरा विश्वास है कि कोई भी तेरापंथी इस सत्य से विचलित नहीं होगा।'

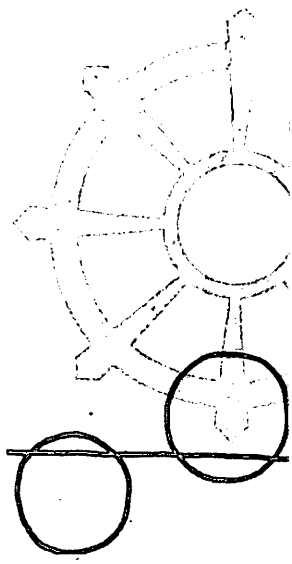

दीक्षा ठीक निश्चित समय पर हुई, शांति के साथ हुई। किन्तु उसके लिए जितना दीर्घकालीन और सुव्यवस्थित विरोध जयपुर में हुआ, उसे 'न भूतो' और संभवतः 'न भविष्यति' भी कहा जा सकता है। इस संबंध में आचार्यश्री सुदूर क्षेत्रों में बाल-दीक्षा के कट्टर समर्थक के रूप में पहचाने जाने लगे। यद्यपि आचार्यश्री पहले से ही युग-भावना के साथ संगति ला चुके थे फिर भी बाल-दीक्षा कानून द्वारा बंद हो, यह उन्हें इष्ट नहीं था। जहां कहीं बाल-दीक्षा का प्रस्ताव आता वहां वे उसकी आलोचना करते। मुंबई विधान परिषद् में 'बाल-संन्यास दीक्षा प्रतिबंधक' बिल आया। आचार्यश्री ने उस समय यही कहा–'अयोग्य दीक्षा के लिए पर्याप्त कानून हैं। योग्य दीक्षा को रोकने के लिए कानून नहीं होना चाहिए।' मुख्यमंत्री मोरारजी देसाई की स्पष्ट नीति से वह प्रस्ताव पारित नहीं हुआ। उस अवसर पर मोरारजी देसाई ने विधान परिषद् के सदस्यों के सम्मुख जो तथ्य प्रस्तुत किए, वे दीक्षा के समर्थकों व विरोधियों दोनों के लिए बहुत ही मननीय हैं। उन्होंने कानून को अनावश्यक बतलाते हुए कहा–'यदि यह सत्य है कि कोई व्यक्ति संसार को छोड़ना चाहता है तो क्या सरकार के लिए यह उचित है कि वह उसे रोके? नाबालिग का अर्थ सदा उस व्यक्ति से नहीं होता जो किसी चीज को न समझे। नाबालिग वह है जो २१ वर्ष से नीचे का हो। अगर वह संसार को छोड़ना चाहे और उसके लिए कटिबद्ध रहे तो सरकार के लिए क्या यह उचित है कि वह उसे रोके? वे संसार को छोड़ सकते हैं और कहीं जा सकते हैं, उनको रोका कैसे जा सकता है? नाबालिग भी हमसे ज्यादा बुद्धिमान् हो सकता है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि यह एक पूर्व कर्मों की बात है। संसार में अद्भुत बालक हुए हैं। वे सारे उदाहरण हमारे सामने हैं। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि चूंकि हम बड़े हो चुके हैं, अतः अधिक बुद्धिमान् हैं। इसके विपरीत ज्यों-ज्यों हम अधिक बड़े होते हैं हमारी बुद्धि घटती जाती है, यह भी कई अंशों में सत्य है।

मैं यह नहीं कहता कि हरेक बालक बुद्धिमान् होता है और हरेक बालक यह समझता है। मेरे विचार से बहुत थोड़े ऐसे होते हैं। फिर भी यह कानून उनकी उन्नति में रुकावट डालेगा। अगर वे अपनी इच्छानुसार ऐसा नहीं कर सकेंगे, जबकि उनकी आत्मा ऐसा करने के लिए तड़पती हो। उनकी आत्मा की पुकार रुक सकती है या नहीं, यह एक बड़े ध्यान देने की बात है।

मैं ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना चाहता, नाबालिग या साबालिग किसी व्यक्ति को चाहने पर भी वास्तविक धार्मिक जीवन ग्रहण करने में बाधा पहुंचे। ऐसा करने पर हमें मानवता का बिगड़ता हुआ स्वरूप ही मिलेगा। अगर हम आध्यात्मिक क्षेत्र में भी जनता को स्वतंत्रता नहीं देते हैं तो स्वतंत्रता रहेगी कहां? हम जनतंत्र की बात सोचते हैं। जनतंत्र का प्राण स्वतंत्रता है, विशेषकर मानसिक स्वतंत्रता है।

मुझे किसी व्यक्ति को संन्यास-जीवन अपनाने से नहीं रोकना चाहिए। इस कारण से कि मैं खुद संन्यास-जीवन को नहीं अपना सकता। इंसान के साथ बर्ताव करने का यह तरीका गलत है। सिर्फ इसी

कारण से मैं समझता हूं कि सांसारिक जीवन अच्छा है, मुझे हरेक व्यक्ति को सांसारिक जीवन की ओर जाने के लिए नहीं कहना चाहिए। अगर संन्यासी लोग कहें भी कि सांसारिक जीवन अच्छा नहीं है तो भी मैं संन्यासी होने के लिए तैयार नहीं हूं। तब मुझे क्यों जोर देकर कहना चाहिए कि मैं सांसारिक जीवन को अच्छा समझता हूं अतः किसी को भी संन्यासी नहीं होना चाहिए। जिस तरह मैं अपने जीवन में इस रास्ते पर चलने की स्वतंत्रता चाहूंगा, जिसे मैं चाहता हूं, उसी तरह मुझे दूसरों को उस रास्ते पर चलने के लिए स्वतंत्रता देनी चाहिए, जिस पर वे चलना पसंद करते हों। वास्तव में दुनिया में ऐसे अल्पसंख्यक व्यक्ति होंगे जो सांसारिक जीवन की अपेक्षा साधु-जीवन में ज्यादा सुख एवं शांति का अनुभव करते हैं। लेकिन यह कोई मतलब की बात नहीं है कि ऐसे लोग बहुत कम होंगे। अतः हम कोई चीज बिना सोचे-समझे ही कानून बना दें? धर्मान्ध व संदिग्ध व्यक्ति छोटी उम्र के बच्चों से जो अनुचित फायदा उठाते हों, उसे हमें अवश्य रोकना चाहिए। लेकिन मुझे बिलकुल विश्वास है कि मौजूदा कानून के अंदर ऐसे लोगों को बच्चों को चुराने से तथा उनका दुरुपयोग करने से रोकने के लिए काफी विधान हैं।

साधु व संन्यासियों के तमाम संघों में, जिनको कि मैंने देखा है, मुझे कहना चाहिए कि त्याग और तपस्या के आदर्श को जितना जैन साधुओं ने सुरक्षित रखा है, उतना और किसी संघ के साधुओं ने नहीं, यह जैनियों के लिए गौरव की चीज है। अतः ऐसे सम्प्रदायों पर जिनके साथ मत-भिन्नता के कारण हम एक मत नहीं, आक्रमण करने से कोई फायदा नहीं।

मैं यह नहीं सोचता कि शंकराचार्य, हेमचंद्राचार्य और ज्ञानेश्वर जैसे व्यक्तियों के रास्ते में रोड़ा अटकाना हमारे लिए उचित होगा, क्योंकि अगर हम ऐसा करते हैं तो इसका मतलब होगा कि हम केवल अपने देश को ही नहीं बल्कि संसार को ऐसे महान् व्यक्तियों से वंचित करते हैं। मैं नहीं सोचता कि हमें सामाजिक सुधार के नाम पर कभी ऐसी चेष्टा करनी चाहिए।'

इस लंबे उद्धरण में वे ही विचार भाषा में बंधे हैं जो आचार्यश्री के थे। विचारों के अभेद के सामने भाषा-भेद को मैंने गौण माना और वे उद्धृत कर दिए। इन विचारों की परिधि में उन्होंने अनेक संघर्ष मोल लिए। जयपुर का संघर्ष उन सबमें अधिक शक्तिशाली था।

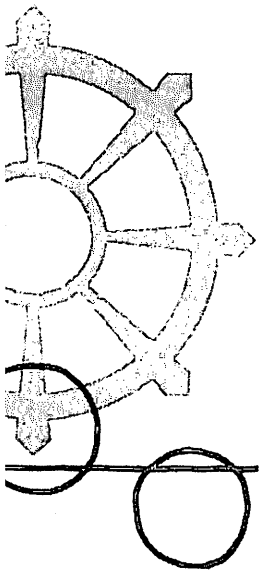

इस विषय में आचार्यश्री के हाथों दीक्षित एक बालमुनि और एक वृद्धमुनि का तुलनात्मक अध्ययन करना बहुत प्रासंगिक होगा–पिता का नाम कन्हैयालालजी और पुत्र का नाम कनक। पुत्र की अवस्था १० वर्ष और पिता की अवस्था ४५ वर्ष। दोनों विरक्त होकर दीक्षा के लिए आए और आचार्यश्री ने उन्हें दीक्षित किया। दीक्षा के थोड़े समय पश्चात् पिता की भावना शिथिल हो गई। वे मुनि-जीवन के कष्टों से घबरा गए। उन्होंने पुनः गृहस्थी में जाने का निश्चय कर लिया। जो व्यक्ति गृहस्थी की सुख-सुविधाओं में रमा हुआ होता है, अनुशासनहीन पारिवारिक जीवन में जीता है, शारीरिक श्रम नहीं करता, उसके लिए तेरापंथ धर्मसंघ में दीक्षित होना एक बड़ी समस्या है। बाल-जीवन उन सांसारिक सुविधाओं का आदी नहीं होता इसलिए वह सफलतापूर्वक मुनि-जीवन के अनुरूप अपने आपको ढाल लेता है।

पिता ने पुत्र को घर लौटने को कहा। पुत्र ने आश्चर्य भरे स्वर में कहा–'आपके मुंह से ये शब्द निकले! मैं नहीं सुनना चाहता ऐसे शब्द! आप और मैं कितने वैराग्य से घर-बार छोड़कर दीक्षित हुए हैं। लाखों की संपत्ति, पूरा परिवार, बड़े-बड़े मकान, क्या इसलिए थोड़े ही छोड़े हैं कि हम घर वापस चलें। मैं अधिक क्या कहूं। आप स्वयं समझदार हैं, आखिर आपको ऐसी भावना हुई क्यों? यह तो बताएं!'

पिता ने बात टालते हुए कहा–'नहीं, यों ही मैं तेरी परीक्षा करता हूं–तेरी भावना कैसी है, तू संयम में कैसे रमा है?'

थोड़े दिनों के अंतराल से पिता ने फिर प्रयत्न किया। वे बोले–'कनक! तू देख, हम वैराग्य से साधु बने, घर छोड़ा। यहां साधुपन नहीं पल रहा है, फिर व्यर्थ ही क्यों कष्ट सहें? आत्म-कल्याण गृहस्थी में जाकर भी कर लेंगे।'

पुत्र ने फिर पिता को समझाया–'आप अपनी दुर्बलता को साधु-संस्था के सिर न मढ़ें। आपको यह काम करना उचित नहीं। थोड़ी-सी कठिनाइयों से घबराकर शिथिल होना आपको शोभा नहीं देता। मैं आपकी यह बात कभी नहीं मान सकता चाहे जो कुछ भी हो जाए।' पिता का प्रयत्न फिर विफल रहा।

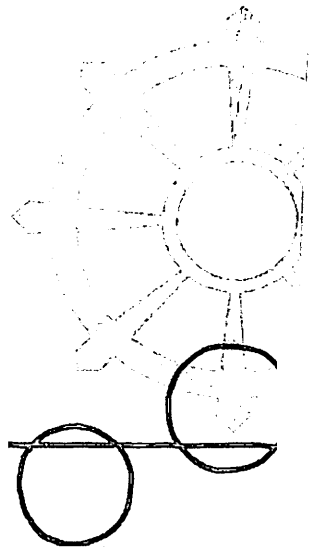

मुनि कनक ढाई मास का मुनि जीवन जी चुका था। राजलदेसर में आचार्यवर विराज रहे थे। सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् मुनि कनक आचार्यश्री के पास आया, अभिवंदना कर एकांत में पूछा–'गुरुदेव! कोई शंका सहित धर्मशासन में रह सकता है?'

आचार्यवर ने कहा–'नहीं। आचार्य भिक्षु की यह मर्यादा है कि कोई भी साधु या साध्वी सन्देह या संकोचपूर्वक धर्मशासन में न रहे।'

आचार्यश्री ने कहा–'तू यह क्यों पूछता है? इस प्रश्न का प्रयोजन क्या है?'

मुनि कनक ने इतना ही बताया कि मैं इसे जानना चाहता हूं।

मुनि कन्हैयालालजी कनक को घर ले जाने का प्रयत्न करते रहे। मुनि कनक उन्हें संयम में स्थिर करने का प्रयत्न करता रहा। दोनों अपने-अपने प्रयत्न में असफल रहे। कन्हैयालालजी ने एक दूसरा तीर फेंका। आचार्यश्री के पास शिकायत की कि मुनि कनक अविनीत हो गया है। वह मेरा कहा नहीं मानता। आचार्यश्री ने मुनि कनक को उलाहना दिया और आगे पिता के कहे अनुसार चलने का निर्देश दिया। इस घटना की अनेक बार पुनरावृत्ति हुई। कन्हैयालालजी की व्यूह रचना यह थी कि आचार्यश्री इसे अधिक उलाहना देंगे तो वह घबराकर मेरे साथ चलने को तैयार हो जाएगा।

रात का समय। पिता-पुत्र दोनों आचार्यश्री के सामने उपस्थित। कन्हैयालालजी ने मुनि कनक की अविनयपूर्ण प्रवृत्तियों की पोथी पढ़ डाली। आचार्यवर ने मुनि कनक को कुछ कठोर उलाहना दिया और कहा कि तू बाप का अविनीत है, इसलिए मैं तुझे पढ़ाना बंद कर दूंगा। इससे बालक का सुकुमार हृदय सिहर उठा। कुछ-कुछ आंखें भी गीली हो गईं। वह चाहता था कि मैं आचार्यश्री से कुछ निवेदन करूं, पर उस बुद्धिमान् बालक की पलकों पर 'इतो व्याघ्रः इतस्टटी' वाला दृश्य नाच रहा था। एक ओर वह पिता के हित की चिंता में था, दूसरी ओर आचार्यवर की अप्रसन्न दृष्टि भी उसके लिए असह्य थी। फिर भी ऐसी परिस्थिति आई कि उसने एक निर्णय किया और वास्तविक स्थिति को आचार्यश्री के सम्मुख रखना उचित समझा।

कुछ क्षणों के बाद आचार्यश्री ने पूछा–'क्या तू कुछ कहना चाहता है?' स्वीकृति के स्वर में उसने प्रार्थना की। आचार्यवर ने कहा–'कह दे।' उसने प्रार्थना की–'एकान्त में निवेदन करूंगा।' साधु दूर चले गए। आचार्य के सान्त्वनापूर्ण शब्दों का उसे कुछ संबल मिला और उसने वस्तुस्थिति सामने रखनी प्रारंभ की। उसके पहले शब्द ये थे–'आप मुझे फरमाते हैं कि मैं कन्हैयालालजी स्वामी के पास जाऊं, उनका

कहना मानूं। और वे मुझे घर ले जाना चाहते हैं। मैं जाना नहीं चाहता। इस दशा में हमारी कैसे पट सकती है?' आचार्यवर ने विस्मय और खिन्नता भरे शब्दों में कहा–'यह कबसे?' उत्तर में कहा–'दो-ढाई महीनों से।'

आचार्यश्री–'पहले तूने क्यों नहीं कहा?'

उसने प्रार्थना की–'मैंने आचार्यश्री से पूछा था कि शंका सहित साधुपन में रहना चाहिए या नहीं, इसका तात्पर्य यही था। 'यदि तू मेरी बातें कहीं कह देगा तो मैं अनशन कर दूंगा।' कन्हैयालालजी स्वामी ने मुझे यों कई बार कहा, इसलिए मैं स्पष्ट रूप में कुछ भी कहने में संकोच करता रहा। मैंने सोचा कि मैं उनको समझा लूंगा किंतु मेरी चेष्टाएं विफल रहीं। मैं कई बार आपका उलाहना सह चुका, फिर भी मैंने कुछ भी कहना नहीं चाहा। सिर्फ इसलिए कि मेरे संसारपक्षीय पिता ज्यों-त्यों पुनः सुदृढ़ हो जाएं।'

आचार्यवर ने मुनि कनक को आश्वासना दी और उसे संयम-प्रवृत्ति में पूर्ववत् सहज रहने की शिक्षा दी। कन्हैयालालजी को इस बात का पता चला तब वे अधीर हो उठे। अपनी दुष्प्रवृत्ति को छिपाने के लिए कई कुचेष्टाएं कीं और मुनि कनक की ओर से सर्वथा निराश होकर गण से पृथक् हो गए।

आचार्यवर ने कनक से कहा–'तेरा पिता साधु-संस्था से पृथक् हो गया है। तेरी क्या इच्छा है? यहां तो मर्यादापूर्वक चलना होगा, साधु-जीवन की कठिनाइयां सहनी होंगी, उलाहने सहने होंगे। तेरा पिता तुझे ले जाना चाहता है।'

धर्मचक्र का प्रवर्तन

आचार्यवर के ये शब्द सुनकर बाल मुनि त्वरा से बोले–'गुरुदेव! आत्म-साधना के पथ में पिता-पुत्र का संबंध कैसा? आप मेरे धर्म पिता हैं। मैं साधुव्रत कभी भंग नहीं करूंगा। मैं आपके अनुशासन में प्रसन्न हूं। मैं निरंतर आपके निर्देशानुसार आत्म-साधना में अग्रसर होऊं, यही एकमात्र मेरी मनोभावना है। गुरुदेव! कठिनाइयां! दीक्षा यह सोच-विचारकर ही ली थी कि साधु-जीवन कठिनाइयों का घर है, मैं उनका हंस-हंसकर सामना करूंगा, उन्हें चीरकर आगे बढ़ूंगा। उलाहना! त्रुटि हुए बिना आप उलाहना देंगे नहीं, मेरी त्रुटि पर मुझे उलाहना मिले, उससे मैं खिन्न क्यों होऊं? उसे मैं मेरी त्रुटि का प्रायश्चित्त समझूंगा। गुरुदेव! आप मुझ पर वात्सल्य रखें और शीघ्रातिशीघ्र मैं उन्नति करूं, ऐसा मार्गदर्शन करें।'

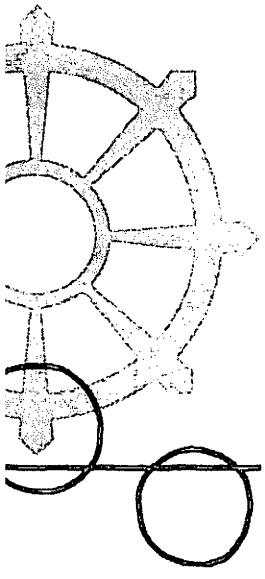

बालक की विवेकपूर्ण बातों ने आचार्यश्री के हृदय में एक आकर्षण पैदा कर दिया। नियमित अध्ययन प्रारम्भ हो गया। उसके विनय और साम्य भावनाओं से आकृष्ट न होता, उसे देख, उसकी प्रवृत्तियों को देख उसके उज्ज्वल भविष्य की कल्पना न करता, ऐसा कौन था?

अवश्यम्भावी भाव की सत्ता बलवती होती है–यकायक बाल-मुनि को ज्वर आया। किसने जाना कि यह चिरसमाधि का अग्रदूत है। वह सामान्य ज्वर 'भाव' (मियादी ज्वर) के रूप में बदल गया। कफ का प्रकोप बढ़ गया। बाल-जीवन, साधु जीवन की कठिनाइयां, व्याधि की भीषणता, फिर भी वह मृदु-मुस्कान अखंड रही, हंसते-हंसते कष्टों को झेला। नहीं सुना कभी किसी ने उसके मुंह से ओह! हाय! चूं तक। वह अवस्था में बालक था, कौन कह सकता है कि वह कृतियों में प्रौढ़ नहीं था। उचित चिकित्सा चली, फिर भी उससे कोई लाभ नहीं हुआ।

अंतिम शब्दों में आचार्यवर से उसने प्रार्थना की–'मुझे आप महाव्रतों की आलोचना कराइए, मैंने कोई त्रुटि की हो, उसका प्रायश्चित्त दें।'

आचार्यश्री ने स्वयं उसे महाव्रतों की आलोचना कराई। वह जीवन्मुक्त बालक आचार्यवर के चरण-कमलों की उपासना करता-करता समाधिलीन हो गया। उसकी स्मृतियां समूचे संघ और संघपति के हृदय में अमिट बन गई।

ऐसे प्रौढ़ बालक दीक्षा के लिए अयोग्य नहीं माने जा सकते।

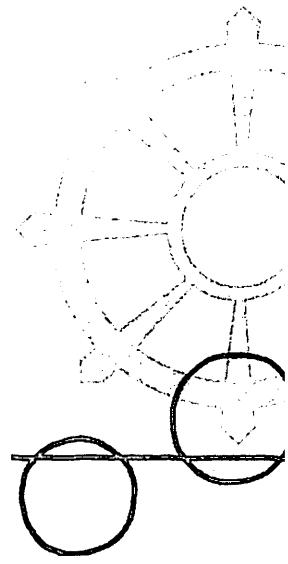

धर्मचक्र का प्रवर्तन

विरोध का विचित्र रूप

आचार्यश्री पहली बार ही कोलकाता में पधारे। वहां आठ मास का प्रवास हुआ। आचार्यश्री ने उस प्रवास को अपने शब्दों में इस प्रकार चित्रित किया–'कोलकाता यात्रा आदि में सुंदर, मध्य में मध्यम और अन्त में बहुत-बहुत सुंदर रही।

कोलकाता में चल रहे आयोजन नागरिकों के हृदय का स्पर्श कर रहे थे। किसी ने आचार्यश्री को नए युग का 'मसीहा' कहा, किसी ने युग की चेतना का प्रतिनिधि और किसी ने मानवता का महान् संरक्षक। वहां के व्यापारिक वातावरण में नैतिकता और अध्यात्म का स्वर गूंजने लगा। हजारों-हजारों अपरिचित, अर्ध-परिचित और परोक्ष परिचित व्यक्ति साक्षात् परिचय में आए। उस स्थिति में कुछ लोग आचार्यश्री के यशस्वी-जीवन और बढ़ते हुए वर्चस्व को आवृत करने का यत्न करते रहे। उन्होंने एक प्रबल विरोधी वातावरण निर्मित किया।

जैन साधुओं के प्रति जनता में घृणा फैलाने के लिए सुदूर अतीत में ऐसा विरोध शायद किया गया होगा, किन्तु निकट अतीत में ऐसे विरोध का उल्लेख नहीं मिलता। इस विरोध का नामकरण था–'मल-मूत्र प्रकरण।' इस विरोध में जो व्यक्ति सम्मिलित हुए वे सबके सब दुर्भावना से ग्रस्त थे, यह नहीं कहा जा सकता। वास्तविकता यह थी कि कुछ-कुछ व्यक्तियों के मन में विरोध का भाव था और कुछेक उनके भुलावे में आकर पीछे-पीछे घसीटे जा रहे थे। बड़े व्यक्तियों व नेताओं की यह विचित्र-सी स्थिति है। वे अपना मत देने व हस्ताक्षर करने में इतनी शीघ्रता करते हैं कि कहते नहीं बनता। जहां दायित्व हो वहां गंभीरता, दूरदर्शिता और चिंतन की सूक्ष्मता होनी चाहिए। कोलकाता में इसके विपरीत उदाहरण मिले।

इस 'मल-मूत्र प्रकरण' प्रसंग में कुछ युवकों ने दो दिन का अनशन भी किया। सैकड़ों स्थानों से अभिमत मंगवाए। वातावरण को विषाक्त बनाने के यथासंभव प्रयत्न किए गए, पर जो आशा थी वह शायद सफल नहीं हुई।

विरोध से केवल अप्रिय वातावरण नहीं बनता, उससे प्रिय परिस्थिति का भी निर्माण होता है। विरोध के समय जो संगठन होता है वह साधारण स्थिति में नहीं होता। अप्रिय स्थिति को एक बार सहना ही कठिन होता है। जो एक बार सह लेता है, उसके लिए वह अप्रिय नहीं रहती। विरोध मानसिक संतुलन की कसौटी है। विरोधी वातावरण को देखकर जो घबरा जाता है, वह पराजित हो जाता है और जो उससे घबराता नहीं, वह उसे पराजित कर देता है। आचार्यश्री की वृत्तियां बहुत ही मृदु थी। वे अनाग्रह की बात करने वालों में नहीं, किन्तु उसे जीवनव्यापी बनाने वालों में से थे। पर अनाग्रही होने का यह अर्थ नहीं कि जो कोई विचार सामने आए उसे स्वीकार कर लिया जाए।'

कुछ लोग आचार्यश्री को आग्रही प्रमाणित करना चाहते थे। उनकी सुधार की आवाज में सत्य का आग्रह, हृदय का अनाग्रह दोनों नहीं थे। यह अनुभव केवल हमें ही नहीं, बहुतों को हो रहा था। कुछ

व्यक्तियों का आग्रह में रस होता है, पर आग्रही कहलाना उन्हें अच्छा नहीं लगता, इसलिए वे अपने आग्रह पर अनाग्रह का झोल चढ़ा देते हैं। कुछ व्यक्ति रूढ़ि से मुक्त नहीं होते, रूढ़िवादी कहलाना उन्हें अच्छा नहीं लगता, इसलिए वे रूढ़ि पर सुधार का झोल चढ़ा देते हैं। कोलकाता के इस सुधारक वर्ग की स्थिति लगभग ऐसी ही थी।

विरोध ज्योति से पूर्व होने वाला धुआं है। वह क्षण भर के लिए भले ही लोगों की आंखों को धूमिल बना दे, पर अन्त में ज्योति जगमगा उठती है। वे व्यक्ति धुएं से कभी निराश नहीं होते जिन्हें ज्योति की आशा होती है।

विरोध जब अपने चरम शिखर पर था तब दूर बैठे-बैठे तेरापंथी लोगों को भी यह अनुभव हुआ कि कोलकाता में जाकर हमने कुछ न कुछ खोया है, पाया नहीं। यह अकारण भी नहीं था। विरोध-पत्र दूर-दूर तक पहुंच रहे थे। हमारी स्थिति वहां नहीं पहुंच रही थी। हमारे श्रावकों को व्यवस्थित जानकारी मिले, वैसा कोई प्रयत्न कोलकाता के श्रावकों ने नहीं किया इसलिए जनता के पास परिस्थिति का एक ही पक्ष पहुंच रहा था। उसी के आधार पर उसकी धारणा बन रही थी। इसलिए उसे अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता। विरोध का स्वर बाहर से भी उठ रहा था और भीतर से भी। निकट से भी उठ रहा था और दूर से भी। भीतर से विरोध क्यों? यह सहज ही जिज्ञासा होती है। जिज्ञासा जैसे सहज है वैसे ही उसका समाधान भी सहज है। लोग दो प्रकार की रुचि वाले होते हैं। कुछ लोग पुराने में ही रुचि रखते हैं, परिवर्तन नहीं चाहते। कुछ लोग नए को ही चाहते हैं, परिवर्तन चाहते हैं। यह नए और पुराने का प्रश्न उन्हीं के सामने होता है जो चिंतक नहीं होते।

चिंतक व्यक्ति यंत्रवत् नहीं चल सकता। यद्यपि यंत्र भी चलता है और मनुष्य भी चलता है, पर दोनों की गति में महान् अन्तर होता है। यंत्र निश्चित गति से चलता है। उसमें देश-काल और परिस्थिति का विवेक नहीं होता, क्योंकि वह मनुष्य नहीं है। मनुष्य अपनी गति में परिवर्तन लाता है। उसमें देश-काल और परिस्थिति का विवेक होता है, क्योंकि वह यंत्र नहीं है।

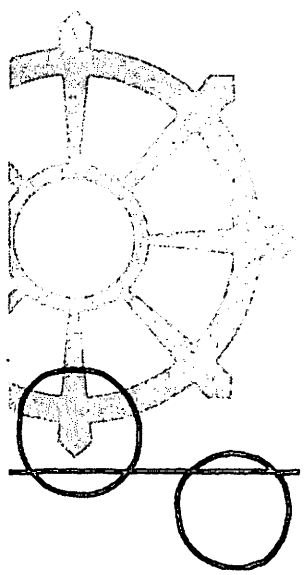

आचार्यश्री का चिंतन बहुत प्रगति कर चुका था। कुछ श्रावकों का चिंतन बहुत पीछे था। यह दूरी एक समस्या थी। विरोध इसी में से उपजा। प्रश्न उठा कि बंगाल अनार्य क्षेत्र है। वहां साधुओं को जाने का निषेध है। आचार्यश्री वहां कैसे जा सकते हैं?

दूसरा प्रश्न यह आया कि बंगाल में हरियाली, नीलन-फूलन (फफूंदी) बहुत है, शौच जाने का जीव-जंतु रहित स्थान नहीं है, इसलिए वहां जाना उचित नहीं।

तीसरा प्रश्न यह उठा कि एक गांव में शेषकाल में एक मास और वर्षाकाल में चार मास रहने का विधान है। आचार्यश्री शेषकाल में बालीगंज, हेस्टिंग, काशीपुर आदि स्थानों में पृथक् मानकर रहे तो फिर चातुर्मास में उन्हें संयुक्त कैसे माना जा सकता है?

इन प्रश्नों का समाधान किया गया–

१. बंगाल अनार्य देश नहीं है। भगवान् महावीर ने यहां विहार किया है। यहां साधु विहार कर सकते हैं।

२. हरियाली और नीलन-फूलन का प्रश्न केवल बंगाल के लिए ही क्यों? इनकी अधिकता मेवाड़, मालवा और खानदेश (महाराष्ट्र) में भी है। वहां यदि विहार किया जा सकता है तो बंगाल में भी किया जा सकता है। हमें यह अनुभव नहीं होता कि वहां से बंगाल की स्थिति भिन्न है।

३. बालीगंज, हेस्टिंग, काशीपुर आदि स्थान कोलकाता के बड़ा बाजार के क्षेत्र से भिन्न भी हैं और ये सब 'कोलकाता-कॉरपोरेशन' के अंतर्गत हैं, इसलिए अभिन्न भी हैं। जैसे गांव के बाहरी भाग को भिन्न और अभिन्न माना जाता है वैसे कोलकाता के विभिन्न भागों को भी माना जा सकता है।

इन तीन के अतिरिक्त कुछ छिटपुट प्रश्न आए और उनका समाधान भी किया गया। बाहर से जो विरोध था उसका स्तर बहुत ही निम्न था। उसे विरोध न कहकर 'गाली-गलौज' कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। 'विश्वबन्धु' एक साधारण-सा हिन्दी दैनिक पत्र है। उसके माध्यम से वह कार्य प्रारम्भ हुआ। उसका एक पृष्ठ लगभग इसी के लिए निश्चित था। उसमें हमारे निकट के भाई-बन्धु (दूसरे जैन सम्प्रदाय के लोग) ही सक्रिय थे। उनके सहयोग से वह पत्र गाली-गलौज की दिशा में दिन-प्रतिदिन आगे बढ़ता गया। हमारा सिद्धांत है कि गाली वही देता है जो दुर्बल होता है, जो मानसिक संतुलन नहीं रख पाता और जिसका स्नायु-संस्थान विकृत होता है। गाली से गाली का प्रतिकार करने में वही समर्थ हो सकता है जो दुर्बल बने, मानसिक संतुलन को खोए और स्नायु-संस्थान को विकृत बनाए। हम किसी भी स्थिति में ऐसा होना नहीं चाहते थे। दूर रहने वाले इस बात को नहीं जान पाए कि कोलकाता के तेरापंथी नौजवानों का कितनी बार कैसे खून उबला और कैसे आचार्यश्री ने उन्हें शांत किया? हमें आश्चर्य तब होता कि कुछ अच्छे कहलाने वाले लोग भी 'विश्वबन्धु' के प्रचार में रस लेते। यह मनुष्य की मानसिक दुर्बलता है कि वह दूसरों की प्रगति को अवरुद्ध करने के लिए गलत तत्त्वों को प्रोत्साहित करता है, पर वह इस सत्य को भुला देता है कि बुराई को प्रोत्साहन देने का परिणाम कभी उसके लिए भी खतरनाक हो सकता है।

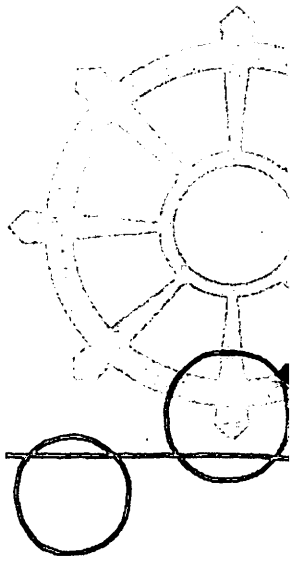

तेरापंथ महासभा के कार्यकर्ताओं ने 'विश्वबन्धु' के मिथ्या प्रचार का दूसरे समाचार-पत्रों में प्रतिवाद करने की बात सोची किंतु दूसरे अच्छे पत्र उसका प्रतिवाद करके उसे महत्त्व देना पसन्द नहीं करते थे। सच तो यह है कि उसे पत्र की कोटि में रखना भी नहीं चाहते थे। इस प्रकार प्रतिवाद करने में जो कठिनाई थी उसे जनता ने नहीं समझा, प्रत्युत यह समझा कि 'विश्वबन्धु' के समाचारों का प्रतिवाद नहीं किया जा रहा है, इसलिए ये सच हैं। इसका फलित यही हो सकता है कि गाली से गाली का प्रतिकार करना जैसे त्रुटिपूर्ण है वैसे ही मिथ्या आलोचनाओं की उपेक्षा करना भी त्रुटिपूर्ण है। इन सभी विरोधों के उपरांत भी कोलकाता में अणुव्रत आंदोलन का कार्यक्रम चलता रहा। आंदोलन की व्यापकता के लिए चिंतन भी चलता रहा। अणुव्रत समिति के कार्यकर्ता सहकारिता के आधार पर कुछ कार्य खड़ा करना चाहते थे। श्री जयप्रकाश नारायण के साथ उनका विचार-विमर्श भी हुआ था पर कार्य करने की परिकल्पना जितनी सरल होती है, कार्य उतना सरल नहीं होता। कुछ समस्याएं सुलझीं पर कार्य का प्रारंभ नहीं हो सका।

संघर्षों की पृष्ठभूमि

उदय की तैयारी अदृश्य होती है, इसलिए वह जनता की दृष्टि में अनुदय होता है। उसका परिणाम दृश्य होता है, इसलिए लोग उसे उदय मानते हैं। उदय तपस्या की बलि चाहता है–

बिना जले कब दीपक की लौ करती अरे! प्रकाश।
बिन जले कब अगरवर्तिका देती अरे! सुवास॥

आचार्यश्री का उदय संघर्षों की वेदी पर हुआ था। उनकी गति ने कसौटी पर चलते-चलते प्रगति का रूप लिया।

संघर्ष दो प्रकार के होते हैं–आंतरिक और बाह्य। आंतरिक संघर्ष उस समय तक अंकुरित नहीं हुआ था। बाहरी संघर्ष तेरापंथ आचार्य के लिए कोई नई बात नहीं थी। उसे झेलने की क्षमता भी उन्हें परम्परा से प्राप्त थी।

आचार्यश्री कोई संघर्ष मोल लेना नहीं चाहते थे। उसमें शक्ति खपे, यह उन्हें इष्ट नहीं था। उनके कार्यक्रम का एक सूत्र था–धार्मिक सहिष्णुता। उसका प्रभाव जन-मन पर सहसा अंकित हो गया। जैनों के दिगम्बर व श्वेताम्बर सम्प्रदायों के प्रमुख व्यक्तियों के साथ गहरा संबंध हो गया। संप्रदायों की कृत्रिम दूरी कम होती चली गई।

सचाई किसी पर भी अनुग्रह नहीं करती। यह सचाई है कि अगली पीढ़ी परिवर्तन न करने पर संघर्ष करती है और वर्तमान पीढ़ी परिवर्तन करने पर संघर्ष करती है। आचार्यश्री ने बारह वर्षों तक कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किया था, उस समय कुछ युवक संघर्ष कर रहे थे। जब परिवर्तन होने लगा तो बूढ़े लोग संघर्ष करने लगे।

विशाल दृष्टिकोण

आत्म-निर्माण सप्ताह मनाया गया। उसमें दूसरे धर्म के विद्वानों के वक्तव्य रखे गए। आचार्यश्री की उपस्थिति में दूसरों के वक्तव्य सुनें, यह हमारे श्रावकों के लिए नया अनुभव था। वे उसे पचा नहीं सके। कुछ विरोध हुआ।

आचार्यश्री ने उन्हें समझाया–'हम केवल सुनाएं ही नहीं, दूसरों को सुनें भी। देना चाहें तो लें भी। दूसरों के विचार सुनने से डर क्यों? क्या हम इतने दुर्बल हैं कि दूसरा विचार सुन हमारी आस्था डिग जाए? यदि वह इतनी अपरिपक्व है तो किस काम की? धार्मिक को सहिष्णु होना चाहिए। उसमें धैर्य होना चाहिए। दूसरों के विचारों को सुनने की क्षमता होनी चाहिए।' ये विचार कुछ लोगों को रुचे, कुछ को नहीं रुचे।

अणुव्रत आंदोलन

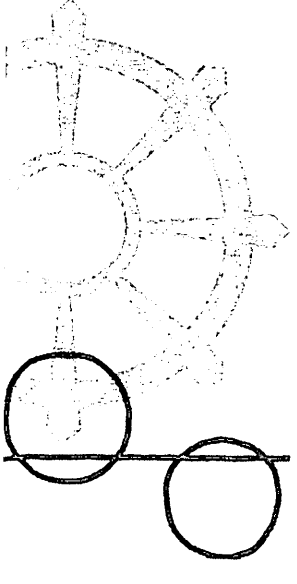

आचार्यश्री अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन कर चुके थे। उसका द्वार अहिंसा में विश्वास करने वाले सभी धर्म, वर्ण, जाति और रंग के लोगों के लिए खुला रखा था। यह भी एक प्रश्न बन गया। लोगों ने कहा–आचार्यश्री जैन, जैनेतर, सम्यग्-दृष्टि और मिथ्या-दृष्टि, सभी व्यक्तियों को एक आसन पर बिठाने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह नहीं होना चाहिए।

आचार्यश्री ने उन्हें समझाया–'धर्म किसी की पैतृक संपत्ति नहीं है। चरित्र प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है। प्रत्येक व्यक्ति उसकी आराधना का अधिकारी है। सम्यग्-दृष्टि कौन है, कौन नहीं? यह पहचान बहुत कठिन है। भगवान् महावीर में मेरी दृढ़ आस्था है।'

'भगवान् ने अहिंसा धर्म उन सबके लिए कहा है जो धर्म का आचरण करने के लिए उठे हैं या नहीं उठे हैं, जो धर्म सुनना चाहते हैं या नहीं चाहते, जो जीव-हिंसा से विरत हैं या नहीं हैं, जो परिग्रह में लिप्त हैं या नहीं हैं, जो संयोग से बंधे हुए हैं या नहीं हैं–उन सबके लिए भगवान् ने धर्म कहा है।'

'मैंने जनता के चरित्र विकास के लिए जो व्यापक चरण उठाया है वह मेरी आस्था का प्रतिबिंब है और हमारी परम्परा के अनुरूप है।' कुछ व्यक्तियों ने इस उत्तर में गंभीर तत्त्व का दर्शन किया तो कुछेक ने इसमें कोरा वाक्-चातुर्य देखा।

पारमार्थिक शिक्षण संस्था

पारमार्थिक शिक्षण संस्था भी उन दिनों चर्चा का विषय बन चुकी थी। पहले दीक्षार्थी का परीक्षा-काल ऐसे ही बीत जाता। उसके लिए साधना या अध्ययन की कोई व्यवस्था नहीं थी। अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तन के साथ-साथ तेरापंथी महासभा ने इस संस्था की स्थापना की। साधना के नियम साधुओं ने सुझाए। शिक्षण की व्यवस्था महासभा ने की। यह भी नया कार्य था, इसलिए आलोच्य बन गया। आलोचना उसकी होती है जो पहले न हो और पीछे हो जाए। आलोचना उसकी होती है जो पहले हो और पीछे मिट जाए। आलोचना का साधारण रूप यही है। गुण-धर्म की समीक्षा के बाद आलोचना हो, यह रूप बहुत कम बार दृश्यमान् होता है।

संघर्ष की स्थिति का परिपाक

जयपुर में एक विशाल पंडाल बनाया गया। उसमें बिजली का प्रयोग किया गया। जो दूसरे वक्ता आते, उनके लिए ध्वनिवर्धक यंत्र की व्यवस्था की गई। कुछ प्रकाशन कार्य बढ़ा। फोटो लिए जाने लगे। कुल मिलाकर संघर्ष की भूमिका प्रशस्त होती गई।

आदर्श साहित्य संघ का भी उसमें बहुत बड़ा भाग है। उसने अणुव्रत आंदोलन के प्रचार व साहित्य प्रकाशन में बड़ी तत्परता से कार्य किया। कुछ नए कार्यकर्ता सामने आए। समाज के पुराने मुखिया उन्हें नहीं पचा सके या वे उनके सांचे में ढल नहीं सके। कुछ भी हो, संघर्ष की स्थिति पक गई। यह आंतरिक संघर्षों के निमित्तों की एक झांकी है। जयपुर में बाहरी संघर्ष जब चरम सीमा पर पहुंचा तब आंतरिक संघर्ष अंकुरित हुआ।

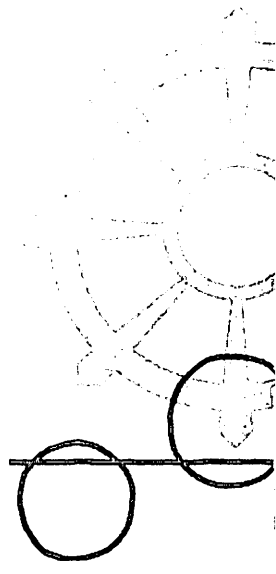

धर्मचक्र का प्रवर्तन

अस्पृश्यों का पहला स्पर्श

वि. सं. २००३ तक आचार्यश्री की गतिविधि वही थी, जिससे जनसाधारण परिचित था। वि. सं. २००४ में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। उस समय रतनगढ़ चातुर्मास था। देवेन्द्र कुमार कर्णावट ने आदर्श साहित्य संघ के एक विभाग के रूप में लोकमंच की स्थापना की। वहां साप्ताहिक व्याख्यान होते। अनेक विचारकों को आमंत्रित किया जाता। वे आचार्यश्री के संपर्क में आते। इस प्रकार वह विचार-संगम बन गया।

परिवर्तन और क्या है? विचार-विकास ही तो परिवर्तन है। विचार रूढ़ होता है तो व्यक्ति स्थिर रेखा पर चलता है। विचार ग्रहणशील होता है, तब वह नई-नई रेखाएं खींचता है। वे रेखाएं अपरिचित होती हैं, इसलिए लोग उनसे भय खाते हैं।

उन्हीं दिनों की बात है। आचार्यश्री छापर में थे। उन्होंने एक साधु से कहा–'जाओ, हरिजन बस्ती में व्याख्यान दो। उन्हें समझाओ, वे मांस न खाएं, मद्य न पीएं। वे गए पर उनका मन समस्याओं से भरा था। इधर आचार्यश्री का आदेश था, जो कभी टाला नहीं जाता। उधर हरिजन बस्ती में व्याख्यान देने जाना था, जो पहला अवसर था। हरिजनों ने उन्हें सुना। अनेक लोगों ने मद्य-मांस छोड़ा, सैकड़ों व्यक्ति सम्मिलित होकर आचार्यश्री के पास आए। साधु और श्रावक उन्हें कुतूहल भरी दृष्टि से देख रहे थे। वे सकुचाए-से खड़े थे। कुछ लोगों ने मखौल के रूप में कहा–'आचार्यश्री के चरण-स्पर्श करो।' उनका अन्तर्भाव यह था कि आचार्यश्री इन्हें चरण-स्पर्श नहीं करने देंगे। आचार्यश्री क्यों रोकते? वे आगे आए और चरण-स्पर्श किया। इससे अनेक श्रद्धालु श्रावक उत्तेजित हो गए। उनकी धारणा में हरिजनों को आचार्यश्री को छूने का

अधिकार नहीं था। यह एक लंबी चर्चा का विषय बन गया। जिनके संस्कार रूढ़ थे, उन्होंने इस दृष्टि से देखा कि आचार्यश्री सबको एकमेक कर रहे हैं, यह ठीक नहीं हो रहा है। जो आचार्यश्री के स्थायी आलोचक थे उन्होंने लिखा–'कौआ चले हंस की चाल', 'नई बोतल में पुरानी शराब' आदि-आदि। आचार्यश्री का चिंतन इन दोनों दृष्टियों से अप्रभावित था। वे यह मानकर चलते थे–

१. कुछ लोग ऐसे श्रद्धालु हैं कि मैं जो कुछ करूं, उसे वे ठीक ही मानेंगे।

२. कुछ लोग ऐसे आलोचक हैं कि मैं जो कुछ करूं, उसकी वे आलोचना ही करेंगे।

३. कुछ लोग ऐसे हैं, जो मेरे कार्यों को परख कर अपना मत मुझे बता देंगे।

आचार्यश्री इस तीसरी कोटि के व्यक्तियों की समीक्षा को ही मूल्यवान् मानते थे। आचार्यश्री ने अमरगान में एक पद्य लिखा–

व्यक्ति-व्यक्ति में धर्म समाया।
जाति-पांति का भेद मिटाया॥
निर्धन, धनिक न अन्तर पाया।
जिसने धारा जन्म सुधारा।
अमर रहेगा धर्म हमारा॥

हमारे श्रावकों ने ही न जाने कितने व्यंग्य कसे होंगे? 'जाति-पांति का भेद मिटाया' इसका जी-भर उचित या अनुचित प्रयोग किया होगा? पर आचार्यश्री उससे कभी क्षुब्ध नहीं हुए।

अणुव्रत प्रार्थना

प्रातःकाल आचार्यश्री की सन्निधि में अणुव्रत प्रार्थना होती। उसमें जीवन-शुद्धि के संकल्प हैं। रूढ़ धारणा यह है कि प्रातःकाल में भगवान् का नाम लेना चाहिए। बहुत लोग इस प्रार्थना में इसलिए सम्मिलित नहीं होते कि इसमें भगवान् का नाम नहीं है।

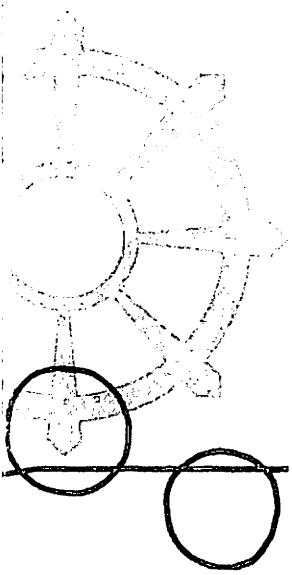

ऐसा वातावरण बनाया गया कि प्रातःकालीन प्रार्थना को बदला जाए। प्रार्थना में सम्मिलित होने वाले भी विरोधी आलोचना को सुन कभी-कभी प्रार्थना को बदलने के लिए कह देते। आचार्यश्री ने अपना निश्चय अडिग रखा। उन्होंने अनेक बार स्पष्ट किया–'मैं भगवान् की आज्ञा के पालन को उनके नाम के जप से अधिक धर्म मानता हूं। जो भगवान् के नाम का जप करता है, किंतु उनके बताए हुए मार्ग पर नहीं चलता, वह अच्छा धार्मिक नहीं है। जो भगवान् के बताए हुए मार्ग पर चलता है वह भगवान् का नाम न ले तो भी अच्छा धार्मिक है। पिता अपना नाम जपने वाले पुत्र से उस पुत्र को अधिक मानेगा जो उसकी आज्ञा का पालन करता है।'

बस्ती-बस्ती में

हमारा प्रवचन प्रायः वहीं होता जहां हम लोग ठहरते। सार्वजनिक प्रवचन का द्वार लगभग खुला नहीं था। यह अभिमत नहीं था, ऐसी बात नहीं। किंतु बहुत बार ऐसा होता है कि अभिमत तत्त्व भी प्रयोग में नहीं आते हैं तो वे अनभिमत से भी अधिक अकरणीय बन जाते हैं। प्रसंगवश मैं एक घटना का उल्लेख किए देता हूं। महासती वदनाजी आचार्यश्री की संसारपक्षीय माता थी, साध्वी थी। जैन मुनि के लिए साधारणतया

पैरों में कुछ पहनना और छत्र रखना निषिद्ध है। स्थविर के लिए वे कार्य निषिद्ध नहीं हैं। माताजी स्थविर थी इसलिए उन्होंने उनका प्रयोग किया। लोगों ने भारी ऊहापोह किया। कुछ साधु भी इससे नहीं बचे। जब उन्हें यह बताया गया कि यह कार्य आगम-विहित है, तब उन्हें संतोष हुआ। शब्द-ज्ञान को प्रमाण न मानने में जितनी कठिनाइयां हैं, उतनी ही कठिनाइयां उसे प्रमाण मानने में हैं। शब्द-ज्ञान को प्रमाण मानकर हम चिर-अतीत में उपलब्ध सत्यों से वंचित नहीं होते, यह लाभ है। अलाभ यह है कि हम शब्दों को पकड़कर नए तथ्यों की उपलब्धि से वंचित हो जाते हैं। आचार्यश्री ने जैसे-जैसे परिवर्तन किए वैसे-वैसे शाब्दिक पकड़ के निदर्शन मिलते गए। हमें इसलिए प्राचीन साहित्य को पढ़ने का अधिक प्रोत्साहन मिला। साधारण लोग तब तक किसी बात को प्रमाण नहीं मानते, जब तक उन्हें यह न बता दिया जाए कि प्राचीन आचार्यों ने वैसा किया या लिखा है।

आचार्यश्री ने सार्वजनिक प्रवचन किए। बस्ती-बस्ती में जाकर प्रवचन दिए तो प्रश्न खड़ा हो गया–'अपन ऐसा नहीं करते थे। अब ऐसा क्यों किया जाता है? प्यासा कुएं के पास जाता है, कुएं को प्यासों के पास जाने की क्या जरूरत है?'

आचार्यश्री ने इसका विनोद की भाषा में उत्तर दिया–'आज के युग की उलटी रीति है। प्यासा कुएं के पास नहीं जाता, कुआं प्यासे के पास जाता है। घर-घर में नल (टोंटी) हैं।'

घर-घर में

छुटपन और बड़प्पन का मानदंड एक नहीं है। मनुष्य की हर प्रवृत्ति में उसका आरोप हो जाता है। कोई आदमी किसी दूसरे आदमी के पास जाता है, इसमें भी ये दोनों आरोपित हैं। वह बड़ा है, जिसके पास लोग आते हैं और वे छोटे हैं जो उसके पास जाते हैं। कुछ लोग आचार्यश्री के पास इसलिए नहीं आते थे कि वे आचार्यश्री को अपने से बड़ा मानने के लिए तैयार नहीं थे। कुछ लोग आचार्यश्री में गर्व का भाव देखते थे। उनकी दृष्टि थी कि आचार्यश्री दूसरों को अपने पास बुलाते हैं, वे कहीं नहीं जाते। आचार्यश्री ने एक दिन कहा–'जो लोग हमारे पास आने में संकोच करें, उनके पास हमें जाना चाहिए। अपने विचारों से उन्हें परिचित करा देना चाहिए और उनके विचारों से हमें परिचित हो जाना चाहिए।'

परिणाम अच्छा आया पर श्रावक लोग चुप नहीं रहे। कुछ व्यक्तियों ने आचार्यश्री से कहा–'हमारे साधु इस प्रकार घर-घर में घूमें, यह शोभा नहीं देता। इससे उनका सम्मान कम होता है। इस प्रवचन को सर्वथा रोक देना चाहिए।'

आचार्यश्री ने कहा–'यह मंत्र हमें आचार्यश्री भिक्षु से मिला है। मैं इसे क्यों रोकूं? उन्होंने अपने शिष्यों से कहा था–व्यापारी लोगों के दुकान का काम रहता है, इसलिए वे तुम्हारे पास नहीं आ सकते। तुम उनकी दुकानों में चले जाओ। वे ग्राहकों में फंसे हों, तब तुम अपना काम करो और वे उनसे निबट जाएं तब तुम उन्हें धर्म का तत्त्व समझाओ।–मैंने उन्हीं के चरण-चिह्नों का अनुसरण किया है। मैं नहीं मानता कि इससे हमारे साधुओं का सम्मान कम होता है, मेरी दृष्टि में वह बढ़ता है।'

आचार्यश्री स्वयं दूसरों के यहां जाने लगे। मुंबई में इसका बड़ा चमत्कार दिखा। उन दिनों मोरारजी देसाई मुख्यमंत्री थे। वे आचार्यश्री के पास आए पर जो भाव लेकर गए वह प्रकाशमय नहीं था। एक दिन आचार्यश्री उनकी कोठी पर गए। आचार्यश्री के प्रति उनकी धारणा ही नहीं बदली किंतु उन्होंने इसे एक

अनुग्रह माना। फिर आचार्यश्री और उनमें विचारों का तादात्म्य-सा हो गया और कौन कहां जाए-आए, यह प्रश्न भी गौण हो गया।

आचार्यश्री दिल्ली में थे। जैनेन्द्रजी ने काका कालेलकर से आचार्यश्री के पास आने को कहा। उन्होंने झट से पूछा–'सबको उन्हीं के पास जाना पड़ता है या वे भी दूसरों के पास जाते हैं।'

जैनेन्द्रजी ने कहा–'कल अचानक ही वे मेरे घर पर आए और आधा घंटा ठहरे।' फिर उन्हें आने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

बराबर कैसे बैठें?

तेरापंथ की परंपराएं बहुत पुष्ट हैं और उनके पीछे विनय का बहुत बड़ा मनोभाव है। उसके आचार्य को जो बहुमान प्राप्त है, वह किसी सम्राट् को भी सुलभ नहीं है। आचार्य अपने शिष्यों से ऊंचे आसन पर बैठें, यह सहज ही है। पर आचार्य कहीं दूसरे स्थान में जाएं और चौकी पर न बैठें, यह क्षम्य नहीं था। दिल्ली में क्षमावाणी दिवस मनाया गया। जैनेन्द्रजी के अनुरोध पर आचार्यश्री वहां गए। उन्होंने सकुचाते हुए कहा–'यहां अतिरिक्त व्यवस्था नहीं की गई है। सब ऐसे ही बैठें, यह सोचा गया है।' आचार्यश्री ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। आचार्यश्री ऐसे ही बैठ गए। पास में स्थानकवासी साधु बैठे थे। बस अब क्या था। आचार्यश्री के वापस आते ही चर्चा उठ खड़ी हुई। आचार्यश्री समाज की प्रतिष्ठा का ध्यान नहीं रखते। आचार्य व सामान्य साधु बराबर बैठे, यह कैसे उचित है? जैनेन्द्रजी ने ऐसी क्या व्यवस्था की? आचार्यश्री ने इसे बहुत शांति से संभाला और कहा–'समन्वय के लिए यह आवश्यक है कि युग की भावना के साथ परम्परा का मेल बिठाया जाए।'

आचार्यश्री ने दिल्ली के प्रथम प्रवास में एक वक्तव्य दिया था। उससे संघर्ष की पृष्ठभूमि को समझा जा सकता है और यह भी समझा जा सकता है कि आपने विकास की यात्रा में आने वाली घाटियों को कैसे पार किया। उस वक्तव्य के कुछ अंश इस प्रकार हैं–'कुछ लोगों के प्रश्न हैं–सार्वजनिक प्रवचन क्यों दिए जा रहे हैं? हरिजनों और जैनों को समानता क्यों दी जा रही है? थली (बीकानेर डिवीजन) तेरापंथ का गढ़ है, उसे छोड़कर लंबी-लंबी यात्राएं क्यों की जा रही हैं? इन प्रश्नों के बारे में मैं अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करना चाहता हूं।

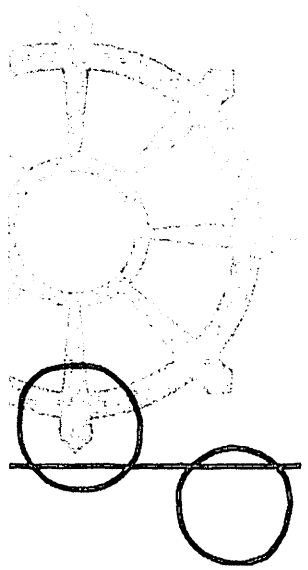

तेरापंथ में सार्वजनिक प्रवचन की परम्परा नई नहीं है। जिसे जनता में जागृति लानी होती है, उसके लिए ऐसा करना अनिवार्य है।

आचार्य भिक्षु ने इस परम्परा को विकसित किया था और इसके आधार पर वे अपना तत्त्व जन-मानस में उतार पाए। मध्यकाल में यह परम्परा कुछ बंद-सी हो गई थी। अब आवश्यक समझ कर उसे फिर अपनाया जा रहा है। इसमें कोई अनौचित्य नहीं है।

धर्म को मैं किसी संप्रदाय या जाति से जोड़ना नहीं चाहता। जिसकी आत्मा जितनी पवित्र होगी, वह उतना ही धार्मिक होगा। धर्म को केवल जैनों तक ही सीमित रखना, धर्म के साथ न्याय नहीं है।

थली को छोड़कर हम यदि अन्य प्रांतों की यात्रा कर रहे हैं तो उसमें हमारा एक विशेष उद्देश्य है। मुझे अपने साधु-साध्वियों का शैक्षणिक व साहित्यिक दृष्टि से निर्माण करना था, तब तक मैं बीकानेर के आस-पास रहा। जनकल्याण के उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम लंबी यात्रा पर निकल पड़े। मैं मानता हूं कि

हमारे आचार्यों का मुख्य विहार-क्षेत्र राजस्थान रहा है तथापि उन्होंने कोई ऐसी लक्ष्मण-रेखा नहीं खींची कि अन्य प्रांतों में जा ही न सकें।

कुछ लोगों का आरोप है कि हम युवकों के हो गए। हमने वृद्धों को भुला दिया। यह भ्रांति है। मैं युवकों और वृद्धों दोनों को ही उचित स्थान देता हूं। मैं मानता हूं कि दोनों में ही अपनी-अपनी शक्ति है। वृद्धों के पास अनुभव है और युवकों के पास कर्तृत्व शक्ति है। समाज की प्रगति के लिए इन दोनों की आवश्यकता है। एक की उपेक्षा करके दूसरे को अतिरिक्त मूल्य देना, मेरी दृष्टि में समझदारी नहीं है। मैं चाहता हूं वृद्ध अपने अनुभवों से युवकों का पथ-दर्शन करें और युवक वृद्धों के पथ-दर्शन में अपने पौरुष का उपयोग करें।'

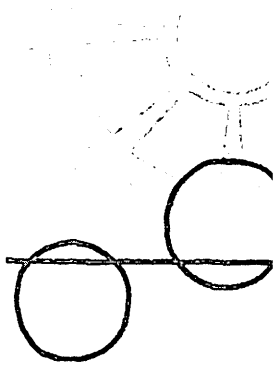

आंतरिक संघर्ष

सन् १९५० का मर्यादा महोत्सव जयपुर में हुआ। उस समय कुछ साधुओं ने अणुव्रत, पारमार्थिक शिक्षण-संस्था, धारणा प्रणाली, माइक, फोटो, प्रकाशन आदि के प्रश्न खड़े किए। आचार्यश्री ने अपना दृष्टिकोण बताया। शिष्टता व विनय के उपरांत भी वह दृष्टि-भेद बना रहा। वह अन्दर ही अन्दर बढ़ता व समय-समय पर व्यक्त होता गया। आचार्यश्री के प्रति अश्रद्धा का वातावरण उत्पन्न करने का प्रयत्न हुआ। इस अवधि में कुछ अनुशासनहीनता बढ़ी। आंतरिक रहस्य गृहस्थों तक पहुंचाए जाने लगे, एक-दूसरे में एक-दूसरे के प्रति संदेह घर कर गया। ऐसी स्थिति थोड़ी बहुत मात्रा में लगभग पांच वर्षों तक चली। आचार्यश्री ने इसमें परिवर्तन लाने के कई बार प्रयत्न किए पर कोई स्थायी परिणाम नहीं आया। आखिर एक दिन कसौटी प्रस्तुत कर दी। उज्जैन का चातुर्मास समाप्त कर आचार्यश्री गंगापुर (मेवाड़) आए। वहां आपने साधु-परिषद् में एक वक्तव्य दिया। 'जो कोई विचार-भेद हो उसे मिटाने का यत्न करना चाहिए। किसी में भी आग्रह नहीं होना चाहिए। भिक्षु स्वामी ने जो पथ दिखाया है वह ऋजु है। उस पर सब साधु ध्यान दें। स्वामीजी ने कहा है—कोई प्रश्न समझ में न आए तो उसे समझने का यत्न करें और करते रहें। प्रयत्न करने पर भी समझ में न आए तो उसे 'केवलीगम्य' कर दें, बुद्धि से अगम्य मानकर छोड़ दें, किंतु खींचतान न करें। अपने विचारों का हनन न हो, यह जैसे इष्ट है वैसे ही यह भी इष्ट है कि गण के विचारों का हनन न हो। गण में सबको विचार की स्वतंत्रता है। किसी के भी विचार रौंदे नहीं जाते। जो नया चिंतन आए, उसे प्रस्तुत किया जाए। प्रस्तुत कर देने पर जो विचार गण द्वारा अभिमत हो उसे मान्य किया जाए, शेष को चिंतन के लिए छोड़ दिया जाए। किंतु संघीय जीवन में यह कैसे उचित हो सकता है कि एक-एक व्यक्ति अपना-अपना विचार फैलाए और गण की मान्यता की अवहेलना करे। यदि संघ की कोई उपयोगिता है और वह है तो ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि एकसूत्रता का संघ रहे, केवल व्यक्तियों का समुदाय मात्र नहीं।'

धर्मचक्र का प्रवर्तन

'कोई तर्क आए उसके लिए मेरा दिमाग खुला है, खुला रहेगा। जो निर्दोष लगता है वह कार्य मैं करता हूं। जिस दिन समझ लूंगा कि वह सदोष है, उसे उसी समय छोड़ देने के लिए तैयार हूं। अभी इन वर्षों में मैंने गण की परम्परा में कुछ संशोधन किए, वे मुझे उचित लगते हैं। यदि वे अनुचित जान पड़ें तो मैं ही नहीं, मेरे पीछे जो कोई हो, उन्हें भी पूरा अधिकार है कि वे उनमें पुनः संशोधन कर दें। मुझे कोई आग्रह नहीं है। मैं यह चाहूंगा कि कोई साधु-साध्वी आग्रह न रखे। आग्रह से न कुछ समझा जाता है और न कोई समाधान मिलता है।'

माघ कृष्णा ४ को आचार्यश्री ने एक मर्यादा-पत्र तैयार किया। दोपहर में सभी साधुओं के सामने उसका वाचन हुआ। उसके बाद आचार्यश्री ने कहा–'यह मर्यादा-पत्र सबने सुन लिया है। सब इस पर हस्ताक्षर करें। दो-दिन की अवधि है। विचारों का अभेद व भेद जानने की यह हमारी प्राचीन पद्धति है। समय-समय पर इसका उपयोग होता रहा है।' परिषद् के उठते ही चार साधुओं ने आचार्यश्री से निवेदन किया–'हस्ताक्षर समझ कर करेंगे।'

आचार्यश्री ने कहा–'अच्छी बात है।'

दूसरे दिन वह मर्यादा-पत्र साध्वियों को सुनाया और हस्ताक्षर करने का निर्देश दिया गया। दो दिन की अवधि में उपस्थित ९९ साधुओं में से ९१ साधुओं और साध्वियों ने हस्ताक्षर कर दिए। केवल ८ साधुओं ने हस्ताक्षर नहीं किए।

दोनों दिनों में विचार-मंथन चला, मगर विचारों का समन्वय नहीं हुआ। अवधि पूरी होने को थी। सांझ के समय जब उन्हें पुनः हस्ताक्षर की याद दिलाई गई तब उन्होंने हस्ताक्षर न करने का विचार प्रकट किया। तब गण की विधि के अनुसार आचार्यश्री ने उनके पास से गण के पुस्तक-पन्ने मंगवा लिए। मुनि रंगलालजी जाने लगे तो आचार्यश्री ने उन्हें बुलाकर कहा–'आप चले क्यों जाते हैं? मैंने पुस्तकें मंगवाई हैं। आपका गण से संबंध-विच्छेद नहीं किया है।'

मुनि रंगलालजी ने कहा–'विचार नहीं मिलते, तब साथ में कैसे रह सकते हैं।' आखिर ९ साधु गण से अलग हो गए।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

मुनि रंगलालजी और नथमलजी बहुत पुराने, विश्रुत और विद्वान् सन्त थे। उनका अलग होना विचित्र-सा लगा। कई लोगों ने आचार्यश्री से निवेदन किया–'इन्हें एक बार फिर चिंतन का अवसर दिया जाए।'

आचार्यश्री ने कहा–'इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं, किंतु यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है। इसके पूर्व उन्हें अनेक अवसर दिए जा चुके हैं। कोई भी व्यक्ति सहज ही अपने अवयवों को कैसे अलग कर सकता है?'

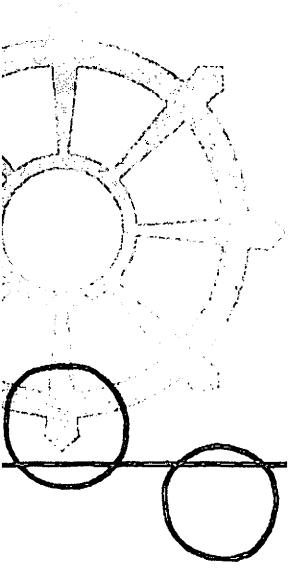

घटना साधारण नहीं थी, अतः उसका असर भी असाधारण ही हुआ। उस वातावरण से केवल गृहस्थ ही नहीं, अनेक साधु भी प्रभावित हुए। कुछ समय बाद मुनि छत्रमलजी भी अपने दो सहवर्ती साधुओं के साथ उनसे मिल गए। वातावरण में एक और उबाल आ गया।

उस समय गंगापुर में लगभग दस हजार यात्री होंगे। सैकड़ों साधु-साध्वियों की उपस्थिति थी। मुंबई, महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश की यात्रा कर दो वर्षों से आचार्यश्री राजस्थान आ रहे थे। मर्यादा-महोत्सव का समय निकट था। साधु-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं की उपस्थिति में इस घटना को और अधिक महत्त्व मिल गया। आचार्यश्री ने सब साधु-साध्वियों और विशाल जनता की उपस्थिति में स्थिति का विश्लेषण करते हुए कहा–'मैंने जो कार्य किया है वह शासन-हित की दृष्टि से किया है। मेरा किसी पर रोष नहीं है। जो हुआ उससे संतुष्ट मैं भी नहीं हूं और वे भी नहीं हैं। सिद्धान्त का प्रश्न उनके सामने है तो मेरे सामने भी है। उसकी हत्या वे नहीं कर सकते तो मैं भी नहीं कर सकता। आग्रह से कोई काम बनने वाला भी नहीं है। जो घटना घटी है उसका हेतु मेरी दृष्टि में आग्रह ही है। मैं परिस्थिति को उलझाना नहीं चाहता। इसलिए किसी भी दृष्टि से उन्हें कष्ट हुआ हो तो मैं उनसे 'खमत-खामणा' कर लूं, ऐसा जी चाहता है।'

दूसरे दिन आचार्यश्री उनके स्थान पर पधारे। उनसे 'खमत-खामणा' किए। वह भेद में अभेद का अनुपम उदाहरण था। वे साधु भी आश्चर्य-मग्न थे, जनता भी आश्चर्यचकित थी। पहले कभी ऐसा हुआ या नहीं, इस कारण गण से अलग हुए साधुओं के स्थान पर आचार्य 'खमत-खामणा' करने कभी गए या नहीं? ये प्रश्न पूछे जाने लगे। यह सहज भी था। साधारणतः वर्तमान को अतीत के दर्पण में ही देखा जाता है, पर सारा वर्तमान अतीत की पुनरावृत्ति ही नहीं होता। उसमें कुछ अपना भी होता है। यह आचार्यश्री का अपना ही था। इसमें अहिंसा की स्पष्ट दृष्टि थी।

आचार्यश्री भीलवाड़ा में मर्यादा-महोत्सव संपन्न कर लाडनूं पधारे। थोड़े दिन ठहरकर सुजानगढ़ पधार गए। वहां से दूसरी बार फिर लाडनूं पधारे। उस समय रंगलालजी आदि भी वहां पहुंच गए थे। आचार्यश्री ने अपने प्रवचन में कहा–'मैं तो थोड़े ही दिनों के बाद दूसरी बार यहां आया हूं। उसका मुख्य आकर्षण साध्वी चंपाजी का अनशन है। लोगों के दिमाग स्वतंत्र हैं। संभव है कई लोग दूसरी कल्पना करते होंगे। वह भी मान ली जाए तो क्या आपत्ति है? शासन-हित हो वहां मैं जाऊं, यह अच्छी बात है। सर्वोपरि बात शासनहित है। साधु-साध्वियां, श्रावक-श्राविकाएं चतुर्विध संघ शासन के पीछे है, आचार्य शासन के पीछे हैं। शासन का हित हो वह कार्य करना सबका हित है। शासन से पृथक् हुए साधु यहां आए हुए हैं, उनके कारण मैं यहां आया हूं, यह कल्पना भी होती होगी? भले हो, मेरी भावना में अहित की बात नहीं है। मैं तो अब भी यही सोचता हूं कि उनको गहराई से सोचना चाहिए।

मैंने जो निर्णय किए हैं, वे पूरे सोच-विचार के बाद किए हैं, पुष्ट प्रमाणों के आधार पर किए हैं। मुझे अब भी नहीं लगता कि मैंने निर्णय करने में कोई शीघ्रता या भूल की है। जहां तक सोचने, समझने और समझाने का प्रश्न है, उसके लिए चिन्तन सदा उन्मुक्त है।

वे अभी मेरे प्रत्यक्ष नहीं हैं। परोक्ष में ही मैं उन्हें कहता हूं कि वे एक बार फिर सोचें, गहराई से सोचें। जहां तक मेरा व्यक्तिगत प्रश्न है, मैं प्रतिष्ठा आदि के प्रश्नों को प्रधानता नहीं देता। जहां संघ की नीति का प्रश्न है वहां मुझे उस नीति से बर्ताव करना है। मुनि रंगलालजी और नथमलजी ने जो सेवाएं की हैं वे मुझसे अज्ञात तो नहीं हैं। मैं चाहता हूं वे एक बार फिर सोचें।'

दुपहरी में आचार्यश्री ने मुनिश्री धनराजजी, जो पहले बातचीत करने का निवेदन कर चुके थे, को और मुझे बुलाकर उनसे बातचीत करने को कहा। आचार्यश्री ने कहा–'यदि वे चाहें तो मुझसे बातचीत कर सकते हैं, आप चाहें तो अकेले उनसे बातचीत करें और चाहें तो मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) को साथ में रखें। पर बातचीत का आधार सुस्पष्ट होना चाहिए। सैद्धांतिक निर्णयों पर हम आज भी उसी प्रकार स्थिर हैं।'

आचार्यश्री के आदेशानुसार दूसरे दिन हम दोनों उनसे मिले। स्पष्ट बातें हुईं। सौहार्द कम नहीं था। शासन के प्रति उनके मन में भी तड़प थी पर वे स्थिति को उलझन भरी पा रहे थे। सैद्धांतिक मतभेद थे ही। आचार्यश्री के वात्सल्य की कमी का अनुभव कर वे असंतुष्ट भी थे। कई बार के वार्तालापों के बाद उन्होंने बीदासर में आचार्यश्री से बातचीत करने की इच्छा व्यक्त की। किंतु कुन्दनमलजी सेठिया आदि के आग्रह पर वह सुजानगढ़ में ही शुरू हुई। चैत्र शुक्ला नवमी को मुनि नथमलजी आदि नौ साधु आए और सैद्धांतिक चर्चाएं प्रारंभ कीं। आचार्यश्री के वात्सल्य और उनके विनय, दोनों ने वातावरण को मधुर बनाए रखा। चैत्र शुक्ला १३ को मुनि रंगलालजी गांव के बाहर आचार्यश्री से मिले। नीम की छाया थी। खुला

आकाश था। दृश्य मनोरम था। बालसूर्य की किरणें फूट रही थीं। प्रकृति के उस प्रांगण में आचार्यश्री बैठ गए। मुनि रंगलालजी आदि भी बैठ गए। आचार्यश्री ने उनसे कहा–'आजकल आमने-सामने होने में भी संकोच हो रहा है?'

वे बोले–'सावद्य प्रवृत्तियां बंद नहीं होतीं, तब क्या करें?'

आचार्यश्री ने पूछा–'कौनसी सावद्य प्रवृत्तियां हो रही हैं, बताइए? बातचीत करिए।'

वे फिर बोले–'प्रत्यक्ष रूप में सावद्य प्रवृत्तियां चल रही हैं, तब क्या बातचीत की जाए?'

मुनि धनराजजी ने कहा–'आप सर्वज्ञ तो नहीं हैं। आपने निर्णय कर लिया वही ठीक है, इसका क्या प्रमाण? बातचीत अवश्य करनी चाहिए।'

आचार्यश्री ने अपना अभिमत स्पष्ट शब्दों में रखा। आपने कहा–'मुझे कोई आग्रह नहीं है। जैसे आपको कुछ प्रवृत्तियां प्रत्यक्ष सावद्य लग रही हैं, वैसे यदि मुझे लगे तो मैं उसी क्षण उन्हें छोड़ दूं। किन्तु मुझे वैसा लग नहीं रहा है। तब मैं कैसे छोड़ूं।' वह वार्तालाप भी कोई परिणामजनक नहीं हुआ।

चैत्र शुक्ला १४ को मर्यादा-पत्र का वाचन हुआ। आचार्यश्री ने समूचे घटनाक्रम का सिंहावलोकन करते हुए कहा–'अपनी ओर से एक प्रयत्न किया गया। उस पर नाना-भांति की प्रतिक्रियाएं हुई हैं। कुछ व्यक्तियों की दृष्टि में यह अपने गण की एक अभूतपूर्व घटना है। गण से अलग हुए व्यक्तियों के साथ इस प्रकार का व्यवहार शायद ही कभी किया गया हो। कुछ लोग कहते हैं–आचार्यश्री ने पहले उतावली में काम कर लिया, अब स्थिति जटिल बन गई, इसलिए उन्हें झुकना पड़ा। और भी कई बातें सुनी हैं। यह जाना हुआ था कि लोग तरह-तरह की बातें करेंगे। हमें उससे क्या? हमने वही किया जो शासन-हित की दृष्टि से करना था। जिनके लिए प्रयत्न किया उन्होंने उसका मूल्य नहीं आंका, यह बात भी नहीं है। किंतु जो अवसर का लाभ उठाना चाहिए था, वह नहीं उठाया गया। हमारा प्रयत्न अब संपन्न है।'

आचार्यश्री सुजानगढ़ से विहार कर बीदासर आदि गांवों में पधारे। वहां स्थिति को सम्हाला। आखिर सरदारशहर पहुंचे। मंत्रीमुनि से विचार-विमर्श किया। उन्होंने प्रार्थना की–'आप अभी धारणा प्रणाली को स्थगित कर दें तो मैं बहुत कृतज्ञ होऊंगा।' आचार्यश्री ने उसे चिंतन पर छोड़ दिया।

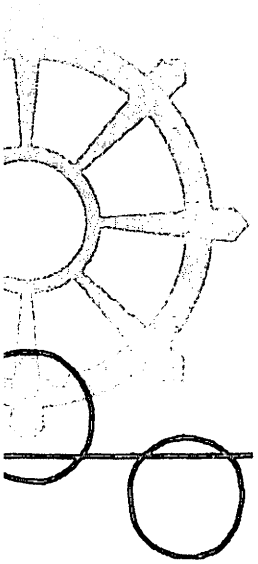

उन्हीं दिनों मुनिश्री धनराजजी भी श्रीडूंगरगढ़ में गण से अलग हो गए। वे पहले रंगलालजी को गण में लाने के प्रयत्न में थे। वैसा न हुआ, तब वे स्वयं उनके साथ चले गए।

जेठ बदी १४ को मर्यादा-पत्र का वाचन हो रहा था। हजारों व्यक्ति उपस्थित थे। मर्यादाओं का वर्णन हो रहा था। गण से अलग हुए व्यक्तियों के संबंध में चर्चा चली। धारणा-प्रणाली का समर्थन करते हुए आचार्यश्री ने कहा–'वह पूर्वाचार्यों द्वारा आचीर्ण है, अनुमोदित है, उसे सावद्य मानना कहां तक संगत है? नवीन प्रणाली भी उसी के आधार पर प्रस्तुत है।' इस प्रसंग के बीच में ही मंत्रीमुनि खड़े हो गए। उन्होंने विनम्र प्रार्थना की–'आप नई धारणा प्रणाली को निरवद्य मानते हुए भी स्थगित कर दें तो मुझ पर बड़ी कृपा होगी, कइयों को संतोष भी होगा।'

आचार्यश्री ने कहा–'आप शासन के भक्त हैं, मूर्तिमान विनय हैं, इसलिए मैं आपकी बात को नहीं टाल सकता। आपके अनुरोध पर मैं नवीन धारणा प्रणाली को अनिश्चितकाल के लिए स्थगित करता हूं।'

इस पर मंत्रीमुनि ने बहुत हर्ष प्रकट किया। वातावरण मधुरिमा से ओत-प्रोत हो गया।

भंवरलालजी दूगड़ बीदासर गए। वहां मुनि नथमलजी आदि से बातचीत की। नई स्थिति से उन्हें अवगत कराया और कहा–'आचार्यश्री ने यह फिर अवसर दिया है, आप लोगों को इस पर चिंतन करना चाहिए।'

उन्होंने पूछा–'आचार्यश्री ने हमारे लिए कोई संकेत किया है?'

भंवरलालजी ने कहा–'नहीं।'

वे बोले–'अनिश्चितकाल के लिए स्थगित की है, इसमें संदेह रहता है। हम सब एकत्र भी नहीं हैं। सब मिलकर ही कुछ निर्णय करेंगे।'

जेठ शुक्ला ११ को भंवरलाल दूगड़ राजलदेसर जा रहे थे। उन्होंने आचार्यश्री का अभिप्राय जानना चाहा। उस समय मंत्रीमुनि वहीं थे। मुनिश्री सोहनलालजी आ गए थे। आचार्यश्री से निवेदन किया कि आप उन्हें यहां आने का कोई संकेत दें। आचार्यश्री ने कहा–'मैं शाब्दिक संकेत क्या दूं? उन्हें मेरे भावों को ही परखना चाहिए।' मंत्रीमुनि के प्रति भी उनके मन में थोड़ा संदेह उत्पन्न हो गया था। उन्होंने भी अपनी भावना को स्पष्ट करते हुए कहा–'मेरे मन में उनके प्रति कोई दुर्भावना नहीं है। वे यहां आएं तो हित ही होगा, अहित की कोई संभावना नहीं है।'

भंवरलालजी को पर्याप्त संबल मिला। वे और उनके पिता सुमेरमलजी राजलदेसर गए। इधर मैं और मुनिश्री बुद्धमल्लजी भी बीदासर से राजलदेसर पहुंच गए थे।

उन दिनों राजलदेसर चर्चा का केन्द्र बन गया था। मुनि रंगलालजी आदि वहां आए हुए थे। मुनि धनराजजी भी श्रीडूंगरगढ़ से वहां आ गए थे। भंवरलालजी ने उन्हें सरदारशहर आने के लिए कहा। उन्होंने आचार्यश्री की भावना जानने का यत्न किया और भंवरलालजी ने सारी बात उन्हें बता दी। उन्होंने आने की इच्छा प्रकट की और तीन बातों पर बल दिया–

१. आचार्यश्री की ओर से कोई वात्सल्यपूर्ण संकेत मिलना चाहिए।

२. आषाढ़ शुक्ला २ तक कोई न कोई निर्णय हो जाना चाहिए।

३. यदि परस्पर सामंजस्य न हो तो दोनों ओर से भ्रान्त वातावरण उत्पन्न न किया जाए।

भंवरलालजी ने उनके विचार आचार्यश्री के सामने प्रस्तुत किए। आचार्यश्री ने कहा–'उनकी तीनों बातें अनुचित नहीं लगती। वे शासन से पृथक् होकर भी उसके हित की कामना करते हैं, यह स्थिति उनके प्रति मेरे मन में आकर्षण उत्पन्न कर रही है। उनके यहां आने को मैं हितकर मानता हूं। वे गण के अंग बनकर रहें, इस दृष्टि से उनसे बात करने का विचार है। उन्हें भी सन्देह और आग्रह नहीं रखना चाहिए।'

आचार्यश्री के शब्द बड़े ही हृदयग्राही थे। उन्हें प्राप्त कर जेठी पूर्णिमा को भंवरलालजी आदि चार व्यक्ति फिर राजलदेसर गए। आचार्यश्री से हुई वार्ता का विवरण उन्हें दिया। वे सरदारशहर आने को राजी हो गए। उस समय अधिकांश व्यक्तियों की भावना थी कि इस विग्रह को शान्त कर देना चाहिए। अन्यथा बड़ी कठिनाइयां उत्पन्न होंगी। आचार्यश्री के सामने शासन-हित का प्रश्न सर्वोपरि था ही। वे भी उसे मुख्यता दे रहे थे। यही एक ऐसा समाधान था जो हजारों समस्याओं को समाहित कर सकता था।

आषाढ़ बदी नवमी को मुनि रंगलालजी आदि पन्द्रह साधु वहां आ गए। दसमी को वे आचार्यश्री के पास आए। बातचीत चली। सार कुछ नहीं निकला। तर्कों से सब ऊब गए थे। अब केवल सामंजस्य का ही

मार्ग ढूंढ़ना था। उस समय मंत्रीमुनि ने कहा–'इन तर्क-वितर्कों से कोई समाधान नहीं होगा। ऐसा करो कि तुम सब पुरानी धारणा-प्रणाली को श्रद्धा से निरवद्य मान लो और मैं आचार्यश्री को विनम्र निवेदन करूंगा कि वे नई धारणा-प्रणाली को केवलीगम्य करने की कृपा करें।'

दूसरे दिन मुनि नथमलजी आदि फिर आए। प्रारंभ में ही मुनि धनराजजी ने मंत्रीमुनि के शब्दों का आलंबन लेते हुए कहा–'पुरानी धारणा-प्रणाली को श्रद्धा से निरवद्य स्वीकार करते हैं। यदि आप नवीन धारणा-प्रणाली को केवलीगम्य कर दें तो?' अब सारी स्थिति का भार आचार्यश्री पर था। वे इस प्रश्न को छूने के लिए भी तैयार नहीं थे। पर आचार्य की इच्छा अपनी नहीं होती, उन्हें संघ की दृष्टि से ही देखना होता है। इधर मंत्रीमुनि आगे सरके। आचार्यश्री के पैर पकड़ने का यत्न करते हुए बोले–'मेरी लाज आपको रखनी होगी। जो शब्द कल मेरे मुंह से निकल पड़े उनको निभाना होगा। मुझ बूढ़े की यह बात स्वीकार करनी होगी।' आचार्यश्री ५-७ मिनट तक बड़े असमंजस में रहे। उस समय उनके भावों का उतार-चढ़ाव देखते ही बनता था। वे शासनहित के प्रश्न को टालना नहीं चाहते थे और मंत्रीमुनि के इतने अनुरोध को भी ठुकराना नहीं चाहते थे। अपनी ओर से वातावरण को कसना भी नहीं चाहते थे। स्थिति के उलझने का भार अपने ऊपर लेना भी नहीं चाहते थे। जिस प्रश्न के लिए इतना सहा, उसे एक ही क्षण में छोड़ देना भी नहीं चाहते थे। अन्तर्द्वन्द्व चला। आखिर आचार्यश्री ने निर्णय कर लिया और मंत्रीमुनि की ओर संकेत करते हुए कहा–'क्या इस बात से (नई धारणा-प्रणाली को केवलीगम्य कर देने से) सारी समस्या सुलझ जाएगी? समूचा विग्रह शान्त हो जाएगा?' बीच में ही मुनि धनराजजी बोले–'यह कैसे होगा? एक प्रश्न समाहित होगा। शेष सब प्रश्न तो रहेंगे ही।' आचार्यश्री ने कहा–'क्या मंत्रीमुनि इतने भोले हैं, जो एक प्रश्न के लिए इतना भार उठाएं?' आचार्यश्री ने उनसे पूछा–'क्या आप एक बोल के लिए इतना प्रयत्न कर रहे हैं?'

वे बोले–'नहीं। मैं तो दूध में मिस्री मिलाना चाहता हूं, फिर प्रश्न कौन-सा शेष रहेगा?' मंत्रीमुनि मुड़े और उन साधुओं की ओर देखकर बोले–'यदि तुम शासन में होते तो मैं पैर पकड़कर तुम्हें मना लेता। पर करूं क्या? अब भी मैं तुम्हें कहता हूं कि तुम सोचो, इस अवसर को यों ही मत जाने दो।'

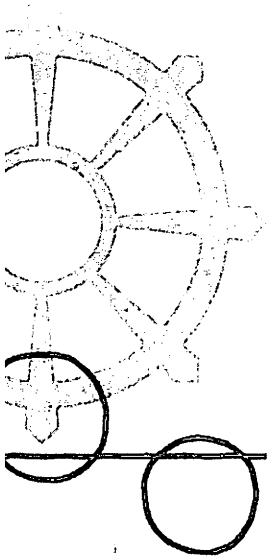

मंत्रीमुनि के इस वाक्य से वे सब चिंतन की मुद्रा में हो गए। मुनिश्री सोहनलालजी ने लक्ष्य को ठीक बींधा और बोल उठे–'आप देख क्या रहे हैं? ऐसा अवसर फिर कब आएगा? प्रश्न कुछ नहीं है। जो हैं उन्हें आचार्यश्री के चरणों में चढ़ा दो।' वातावरण में एक मोड़ आ गया। उसकी उपेक्षा करना सहज नहीं रहा। वे बोले–'रंगलालजी स्वामी यहां नहीं हैं। सहसा यह कैसे हो?' मुनिश्री सोहनलालजी ने कहा–'गुरुदेव! आपकी आज्ञा हो तो मैं वहां जाऊं और मुनि रंगलालजी को स्थिति से अवगत करूं।' आचार्यश्री ने कहा–'भले जाओ।' वे गए और मुनि नथमलजी भी गए। मुनि रंगलालजी को सारी स्थिति समझाई और उन्हें तत्काल साथ ले वापस आ गए। हजारों की उत्सुक भीड़ बाहर खड़ी थी। अब उसके लिए भी भीतर प्रवेश निषिद्ध नहीं रहा। गोठीजी का हॉल और मैदान खचाखच भर गया। आचार्यश्री ने नीरवता को भंग करते हुए कहा–'आज दो दिन हो गए। बातचीत चली, पर उसमें सामंजस्य का कोई संकेत नहीं मिला। आज दो-ढाई घंटे तक भी वही स्थिति थी। किन्तु बाद में स्थिति ने करवट ली और जो होने का था वही हुआ है।'

मैंने भंवरलाल से पहले ही कहा था–'काम बने तो ऐसा बने जो हमारी गौरवमय परम्परा के अनुरूप हो, जिसे दुनिया देखे। वे आत्म-समर्पण करें और मैं उदारता।' मैं जनता को वही सुखद समाचार सुना रहा

हूं कि अब वही हो रहा है। ये पन्द्रह साधु अपने प्रश्नों को मेरे चरणों में समर्पित कर रहे हैं और मैं इन्हें उदारता का आश्वासन दे रहा हूं।' सभी लोग हर्ष से नाच उठे। 'जैन शासन की जय, भिक्षु शासन की जय' के नारों से आकाश गूंज उठा।

उस समय मुनि नथमलजी खड़े हुए और पन्द्रह साधुओं का प्रतिनिधित्व करते हुए बोले–'आचार्यश्री ने बड़ी विशालता दिखाई है। मेरे और रंगलालजी स्वामी आदि सबके मन में शासन के लिए वेदना थी, तड़प थी। मंत्रीमुनि ने बड़ी दूरदर्शिता का परिचय दिया। उनकी वाणी ने हमारी सारी वेदनाओं को गंगा-स्नान करा दिया। अब हम आचार्यश्री के चरणों में हैं। हमारे सारे प्रश्न आचार्यश्री के चरणों में समर्पित हैं। पुरानी धारणा-प्रणाली को, जो परंपरा से चालू है, हम श्रद्धा से निरवद्य मानते हैं।'

आचार्यश्री ने घोषित किया–'मैं मंत्रीमुनि मगनलालजी स्वामी के अनुरोध पर नई धारणा-प्रणाली को 'केवलीगम्य' करता हूं।' समस्या सुलझ गई। मंत्रीमुनि ने निवेदन किया अब आप इन्हें शासन की विधि के अनुसार गण में सम्मिलित करें।

मुनि रंगलालजी आदि पन्द्रह संत खड़े हो गए। रंगलालजी ने कहा–'आप शासन की रीति के अनुसार हमें गण में सम्मिलित करें।' आचार्यश्री ने उनसे पूछा–'जो साधु पांच मास और पांच दिन तक शासन से पृथक् आपके साथ रहे हैं, उन्होंने आपकी जानकारी में कोई दोष-सेवन तो नहीं किया?'

मुनि रंगलालजी–'नहीं।'

आचार्यश्री–'शासन की विधियों का पालन किया?'

मुनि रंगलालजी–'हां।'

आचार्यश्री–'कोई विशेष बात पूछनी होगी तो फिर पूछूंगा। इतने दिन गण से अलग रहे, उसके लिए सब मिच्छामि दुक्कडं (मेरे पूर्वकृत-दुष्कृत मिथ्या हों) का उच्चारण करें। पन्द्रह संतों ने उसका उच्चारण किया और वे सब गण के अंग बन गए। आचार्यश्री तुरंत उठे और मुनिश्री रंगलालजी आदि दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ साधुओं को वन्दन किया। उन्होंने आचार्यश्री को अपनी श्रद्धा समर्पित की और शेष संतों ने आचार्यश्री को वन्दना की। वातावरण के कण-कण में हर्ष उछल पड़ा। परस्पर के मिलन ने अतीत को भुला-सा दिया। उस समय यह भान नहीं रहा कि ये कभी अलग भी थे। अनेक लोगों ने हर्षाभिव्यक्तियां कीं और शासन की महिमा पर प्रकाश डाला।

अंत में आचार्यश्री ने भीलवाड़ा महोत्सव के अवसर पर समुच्चारित गीतिका के दो पद्य कहे। वे बड़े ही मार्मिक थे–

समझ भेद को समझौते से, हिलमिल कर सुलझाएं,
बिछुड़े दिल को हो यदि संभव, अपने साथ मिलाएं,
शासन की सुषमा दुनिया के कोने-कोने फैलाएं॥१॥

अनुशासन का भंग अगर हो, समुचित कदम उठाएं,
आखिर नाक भाल से नीचे रहकर ही शोभाए,
शासन की सुषमा दुनिया के कोने-कोने फैलाएं॥२॥

आचार्यश्री ने भंवरलालजी के परिश्रम और सुमेरमलजी के सहयोग की सराहना की। मुनिश्री नथमलजी के विवेक को प्रशस्त बताया। आचार्यवर ने कहा–'बाहर से वातावरण में तनाव था, अंतर में अलगाव नहीं था। यह सही मार्ग है। अंतर में तनाव और बाहर से कृत्रिम प्रेम रहे, यह सही मार्ग नहीं है।'

'बाहरी तनाव अब समाप्त हो गया है। अहिंसा के प्रति मेरी श्रद्धा थी, वह और पुष्ट हुई है। मेरा दृढ़ निश्चय है कि उसके सिवाय जीवन की प्रगति का दूसरा कोई विकल्प नहीं है। यह संघर्ष शान्ति में परिणत हुआ है, उसका सारा श्रेय अहिंसा को ही है।'

उस समय हिंसा में विश्वास रखने वाले कुछेक व्यक्तियों व सामयिक संगठनों ने स्थिति को उलझाने के अनेक प्रयत्न किए, पर अन्त में वे सारे धूमिल हुए। उनका परिस्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

जो प्रश्न आचार्यश्री के चरणों में समर्पित किए थे उनके समाधान का भार आचार्यश्री ने हम पांच साधुओं पर डाल दिया। हमने चातुर्मास में उन पर चर्चा चलाई और परिणाम पर पहुंच गए। महोत्सव के अवसर पर सब साधु एकत्र हुए। आचार्यश्री के आदेशानुसार पन्द्रह साधुओं में उनका वाचन हुआ, विचार-विमर्श चला। आखिर एकमत हो हम मंत्रीमुनि के पास गए। उन्होंने वह आवेदन-पत्र आचार्यश्री को समर्पित किया। मंत्रीमुनि बोले–'ये सब एकमत होकर यह पत्र आपको भेंट कर रहे हैं। प्रार्थना करना हमारा कर्तव्य है। अब आप जो निर्णय देंगे वही हमें मान्य होगा।'

आचार्यश्री ने उस पत्र पर दो दिन तक चिंतन किया। फिर साधु-साध्वियों की अंतरंग-परिषद् में उसका वाचन किया और उसे अपनी मान्यता दे दी। इस प्रकार एक दीर्घकालीन अंतरंग संघर्ष का सरस वातावरण में परिसमापन हुआ।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

आचार्यश्री में चिंतन था, साहस था और कार्य-क्षमता थी। जहां यह त्रिवेणी-संगम होता है वहां संघर्ष की ऊर्मियां उठें, उसमें आश्चर्य नहीं है। इस अध्याय में कुछेक संघर्षों का मैंने उल्लेख किया है। आचार्यश्री के शासनकाल में बहुत कम समय ऐसा बीता होगा, जिसमें संघर्ष की चिनगारियां न उछली हों। रेखा पर चलने वालों के सामने संघर्ष नहीं आते। आचार्यश्री रेखाओं के निर्माता थे। संघर्ष तो उनके कर्तृत्व के सहज परिणाम थे।

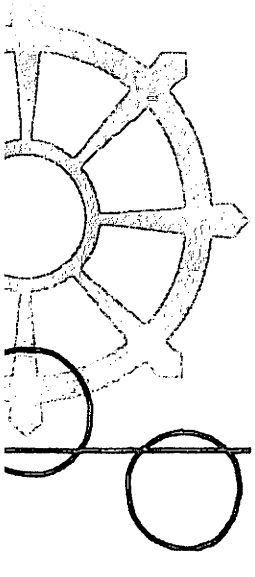

आचार्यश्री ने २००९ फाल्गुन कृष्णा २ को साधु-साध्वियों की परिषद् में एक वक्तव्य दिया। उसमें आपने परिस्थितियों का स्पष्ट उल्लेख किया–'आज मैं अपने पिछले ३८ वर्षों की स्मृति में ओत-प्रोत हो रहा हूं। मेरे ग्यारह वर्ष गृहस्थ जीवन में बीते। उसके बाद का मेरा एकादशवर्षीय जीवन गुरुकुल-वास का जीवन है। वह मुझे आज भी बहुत याद आता है। कितना मधुर था वह जीवन! बड़े साधुओं का मुझे कितना प्यार प्राप्त था। छोटे साधु मेरे प्रति कितना विनयपूर्ण व्यवहार करते थे। वे मेरे इंगित को समझकर चलते थे। मेरे सहपाठी मुझे कितनी ऊंची निगाह से देखते थे। कभी-कभी हम शासन के भविष्य के बारे में सोचा करते थे। वह बड़ा मधुर समय था, उसकी पुनरावृत्ति होने की नहीं।

गुरुदेव की जो मेरे ऊपर कृपा थी, मैं कह सकता हूं वह कार्यजन्य नहीं, किन्तु संस्कारजन्य थी। मैंने कालूयशोविलास में कहा है–

हो गुरु गुण गेहरा, मैं मिहनत-दातार जो
पल-पल छिन-छिन आजीवन गुरुवर! रह्यो रे लोय।

हो म्हांरा शिर-सेहरा, आप जिसा दिलदार जो
पामर ने अजरामर, सुजश पमावियो रे लोय।

जब बाईस वर्ष की अवस्था में मेरे कंधों पर शासन का समूचा भार आया, तब सभी साधु-साध्वियों का कितना सहयोग रहा, यह सभी जानते हैं। उस समय मंत्रीमुनि का जो सहयोग मिला, उसे मैं कभी नहीं भूल सकता। कुछ वर्षों तक कार्यक्रम समतल रहा। वह स्थिरता का समय था। मेरे व संघ के विद्या-विकास का समय था। उसके बाद एक भूचाल आया। उसको मैंने अपने ढंग से कुछ सहकर संभाला। यह गत चार वर्षों का समय एक उत्क्रांति का समय था। मेरी लंबी यात्राएं हुईं। उनमें कड़वे-मीठे अनेक प्रकार के अनुभव हुए। मंत्रीमुनि मेरे साथ नहीं थे। मैं इस समय की तुलना जयाचार्य के समय से करूंगा और वह सर्वथा उचित है। उस समय एक क्रांति हुई, संघर्ष छिड़ा, बड़े उतार-चढ़ाव आए। साधु-संघ में भी भारी ऊहापोह हुआ। बड़ी चर्चाएं चलीं। जयाचार्य को बहुत सहना पड़ा, परिवर्तन लाना पड़ा, जूझना पड़ा, न जाने क्या-क्या करना पड़ा। ठीक वही सब कुछ मुझे करना पड़ रहा है।'

'साधु-साध्वियो! मैंने जो कुछ किया, उसमें मेरी आत्मा साक्षी है। अपने सिद्धान्त, मर्यादा और परंपरा के प्रतिकूल कुछ किया है, ऐसा मुझे नहीं लगता। फिर भी कुछ साधुओं ने उसे उस रूप में प्रचारित किया है। कुछ साधुओं ने बड़ी गलतियां भी की हैं। वे अक्षम्य हैं, फिर भी मैं उन्हें क्षमा दूंगा। क्योंकि मेरी दृष्टि में उन्होंने गलत उद्देश्य से व शासन-अहित की भावना से ऐसा नहीं किया। किंतु जिस रूप में किया है वह प्रकार सही नहीं था। हमारा प्रकार विवेकपूर्ण होना चाहिए और विश्वास होना चाहिए कि सिद्धान्त की हत्या कर कोई कार्य नहीं किया जाएगा।'

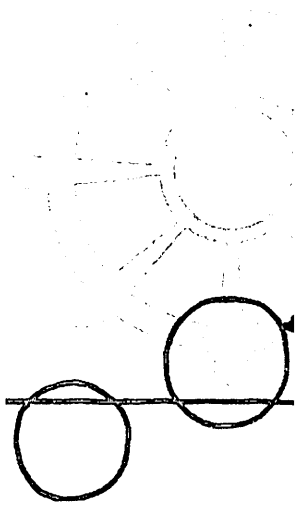

सुकरात की तरह आचार्यश्री को न कहीं न्यायालय में उपस्थित होना पड़ा और न ही आत्म-निवेदन करना पड़ा, पर विरोध उनसे कहीं अधिक सहा। बाहरी विरोध की अपेक्षा आंतरिक विरोध सहना कठिन होता है। आचार्यश्री ने उसे भी सहा। सही मार्ग पर चलने में आस्था और बहुतों को साथ लेकर चलने की क्षमता थी, इसलिए सहने का भी अभ्यास था। प्रश्न है कि एक महान् आचार्य का उन्हीं के शिष्यों द्वारा विरोध क्यों? तेरापंथ अनुशासन-प्रिय और श्रद्धा-प्रधान गण है। उसकी परंपरा में पले हुए लोग आचार्य का विरोध करें, यह और भी आश्चर्य की बात थी!

इसका पहला उत्तर तो यही है कि महान् की महानता वर्तमान में कम पहचानी जाती है। आने वाली पीढ़ी उन्हें जो स्थान देती है वह वर्तमान पीढ़ी नहीं दे पाती। उन्हें अपनी नई कृतियों के कारण संदेह और संघर्ष की स्थिति में से गुजरना पड़ता है।

दूसरी बात, आचार्यश्री धर्म को व्यापक दृष्टि से देखते थे। आप जाति आदि बंधनों को महत्त्व नहीं देते थे। प्राचीनता के प्रति विद्रोह नहीं था तो नवीनता का मोह भी नहीं था। आप में आग्रह था तो अनाग्रह भी कम नहीं था। जीवन-क्रम कुछ ऐसा था, जिसे एक व्यक्ति संतुलित कह सकता था तो दूसरे की कसौटी में विरोधाभासों से भरा हुआ। जिन्हें विरोधाभास दिखा वे विरोध करने लगे। आचार्यश्री परिवर्तन को ही मान्यता देते तो संभव है आधुनिक विचारक उन्हें अपना पूर्ण समर्थन देते। किंतु आचार्यश्री वैसा करना उचित नहीं मानते थे, इसलिए उनका विरोध भी मोल लिया।

आचार्यश्री परंपरा की स्थितिशीलता को ही मान्यता देते तो संभव है पुराने विचारों के लोग उन्हें अपना समर्थन देते रहते, पर आचार्यश्री ने वैसा नहीं किया इसलिए उनकी ओर से भी विरोध मिला।

आचार्यश्री ने जो परिवर्तन किए उनके लिए यही कहा–'ये शाश्वत सत्य, सिद्धांत और हमारी परम्परा के प्रतिकूल नहीं हैं।' आपने एक ओर संप्रदाय की परम्परा को निभाने का यत्न किया, दूसरी ओर नए तत्त्वों को उसमें सम्मिलित करने का साहस किया। कुछ आलोचकों की दृष्टि में यही आपके जीवन का आलोच्य पक्ष है। जैनेन्द्रजी बहुत बार कहते–'आचार्य रहने से काम नहीं चलेगा। अब आपको तीर्थंकर बनना है।' तीर्थंकर जो कहता है वह स्वतः प्रमाण होता है। उसकी वाणी की प्रामाणिकता किसी शास्त्र के द्वारा साधी नहीं जाती। आचार्यश्री की वाणी तब प्रमाण मानी जाती, जब वह शास्त्र की मुद्रा से मुद्रित हो जाए। पूर्वज आचार्यों ने जो कहा तथा जनसाधारण में जो धारणा प्रचलित है, उन सबके प्रतिकूल न हों। चिंतनशील व्यक्ति यह मानने को तैयार नहीं होता कि सत्य जो है अथवा करणीय जो है वह सब शास्त्र की भाषा में बंध जाता है। फिर भी जो संप्रदाय और परम्परा को साथ लिए चलता है और शास्त्रों की उपादेयता में विश्वास करता है उसे फूल के साथ कांटों की चुभन भी सहनी होती है। उसे सह लिया जाए तो आचार्यत्व में भी तीर्थंकरत्व का उदय हो जाता है।

भूचाल और बवंडर

जिस पेड़ की शाखा पर बैठें और उसकी जड़ को सिंचन दें, ऐसे लोग बहुत होते हैं, किंतु कुछ लोग जिस पेड़ की शाखा पर बैठे हैं उसी को काटने वाले भी होते हैं। आचार्यश्री के जीवन में ऐसे अनेक व्यक्ति सामने आए। उनमें से किसी ने भूचाल और किसी ने बवंडर खड़ा किया। संघ से अलग होने वालों में तीन कोटि के व्यक्ति रहे हैं–

१. जिनका सैद्धान्तिक मतभेद होता है, २. जिनकी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति नहीं होती और ३. जो आचार की आराधना में शिथिल हो जाते हैं।

तीसरी कोटि के व्यक्ति गृहस्थी में चले जाते हैं। वे सिरदर्द नहीं बनते। सैद्धांतिक मतभेद वाले विरोध प्रदर्शित करते हैं, पर अनर्गल प्रलाप नहीं करते। महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति में असफल होने वाले व्यक्ति संघ से अलग होकर भूचाल और बवंडर खड़ा करने के प्रयत्न में लग जाते हैं। इस संदर्भ में दो-चार घटनाओं का उल्लेख करना आवश्यक है। मुनि महेन्द्रकुमारजी (राजलदेसर) सन् १९७४ में संघ से अलग कर दिए गए। उन्होंने आचार्यश्री के विरोध में एक आंदोलन शुरू किया। तेरापंथ को विघटित करने की चेष्टा की। तेरापंथ के नाम से कुछ संस्थाएं खड़ी कीं और समाचार-पत्रों में भी विरोधी वक्तव्य प्रकाशित कराए। मुनि नगराजजी तेरापंथ के वरिष्ठ साधुओं में से एक थे। उन्होंने महेन्द्रजी के समर्थन में संघ को छोड़ा। आचार्यश्री की आलोचना में उनकी शक्ति काफी लगी।

सन् १९८१ में मुनि चंदनमलजी, रूपचंदजी आदि दस साधु और मंजुलाजी आदि दस साध्वियां संघ से अलग हो गईं। उन्होंने आलोचना के लिए समाचार-पत्रों का जी-भर कर उपयोग किया। समाचार जगत् में एक बवंडर ला दिया 'नव तेरापंथ' की स्थापना का। तेरापंथ धर्मसंघ पर निर्मम प्रहार किए और आचार्यश्री के व्यक्तित्व पर अनेक मनगढ़ंत आरोप लगाए। संघ-विघटन के भारी प्रयत्न किए गए। किन्तु तीन वर्ष की अवधि में तूफानी तरंगें शांत हो गईं।

आचार्यश्री की जन्मकुंडली में संघर्ष का योग था। ख्याति और संघर्ष को अलग-थलग नहीं किया जा सकता। ख्याति संघर्ष को जन्म देती है और संघर्ष ख्याति को जन्म देता है। यह अनुभव से निष्पन्न सचाई है।

मुनि चंदनमलजी का संघर्षात्मक आंदोलन थोड़ा शांत हुआ तो साध्वी फूलकुमारी ने संघर्ष को तेज कर दिया। वह गांव-गांव में आचार्यश्री के साथ-साथ घूमती, लोगों को गुमराह करने का प्रयत्न करती और आचार्य के प्रति अनेक अभद्र शब्दों का प्रयोग करती।

संघर्ष संघ या समाज की अनिवार्य प्रकृति है। आचार्यश्री ने संघीय और पारमार्थिक दोनों प्रकार के संघर्षों को झेला, फिर भी आपका मनोबल अदम्य था, आपकी प्रसन्नता अखंडित रही। बहुत लोग आश्चर्य करते हैं कि असंतुलन की स्थिति में यह संतुलन कैसे रखा जा सकता है? इसका सीधा-सा उत्तर है कि जो बाह्य जगत् में संघर्षों से जूझता हुआ भी अंतःकरण में संघर्षमुक्त होता है उसकी प्रसन्नता कभी खंडित नहीं होती।

संघर्ष साम्प्रदायिकता का : बहाना अग्निपरीक्षा का

रायपुर में आचार्यश्री की बढ़ती हुई लोकप्रियता ने एक प्रतिक्रिया को जन्म दिया। उस प्रतिक्रिया की परिणति का नाम है–अग्नि-परीक्षा आंदोलन। गोस्वामी तुलसीदासजी की जयंती के अवसर पर आचार्यश्री ने रामायण पर प्रवचन किया। दो-तीन सप्ताह तक उसी विषय पर प्रवचन चले। प्रतिक्रियावादी तत्त्वों ने नगर में एक तूफान खड़ा कर दिया–'आचार्यश्री तुलसी ने सीता को गाली दी है, उसके चरित्र पर आक्षेप किए हैं।' आचार्यश्री को इसका पता चला। आपने अपने प्रवचन में स्पष्टीकरण किया–'पूरी जैन परम्परा सीता को महासती मानती है, मैं भी महासती मानता हूं। जिसके प्रति आदर का भाव है उस पर आक्षेप नहीं किया जा सकता। फिर भी मेरे प्रवचन से किसी परम्परा के लोगों को आघात लगा हो तो मैं उनसे खमतखामणा करता हूं।'

इस स्पष्टीकरण के बाद भी संघर्ष का उपशमन नहीं हुआ। आचार्यश्री की एक कृति 'अग्निपरीक्षा' को इस संघर्ष के साथ जोड़ दिया गया। प्रतिक्रियावादी लोगों ने साम्प्रदायिक भावनाओं को उभारा, स्थान-स्थान पर सभाएं आयोजित कीं और पुस्तक पर प्रतिबंध लगाने की मांग पर बल दिया। एक विरोधी समिति का गठन हुआ। उसके माध्यम से आंदोलन जोर पकड़ता गया।

नगर में बढ़ रहे तनाव को देखकर आचार्यश्री ने ६ सितम्बर, १९७० के अपराह्न में नगर के बौद्धिक वर्ग की एक गोष्ठी की। उसके समक्ष आचार्यश्री ने अपना मंतव्य स्पष्ट किया। आचार्यश्री ने कहा–'प्रस्तुत पुस्तक में मैंने कहीं भी महासती सीता का अनादर नहीं किया है, फिर भी किसी प्रसंग के विषय में दिए जाने वाले सुझाव का मैं स्वागत करूंगा।'

आंदोलन का उद्देश्य कुछ दूसरा था, पर जनता को उभारने के लिए अग्निपरीक्षा को ही उछाला जा रहा था। साम्प्रदायिक उन्माद अधिक गंभीर न बने, इस दृष्टि से आचार्यश्री ने विद्वानों और पत्रकारों को संबोधित कर फिर एक संक्षिप्त वक्तव्य दिया–'अग्निपरीक्षा जैन परम्परा की प्राचीन रामायणों के आधार पर रची गई है। उसमें महासती सीता के बारे में फैले हुए जनापवाद के चित्रण में प्रयुक्त कुछ शब्दों को लेकर श्रद्धालु सनातनियों को पीड़ा पहुंची है। मैं अहिंसा और समन्वय में विश्वास करता हूं, इसलिए मेरे कारण से उन्हें पीड़ा पहुंची इससे मुझे भी पीड़ा हुई। प्रस्तुत चर्चा के दौरान कुछ विद्वानों के मूल्यवान् सुझाव मेरे सामने आए हैं। अग्रिम संस्करण में मैं उन पर गंभीरतापूर्वक विचार करूंगा।'

स्थानीय पत्रों ने इस वक्तव्य को मुख्यता से छापा, किंतु आंदोलनकारियों पर इसका कोई प्रभाव

नहीं हुआ। विरोध में सभाओं का आयोजन, जुलूस निकालना आदि प्रवृत्तियां बढ़ती गईं। नगर की स्थिति भयंकर बिन्दु पर पहुंच गई।

रायपुर के नागरिक, जननेता और प्रशासन के अधिकारी समझौते के लिए प्रयत्न कर रहे थे। जिलाधीश त्रिपाठी की उपस्थिति में एक समझौता-पत्र तैयार किया गया। वह आचार्यश्री की भावना के अनुकूल नहीं था। फिर भी आपने उसे स्वीकार कर लिया। समझौता होने की स्थिति बन गई। किंतु प्रतिपक्ष के लोग समझौता करने से इनकार हो गए।

नगर में अशांति की संभावना को देखकर जिलाधीश ने धारा १४४ लगा दी। साम्प्रदायिक, राजनीतिक और असामाजिक तत्त्व, ये सब अवसर का लाभ उठाने में लगे हुए थे। धारा १४४ का उल्लंघन किया गया। गिरफ्तारियां शुरू हुईं। सैकड़ों-सैकड़ों व्यक्ति गिरफ्तार किए गए। नगर का वातावरण विक्षुब्ध हो उठा। धर्म के नाम पर हिंसा भड़क उठी।

घोषणा शांति के लिए

आचार्यश्री के सामने रायपुर का एक शिष्टमंडल उपस्थित हुआ। उसने अनुरोध किया—नगर की शांति आपके ही हाथों में है। आचार्यश्री ने शिष्टमंडल के अनुरोध पर गंभीरता से विचार किया और अपना निर्णय उसके सामने रखा। आचार्यवर ने कहा—'आपकी सद्भावना से मैं प्रसन्न हूं। मेरे लिए प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा का प्रश्न मुख्य नहीं है। यदि शांति के लिए मेरा शरीर भी चला जाए तो मैं उसे ज्यादा नहीं मानता। प्रतिष्ठा की बात पहले भी नहीं थी, किंतु परिस्थिति कुछ दूसरी थी। आज स्थिति उससे भिन्न है। मुझे निमित्त बनाकर हिंसा का वातावरण उभारा जा रहा है। मैं नहीं चाहता कि मैं हिंसा का कारण बनूं, पर किसी प्रकार बना दिया गया। मैं इसके लिए किसी को दोष नहीं देता। मैंने अपने मिशन को चलाने का बराबर प्रयत्न किया है और आगे भी करता रहूंगा। ऐसी स्थिति केवल मेरे लिए ही बनी है, ऐसा नहीं है। महावीर, गांधी और विनोबा के साथ भी ऐसा ही हुआ था।

मुझे दुःख है कि मेरे नाम से मेरे रहते हुए अनेक व्यक्ति गिरफ्तार किए गए हैं। अब मसविदे आदि की बात नहीं है। आप लोग जो मसविदा लाए थे उसे मैंने इसी दृष्टि से स्वीकार किया था कि वातावरण शान्त हो जाए, पर वैसा हुआ नहीं। अब मसविदे की बात गौण हो गई है। शहर के अशान्त वातावरण को मिटाने के लिए मैं हरसंभव काम कर सकता हूं। मेरे रहने से यदि रायपुर का वातावरण अशान्त होता है तो मैं उसे प्रेममय बनाकर शीघ्र ही यहां से विदा होना चाहता हूं। यह निर्णय मैं आग्रहपूर्वक नहीं कर रहा हूं, किंतु शहर की शान्ति के लिए कर रहा हूं। यद्यपि हमारी विधि है कि चातुर्मास में हम विहार नहीं करते, किंतु विग्रह और आतंक की विशेष परिस्थिति में वैसा किया भी जा सकता है। यही कारण है कि मैं यहां से विदा होना चाहता हूं।

आज जो लोग गिरफ्तार हुए, उसकी मुझे पीड़ा है। मुझे उनके प्रति सहानुभूति है। मेरे मन में उनके प्रति किसी भी प्रकार का रोष नहीं है। मैं आप लोगों से अनुरोध करता हूं कि यदि आप प्रयत्न कर सकें तो आज रात्रि में ही गिरफ्तार लोगों को मुक्त कर दिया जाए।

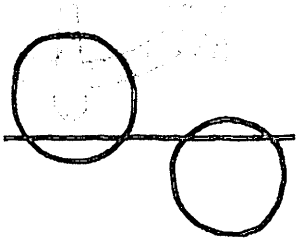

पुस्तक के लिए आज मुझे कुछ भी नहीं कहना है। वह जनता की है जनता जो चाहे करे। मैं इतना ही कह सकता हूं कि उसके संबंध में आचार्य विनोबा, काका कालेलकर जैसे व्यक्ति जो सुझाव देंगे, उस पर मैं गंभीरतापूर्वक चिंतन करूंगा।

मैं यहां से विदा होऊंगा। हमारे धर्म-शासन में शताब्दियों में यह पहली घटना होगी। मैं जानता हूं कि श्रद्धालुओं के लिए यह जीवन-मरण का प्रश्न हो सकता है; किंतु शहर की शान्ति के लिए अत्यंत प्रसन्न-मन से मैंने यहां से विदा होने का निर्णय लिया है।'

आचार्यवर की चातुर्मास में विहार की घोषणा ने एक हलचल पैदा कर दी। रायपुर के संभ्रांत नागरिक आए और उन्होंने इस निर्णय पर पुनर्विचार करने की प्रार्थना की। इस घोषणा की साधु-साध्वियों के मानस पर भी प्रतिक्रिया हुई। उनके चेहरे उदास हो गए। प्रातःकाल साध्वियां आचार्यश्री को वंदना करने आईं। आचार्यश्री ने उनके उदास चेहरों को देखकर कहा–'तुम लोग उदास क्यों हो? मुझे तो आज बहुत बड़ी प्रसन्नता है। मैंने जो ऐतिहासिक निर्णय लिया है वह चिंतनपूर्वक लिया है। आचार्य भिक्षु ने भी अपने जीवन में चातुर्मास के बीच विहार किया था। हम भी उस इतिहास को दोहरा रहे हैं। शरद ऋतु का यह समशीतोष्ण मौसम विहार के लिए कितना अनुकूल है? हमें तो इस बात की प्रसन्नता होनी चाहिए कि हम शहर की शांति के लिए वह सब कुछ करने के लिए तैयार हैं जो सामान्य स्थिति में नहीं करते हैं। विहार का निर्णय लेने के बाद मैं अत्यन्त हलकापन महसूस कर रहा हूं। रात को इस निर्णय की घोषणा के बाद मैं लेटा। लेटते ही मुझे नींद आ गई। मेरे दिमाग पर कोई असर नहीं था। तुम सब प्रसन्न रहो और प्रस्थान की तैयारी करो।'

मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री श्यामाचरण शुक्ल ने स्थानीय विधायक नेमीचंद श्रीश्रीमाल को फोन द्वारा सूचना दी–'मैं शीघ्र ही रायपुर आ रहा हूं। आप आचार्यश्री से मेरी ओर से निवेदन करें कि आप चातुर्मास के मध्य प्रस्थान न करें।' श्रीश्रीमाल ने मुख्यमंत्री का संवाद आचार्यश्री तक पहुंचाया तथा अपनी ओर से भी विहार का निर्णय बदलने की प्रार्थना की। स्थानीय जिलाधीश श्री त्रिपाठी ने आचार्यश्री के दर्शन कर प्रार्थना की–'प्रशासन अपने दायित्व के प्रति पूर्ण जागरूक है, आपको नगर छोड़कर जाने की आवश्यकता नहीं है।' राजस्थान के मुख्यमंत्री मोहनलाल सुखाड़िया तथा गुजरात के राज्यपाल श्रीमन्नारायण ने भी अपना निवेदन आचार्यवर तक पहुंचाया कि आप चातुर्मास के मध्य विहार न करें। हम मध्यप्रदेश शासन से भी संपर्क बनाए हुए हैं। हमें विश्वास है कि इस दुःखद अध्याय की समाप्ति हो जाएगी। दिल्ली से प्रधानमंत्री के सचिवालय से स्थिति पर नियंत्रण पाने के निर्देश आ रहे थे। प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी का भी संवाद मिला–'आचार्यश्री का चातुर्मास में विहार न हो, ऐसी स्थिति का निर्माण किया जाए।' प्रतिरक्षा मंत्री श्री जगजीवनराम ने भी चातुर्मास में विहार न करने का अनुरोध किया। इस सारे घटनाक्रम में एक मोड़-सा दिखाई देने लगा। ऐसा प्रतीत हुआ कि वातावरण कुछ बदला है, उत्तेजना कुछ कम हुई है।

आचार्यश्री के विहार की घोषणा का संवाद सुनकर तेरापंथ समाज के सैकड़ों-सैकड़ों कार्यकर्ता रायपुर पहुंच गए। उन्होंने भी विहार के निर्णय पर पुनर्विचार करने का अनुरोध किया किंतु आचार्यश्री अपना निर्णय बदलना नहीं चाहते थे। उन्होंने साधु-साध्वियों को विहार के लिए तैयार रहने का आदेश दे दिया। यात्रा के व्यवस्थापक मार्ग देखने चले गए। २८ सितम्बर की दुपहरी में आचार्यवर अणुव्रत नगर को छोड़कर शहर के बाहरी भाग में जाने को तैयार हो गए। ठीक उसी समय आकाश बादलों से घिर गया। तेज वर्षा हुई। उस समय प्रस्थान नहीं हो सका।

२६ से ३० सितम्बर की अवधि में नगर के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि आचार्यश्री के पास आए। उनका अनुरोध था आप चातुर्मास के मध्य प्रस्थान न करें। यह रायपुर के इतिहास पर एक कलंक होगा। आज हमारे नगर में असामाजिक तत्त्वों का अधिकार है। किसी शान्तिप्रिय नागरिक का यहां रहना कैसे

संभव होगा? अनेक लोगों ने गद्‌गद स्वर में कहा–'आचार्यश्री! हम आपके साथ हैं। आप हमारी भावना का आदर कर अपने प्रस्थान का निर्णय स्थगित करें।'

१ अक्टूबर मध्याह्न का समय। प्रस्थान पर पुनर्विचार के लिए गोष्ठी की आयोजना। अणुव्रत नगर का प्रवचन पंडाल। जनता की भारी भीड़। उसमें एक कुतूहल, एक जिज्ञासा और एक उत्सुकता। नगर के संभ्रान्त नागरिकों, पत्र-प्रतिनिधियों और अनेक धर्म संप्रदायों के प्रवक्ताओं की उपस्थिति। आचार्यश्री का प्रवचन पंडाल में पदार्पण। श्री शुभकरण दस्सानी द्वारा पृष्ठभूमि का स्पष्टीकरण–'आज की यह सभा एक बहुत गंभीर मामले पर विचार करने के लिए आयोजित हुई है। यह तो आप सबको विदित ही है कि अणुव्रत अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी ने चातुर्मास के मध्य में ही रायपुर छोड़ने की घोषणा कर दी है। आज सभी आगन्तुक बन्धु आचार्यश्री से यह अनुरोध करने आए हैं कि वे चातुर्मास के बीच यहां से प्रस्थान न करें।'

इस पृष्ठभूमि के पश्चात् वक्ताओं ने अपने उद्‌गार प्रकट किए। स्थानीय विधायक एवं भूतपूर्व मंत्री श्री शारदाचरण तिवारी–'हमें यह जानकर हार्दिक पीड़ा हुई कि आचार्यश्री हमारे नगर को छोड़कर बीच में ही जाना चाहते हैं। हम आचार्यश्री से विनम्रतापूर्वक अनुरोध करते हैं कि आप शीघ्र ही पुनः रायपुर में ठहरने की घोषणा करें। हम नगरवासियों से जितनी सेवा हो सकेगी, करेंगे।'

सिखनेता श्री दीदारसिंह–'मुझे जब यह मालूम हुआ कि आचार्यश्री चातुर्मास में ही रायपुर से प्रस्थान कर रहे हैं तो बहुत दुःख हुआ। आपका जीवन जनता के लिए समर्पित है। जनता आपसे ठहरने के लिए प्रार्थना कर रही है, इसलिए चातुर्मास के मध्य आपको यहां से नहीं जाना चाहिए। जिस मनुष्य के अंदर काम, क्रोध, लोभ और मोह की भावना भरी रहती है उसमें अच्छाई कहां से आएगी? आचार्यश्री को उन लोगों को भी क्षमा कर देना चाहिए, जिनके कारण आपको यहां से जाने का निर्णय लेना पड़ा। मैं सिख संप्रदाय की ओर से ही नहीं, स्थानीय जनता की ओर से भी यह प्रार्थना करता हूं कि आप यहां से जाने के निर्णय को स्थगित करने की घोषणा करें।'

सिंधी समाज के प्रमुख श्री तुलजाराम फतनाणी–'मैं दो-तीन बार आचार्यश्री से मिल चुका हूं और हर बार अपनी यही प्रार्थना की है कि आपको चातुर्मास के बीच में नहीं जाना चाहिए। यदि आप यहां से जाते हैं तो यह हमारे नगर के लिए कलंक की बात होगी। मैं स्थानीय जनता को भी धन्यवाद देता हूं जो आज बड़ी संख्या में यहां उपस्थित होकर आचार्यश्री से विराजने के लिए प्रार्थना कर रही है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आचार्यश्री अपने बहुमूल्य संदेशों से हमें वंचित नहीं करेंगे।'

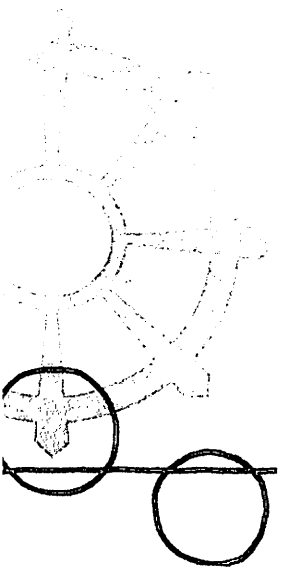

मुस्लिम संप्रदाय की ओर से डॉ. रज्जाक–'आचार्यश्री चातुर्मास के बीच यहां से न जाएं, मैं इस विचार से शत प्रतिशत सहमत हूं। आज मुझे १३ जुलाई का वह दिन याद आ रहा है जब रायपुर के नागरिकों ने आचार्यश्री का शानदार स्वागत किया था। मेरे दिल में आज भी आचार्यश्री के प्रति वही सम्मान है, जो पहले था। मैं अपनी ओर से तथा अपने साथियों की ओर से विनम्र अनुरोध करता हूं कि आप अभी कुछ दिन यहीं रहने का निर्णय लें। इस समय हमारे नगर में आपकी मौजूदगी बहुत आवश्यक है। आप हमें बिखरा हुआ छोड़कर नहीं, बल्कि एकता के सूत्र में बांध कर जाएं।'

स्थानीय विधायक श्री नेमीचंद श्रीश्रीमाल, नगर कांग्रेस अध्यक्ष श्री अमरचंद बैद, सर्वोदयी कार्यकर्ता श्री हरिप्रेम बघेल, प्रेस ट्रस्ट ऑफ इंडिया के संवाददाता श्री मधुकर खेर, स्थानीय जूनियर चेम्बर के कर्मठ

कार्यकर्ता श्री शिवनारायण रावरी, दिगम्बर संप्रदाय के प्रतिनिधि टी.सी. जैन, महिला समाज की प्रतिनिधि श्रीमती अमृत बहन शाह, प्रमुख एडवोकेट श्री जी.सी. जैन, सार्वजनिक कार्यकर्ता श्री देवराज सुराना आदि ने अपने-अपने विचार रखे। सबने प्रस्थान के निर्णय को बदलने का अनुरोध किया।

आचार्यश्री ने घटनाक्रम का सिंहावलोकन और विश्लेषण करते हुए कहा–'दक्षिण की यात्रा संपन्न कर मैं राजस्थान जाना चाहता था, किंतु ओडिशा और मध्यप्रदेश के भाइयों की प्रार्थना को मैं टाल नहीं सका। ओडिशा की यात्रा के बाद मैं चातुर्मास के लिए रायपुर पहुंचा। यहां मेरा अभूतपूर्व स्वागत हुआ।

मुझे यह मालूम हो गया कि मेरे पहुंचने से पूर्व ही विरोधी वातावरण बनना शुरू हो गया। विरोध करने वाले कौन थे, मैं इस विस्तार में नहीं जाऊंगा। विरोध की वह छोटी-सी चिनगारी भयंकर दावानल का रूप ले लेगी, यह मैंने कभी नहीं सोचा था। परन्तु ऐसा हुआ और मुझे बाध्य होकर एक अकल्पित निर्णय लेना पड़ा। जैन मुनि चातुर्मास में विहार नहीं करते, पर प्रेम और सद्भाव बनाए रखने के लिए तथा वातावरण को शुद्ध करने के लिए मैंने अपनी परम्परा तोड़ कर एक ऐतिहासिक निर्णय लिया। इसके साथ मैंने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि मैं किसी के रोष या दबाव से रायपुर छोड़ने का निर्णय नहीं ले रहा, बल्कि अहिंसात्मक प्रतिकार की दृष्टि से ऐसा कर रहा हूं। मैं प्रसन्नतापूर्वक यहां से जाऊंगा। जनता की शांति के लिए मुझे अपने शरीर का बलिदान भी करना पड़े तो मैं उसके लिए सहर्ष तैयार हूं।

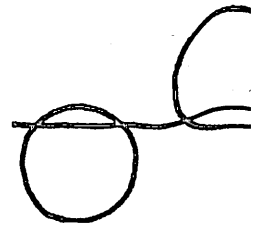

मेरी इस घोषणा के साथ ही लोगों में हलचल मच गई। उस समय का दृश्य वर्णनातीत है। लोगों की वेदना मैं शब्दों द्वारा नहीं बता सकता। उस दिन से लेकर आज तक लोगों का तांता लगा हुआ है। सबकी एक ही आवाज है कि आपको जाने नहीं देंगे। उनके दिलों की करुणाभरी पुकार से मैं द्रवित हो रहा हूं और एक अपरिचित संत के प्रति उनमें जो अकारण स्नेहभाव जगा है, उसे देखकर विस्मित हूं। मैं एक बात की ओर सबका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं कि रायपुर के गणमान्य व्यक्तियों ने असामाजिक तत्त्वों के खिलाफ कोई आवाज नहीं उठाई। समाज के वरिष्ठ लोग संगठित रूप से आगे आते तो असामाजिक तत्त्वों को खुलकर खेलने का साहस नहीं होता। इस स्थिति के संदर्भ में मुझे अपने निर्णय की उतनी ही उपयोगिता महसूस होती है। आज बारह बजे तक मेरा निर्णय यही था कि मुझे यहां से प्रस्थान करना है और मैंने साधु-साध्वियों को पूर्णरूप से तैयार होने का निर्देश दे दिया।

इस मध्याह्नकालीन गोष्ठी में मैं अनुभव कर रहा हूं कि इन चार दिनों में वातावरण में अप्रत्याशित मोड़ आया है। प्रशासन और नागरिकों ने मुझ पर भी दबाव डाला है। अन्य अनेक स्थानों के वरिष्ठ व्यक्तियों ने अपने सुझाव भेजे हैं। उन सबकी भावना का मुझे आदर करना चाहिए। किंतु मैं कोई नया निर्णय लूं उससे पहले आप लोगों से पूछना चाहता हूं कि क्या आप हमें यहां रखने के लिए हृदय से निवेदन करते हैं? क्या भविष्य में आने वाली किसी भी परिस्थिति से निबटने के लिए आप तैयार हैं?'

उपस्थित लोगों ने एक-मन से आचार्यश्री को आश्वासन दिया कि हम भावी कठिनाइयों का समाधान खोजेंगे।

नागरिकों द्वारा सद्भावना का पूर्ण आश्वासन पाने के बाद आचार्यश्री ने कहा–'जनता के आग्रह पर मैं चातुर्मास के बीच में रायपुर छोड़ने का निर्णय स्थगित करता हूं। मुझे आशा है कि शहर के सभी नागरिक शांति और सद्भावनापूर्ण वातावरण बनाने में मिल-जुलकर काम करेंगे। यदि मेरे यहां रहने से स्थिति में पुनः कोई अवांछनीय मोड़ आया तो यह निर्णय वापस लिया जा सकता है।'

आचार्यश्री के इस निर्णय का सभी लोगों ने स्वागत किया। नगर की जनता ने भी मानसिक तनाव से मुक्ति का अनुभव किया। किंतु संप्रदायवादी लोग शांत होकर नहीं बैठे, वे अपना विरोध चलाते रहे। उन्होंने 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक पर प्रतिबंध लगाने के लिए मध्यप्रदेश सरकार पर दबाव डाला। सरकार उनके सामने झुक गई और २८ सितंबर को उस पुस्तक पर प्रतिबंध लगा दिया। इसके पीछे भावना वातावरण को शांत करने की रही होगी, किंतु उस प्रक्रिया को बहुत सुविचारित नहीं कहा जा सकता। पुस्तक के प्रतिबंध का संवाद समाचार-पत्रों में छपा। उसका प्रतिवाद शुरू हो गया। साहित्यकारों ने मध्यप्रदेश सरकार से पुस्तक को प्रतिबंध-मुक्त करने की मांग की। सैकड़ों-सैकड़ों तार मुख्यमंत्री श्यामाचरण के पास पहुंचे।

संप्रदायवादी लोगों ने आचार्यश्री के विरुद्ध दो याचिकाएं और एक फौजदारी मामला कोर्ट में दायर किया। उनका उद्देश्य अणुव्रत कार्य में अवरोध पैदा करना और आचार्यश्री की बढ़ती हुई लोकप्रियता को कम करना ही रहा होगा। श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा के अध्यक्ष मोहनलाल बांठिया तथा चांदमलजी बोहरा, इन्द्रचन्दजी गटागट आदि वकील उन याचिकाओं का प्रतिवाद कर रहे थे। पुस्तक पर लगे प्रतिबंध को हटाने का प्रयत्न भी चालू हो गया।

५ अक्टूबर। मध्याह्न का समय। तेरापंथ समाज के कार्यकर्ताओं की गोष्ठी। आचार्यश्री द्वारा घटनाक्रम का सिंहावलोकन–'इन दिनों शहर में जो घटनाएं हुईं उनके प्रमुख दो कारण हैं। एक, कुछ लोग ईर्ष्या से प्रेरित होकर हमारा विरोध करते हैं। वे लोग हमारी प्रगति को देखकर चौंक उठते हैं। रायपुर में हमारा जो स्वागत हुआ वह अभूतपूर्व था, उससे लोगों के मन में पहले से जो ईर्ष्या थी वह अधिक भड़क उठी।

दूसरा कारण है, उनके साथ अपने कतिपय श्रावकों का अन्तर्विरोध। उनका मनोमालिन्य कई दिनों से चल रहा था। वे बदला लेने के लिए किसी निमित्त की खोज में थे। मेरे आगमन से पूर्व ही विरोध की भूमिका तैयार की जा रही थी। इसकी संक्षिप्त जानकारी मेरे साधुओं को भी थी और मुझे भी थी। उनकी विरोध-भावना ने 'अग्निपरीक्षा' को निमित्त बनाकर उग्र रूप ले लिया। हमने स्थिति को टालने का जितना प्रयास किया, वह उतनी ही उलझती गई। स्थिति की गंभीरता देखकर मैंने यहां से विदा होने का निर्णय लिया।

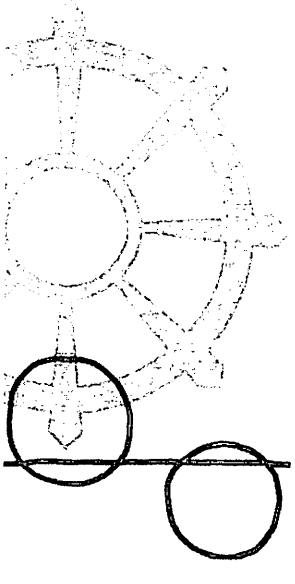

इस अवसर पर हमारे समाज के लोगों में शासन और शासनपति के प्रति जो श्रद्धा देखने को मिली, उसे मैं कभी भी विस्मृत नहीं कर सकता। समाज के सब लोग साधन संपन्न नहीं हैं, फिर भी जहां इस स्थिति के बारे में सुना, वे एक क्षण भी अपने घर में नहीं बैठ सके। मुझे अपने श्रावकों पर सात्त्विक गर्व है। वे अपने कर्तव्य-पालन में पूर्णरूप से जागरूक हैं।

इस बार श्रावकों में बहुत अधिक उत्साह देखने को मिला। सैकड़ों युवक दिन-रात तत्परतापूर्वक कर्तव्यपालन में संलग्न रहे। उनका खून उबल रहा था। पर मेरे निर्देश को ध्यान में रखकर उन्होंने अपनी उत्तेजना पर काबू पाया। युवकों की शक्ति का सही भान मुझे इस बार ही हुआ। मैं उनके कार्य से प्रसन्न हूं।

मित्र परिषद्, कलकत्ता के सदस्यों को भी मैं भूल नहीं सकता। कलकत्ता में उनका एक बड़ा उत्सव होने वाला था, पर यहां की स्थिति के बारे में जानकारी पाकर उसे स्थगित कर दिया गया और पचासों सदस्य रायपुर की ओर दौड़ पड़े। ऐसे समय में उन्होंने जिस कर्तव्य-निष्ठा और गुरु-भक्ति का परिचय दिया, उससे मैं बहुत प्रभावित हुआ। उनकी सेवाओं को मैं विस्मृत नहीं कर सकूंगा।

बेंगलुरू से समागत दो नवयुवक कार्यकर्ता श्री मिश्रीलाल कटारिया और श्री मांगीलाल छाजेड़ ने जो श्रम किया वह उल्लेखनीय है। एक विशेष कार्य का संकेत पाकर वे उसमें संलग्न हो गए। मार्ग में मोटर खराब होने से इन्हें काफी कठिनाई हुई पर इन्होंने साहस और धैर्य का परिचय दिया। इन्हें अपने कार्य में सफलता मिली। ऐसे कार्यकर्ताओं के कार्य का मूल्यांकन होना चाहिए।

श्री शुभकरण दस्सानी ने भी इस संघर्ष के समय अपनी चिन्तन-शक्ति का पूरा उपयोग किया है। यह लंबे समय से धर्मसंघ को अपनी सेवाएं देता रहा है और भविष्य में भी इसी प्रकार देता रहेगा, ऐसा विश्वास है।

सेवाभावी मुनिश्री चंपालालजी और मुनि नथमलजी ने चिंतन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। मुनि राकेशकुमार ने स्थिति को संभालने में बहुत परिश्रम किया है। अन्य सभी संत अपने व्यक्तिगत कार्य बंद कर स्थिति को संभालने में संलग्न हो गए। इनके हृदय की तड़प और संघ के प्रति अटूट आस्था देख कर मैं प्रसन्न हूं। दूर-दूर क्षेत्रों में बैठे साधु-साध्वियों ने भी इस समय पूरी सतर्कता से धर्मशासन की सेवा की है।'

रायपुर की स्थिति एक बार सामान्य बन गई, पर आंदोलनकारी शांत नहीं थे। वे निरंतर विरोधी वातावरण को उकसाने में लगे हुए थे। मुख्यमंत्री ने विवाद की समाप्ति के लिए एक और प्रयास करने का सुझाव दिया। उनका अनुरोध था—आचार्यश्री एक वक्तव्य के द्वारा स्थिति का स्पष्टीकरण करें, इससे शायद स्थिति सुलझ सकेगी। आचार्यश्री ने फिर एक वक्तव्य दिया। उसका सारांश है—

'मेरे रामायण-वाचन और पुस्तक को लेकर जो स्थिति बनी, मैं उसके विस्तार में जाना नहीं चाहता। किंतु जो कुछ हुआ उसका मुझे खेद है और इसका भी खेद है कि मैं अपने अन्तःकरण की भावना आप लोगों तक या उन लोगों तक, जिनके मन में आशंकाएं हैं, नहीं पहुंचा सका। यदि मेरी भावना उन तक पहुंच जाती तो मेरा विश्वास है कि ऐसा वातावरण बन नहीं पाता। हम अपनी भावना पहुंचाने में असफल रहे हैं या दूसरे लोग पाने में असफल रहे हैं, मैं नहीं कह सकता। किंतु ऐसा हुआ जरूर है। इसी कारण से कुछ दूरी बढ़ी है तथा हमारी परस्पर की सद्भावना में अन्तर आया है।

मैं अपने लिए यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि मैं किसी भी धर्म-संप्रदाय के लोगों के दिलों को आघात पहुंचा सकता हूं। मैंने मानव-धर्म के मिशन को लेकर प्रयाण किया है। बीस-पचीस वर्षों से मैं यह काम कर रहा हूं। मैं सब धर्मों की पूर्ण स्वतंत्रता चाहता हूं। जितने भी धर्म और धार्मिक लोग हैं, उनके स्वतंत्र विचारों और क्रियाकांडों में कोई रुकावट नहीं होनी चाहिए। हमें धार्मिक सहिष्णुता को महत्त्व देना चाहिए। सनातनी बंधु हमारे भाई हैं। हमारे कारण उनके दिलों को किसी प्रकार का आघात होता है, वह हमारे लिए भी आघात है। हमारे बीच में अब किसी प्रकार की गलतफहमी न रहे। रायपुर नगर की शांति और सद्भावना के लिए यह आवश्यक है कि हम इस दुःखद अध्याय को यहीं समाप्त कर दें तथा जो प्रशासकीय नियंत्रण में हैं उनके प्रति मेरे मन में सहानुभूति है। मेरे अन्तःकरण की भावना है कि उन्हें मुक्त कर देना चाहिए।'

आचार्यश्री के वक्तव्य की सूचना पाकर मुख्यमंत्री ने अपना विशेष वक्तव्य प्रसारित किया—'आचार्यश्री तुलसी ने आज शाम को रायपुर के प्रमुख नागरिकों के समक्ष 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक तथा उनके प्रवचन से उत्पन्न विवाद के संबंध में जो विचार व्यक्त किए हैं, उसके पश्चात् यह विवाद पूर्णतः समाप्त

हो गया है। रायपुर के समस्त नागरिकों से मेरा अनुरोध है कि इस संबंध में बीती हुई सभी बातों को भुलाकर नगर में शांति का वातावरण बनाएं।'

आचार्यश्री द्वारा अनेक बार स्पष्टीकरण किए गए और शासकीय स्तर पर विवाद-समाप्ति की घोषणा की गई फिर भी विवाद को बढ़ाया जा रहा था। इससे सहज ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि साम्प्रदायिकता का विष उपचार की सीमा से परे होता है।

रायपुर में आंदोलन के सूत्रधार महंत वैष्णवदास थे। उन्होंने स्वामी करपात्रीजी को आमंत्रित किया। १४ अक्टूबर को गांधी चौक में एक सार्वजनिक सभा आयोजित की। उसमें 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक को वापस लेने तथा भगवान राम और सीता से क्षमायाचना की मांग प्रस्तुत की। १७ अक्टूबर को फिर एक सार्वजनिक सभा की गई। उसमें उत्तेजनापूर्ण वक्तव्य दिए गए। सभा की समाप्ति पर हजारों लोगों की भीड़ अणुव्रत नगर की ओर आने लगी। पुलिस की सतर्कता के कारण वह आगे नहीं बढ़ सकी। उसने पत्थरों और ईंटों का खुलकर प्रयोग किया। कुछ हथगोले भी फेंके। उस भीड़ ने साध्वियों के स्थान के सामने प्रदर्शन भी किया। गंदी गालियां दीं और पत्थर बरसाए। लगभग आधी रात के समय यह सब कुछ हो रहा था। उपद्रवकारी ४० मिनट तक पथराव करते रहे। लोहे के गेट को तोड़ने का प्रयत्न किया, पर वह टूट नहीं सका। उस समय १५ मुसलमान भाई सामने खड़े थे। उन्होंने कहा–'यदि कोई व्यक्ति साध्वियों के स्थान के भीतर घुसा तो उनकी सुरक्षा हम करेंगे।' एक मुस्लिम बहन ने अपने पुत्र से कहकर अणुव्रत नगर में फोन करवाया। सूचना मिलते ही पुलिस की टुकड़ी और स्वयंसेवक वहां पहुंच गए। तेरापंथ समाज के अन्य संस्थानों तथा श्रावकों के घरों में भी पथराव किया गया। महंत लक्ष्मीनारायण, शारदाचंद्र तिवारी आदि के स्थानों पर भी पथराव किया गया। वह रात एक तूफानी रात थी, जिसमें सांप्रदायिकता के बादल मंडरा रहे थे और धर्म के नाम पर विष की बूंदें बरसा रहे थे।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

साध्वियों के स्थान पर जो हिंसक उपद्रव किए गए, उनका अहिंसक प्रतिकार करने के लिए आचार्यश्री ने एक उपवास करने की घोषणा की। आपने कहा–'इसके पीछे मेरा शांति, साम्प्रदायिक सद्भाव और अहिंसा का विकास है। मैं चाहता हूं कि इससे संबंधित लोगों के हृदय में भी परिवर्तन हो। वे शांति, साम्प्रदायिक सद्भाव और अहिंसा का मूल्य समझें।'

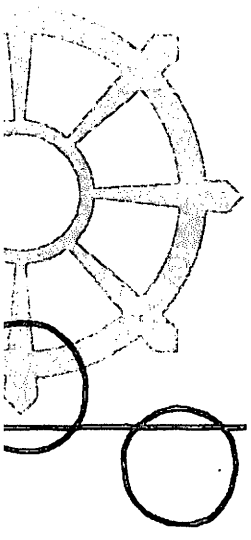

इस अहिंसक प्रतिकार का विरोध रायपुर बंद करके किया गया। आचार्यश्री एक पंजाबी भाई के मकान में चातुर्मास बिता रहे थे। उस पंजाबी भाई को कहा गया–'तुम आचार्यश्री को अपने मकान से बाहर निकाल दो। यदि ऐसा नहीं किया तो तुम्हारा मकान जला दिया जाएगा।' मकान मालिक ने यह सारी स्थिति आचार्यश्री के सामने रखी। आपने कहा–'हमारे कारण तुम्हें कठिनाई झेलने की जरूरत नहीं है।' आचार्यश्री के शब्द सुन वह गद्गद हो गया। वह बोला–'मैं कभी नहीं चाहूंगा कि आप मेरा मकान खाली करें। मैंने उन लोगों से स्पष्ट कह दिया है कि मैं चातुर्मास के लिए अपना मकान दे चुका हूं। चातुर्मास के बीच अकारण ही मकान खाली कराकर मैं अपनी मानवीय भावना की हत्या नहीं कर सकता।'

प्रवचन पण्डाल

रायपुर का प्रवचन पंडाल बेंगलुरू चातुर्मास के प्रवचन पंडाल की अनुकृति पर बनाया गया था। दक्षिण भारत की पंडाल-निर्माण की अपनी विशिष्ट शैली है। घास-फूस से एक आकर्षक और कलात्मक

पंडाल निर्मित कर दिया जाता है। रायपुर के प्रवचन पंडाल को हजारों लोगों ने विस्मय के साथ देखा और दक्षिण भारत के कला-कौशल को सराहा। उपद्रवी तत्त्वों ने ६ अक्टूबर की रात्रि में एक बजे के आसपास पंडाल पर एक हथगोला फेंका। निशाना चूक गया। पंडाल बच गया। १७ और २२ अक्टूबर को भी पंडाल जलाने के असफल प्रयत्न किए गए। २६ अक्टूबर। मध्याह्न का समय। लगभग सवा दो बजे पंडाल का एक कोना आग की लपटों से जल उठा। एक बच्ची ने हल्ला मचाया। उस समय एक साधु व्याख्यान कर रहे थे। सैकड़ों भाई बहन उसे सुन रहे थे। सबका ध्यान आग की लपटों की ओर गया। कुछ ही क्षणों में प्रवचन पंडाल खाली हो गया। १० मिनट के भीतर-भीतर पूरा पंडाल जलकर भस्म हो गया। पंडाल के पास ही दोनों ओर अणुव्रत नगर की झोंपड़ियां थीं। सैकड़ों-सैकड़ों यात्री उनमें ठहरे हुए थे। स्वयंसेवकों और फायरब्रिगेड के कर्मचारियों के सम्मिलित प्रयत्नों से झोंपड़ियां सुरक्षित रह पाईं।

बुराई में से अच्छाई खोजी जा सकती है। रात्रि के समय प्रवचन पंडाल में सैकड़ों आदमी सोते थे। यदि पंडाल रात्रि के समय जलता तो न जाने कितने लोग निद्रावस्था में सोए के सोए रह जाते। किंतु दुर्घटना मध्याह्न में घटी इसलिए प्राण-हानि किसी की नहीं हुई।

उस समय आचार्यश्री स्वयंसेवकों की गोष्ठी को संबोधित कर रहे थे। अणुव्रत नगर के प्रहरी स्वयंसेवक भी उस गोष्ठी में भाग ले रहे थे। उपद्रवी तत्त्वों ने अवसर का लाभ उठाया और एक दुर्घटना घटित हो गई। दुर्घटना का संवाद पाकर स्वयंसेवक अणुव्रत नगर में चले गए। आचार्यश्री पंडाल के पीछे के मकान में प्रवास कर रहे थे। आग की लपटें उस मकान की ओर बढ़ने लगीं। साधुओं और श्रावकों ने प्रार्थना की कि आप दूसरे मकान में पधार जाएं। आचार्यश्री ने कहा–'मैं यहीं बैठा रहूंगा। देखता हूं क्या होता है?' मकान के पिछले भाग में एक दरवाजा था उसके ताला लगा हुआ था। खेमचन्द सेठिया ने उसका एक भाग तुड़वा दिया था। बचाव की पूरी तैयारी कर ली थी पर आचार्यश्री का मानस उस मकान को छोड़कर दूसरे मकान में जाने का नहीं हुआ। आप नाड़ी और हृदय की धड़कन के द्वारा अपनी धृति का परीक्षण करते रहे। उस भयंकर परिस्थिति में भी प्रकंपन नहीं बढ़ा। आग की ज्वालाओं ने भी अपनी दिशा बदल दी। प्रकृति ने स्वयं सुरक्षा की स्थिति पैदा कर दी।

साम्प्रदायिकता का उन्माद कितना भयंकर होता है उसका एक निदर्शन बन गया रायपुर का घटनाक्रम। हिन्दू समाज बहुत उदार विचार वाला समाज है। उसमें सब लोग सांप्रदायिक नहीं हैं, किन्तु कुछ लोग बहुत कट्टर साम्प्रदायिक हैं। उस साम्प्रदायिकता ने अल्पसंख्यक जातियों के प्रति अन्याय करने के तीव्र प्रयत्न किए हैं। बी.बी.सी. लंदन और पाकिस्तानी रेडियो ने उस धर्मान्धता का संवाद अनेक बार प्रसारित किया।

रायपुर के श्रावक समाज का चिंतन बदल गया। पहले वह चातुर्मास में प्रस्थान न करने की प्रार्थना कर रहा था, अब वह प्रस्थान करने की प्रार्थना करने लगा। तनावपूर्ण वातावरण बना हुआ था। विरोधी प्रदर्शन हो रहे थे। सैकड़ों-सैकड़ों पुतले जलाए गए और उनके जलाने का क्रम चल रहा था। १ नवम्बर के दिन आचार्यश्री ने ५७वें वर्ष में प्रवेश किया। आचार्यश्री ने जन्मदिन के अवसर पर एक संक्षिप्त वक्तव्य दिया। उसमें पुरुषार्थ की प्रेरणा और उज्ज्वल भविष्य की कल्पना दोनों एक साथ मुखर हो रही थी।

आपने कहा–'आज मैं ५७वें वर्ष में प्रवेश कर रहा हूं। मेरा धर्मसंघ कई वर्षों से मेरा जन्मदिन मनाता आ रहा है, परन्तु इस वर्ष मुझे वह अधिक सुहावना लग रहा है। आज का प्रभात सचमुच मेरे लिए नवीन संदेश लेकर आया है। इन दिनों मेरे पास अनेक ज्योतिर्विदों और समुद्रशास्त्रियों के पत्र आए हैं। कुछ

व्यक्तियों ने लिखा है कि अब तक आपने जो प्रगति की है वह तो भूमिका मात्र है, सही प्रगति का प्रारंभ तो अब होगा। कुछ लोगों ने लिखा है कि अभी तक कुछ दिन आपके लिए संघर्ष का समय है, इसलिए सावधानी आवश्यक है। ज्योतिष में मेरा विश्वास या अविश्वास कुछ नहीं है। किंतु पुरुषार्थ पर मैं विश्वास करता हूं। पुरुषार्थहीन व्यक्ति की कोई देव भी रक्षा कर सकता है, इसमें मुझे संदेह है। इस बार रायपुर काण्ड को लेकर कुछ लोगों ने अपने इष्टदेवों को बहुत कोसा है तथा यहां के अन्याय को देखकर कुछ व्यक्ति धर्म-कर्म के प्रति अनास्थावान् बन रहे हैं। मैं सोचता हूं कि किसी भी स्थिति में ऐसा नहीं होना चाहिए। धर्म-कर्म निष्कामभाव से हो। उसके पीछे किसी फल की आकांक्षा नहीं रहनी चाहिए। वर्तमान परिस्थिति को लेकर किसी भाई-बहिन को गलतफहमी का शिकार नहीं बनना चाहिए। इस वर्ष हमें प्रकृति और पुरुष दोनों से मुकाबला करना पड़ा है। ओडिशा से लौटते समय भयंकर बाढ़ का सामना हुआ, जिसकी स्मृति मात्र से ही रोमांच हो रहा है। रायपुर में हम जिस विरोध का मुकाबला कर रहे हैं, वह भी बड़ा विचित्र है। यह इतिहास की एक अनोखी घटना है, फिर भी हमें चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है।'

'इस समय मेरे कारण सैकड़ों साधु-साध्वियों, लाखों-करोड़ों श्रावकों और शुभचिन्तकों को जो पीड़ा हो रही है, उसका मुझे बहुत दुःख है। काश! मैं उन्हें पीड़ा-मुक्त कर पाता। मैं नहीं चाहता था कि मेरे लिए कोई दुःखी हो। अभी तक हम महापुरुषों के संघर्षों की कहानियां पुस्तकों में पढ़ते थे, किंतु आज हमारा संघ तकलीफों के बीच से गुजर रहा है। यह अवसर हमारे लिए कसौटी का है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि कोई कठिनाई हमें विचलित नहीं कर सकेगी। यह संघर्ष हमारे भविष्य के लिए शुभसूचक है।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

आज मैं इस अवसर पर अपने शुभचिंतकों को पूर्णरूप से संयमित रहने का निर्देश देता हूं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि वे किसी भी स्थिति में अहिंसा को नहीं भूलेंगे। उन लोगों के प्रति भी मैं शुभकामना करता हूं जिन्होंने मेरे साथ ऐसा व्यवहार किया है।'

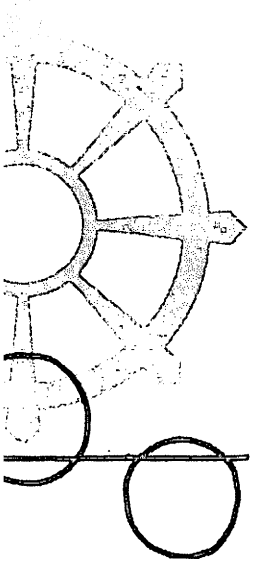

वर्तमान आंदोलनों के पीछे दो हाथों की छाप साफ-साफ देखी जा सकती है। रायपुर आंदोलन के पीछे भी दोनों हाथ सक्रिय थे। मोतीलाल धारीवाल चातुर्मास के आयोजकों में मुख्य थे। वे कांग्रेस के एक गुट के साथ थे, दूसरा गुट उनका विरोधी था। सांप्रदायिकता के साथ राजनीति भी जुड़ गई। आचार्यश्री तुलसी और अग्निपरीक्षा की अपेक्षा मोतीलाल धारीवाल को प्रभावहीन बनाना मुख्य बन गया। आंदोलन के संचालक छात्रों को अपने पक्ष में लाने में सफल हो गए। छात्रों ने जिलाधीश त्रिपाठी को आश्वासन दिया था कि वे आंदोलन में भाग नहीं लेंगे। किंतु वे अपने वचन पर स्थिर नहीं रह सके। ६ नवम्बर की रात को कुछ छात्रनेताओं ने प्रदर्शन करने का निर्णय लिया। ७ नवम्बर को प्रातः ९ बजे हजारों छात्रों का जुलूस अणुव्रत नगर की ओर आने लगा। पुलिस की सतर्कता के कारण वह अणुव्रत नगर तक नहीं पहुंच सका। छात्रों ने दुकानों में लूटपाट की और तेरापंथ समाज के घरों पर पथराव किया। नगर में अशांति का ज्वार आ गया। प्रशासन ने स्थिति को संभालने के लिए २४ घंटे का कर्फ्यू लगा दिया। पुलिस ने अश्रुगैस छोड़ी और लाठीचार्ज भी किया। कर्फ्यू की अवधि बढ़ा दी गई। उस अवधि में कानून-भंग के आरोप में सैकड़ों व्यक्ति गिरफ्तार किए गए। कर्फ्यू की स्थिति में जनता कठिनाई का जीवन जी रही थी। इस स्थिति में आचार्यश्री का मन अकुला उठा। आपने यात्रा-पथ के व्यवस्थापक खेमचंदजी सेठिया से कहा–'अब यहां से प्रस्थान करने की इच्छा हो रही है।' सेठियाजी दुर्ग के जिलाधीश और पुलिस अधीक्षक से मिले। उन्होंने पूर्ण सहयोग का आश्वासन दिया। रायपुर के

जिलाधीश से मिलकर उन्हें बताया–'नगर की स्थिति को देखते हुए आचार्यश्री यहां से प्रस्थान करना चाहते हैं।' त्रिपाठीजी बोले–'मैं आचार्यश्री को जाने के लिए कैसे कह सकता हूं। वे अपना चातुर्मास यहां पूरा करना चाहें तो प्रशासन का पूरा सहयोग उनके साथ है। प्रस्थान के संबंध में मैं मुख्यमंत्री से संपर्क करके ही कुछ कह सकूंगा।' त्रिपाठीजी द्वारा सूचना प्राप्त कर मुख्यमंत्री ने कहा–'वर्तमान परिस्थिति में मैं आचार्यश्री से क्या कहूं? जो कुछ हुआ और जो हो रहा है वह दुःखद है। आचार्यश्री प्रस्थान करें तो सरकार की ओर से पूरी व्यवस्था रहेगी।'

रात्रि के लगभग १० बजे का समय। आचार्यश्री ने साधुओं की एक गोष्ठी बुलाई और वहां से प्रस्थान करने का अंतिम निर्णय ले लिया। आचार्यश्री का एक प्रेस वक्तव्य प्रसारित किया गया। उससे प्रस्थान की प्रयोजनीयता स्पष्ट हो जाती है। वह वक्तव्य इस प्रकार है–'मैं अणुव्रत के माध्यम से शांति और सद्भावना का प्रयत्न कर रहा हूं और लोग मुझे नगर की अशांति का निमित्त बना रहे हैं, यह मेरे लिए गहरी संवेदना का विषय है। मैंने इसी संवेदना के आधार पर २७ सितम्बर को चातुर्मास के मध्य विहार करने की घोषणा की थी। किंतु शान्ति की संभावना तथा मुख्यमंत्री, जिलाधीश, विधायकों, अनेक संस्थाओं और प्रमुख व्यक्तियों के आग्रहपूर्ण अनुरोध पर मैंने तात्कालिक निर्णय को स्थगित कर दिया। रायपुर में जो आंदोलन चल रहा है वह 'अग्निपरीक्षा' का नहीं है। यदि उसका होता तो पुस्तक पर प्रतिबंध लग जाने पर वह समाप्त हो जाता। यह आंदोलन कुछ और ही है। इसकी जड़ गहराई में है, इसलिए बार-बार हिंसक घटनाएं हो रही हैं। हिंसक उपद्रव करने वाले कुछ लोग ही हैं पर उसका परिणाम धारा १४४ और कर्फ्यू के रूप में सारे नगरवासियों को भुगतना पड़ रहा है। उपद्रव करने वालों की भावना कुछ और ही है, किंतु उसकी जिम्मेवारी मुझ पर डाली जा रही है। यह मेरे मन को कचोट रहा है। कर्फ्यू में लोगों की कठिनाइयां कितनी बढ़ जाती हैं? रोज की रोटी कमाने वालों को न जाने कितनी परेशानियों का सामना करना पड़ रहा है? जनता की इन सारी कठिनाइयों का जिम्मेवार मैं बनूं, यह मेरे लिए असह्य है। मैं दूसरों की कठिनाइयों से बहुत द्रवित हो रहा हूं। मेरा मन विचित्र प्रकार की छटपटाहट का अनुभव कर रहा है। मुझे आशा है कि एक दिन अवश्य ही रायपुर की जनता मुझे समझेगी और मेरी भावना का मूल्यांकन करेगी। इस अवसर पर मैं सब लोगों से शांति और सद्भावना का अनुरोध करता हूं और आप सबकी शान्ति के लिए शुभकामना करता हूं।'

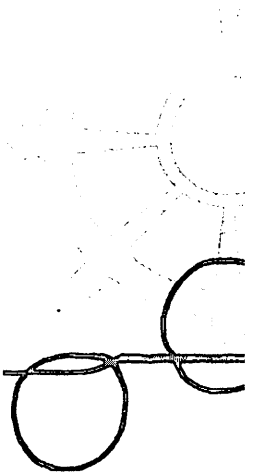

रायपुर से प्रस्थान

९ नवम्बर (कार्तिक शुक्ला ११) के प्रातःकाल आचार्यश्री ने रायपुर से प्रस्थान किया। चातुर्मास की संपन्नता में केवल ५ दिन शेष थे। इन पांच दिनों में हिंसा की उग्रता बढ़ने की संभावना थी। उस संभावना को टालने के लिए आचार्यश्री ने आपवादिक मार्ग का अवलम्बन लिया। सबसे आगे स्वयंसेवकों का दल, उसके पीछे साध्वियां, फिर स्वयंसेवक, फिर आचार्यश्री अपने साधु-परिवार के साथ चल रहे थे। आचार्यश्री के पीछे सैकड़ों-सैकड़ों श्रावक-श्राविकाएं चल रही थीं। उनके आस-पास पुलिस और होमगार्ड चल रहे थे। जिलाधीश त्रिपाठी और पुलिस अधीक्षक श्री वाजपेयी कुछ समय बाद आ गए। आचार्यश्री के प्रस्थान की सूचना शहर में फैल गई। प्रस्थान की योजना गुप्त रखी गई थी। जनता को उसकी जानकारी नहीं थी इसलिए सहसा उसे इस संवाद पर विश्वास नहीं हुआ। जब आचार्यश्री रायपुर को ७-८ मील दूर छोड़ चुके थे तब पीछे से अनेक नागरिक और पत्रकार पहुंचे। ७ मील के पश्चात् दुर्ग जिले की सीमा प्रारंभ हो

गई। उस संधिस्थल पर त्रिपाठी और वाजपेयी ने आचार्यश्री को विदा दी और दुर्ग के जिलाधीश श्री एस. के. बनर्जी तथा पुलिस अधीक्षक श्री सुरेन्द्र विक्रमसिंह ने आचार्यश्री का स्वागत किया।

आचार्यश्री का पहला प्रवास कुम्हारी गांव में हुआ। वहां अनेक पत्रकार उपस्थित हो गए। आचार्यश्री ने उनके प्रश्नों के उत्तर में कहा–'मैं शांति के लिए रायपुर आया था और शांति के लिए रायपुर छोड़कर जा रहा हूं। मानवता के कल्याण के लिए मैंने गृहस्थ जीवन छोड़ा है। आज शान्ति और सद्भावना के लिए रायपुर छोड़ने के बाद मैं संतोष का अनुभव कर रहा हूं। शहर छोड़ने के लिए किसी को बाध्य किया जाए तो संभवतः दुःख हो सकता है। पर मैंने स्वेच्छा से रायपुर छोड़ा है, अतः दुःख का कोई प्रश्न ही नहीं है। मुझे दुःख है तो केवल इसी बात का है कि रायपुर की जनता ने मेरे लक्ष्य और विचारों को समझने का प्रयास नहीं किया अथवा हम उस तक पहुंचने में सफल नहीं हुए। रायपुर में हमारे साथ जो व्यवहार किया गया उसके प्रति मेरे मन में कोई रोष नहीं है। यहां की जनता स्वयं आत्मालोचन करे कि वह कितने गहरे पानी में है।

इस आंदोलन में साम्प्रदायिक और राजनीतिक तत्त्वों की सक्रियता अधिक संभव लगती है। साम्प्रदायिक भावना राष्ट्र के व्यापक हितों के लिए किसी भी स्थिति में लाभप्रद नहीं हो सकती। मैं साम्प्रदायिक उन्माद भड़काने से पहले ही यहां से चला जाना चाहता था। किंतु शासन और प्रमुख नागरिकों ने मुझे रोक लिया। मेरा रुकने का उद्देश्य सफल नहीं हुआ, इसीलिए मैं चातुर्मास में रायपुर छोड़कर आया हूं।'

धर्मचक्र का प्रवर्तन

'अग्निपरीक्षा' पुस्तक के संबंध में पूछे गए प्रश्नों के उत्तर में कहा–'इस पुस्तक के संबंध में मुझे कुछ नहीं कहना है क्योंकि वह न्यायालय में विचाराधीन है। न्यायालय के फैसले के बाद सारी स्थिति स्पष्ट हो जाएगी। राम-सीता का जहां तक प्रश्न है मेरे मन में उनके प्रति असीम श्रद्धा है। मैं एक चींटी को भी सताना पाप मानता हूं, ऐसी स्थिति में राम और सीता का अपमान कर ही कैसे सकता हूं?'

आचार्यश्री ने इस अवसर पर एक लिखित विदाई संदेश दिया, वह घटनाक्रम की अविकल जानकारी की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है–'मैं कुछ वर्षों से लंबी यात्रा पर हूं। मेरी यात्रा का उद्देश्य है नैतिकता का विकास और मानवीय एकता की स्थापना। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जातीय और साम्प्रदायिक भेदभावों को दूर कर तथा धर्म के साम्प्रदायिक और रूढ़िवादी रूप को समाप्त कर उसके आध्यात्मिक रूप को उजागर करना मेरा कार्यक्रम है। मैं राजस्थान से चला। गुजरात, महाराष्ट्र, दक्षिण भारत और ओडिशा होता हुआ चातुर्मास के लिए रायपुर आया। मेरा प्रबुद्ध साधु-साध्वी वर्ग भी मेरे साथ आया। रायपुर की जनता ने हमारा स्वागत किया अत्यन्त उल्लास के साथ। लगभग डेढ़ मास तक हजारों-हजारों की उपस्थिति में हमारे कार्यक्रम चले।

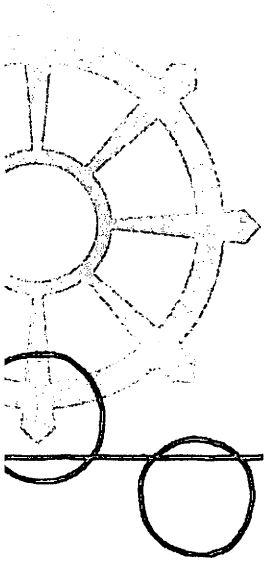

अणुव्रत के कार्यक्रम मानवता के कार्यक्रम हैं। इसलिए उनमें जैन-अजैन सभी लोगों ने उन्मुक्त भाव से भाग लिया। मैं प्रातःकालीन प्रवचन में प्रायः आध्यात्मिक विषयों पर विवेचन किया करता हूं। रायपुर में भी वही क्रम चल रहा था। इसी बीच कुछ लोगों ने राम-चरित पर प्रवचन करने का अनुरोध किया। मैंने इस सुझाव को सहज-भाव से स्वीकार कर लिया। तीन-चार रविवारों को रामायण पर मेरा प्रवचन चला। १६ अगस्त को मैंने महासती सीता के विषय में फैले हुए जनापवाद का वर्णन किया। समय समाप्त हो गया था, अतः जनापवाद के शोधन का विषय अगले रविवार के लिए छोड़ दिया।

कुछ लोग मेरे आने से पूर्व ही मेरा विरोध करने की योजना बना चुके थे, यह मुझे पत्रकार बंधुओं द्वारा बाद में ज्ञात हुआ। उनके पास मेरे आने से पूर्व ही विरोधी साहित्य पहुंच चुका था। जो लोग विरोध करना चाहते थे वे अवसर की खोज में थे। उन्होंने १६ अगस्त के प्रवचन को माध्यम बनाया और यह प्रचार करना शुरू किया कि आचार्यश्री ने महासती सीता के लिए अपशब्दों का प्रयोग किया है। धीरे-धीरे विरोध का सिलसिला शुरू हो गया। विरोध का दूसरा माध्यम बनाया 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक को, जिसके आधार पर मैंने १६ अगस्त का प्रवचन किया था।

मुझे जब यह मालूम हुआ तब मैंने पत्रकार परिषद् के सामने उसका स्पष्टीकरण किया। मैंने कहा–'मैं सीता को महासती मानता हूं। उसका उच्च आदर्श भारतीय संस्कृति के लिए सबल प्रेरणा है। उसके त्याग, बलिदान और उज्ज्वल चरित्र के सम्मुख हर भारतीय नतमस्तक है। 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक महासती सीता के उज्ज्वल चरित्र को उजागर करने के लिए लिखी गई है।'

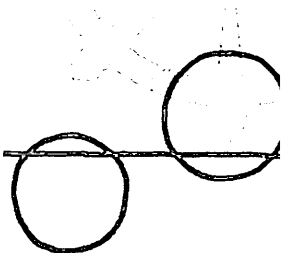

६ सितम्बर को मैत्री दिवस का कार्यक्रम था। उसमें मैंने उक्त प्रसंग का स्पष्टीकरण किया। १९ सितम्बर को फिर इस विषय का स्पष्टीकरण किया और साम्प्रदायिक सद्भावना के लिए वातावरण बनाया। किंतु 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक संबंधी विवाद काफी उग्र कर दिया गया था। जो विरोध प्रचारात्मक रूप में चल रहा था, उसने हिंसक उपद्रवों का रूप ले लिया। उस स्थिति में मैंने चातुर्मास के मध्य ही विहार की घोषणा कर दी। हम विहार की तैयारी कर रहे थे, इतने में मध्यप्रदेश शासन ने 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक पर प्रतिबंध लगा दिया। एक बार लगा कि वातावरण कुछ शांत हो रहा है। हिंसा और अशांति के वातावरण को ध्यान में रखकर मैंने विहार का निर्णय ले लिया था, किंतु बदली हुई स्थिति में मुख्यमंत्री श्री श्यामाचरण शुक्ल, रायपुर के प्रतिष्ठित नागरिकों, विधायकों तथा अनेक संस्थाओं के अनुरोध पर मैंने फिर रायपुर में ही शेष चातुर्मास बिताने का निर्णय किया यानी जो आपवादिक निर्णय लिया था, उसे स्थगित कर दिया।

पुस्तक पर प्रतिबंध लग जाने के बाद भी विरोध और हिंसक उपद्रव उभरने लगे, तब यह बात स्पष्ट हो गई कि यह विवाद पुस्तक को लेकर नहीं है, इसकी पृष्ठभूमि में कुछ दूसरे तत्त्व काम कर रहे हैं। वे हो सकते हैं–व्यक्तिगत स्पर्धा, साम्प्रदायिक और राजनीतिक प्रतिस्पर्धा तथा प्रतिशोध।

विश्लेषण

इस चातुर्मासिक घटनाक्रम में जो हुआ वह किसी भी समझदार व्यक्ति के लिए सुखद नहीं है। इससे साम्प्रदायिक असद्भावना और उत्तेजना बढ़ी है। वातावरण क्षुब्ध बना है। मैं आदि से अब तक यही सोचता रहा कि दुर्भाग्यपूर्ण विवाद सीमित रहे, बढ़े नहीं। किंतु सामने वाले पक्ष ने इसे मुझ तक सीमित नहीं रखा। इसे जैन और सनातनी का रूप दिया। मैं नहीं चाहता था कि इसे यह रूप दिया जाए और मेरी एक रचना को लेकर जैन समाज पर कोई आंच आए। कुछ स्थानीय जैन बंधुओं के बुद्धि-कौशल या सामने वाले पक्ष की समझदारी से, कुछ भी हो, वह विरोध स्थानीय जैन समाज से हटकर तेरापंथी जैनों तक सीमित हो गया। फलतः हिंसक उपद्रवों के शिकार तेरापंथी जैन या उनसे सहानुभूति रखने वाले कुछ लोग ही हुए।

मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि रायपुर के बाहर अखिल भारतीय स्तर पर जैन और सनातनी विद्वानों व उदार विचारधारा के लोगों ने मेरे विचारों का प्रबल समर्थन किया और असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण तथा कार्यक्रम के प्रति अत्यंत आत्मीयता प्रदर्शित की। साहित्यिक तथा समाचार जगत् ने मेरे इस दृष्टिकोण का

सही-सही मूल्यांकन किया। मैं समझता हूं कि इस कसौटी के समय उन उदारवादी लोगों ने मुझे अकेला नहीं छोड़ा।

मैं देखता हूं यह संघर्ष सही रूप में 'अग्निपरीक्षा' का संघर्ष नहीं है। वास्तविक रूप में यह उदार और अनुदार विचारधारा तथा अहिंसा और हिंसा का संघर्ष है। इस संघर्ष में जिन लोगों की हार्दिक सहानुभूति मुझे प्राप्त हुई है, उन्हें मैं साधुवाद देता हूं और आशा करता हूं कि भविष्य में हम पारस्परिक सहयोग के आधार पर इस संकीर्ण साम्प्रदायिकता पर विजय पा लेंगे। इस समूचे घटनाक्रम में हमने अहिंसा से हिंसा का सामना करने का विनम्र प्रयत्न किया। मेरे अनुगामी समाज तथा अणुव्रती लोगों ने भी इसमें बराबर संतुलन बनाए रखा।

अपनी बात

जब से मैंने अणुव्रत आंदोलन शुरू किया तब से मैं निरंतर सब धर्मों के प्रति सद्भावना बढ़ाने के मार्ग को खोजता तथा विभिन्न संप्रदाय के लोगों को निकट लाने का प्रयत्न करता रहा हूं। मेरा हृदय कभी यह साक्ष्य नहीं देता कि मैंने किसी दूसरे धर्म पर आक्षेप किया है।

राम और सीता को मैं अपना आदर्श मानता हूं। उनका अपमान करने की बात मैं स्वप्न में भी नहीं सोच सकता। उस स्थिति में यह कैसे संभव हो सकता है कि मैं उन पर या उनके लिए अभद्र शब्दों का प्रयोग करूं?

मैंने देखा कि जो विवाद चलाया जा रहा है, उसके पीछे विवेक और बौद्धिकता की अपेक्षा भावना अधिक है। मैंने संबंधित पक्ष की भावना को प्रेममय बनाने के लिए अपने कार्य के प्रति आत्मविश्वास रखते हुए भी उसके अनेक सुझाव स्वीकार किए।

पारस्परिक सद्भावना की वृद्धि के लिए ६ अक्टूबर, १९७० को मोतीबाग में 'अग्निपरीक्षा' संबंधी विवाद-समाप्ति की घोषणा प्रबुद्ध नागरिकों ने, मध्यप्रदेश शासन ने तथा मैंने की।

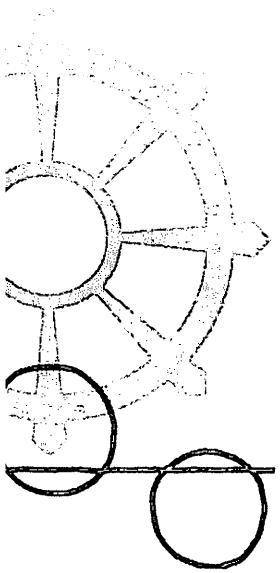

विवाद-समाप्ति की घोषणा के बाद भी कुछ लोग इस बात पर अड़े रहे कि मैं राम और सीता से क्षमा मांगू। मैंने स्वीकार नहीं किया। इस पर कुछ लोगों ने कहा, 'राम और सीता से क्षमा मांगने में क्या आपत्ति है?' मैं भी मानता हूं कि इसमें कोई भी आपत्ति नहीं है। किसी सामान्य व्यक्ति से भी क्षमा मांगी जा सकती है तब अपने पूज्य व्यक्ति से क्षमा मांगने में आपत्ति क्या हो सकती है? मुझे लगे कि मुझसे राम और सीता का कोई अविनय हो गया है तो मैं किसी के कहे बिना उनसे क्षमा मांग लूंगा। यह श्रद्धा का सवाल है, किसी के दबाव का सवाल नहीं है। मुझ पर राम और सीता से क्षमा मांगने का दबाव डालने वाले इस तथ्य को क्यों भुला देते हैं कि राम और सीता मेरे लिए भी उतने ही पूज्य हैं जितने कि उनके लिए हैं। यह मेरी हठधर्मिता नहीं है, किंतु सिद्धान्त का प्रश्न है।

जनता ने मेरा स्वागत किया, वह काफी वजनदार है। पर कुछ लोगों द्वारा लगाए गए आरोपों का वजन उससे कम नहीं है। यह सम्मान और असम्मान का संतुलित प्रहार एक साधु के लिए असंगत नहीं है। किंतु आरोप लगाने वालों के लिए कितना संगत है, मैं नहीं समझता।

संकीर्ण साम्प्रदायिकता, वाणी का असंयम, अहं का प्रदर्शन–ये आरोप मैंने रायपुर में कुछ लोगों से सुने, शेष हिन्दुस्तान में कहीं नहीं सुने। यह मेरे लिए आत्मालोचन का विषय हो सकता है, किंतु

आरोप लगाने वाले बंधुओं के लिए क्या यह आत्म-निरीक्षण का प्रसंग नहीं है? कहीं वे अपनी संकीर्ण सांप्रदायिकता दूसरों पर आरोपित तो नहीं कर रहे हैं? मुझे आश्चर्य है कि मैं जिस संकीर्ण साम्प्रदायिकता की वृत्ति का कट्टर विरोधी हूं उसी का आरोप मुझ पर लगाया गया।

मैं प्रायः चातुर्मास संपन्न कर आपके रायपुर नगर से विदा हो रहा हूं। यहां की जनता धर्मप्रेमी है। मुझे इस बात का दुःख है कि मुझे निमित्त बनाकर कुछ लोगों ने आगजनी, पथराव, लूटपाट आदि हिंसक उपद्रव किए। फलतः नगर की जनता को अनेक सरकारी प्रतिबंधों से गुजरना पड़ा, कठिनाइयां झेलनी पड़ीं। इस स्थिति में रहना मुझे इष्ट नहीं लगता, इसलिए यह विदा का दिन मेरे लिए अधिक प्रसन्नता का दिन है। मैं यहां से प्रसन्न होकर विदा हो रहा हूं। मेरे मन में यहां की जनता के प्रति पूर्ण सद्भावना है। मैं कामना करता हूं आपका मन भी प्रसन्न रहे और सद्भावना विकसित हो।

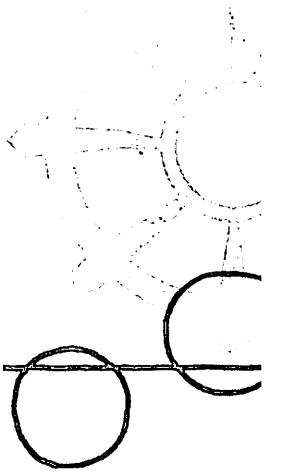

रायपुर आंदोलन के निष्कर्ष

रायपुर का आंदोलन साम्प्रदायिक और राजनीतिक प्रेरणा से प्रेरित था। रायपुर की जनता ने प्रवेश के समय आचार्यश्री का जो स्वागत किया वह कुछ साम्प्रदायिक तत्त्वों के लिए असहनीय हो गया। वे विरोध के अवसर की खोज में लग गए।

मोतीलालजी धारीवाल रायपुर के प्रतिष्ठित व्यापारी थे। राजनीति के क्षेत्र में भी उनका वर्चस्व था। वे स्पष्टवादी और सिद्धांतनिष्ठ व्यक्ति थे। उनके प्रतिद्वंद्वी भी उन्हें गिराने के प्रयत्न में लगे हुए थे।

चातुर्मासिक व्यवस्था में कुछ बुद्धिजीवी व्यक्तियों को रखा गया था, किंतु पारस्परिक विचारभेद के कारण उन्हें कार्य-मुक्त कर दिया गया। उनके मन में भी प्रतिक्रिया की चिनगारी पैदा हो गई।

अनेक खेमों के विरोधी लोग मिल गए और उन्होंने विरोध की चिनगारी को दावानल बना दिया, राई पर्वत बन गई।

रायपुर की जनता के मन में कोई आक्रोश नहीं था, किंतु दीर्घकालीन अनुभव के आधार पर मैं यह कह सकता हूं कि एक छोटी-सी घटना जनता में उभार ला देती है और उसकी शांति भंग हो जाती है। इसलिए उसमें अविश्वास और विश्वास सापेक्ष ही किए जा सकते हैं। नगर में कुछ लोग उद्दंड या आक्रोशपूर्ण व्यवहार करते हैं उस समय शेष लोग तटस्थ रहते हैं। उनकी तटस्थता उद्दंडता को प्रोत्साहन देती है। किंतु जनता की यह प्रकृति है कि वह अन्याय का प्रतिकार नहीं करती, उसे मौन भाव से सह लेती है, रायपुर भी इस सामान्य प्रकृति का अपवाद नहीं रहा।

जिला प्रशासन व्यवस्था के प्रति बहुत जागरूक था। प्रांतीय शासन भी शांति के लिए प्रयत्नशील था। केन्द्रीय सरकार भी साम्प्रदायिक तनाव को मिटाने के लिए सक्रिय थी, फिर भी शांति की स्थापना नहीं हुई। इस स्थिति में बहुसंख्यक समाज के दर्प की समस्या से परिचित होने का अवसर मिलता है। जैन अल्पसंख्यक हैं। बहुसंख्यक समाज अल्पसंख्यक समाज के प्रति यदा-कदा अपने अहंकार का प्रदर्शन करता रहता है। इसी मनोवृत्ति के कारण हिन्दू समाज कभी संगठित नहीं हो सका। लोकतंत्र में बहुमत के आधार पर सरकार बनती है। इसलिए सरकार बहुमत की उपेक्षा नहीं कर सकती। जिला-प्रशासन सरकार के इंगित का अतिक्रमण नहीं कर सकता। इसलिए अल्पसंख्यक समाज को प्रशासन और सरकार पर बहुत भरोसा नहीं करना चाहिए। उसे अपनी शक्ति और सीमा को समझकर ही अपने कर्तव्य का निर्धारण करना चाहिए।

आचार्यश्री के व्यक्तित्व के दो पहलू थे–जैन धर्म के आचार्य और अणुवत के अनुशास्ता। आपने अपने क्रांतिकारी विचारों से काफी प्रगति की। प्रगति व्यक्ति को आगे बढ़ाती है, साथ-साथ कुछ संघर्ष के बीज भी बोती है। जैन समाज के कुछ व्यक्तियों द्वारा इसीलिए विरोध को उभारा गया। अणुव्रत के द्वारा जैनेतर जनता के साथ संपर्क स्थापित हुआ। व्यापक संपर्क सहानुभूति देता है, किंतु वह शक्ति का आंतरिक स्रोत नहीं बनता। एक संघर्ष आता है और चला जाता है। वह अपने पीछे अनेक सचाइयों को छोड़ जाता है, यदि हम खुली आंखों से उन्हें देख सकें और उनसे कोई बोध पाठ ले सकें।

भदन्त आनन्द कौसल्यायन, उपाध्याय अमरमुनि आदि विभिन्न संप्रदायों के भिक्षुओं और साधुओं ने उक्त प्रकरण में बड़े साहस का परिचय दिया और यथार्थ की प्रस्तुति के लिए दृढ़ संकल्प के साथ आगे आए।

भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक के विषय में एक वक्तव्य में कहा–'मैं तो रायपुर में आचार्यश्री के खिलाफ आंदोलन चलाने वालों का कृतज्ञ हूं। यदि वे आंदोलन न करते तो मैं ऐसी सुन्दर कृति पढ़ने से वंचित रह जाता। मैंने सारी पुस्तक पढ़ डाली है। इसके आधार पर मैं कह सकता हूं कि आचार्य तुलसी केवल आचार्य ही नहीं हैं, वे साहित्य के भी मर्मज्ञ हैं। जगदंबा सीता का जितना सुंदर चित्रण इस पुस्तक में है, अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। अभी तो पुस्तक का मामला कोर्ट में है। मामला समाप्त होने पर इसकी हजारों-लाखों प्रतियां छपनी चाहिए ताकि पुस्तक सुगमतापूर्वक उपलब्ध हो जाए।

पुस्तक दुर्भावना से लिखी गई है या सद्भावना से, यह तो पुस्तक पढ़ने के बाद ही मालूम हो सकता है। एक अवैदिक परम्परा के आचार्य ने वैदिक परम्परा का जो गुणगान किया है, उसे पाठक लोग ही जान सकते हैं। मैं स्पष्ट घोषणा करता हूं कि आचार्यश्री ने यदि भूल की है तो वह यह कि श्रमण-परम्परा के व्यक्ति होकर उन्होंने वैदिक परम्परा का गुणगान किया है। मध्यप्रदेश सरकार के प्रतिनिधियों ने जिस धारा के अंतर्गत पुस्तक जब्त करने की सलाह दी है, उससे उनकी नासमझी स्वयं सामने आ जाती है।'

तत्कालीन भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने 'अग्निपरीक्षा' को लेकर चल रहे विवाद पर बहुत खेद प्रकट किया। उन्होंने कहा–'आचार्य तुलसी रचित 'अग्निपरीक्षा' के कतिपय अंशों को लेकर कुछ दिनों में जो विवाद उठ खड़ा हुआ है, वह अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है। मैंने इस काव्य पुस्तिका को ध्यान से पढ़ा है और मैं यह असंदिग्ध रूप से कहने के लिए तैयार हूं कि कवि का उद्देश्य माता सीता का अपमान करना अथवा सनातन मतावलंबियों की धार्मिक भावनाओं को चोट पहुंचाने का बिलकुल नहीं रहा। इसके विपरीत आचार्यश्री तुलसी ने सीताजी को 'महासती' के रूप में प्रस्तुत किया है और उनके शील और पवित्र चरित्र को आदर्श मानकर चलने की सलाह दी है।'

यह आश्चर्य की बात है कि 'अग्निपरीक्षा' यद्यपि १९६१ में प्रकाशित हुई थी और उसके प्रकाशक 'आत्माराम एंड संस' जैसी ख्यातनामा संस्था रही है, उसके कुछ अंशों को लेकर बवाल अभी खड़ा किया गया है। क्या यह समझा जाए कि कथित धर्मप्रेमी सज्जन पिछले ९ साल तक सुख की नींद सोते रहे और उन्होंने सीताजी के सम्मान की कोई परवाह नहीं की? मुझे संदेह है कि आचार्य तुलसी के विरुद्ध वर्तमान अभियान क्षुद्र राजनीतिक कारणों से प्रेरित है।'

धर्मयुग के संपादक डॉ. धर्मवीर भारती ने 'अग्निपरीक्षा' पर लगाए गए प्रतिबंध की साहित्यकार की दृष्टि से समीक्षा की–'अग्निपरीक्षा' पुस्तक के जिन अंशों पर आपत्ति उठाई गई है, उन अंशों को मैंने

देखा है और पुस्तक का विहंगावलोकन करने पर मुझे कवि की दृष्टि से कटुता, द्वेष और चरित्र-निर्माण में कोई कमी नहीं लगती। मुझे दुःख है कि इस पुस्तक को लेकर अनावश्यक बवाल खड़ा हुआ। इस बवाल के पीछे एक मुख्य कारण यह है कि सरकार केवल जन-आंदोलन की भाषा ही समझती है, उसे साहित्य को समझना चाहिए। वह दिन सौभाग्यपूर्ण होगा जब हमारे शासक अधिकारी साहित्य, कला और काव्य को समझने लगेंगे। आचार्यश्री तुलसी राष्ट्रीय एकता, चरित्र-निर्माण और सद्भाव-निर्माण का कार्य कर रहे हैं। दुःख है कि एक समाचार में हम पढ़ते हैं कि मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री उनका स्वागत करते हुए रायपुर में चातुर्मास के लिए जा रहे हैं और कुछ दिनों बाद दूसरे समाचार में पढ़ते हैं कि वे ही आचार्यश्री की पुस्तक पर प्रतिबंध लगाते हैं। राजनेताओं और अफसरशाही को सभी क्षेत्रों में बहुमान नहीं मिलना चाहिए। धार्मिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक संगठन ऐसी घटनाओं से सबक लेकर भविष्य में राज्याश्रय से बचते हुए जनाश्रय लें। मध्यप्रदेश सरकार ने सोचने और अभिव्यक्ति के बुनियादी अधिकारों पर प्रतिबंध लगाकर संविधान की भावना पर आघात किया है। इसलिए सभी प्रबुद्ध नागरिकों को 'अग्निपरीक्षा' के प्रतिबंध का जोरदार विरोध करना चाहिए। बौद्धिक और चिंतक अपनी स्थिति को मजबूत क्यों नहीं कर सकते? क्योंकि वे सरकार के मुखापेक्षी रहते हैं। इन चोट देने वाले हाथों को हम हमारे द्वारा ही मजबूत बनाए हुए हैं। हमें स्वतंत्र, मुक्त-चिन्तन सहन करने का अभ्यास करना चाहिए। कन्नड़ भाषा का एक नाटक दिल्ली के नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा में प्रस्तुत हुआ तो एक संप्रदाय ने विरोध किया। धर्मयुग में कहानी छपी तो धमकियां और विरोध-मत आए, सारिका में कहानी आई तो हल्ला मचा। क्योंकि हम मुक्त-चिंतन सहन नहीं कर पाते, केवल अपने धर्म, संप्रदाय और वर्ग के दायरे में सोचते हैं। हमें भी स्वतंत्र ढंग से सोचना चाहिए।'[1]

प्रतिबंध के विषय में ब्लिट्ज ने एक मार्मिक टिप्पणी की–'आचार्यश्री तुलसी हमारे युग के एक ऐसे आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक नेता हैं जिनके साए में वर्तमान काल के अन्य तथाकथित धार्मिक नेताओं की भांति न तो कोई राजनीतिक स्वार्थ ही पल रहे हैं और न ही घृणा और विघटन का तत्त्व। इसलिए यदि प्रतिक्रिया का कोप उन पर बरसा तो इसे वर्तमान भारत के संदर्भ में आश्चर्यजनक नहीं कहा जा सकता। 'अग्निपरीक्षा' तो एक बहाना भर है। एक निर्दोष कृति को लेकर इतना वितंडावाद कोई नई घटना नहीं है।

जब यह हो-हल्ला साहित्य तक आता है तब दुःख होता है और उस समय यह दुःख और अधिक बढ़ जाता है जब सरकार स्थिति का दृढ़ता से मुकाबला करने के बजाय घुटने टेक देती है।' (ब्लिट्ज ता. १७.१०.१९७० के अंक से।)

इस प्रकार हिन्दुस्तान के प्रबुद्ध विचारक, साहित्यकार, राजनेता और धर्मगुरुओं ने इस साम्प्रदायिक दुर्भावना से चलाए जाने वाले आंदोलन एवं सरकार द्वारा लगाए प्रतिबंध की कड़ी आलोचना की और पुस्तक को निर्दोष बतलाया। इस विषय की संपन्नता से पूर्व कुछ धर्मगुरुओं के विचार पढ़ लेना अप्रासंगिक नहीं होगा।

परम वैष्णव, वल्लभ संप्रदाय के वंशावतंस १००८ श्री गोस्वामी दीक्षितजी के सुपुत्र परमपूज्य गोस्वामी श्यामजी महाराज :

१. ९ अक्टूबर, मुंबई, दि इंडियन कमेटी फोर कल्चर में दिए गए भाषण से।

'आचार्य तुलसी रचित 'अग्निपरीक्षा' आद्योपान्त पढ़ जाने पर भी वर्तमान विवाद का कारण समझ में नहीं आ सका। श्रीराम अथवा सीता के प्रति कहीं भी कवि का दुर्भाव शब्द या तात्पर्य से प्रकट नहीं होता है। प्रत्युत सीताजी के प्रति तो निरतिशय हार्दिक आदर ही व्यक्त किया गया है। यद्यपि कथानक हमारी परम्परा में मान्य घटनाओं के विपरीत है परंतु जैन मतावलंबी से जैनेतर परम्पराओं से बंधने का आग्रह मूर्खतापूर्ण होगा।

श्रीराम के स्वरूप एवं चरित्र संबंधी जैन परम्परा के उल्लेख सर्वथा सामान्य हैं। किंतु इसके बावजूद जो बात बिलकुल साफ है वह यह है कि कवि ने उक्त काव्य में कहीं भी न तो भगवान् श्रीराम का और न जैन राजा राम का अपमान किया है। जहां तक सीता के अपमान का प्रश्न है तो यह आरोप मेरी दृष्टि में मूर्खतापूर्ण है या फिर अन्य किन्हीं कारणों से प्रेरित लगता है। इस कारण वैमनस्य को बढ़ाने से क्या लाभ होगा, यह समझ में नहीं आता।'

सनातन धर्म के प्रमुख प्रवक्ता महामहोपदेशक पं. ब्रजमोहन व्यास–'जिस ग्रंथ की रचना प्राचीन जैन रामायण के आधार पर की गई है, उसमें सनातन धर्म वालों को किसी तरह का हस्तक्षेप कोई अर्थ नहीं रखता। यदि आचार्यश्री तुलसी ने सनातन धर्म के संदर्भ में कुछ कहा होता तो हमारा विवाद खड़ा करना किसी हद तक उचित भी हो सकता है।'

इस प्रसंग में मुनि नगराजजी और मुनि सुशीलकुमारजी ने भी समस्या को सुलझाने में अपना योगदान दिया। उपाध्याय अमरमुनि ने जिस उदारता के साथ हाथ आगे बढ़ाया वह साम्प्रदायिक सद्भावना का एक निदर्शन है। उन्होंने एक पत्र में अपनी भावना व्यक्त की–

'आचार्यश्री तुलसी ने अभद्र आंदोलन का जिस दृढ़ता एवं गंभीरता से सामना किया है उस पर हम सभी श्रमणों को सात्त्विक गर्व है। भविष्य के इतिहास के लिए यह ऐसा उदाहरण है जो जैन परम्परा में गौरवानुभूति के साथ चिरस्मरणीय होगा। उक्त आंदोलन में किसी का भी हाथ रहा हो, उन्होंने नहीं देखा कि इसका क्या परिणाम आएगा? इस प्रकार के आंदोलन, जो सर्वथा असत्य के आधार पर खड़े होते हैं, भारतीय धर्म-परम्पराओं में कितनी कटुता पैदा करते हैं, जनमानस को कितना विकृत करते हैं, यह सर्वविदित है। अतीत में इसके परिणाम राष्ट्र भोग चुका है। यदि अब भी हम उचित विवेक जागृत नहीं कर सके और साम्प्रदायिक दुराग्रहों के तनाव में कुछ का कुछ करते रहे तो भविष्य का इतिहासकार हमें किन शब्दों में याद करेगा? सुना है 'अग्निपरीक्षा' को मध्यप्रदेश सरकार ने जब्त किया है। यह बहुत ही गलत हुआ है। इसके विरोध में क्या कुछ योजना तैयार की है, सूचित करें। हमारा जैसा सहयोग है, आपके साथ है।'

संघर्ष की वेदी पर

जबलपुर के उच्च न्यायालय ने 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक से प्रतिबंध हटा दिया। न्यायमूर्ति श्री पी.के. तारे ने अपने फैसले में कहा–'मेरी यह निश्चित राय है कि कथित उद्धरणों को संदर्भ से हटाकर नहीं पढ़ा जा सकता। उन्हें एक क्रम से पढ़ना होगा। उन उद्धरणों में उन घटनाओं का वर्णन है, जो संभवतः उस समय राजमहल के निवासियों के षड्यंत्रों के रूप में रही हैं। इन उद्धरणों में लेखक ने अपनी कोई राय नहीं दी है। अलबत्ता ७वें अध्याय में लेखक ने अपनी राय जाहिर की है। इस अध्याय का नाम ही 'अग्निपरीक्षा' है। इस अध्याय में लेखक ने सीता को जगदम्बा, महासती के रूप में रखकर उच्चतम श्रद्धांजलियां समर्पित की

हैं, जिन्होंने अत्यंत पुनीत नारी की शक्ति का प्रमाण दिया था। इसी तरह लेखक ने राम की भी उच्चतम प्रशंसा की है।'

न्यायमूर्ति तारे ने आगे कहा है–'अतः मैं यह मानने में असमर्थ हूं कि उन कविताओं में ऐसी कोई गहन आपत्तिजनक या उत्तेजक सामग्री है।'

यहां एक बात और उल्लेखनीय है कि हाईकोर्ट ने यद्यपि 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक के किसी अंश को आपत्तिजनक अर्थात् गैरकानूनी नहीं माना, परंतु न्यायमूर्ति सेन की यह व्यक्तिगत राय थी कि यदि कुछ शब्दों पर कोई क्षति नहीं होती हो तो क्यों न उन्हें हटा लिया जाए। 'अग्निपरीक्षा' का लेखक इस राय को कानूनी तौर पर मानने के लिए बाध्य नहीं था, परंतु एक न्यायमूर्ति की मूल्यवान् राय और जन-भावना का आदर करके आचार्यश्री तुलसी ने उन सब कविताओं को भी पुस्तक से निकाल दिया और पुस्तक का संशोधित संस्करण निकाला गया। नए संस्करण की भूमिका में आचार्यश्री तुलसी ने स्वयं लिखा है कि वे साधक पहले हैं और कवि बाद में। अतः कुछ अंशों के निकाल देने से ही विवाद समाप्त हो जाता है तो निकाल दिया गया, पर उसका कोई परिणाम नहीं आया।

एक प्रकरण समाप्त हो गया। साम्प्रदायिक कट्टरता जीवित है तो कोई भी प्रकरण समाप्त नहीं होता। रायपुर के दो वर्ष बाद 'अग्निपरीक्षा' के विरोध को फिर उभारा गया। उसका पहला दर्शन रतनगढ़ में मिला। 'भानी धोरे' पर स्थित हनुमानजी के मंदिर में ठहरने का कार्यक्रम था। आचार्यश्री ने साढ़े ग्यारह बजे रामलालजी गोलछा के कमरे से प्रस्थान किया। विरोधी लोग उस धोरे पर पहुंचे और बाबा भानीनाथ पर दबाव डाला। बाबा ने विवश होकर अपना गेट बंद कर दिया। इस स्थिति में वहां जाना संभव नहीं था। इसलिए आचार्यश्री शहर के बाहर सड़क के मुख्य किनारे एक पीपल के वृक्ष के नीचे अपने संघ के साथ विराज गए थे। साथ में सैकड़ों यात्री थे। कुछ पीपल की छाया में खड़े थे तो कुछ धूप में। वृक्ष भी छोटा-सा था। रतनगढ़ के अनेक लोग भी वहां पहुंच गए। कुछ लोग तमाशा देखने वाले थे। वे बीच-बीच में ताने कसते थे। कुछ लोग शिष्टता के साथ मौन खेद भी व्यक्त कर रहे थे।

सेवाभावी मुनिश्री चंपालालजी ने आचार्यश्री से निवेदन किया–'अब तो दुपहरी काटने के लिए पेड़ों की छाया ढूंढ़नी चाहिए और आप छाया की खोज में आगे पधारे। लगभग चार फर्लांग की दूरी पर एक विशाल वृक्ष की छाया में पधारने के लिए आचार्यश्री से निवेदन किया। आचार्यश्री ने संघ के साथ प्रस्थान किया। दिन के साढ़े बारह बजे थे। चिलचिलाती धूप थी। जमीन तवे की भांति तप रही थी। सड़क पर चलना कठिन था तो सुनहली रेत पर पैर रखना भी कम तपस्या नहीं थी। आचार्यश्री ने चलते-चलते कहा–'आज का विहार तो तपस्या ही है।'

आचार्यश्री वृक्ष के नीचे पधारे। यात्री लोग प्यास से व्याकुल हो रहे थे। पास में गोशाला थी। स्वयंसेवक लोग पानी लाने गए तो उन्हें कहा गया–'जैनों को पानी पिलाना पाप है। हम तुम्हें पानी नहीं दे सकते।' बाहर पानी की एक टोंटी लगी हुई थी, उसे भी बंद कर दिया गया। स्वयंसेवक लोग बिना पानी के ही लौट आए।

आचार्यश्री ने जैसे ही उस विशाल वृक्ष की छाया में अपना आसन जमाया, उपस्थित यात्रीगण आपके सामने बैठ गए। सहज ही एक सभा आयोजित हो गई। गुरुदेव ने सबको उद्‌बोधन देते हुए कहा–'समता

हमारा धर्म है। हमें हर स्थिति में अपनी शालीनता बनाए रखनी है।' बाल मुनि श्रेयांसकुमारजी ने वंदना पद का गायन किया। सामने बैठे सैकड़ों भाई-बहिन एक स्वर में उसे दुहराने लगे। सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमार भी वहां उपस्थित थे। उन्होंने बहुत आश्चर्य के साथ एक वाक्य में सारी स्थिति को समेटते हुए कहा–'मैं जिन्दगी में पहली बार ऐसा दृश्य देख रहा हूं। कल्पना नहीं कर सकता कि ऐसा हो सकता है।' कार्यक्रम चल रहा था। साध्वियों ने एक-दो भजन सुनाए। रतनगढ़ की बहिनों ने विदाई गीतिका प्रस्तुत की। आचार्यश्री ने कहा–'कहते हुए जबान नहीं चलती है। लिखते लेखनी की स्याही सूख जाती है। स्मरण करते दिमाग में द्वंद्व उत्पन्न हो जाता है। इस समय का दृश्य रामायणकालीन उस स्थिति की याद दिलाता है जब राक्षस लोग ऋषि-महर्षियों के आश्रमों में उत्पात मचाते थे।

हम देख रहे हैं कि दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह वर्ष के बच्चे विभिन्न टुकड़ियों में बंटकर इधर-उधर घूम रहे हैं। इनके साथ कुछेक युवक भी हैं। नारे लगा रहे हैं, गालियां दे रहे हैं, बहिनों पर ताने कस रहे हैं। अशिष्टता यहां तक पहुंच गई है कि बहिनों पर थूक भी देते हैं और पैरों से मिट्टी फेंक देते हैं।' हमारे स्वयंसेवकों को आचार्यश्री का सख्त आदेश था कि किसी भी परिस्थिति में वे न उत्तेजित हों और न भड़काने वाली कार्यवाहियों से विचलित हों।

अनेक पुलिस के जवान वहां बैठे थे, किंतु वे किसी दीवार पर चित्र की तरह थे। लोगों ने पानी की व्यवस्था शहर से टंकियां मंगवाकर पूरी की। जब घड़े लाकर रखे गए तो विरोधियों ने कहा–'ये घड़े श्मशान भूमि से उठाकर लाए गए हैं, अतः इन्हें फोड़ डालो।' सचमुच एक ओर भयंकर तूफानी विद्रोह था तो दूसरी ओर शांति का साम्राज्य था।

इस नारेबाजी और अशिष्टता के मध्य आचार्यश्री प्रसन्नचित्त बैठे आगम-कार्य कर रहे थे। उपस्थित यात्रीगण अपने-अपने स्वाध्याय और धर्म-ध्यान में लगे हुए थे। इतने में ही पत्थरबाजी शुरू हुई और एक पत्थर वृक्ष से टकराकर मुनिश्री गणेशमलजी के सिर में आकर लगा। संतों ने तत्काल चोट पर पानी की पट्टी बांध दी। लगभग पौने चार बजे आचार्यश्री ने अगली मंजिल के लिए विहार कर दिया।

२० जुलाई, १९७३ को आचार्यश्री चूरू के बाहर बाल-विहार में ठहरे। वहां काले झंडों के साथ विरोध-प्रदर्शन किया गया। २१ जुलाई को विरोधी लोगों ने पथराव किया। सारा वातावरण साम्प्रदायिक घृणा और विक्षोभ से भर गया। १५ जुलाई को पुरी के शंकाराचार्य चूरू आए। उन्होंने साम्प्रदायिक उत्तेजना फैलाई। पूरे चूरू जिले में विद्रोह का वातावरण पैदा हो गया। समझौते के कई प्रयत्न हुए पर कोई भी प्रयत्न सफलता तक नहीं पहुंच सका। शंकराचार्य की ओर से एक प्रस्ताव आया–'यदि आचार्यश्री तुलसी पांच वर्ष की अवधि में सनातन धर्म के आधार पर राम की बहु-पत्नियां सिद्ध कर दें तो 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक पर मुझे कोई आपत्ति नहीं है। यदि यह सिद्ध नहीं कर सकेंगे तो 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक बंद रहेगी।' आचार्यश्री तुलसी ने इस प्रस्ताव को मान्य करते हुए दिनांक ३१.७.७२ को एक बजे से 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक के विक्रय, वितरण एवं प्रकाशन को बंद करने का निर्देश दिया। इस प्रकार आचार्यश्री तुलसी ने स्वीकृत शर्तों के आधार पर अपनी ओर से क्रियान्विति की पहल की।

आचार्यश्री तुलसी की इस घोषणा का न सिर्फ बौद्धिक जगत् में वरन् राजकीय स्तर पर भी स्वागत किया गया। स्थानीय शासनतंत्र के मुख्य अधिकारी चूरू जिलाधीश ने इस घोषणा को शुभ बताते हुए जनता

के नाम एक अपील प्रसारित की कि आचार्यश्री तुलसी ने लोकदृष्टि को समक्ष रखते हुए 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक के प्रकाशन एवं विक्रय को जब पांच वर्ष के लिए बंद करने की पहल की है तो उसके बाद 'अग्निपरीक्षा' विरोधी अभियान तत्काल समाप्त कर दिया जाना चाहिए। आचार्यश्री तुलसी के इस कदम के पश्चात् विरोध का कोई आधार ही नहीं रह जाता है।

चूरू जिलाधीश की इस अपील के बावज़ूद भी 'अग्निपरीक्षा' विरोधी आंदोलनकारियों की अपनी विरोधी हलचलें जारी रहीं। इन्हीं दिनों आचार्यश्री ने जैन समाज को लक्ष्य कर एक संदेश दिया। वह संदेश आज भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। साम्प्रदायिक कट्टरता की आने वाली चुनौती को एकता के द्वारा ही झेला जा सकता है। यह उसका मर्म-सूत्र है। वह संदेश यह है–

'मेरे द्वारा लिखित 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक को माध्यम बनाकर चूरू (राज.) में विवाद खड़ा किया गया। प्रारंभ में पुस्तक के कुछेक अंशों के प्रति जनता को उभारा गया और घर-घर में मेरे प्रति घृणा फैलाने का प्रयास हुआ। किंतु आज वह विवाद पुस्तक का न रहकर जैन जाति तक पहुंच गया है। कुछेक कट्टर साम्प्रदायिक लोगों ने इस प्रश्न को जातीयता पर लाकर सनातनियों और जैनों में विरोध उत्पन्न कर दिया है।

इस समस्या का समाधान ढूंढ़ने में हम प्रयत्नशील हैं। किंतु विरोधी वातावरण से उत्पन्न परिस्थितियों का सामना करने व जैनों के प्रति फैलाई जाने वाली घृणा को मिटाने के लिए जैन-बंधु अपने-अपने ढंग से प्रयास करें। कठिन से कठिन परिस्थिति का सामना करने के लिए अपने मनोबल को बनाए रखें और डटकर उसका मुकाबला करें।

राम और सीता के नाम से मेरे प्रति जो घृणा फैलाई जा रही है वह सर्वथा निराधार और असत्य है। घृणा का फैलाव शीघ्रता से होता है किंतु उसका निराकरण करने में समय लगता है।

मैं सभी जैन बंधुओं से अनुरोध करता हूं कि वे अपने मनमुटावों को भूलकर इस विकट स्थिति की सत्यता और गंभीरता को समझें और सामूहिक रूप से शक्तिशाली कदम उठाएं। राम और सीता को माध्यम बनाकर जो जातीय विष फैलाया जा रहा है, उसको रोकने का भरसक प्रयत्न करें। क्योंकि यह फैलाव किसी के लिए हितकर नहीं है।

जैन अल्पसंख्या में हैं, किंतु इसका अर्थ यह नहीं होता कि अल्पसंख्यकों को अपनी परम्परा, मान्यता और धर्म का पालन करने का अधिकार ही नहीं है। आज हम सब जैन एक होकर यदि इस स्थिति का मुकाबला नहीं करेंगे तो संभव है अस्तित्व को ही खतरा उत्पन्न हो जाए।'

आर्य समाज के नेता सांसद श्री प्रकाशवीर शास्त्री ने एक लम्बा वक्तव्य प्रस्तुत किया। उसका एक अनुच्छेद है–'कुछ दिन पहले जब मध्यप्रदेश में एक छोटा-सा आंदोलन हुआ था आचार्यश्री के नाम से और आचार्यश्री के विरुद्ध, तो मुझे बड़ा हार्दिक कष्ट हुआ था। कष्ट इस बात का हुआ कि ये सब विचारधाराएं हैं, मार्ग हैं, एक लक्ष्य तक पहुंचने के लिए, इससे आपत्ति क्या है? हर एक को अपने विचार देने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। किसी को वे विचार अच्छे लगें तो अनुकरण करे। अगर किसी को अच्छा न लगे तो वह अनुकरण न करे। परंतु इसको लेकर आपस में हिंसा, आपस में तनाव और विरोध, यह वातावरण देश में क्यों बन रहा है? रायपुर की घटना इतनी बढ़ी कि भयानक हिंसा का रूप ले लिया। लेकिन सौभाग्य से वह आंदोलन किसी प्रकार दब गया। मैंने सोचा–चलो वह चीज दब गई। अब कभी इस प्रकार की भावना

उभरेगी नहीं। छोटी-छोटी बातों में हम आपस में इतने दूर चले जाते हैं कि आज शायद हम उस भविष्य की कल्पना न कर सकें, लेकिन आगे आने वाला इतिहास यदि उसको कोई कलम से लिखेगा तो दोषी व्यक्तियों को क्षमा नहीं कर सकेगा कि जिसने समाज को दो टुकड़ों में बांटने का प्रयत्न किया।'

स्थानकवासी समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय अमरमुनि ने शंकराचार्य को एक पत्र लिखा। उसमें उन्होंने वातावरण को शांत बनाने का अनुरोध किया। उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं–

'महामहिम जगद्गुरु शंकराचार्य श्री निरंजनदेव तीर्थजी! सादर यथायोग्य।

आपश्री को मैं जानता हूं, आप मुझे भी जानते हों या नहीं भी जानते हों, कोई बात नहीं। आपका परोक्ष परिचय तो मुझे काफी गहरा है और व्यापक भी। प्रत्यक्ष परिचय भी है अत्यल्प-सा। बहुत वर्षों पहले, जब आप पं. चंद्रशेखरजी शास्त्री के नाम से रामराज्य परिषद् में थे तब एक बार दिल्ली में मिले थे किसी पत्रकार परिषद् में।

परिचय की बात पहले इसलिए की है कि आपसे कुछ विचार-चर्चा करनी है, निकट से। वैसे तो हम साधुओं का परिचय क्या और अपरिचय क्या। सदा ही सबके लिए द्वार खुला है हमारा। फिर भी व्यवहार-दृष्टि से कुछ परिचय भी निकल आए तो अच्छा ही है, सोने में सुगन्ध है।

आचार्यश्री तुलसी जैनों की एक तेरापंथ शाखा के आचार्य हैं। अच्छे मनीषी हैं, प्रसिद्धि भी उनकी काफी है। अणुव्रत आंदोलन के नाम से एक ख्यातनाम नैतिक आंदोलन के आविष्कारक हैं वे, आप स्वयं उनसे परिचित हैं। उन्होंने बहुत वर्षों पहले कभी प्राचीन जैन रामायण पर आधारित एक काव्य लिखा था–'अग्निपरीक्षा'। काव्य सुन्दर है। उसमें यत्र-तत्र श्रद्धा-स्निग्ध हृदय से माता सीता का गुणगान किया है। उनके उदात्त एवं निर्मल चरित्र को वह अभिव्यक्ति दी है कि सहसा आचार्यश्री के प्रति साधुवाद मुखरित हो उठता है। तेरापंथ परम्परा से हमारे काफी गहरे मतभेद रहे हैं। उनको लेकर हम संघर्ष में भी उतरे हैं, जिसे शास्त्रार्थ या वाद या और कुछ कहा जाता है पर वितंडावाद नहीं। जैसा कि आप जानते हैं, शाखाभेद को लेकर कुछ कटुता भी है इधर-उधर के लोगों में। परंतु अच्छाई को तो अच्छाई कहना ही चाहिए। अतः मैं कहता हूं कि पुस्तक अच्छी है। उसमें माता सीता के लिए एक भी अपशब्द आचार्यश्री की तरफ का नहीं है। उनकी ओर से तो स्तुति है। सीताजी जैन इतिहास की १६ 'महासती' कही जाने वाली पवित्र माताओं में एक महातिमान दिव्य माता जो हैं। परंतु 'अग्निपरीक्षा' के कुछ शब्दों को लेकर, जो धोबी आदि के द्वारा सीताजी पर लांछन लगाते समय कहे गए थे, वस्तुतः तत्कालीन भ्रांत जनता के हैं, आचार्यश्री के नहीं हैं। कुछ राजनीतिक कारणों की छाया में विवाद उठ खड़ा हुआ था मध्यप्रदेश के रायपुर नगर में। तब क्या-क्या हुआ, यह आप जानते ही हैं। आप और मैं क्या, काफी दूर-दूर तक की जनता जानती है। वह हुआ, जो नहीं होना चाहिए था। और वह भी धर्म के नाम पर तो बिलकुल भी नहीं। खैर, वह आंदोलन आखिर शांत हुआ। जबलपुर हाईकोर्ट में विवाद पहुंचा तो विद्वान् न्यायाधीशों ने भी पुस्तक को दोषमुक्त घोषित कर दिया था। बात आई-गई हो गई। फिर से जैन-अजैन समाज में परस्पर सद्भावना का वातावरण स्थापित होने लगा था, जिसकी सदैव आवश्यकता रही है। वर्तमान में तो सविशेष ही।

अंतर्मन कहना नहीं चाहता, पर कहना ही होगा। चूरू (राज.) में फिर उसी दबी आग को भड़काया गया है और भड़काने में नाम लिया जा रहा है आपका। सच तो नहीं लगता, पर जब आपकी ओर से कोई

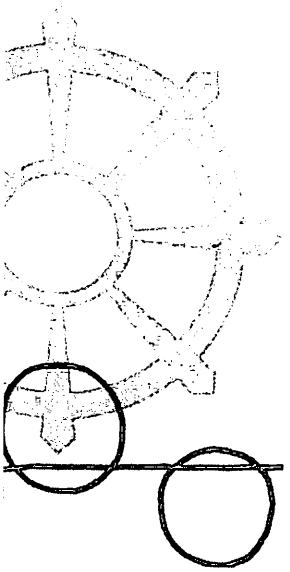

सार्वजनिक स्पष्टीकरण न हो जाए, तब तक देश के जाने-माने समाचार-पत्रों के आधार पर सच मानना ही होगा। मैं चाहता हूं हृदय से, यह बात बिलकुल झूठी निकले। पर यह सब तो अब आप पर निर्भर है। समाचार-पत्र पढ़े हैं, व्यक्तिगत खबरें भी मिली हैं। वहां जैन समाज के साथ बहुत ही अभद्र व्यवहार हुआ है। आगजनी, लूटपाट, मारपीट हुई है। मकानों-दुकानों को आग लगा देने से लाखों की संपत्ति स्वाहा हो चुकी है। भद्र महिलाओं के साथ भी आपत्तिजनक आचरण किया गया है। और तो क्या, एक जैन साध्वी का भी पत्थरों से सिर फोड़ दिया है। क्या यह सीता के उन भक्तों के द्वारा एक सीता का अपमान नहीं है? जिनका धर्म और दर्शन मातृ-जाति की हर स्त्री में सीता के दर्शन की बात कहता है। और ये भक्त आपके अनुयायी कहे जाते हैं, आपसे प्रेरित भी हैं। मुझे कुछ भी पीड़ा नहीं होती, यदि ऐसा कोई और वर्ग करता। पीड़ा इस बात की है कि ये सब सनातनधर्मी हिन्दू हैं, आपके अनुयायी हैं और यह व्यवहार भी उन जैनों के साथ कर रहे हैं जो हिन्दू समाज के ही अंग हैं, जिनमें परस्पर बहुत ही निकटतम रोटी-बेटी का व्यवहार है और जो हजारों वर्षों से साथ-साथ रहते चले आए हैं भद्र पड़ोसी बंधु के रूप में। आप गंभीरता से विचार कीजिए, क्या यह सब ठीक है? आप क्यों नहीं सचाई को सार्वजनिक रूप में उजागर कर देते कि पुस्तक में आचार्यश्री ने अपनी ओर से माता सीता का मुक्तकंठ से गुणगान किया है। उनकी ओर से सीताजी के लिए एक भी अपशब्द नहीं है। जो है, वह सब उस जनता की ओर से है जो सीताजी के निष्कासन का हेतु है। और अजैन-जैन सभी रामायणों में थोड़े बहुत हेरफेर के साथ उपलब्ध है। अब 'अग्निपरीक्षा' के दूसरे संस्करण में तो वह सब अंश भी परिमार्जित कर दिया गया है। मुझे आश्चर्य है, आप क्यों नहीं ऐसा उद्घोषित करते हैं?'

हिन्दू समाज के अनेक विद्वानों ने भी सद्भावनापूर्ण वातावरण बनाने का प्रयत्न किया पर कोई परिणाम नहीं निकला। विरोधी वातावरण उग्र होता ही गया। प्रभुदयाल डाबड़ीवाला के साथ जयप्रकाश नारायण चूरू आए। उन्होंने आचार्यश्री से बातचीत की। रात्रिकालीन सार्वजनिक सभा में उन्होंने लम्बा वक्तव्य दिया। उन्होंने कहा–

'मेरा स्वास्थ्य इस स्थिति में नहीं था कि मैं आपके बीच आ सकूं। मगर जो स्थितियां यहां पैदा हुईं, उससे बाध्य होकर मेरा यहां आना हुआ। आचार्यश्री के प्रति मेरे हृदय में जो भावनाएं हैं, उन्हें व्यक्त करने आया हूं।

यहां भाई-भाई के बीच यह विवाद खड़ा हुआ, हिंसा का वातावरण बना, उसने मुझे यहां खींचा। भाई प्रभुदयालजी कल ही मेरे पास आए। उन्होंने कहा–'आपके लिए एक यह कार्य करना आवश्यक है।' मैंने कहा–'मैं हृदय-रोगी हूं, उस रोग का कोई ठिकाना नहीं है। अपने दो परम मित्र हृदय रोग से हाल ही में चल बसे, एक तो भाई विक्रम साराभाई, दूसरे थे भाई कमलनयन बजाज। डॉक्टरों की सख्त हिदायत है कि इस समय में सफर बंद करूं तो सबसे अच्छा। पर मेरे जैसे देश के सेवक के लिए यह कैसे संभव हो सकता है?

मित्रो! आज आप सबने, हिन्दू मित्रों ने तो नहीं, बल्कि बाकी जो जैन भाई-बहिन हैं, उन्होंने दो बड़े उद्बोधक संदेश सुने। अच्छा होता कि हिन्दू भाई भी उपस्थित होते। सुबह आचार्यश्री एवं हिन्दी के प्रसिद्ध ओजस्वी वक्ता श्री प्रकाशवीर शास्त्री का भाषण आपने भी सुना होता।

मैं आपके बीच हिन्दू के नाते नहीं आया हूं। अपने व्यक्तिगत जीवन में जो हिन्दू धर्म समझता हूं उसके अनेक रूप हैं। उनका पालन करता हूं। मैं उस माने में नहीं आया हूं। उस रूप में नहीं आया हूं। मैं एक भारतीय के रूप में आया हूं। भारतीय राष्ट्र, जिसकी स्वतंत्रता का मैं सिपाही रहा हूं। आजादी के ये २५ वर्ष गुजरे हैं, देश रजत जयंती मना रहा है, पर किस प्रकार चूरू के लोग मना रहे हैं, अपने आप से पूछिए।

अब मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि इसी प्रकार से राष्ट्र की एकता का निर्माण होगा? मैंने जो कुछ भारतीय संस्कृति का गौरव समझा है वह भारत में है, वह आप सबके सामने है। मैं नहीं जानता हूं कि ईसाई देशों में, चाहे वो आधुनिक हों, पुराने हों, इस्लामी देशों में इस प्रकार का विचार-स्वातंत्र्य नहीं है, जो सबके सामने है।

आप पढ़ लीजिए प्राचीन ग्रंथों को, आप उनकी भाषाओं को पढ़ लीजिए। बड़े-बड़े आचार्यों ने एक-दूसरे पर दृढ़ प्रहार किए हैं, गहरे प्रहार किए हैं। रामानुजाचार्य ने शंकराचार्य पर किए हैं। आज ऐसी कोई बात कही जाए तो न जाने आप खून की नदियां बहा दें। आप भारतीय हैं? भारतीय संस्कृति को भूल चुके हैं। भारतीय संस्कृति को अभी तक जाना नहीं है। स्मरण नहीं है जो एक चीज उन्होंने पूर्वजों से ली थी, वह है विचार-स्वातंत्र्य।

मैं अपने अंतर्मन से सोच रहा था कि मैं आचार्यश्री के सामने एक ऐसा प्रस्ताव रखूं जिस पर वे गौर करें, अनुग्रह करें, यह उनकी कृपा होगी। इस बात को मानने के लिए महानता चाहिए, विशालता चाहिए, हृदय की उदारता चाहिए, जो अहिंसा की भावना चाहिए तो वह आचार्यश्री में है। इसलिए हिम्मत कर रहा हूं।

आचार्यश्री से एक नम्र निवेदन करना चाहता हूं कि जो परिस्थिति बनी है, २५ वर्षों से आप अहिंसा धर्म के प्रचार में लगे हुए हैं। अणुव्रत का आपने इतना महान् आंदोलन चलाया है, आपने सभी साधु-साध्वियों को इसमें झोंका, वह सारे समाज के लिए है। सर्वोदय का विचार, अणुव्रत का विचार एक है। महाव्रत का पालन ये ही कर सकते हैं, किन्तु अणुव्रत तो हम सब ले सकते हैं। इसमें मैंने कभी किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता की झलक नहीं देखी है और उस अणुव्रत आंदोलन में हम सारे लोग हैं, हिन्दू समाज के लोग भी हैं।

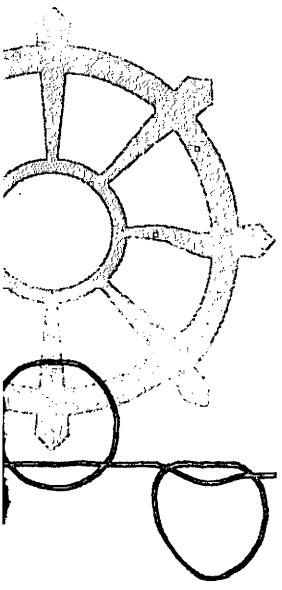

मित्रो! अपनी तरफ से देश के नागरिक, सेवक और अहिंसा के प्रेमी के नाते, भारतीय के नाते मैं आपके चरणों में प्रार्थना करता हूं, निवेदन करता हूं, आपने जिस भावना से पुस्तक लिखी इसमें मेरा कोई संदेह नहीं, वह भावना शुद्ध है, लेकिन इस पुस्तक से जो व्याघात पैदा किया गया, रायपुर में हुआ, फिर यहां उठा, यह अच्छा नहीं।

आपका मुख्य काम है अहिंसा धर्म का प्रचार करना, अणुव्रत आंदोलन चलाना, समाज को बदलना, अच्छे मनुष्य बनाना, अच्छे संस्कार भरना, अच्छे भारतीय बनाना। उस काम में जो बाधा उपस्थित हुई है, इस वातावरण को सद्भावनापूर्ण वातावरण बनाने के लिए मेरा निवेदन है कि आप मुक्तकंठ से इस पुस्तक को वापस ले लें। यह घोषणा कर दें कि इसकी बिक्री, इसका वितरण बंद हो जाएगा, नया संस्करण भी नहीं होगा।

आप पुस्तक वापस किसलिए लें? मानव मानव एक हो, आपस में एकता का भाव फैले, धर्म का प्रचार हो। आपका अहिंसा महाव्रत पूर्ण हो। मैं मानता हूं, इसमें आपकी महानता होगी।

आपके कोई अनुयायी, कोई शिष्य, कोई भक्त ऐसा मानें कि जयप्रकाश ने यहां आकर आचार्यश्री को झुकने के लिए कहा–'यह झुकना नहीं, यह तो महानता है। इसलिए बार-बार निवेदन करता हूं।'

आचार्यश्री ने जयप्रकाशजी के अनुरोध पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा–'अहिंसा मेरा धर्म है। मेरा विश्वास है मैंने इस अहिंसा धर्म को निभाने का प्रयत्न किया है। आप अगर एक कदम आएं तो हम आठ कदम आने को तैयार हैं। आप यदि कड़े हों तो हम भी कठोर हैं। यह सब एक प्रकार की नीति हो सकती है। इसे मैं अनीति तो इसलिए नहीं कहता क्योंकि वह राजनीति में चलती है। किंतु अहिंसा का मार्ग इससे भिन्न है। इस बात को मैं बराबर सोचता रहा। जयप्रकाश नारायण जैसे व्यक्तियों का परामर्श मुझे मिलता रहा। वर्तमान स्थिति में दो विकल्प मेरे सामने थे–एक तो यह था कि तपस्या प्रारंभ कर दी जाए ताकि उसमें से कोई मार्ग निकले। दूसरा विचार आया कि एक ऐसा कार्यक्रम बनाया जाए जिसमें सब भाइयों के दिलों को जीता जाए। दिल को जीतने से ही किसी को जीता जा सकता है। तलवार या शस्त्र से कभी किसी को जीता नहीं जा सकता।

जब मैंने चूरू में प्रवेश किया, मैंने साधुओं से कहा–'इस बार मुझे ऐसा काम करना है जो इस झंझट को सदा के लिए समाप्त कर दे। यह मेरा संकल्प था, दृढ़ संकल्प था। पर आप जानते हैं कि संकल्प-सिद्धि के लिए समय और परिस्थिति का परिपाक अपेक्षित होता है। अतः इसके लिए प्रयास किया गया। मैं नहीं चाहता कि यह प्रश्न राजनयिकों के हाथों में जाए। मैं आजकल के राजनयिकों से बहुत घबराता हूं, क्योंकि वे अपने राजनीतिक लाभ के लिए स्थिति को कभी-कभी अनपेक्षित रूप से भी उलझा देते हैं। आज ऐसा सुन्दर अवसर है कि जो व्यक्ति (जयप्रकाश नारायण) हमारे सामने बैठे हैं, राजनीति में निष्णात हैं, इसमें कोई संदेह की बात नहीं है। किंतु निष्णात होते हुए भी किसी प्रकार की दलगत राजनीति में लिप्त नहीं हैं। उनका भी यही अनुरोध है कि किसी प्रकार इस झंझट को, जो मानव धर्म व अणुव्रत के प्रसार में बाधक है, समाप्त किया जाए।

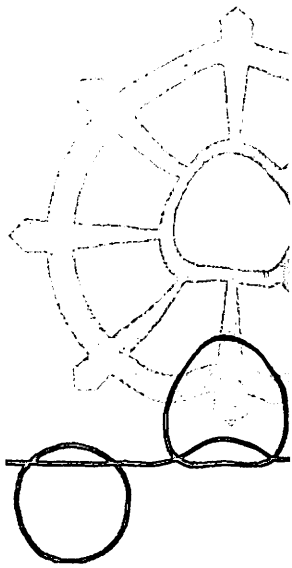

धर्मचक्र का प्रवर्तन

मैं किसी दूसरे के विचारों पर आघात करना नहीं चाहता तो अपने विचारों पर आघात सहना भी नहीं चाहता। इतना सब कुछ कर देने पर भी 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक को एक निमित्त तो बना ही लिया गया। मैं सोचता हूं कि अहिंसा और सद्भावना के विकास के लिए उस निमित्त को भी क्यों रखा जाए? 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक मेरा कोई धर्मशास्त्र नहीं है। वह एक कृति है। प्राचीन जैन रामायणों के आधार पर लिखा हुआ एक ग्रंथ है। अतः मैं अपने अंतःकरण की शुद्ध भावना से आप सब लोगों के मन को शांत करता हुआ घोषणा करता हूं–

पिछले २५ वर्षों से अहिंसा एवं सर्व-धर्म सद्भाव के विकास का मेरा मिशन रहा है। देशभर में इसके प्रचार के लिए मैं और मेरे शिष्य साधु-साध्वियां सतत प्रयत्नशील हैं। मेरी पुस्तक को निमित्त बनाकर सांप्रदायिक घृणा व हिंसा फैले, इसका मुझे दुःख है।

अतः मैं अहिंसा व सद्भावना की दृष्टि से इस घोषणा के द्वारा 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक के प्रकाशन से संबंधित संस्थानों को सूचित करता हूं कि उक्त पुस्तक का वितरण, विक्रय एवं प्रकाशन सदा के लिए बंद रहेगा।

मैंने अपनी ओर से आज इस विवाद को सदा के लिए समाप्त कर दिया है। अब यह आप पर निर्भर करता है कि आप अपने दिलों को टटोलें, मनों को देखें कि क्या-क्या गलत काम किया है। यदि आपको

कोई गलत लगता हो अथवा गलती की हो तो प्रायश्चित्त करें। गलत न लगता हो तो इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है। यह घोषणा करके मैं अपने आपको हलका, शांत, आनंदित और प्रसन्न महसूस करता हूं।'[1]

विरोधी पक्ष ने आचार्यश्री की उक्त घोषणा को अपनी विजय माना और वह विजयोत्सव मनाने की तैयारी करने लगा। इस कार्य में वे लोग संलग्न थे जो विवाद को माध्यम बनाकर अपना नेतृत्व कायम करना चाहते थे। किंतु समझदार लोगों ने इस घोषणा का बहुत स्वागत किया। विश्व हिन्दू परिषद् के महामंत्री श्री शिवशंकर आप्टे ने आचार्यश्री की घोषणा को सद्भावपूर्ण वातावरण के निर्माण का उपक्रम बताया। उन्होंने कहा–'चूरू की घटनाओं से काम-कोटि पीठ और शृंगेरी पीठ के शंकराचार्य बहुत चिंतित हैं। उनके आदेश-निर्देश से मैं यहां आया हूं। विक्षोभ चूरू में हुआ और क्लेश हुआ दक्षिण भारत में बैठे शंकराचार्यों के अंतःकरण में।

मुझे यहां आकर प्रसन्नता हुई। आचार्यश्री अपनी 'अग्निपरीक्षा' में शत प्रतिशत उत्तीर्ण हो गए हैं। अब अग्निपरीक्षा हमारे दूसरे धर्म-गुरुओं की है। मेरा विश्वास है आचार्यश्री की इस उदार घोषणा से सारे समाज में सद्भाव का विकास होगा।'

कर्नाटक के तत्कालीन राज्यपाल मोहनलाल सुखाड़िया ने अणुव्रत गोष्ठी में बोलते हुए कहा– 'भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी अच्छाई है धर्म-निरपेक्षता। यहां पर सभी धर्मों का प्रचार एवं प्रसार करने की पूरी स्वतंत्रता है। यही इस देश की विभिन्नता में एकता का नमूना है।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

आचार्य तुलसी कृत 'अग्निपरीक्षा' को लेकर रायपुर एवं राजस्थान में हिंसात्मक वातावरण बना। ऐसे अवसर पर आचार्यश्री तुलसी ने जबलपुर उच्च न्यायालय द्वारा पुस्तक को विशुद्ध घोषित करने एवं बड़े-बड़े विद्वानों के समर्थन के बावजूद उसे वापस लेकर अहिंसात्मक वातावरण बनाने का एक सुंदर प्रयास किया है। यह उनके बड़प्पन की एक मिसाल है।

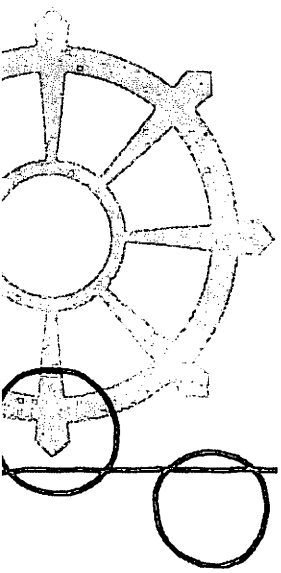

२३ अगस्त को प्रसिद्ध समाजसेवी श्री प्रभुदयाल डाबड़ीवाल ने कार्यकर्ताओं के साथ प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी से भेंट की एवं उन्हें चूरू के समस्त घटनाक्रम से अवगत कराया। श्रीमती गांधी ने आचार्यप्रवर के इस उदार एवं समयोचित निर्णय की सराहना करते हुए कहा–'इस कदम के लिए मैं आचार्यश्री को धन्यवाद देती हूं।'

केन्द्रीय गृहमंत्री श्री कृष्णचंद्र पंत ने आचार्यप्रवर को एक पत्र भेजकर कहा कि उनके उदार निर्णय से स्थिति के सामान्य बनने में बहुत सहायता मिली है। इस निर्णय के लिए श्री पंत ने आचार्यप्रवर को बधाई दी।

राजस्थान पत्रिका के संपादक श्री कर्पूरचंद कुलिश ने पत्रिका में एक लेख प्रकाशित किया। उसमें उन्होंने कुछ प्रश्न उपस्थित किए। वे प्रश्न वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी महत्त्वपूर्ण हैं। इसलिए वह अविकल रूप से पठनीय है–

आचार्य तुलसी ने अपनी पुस्तक 'अग्निपरीक्षा' की बिक्री या उसका वितरण बंद करने की घोषणा कर दी। इनके विरोधियों ने अपना आंदोलन वापस ले लिया। मुख्यमंत्री बरकतुल्ला खां ने सोचा कि एक

१. चूरू (राज.) १६ अगस्त, १९७२।

सिरदर्द से छुटकारा मिल गया और उन्होंने दोनों पक्षों को बधाई के संदेश दिए। आचार्यश्री तुलसी के अनुयायी चंदनमलजी बैद ने राहत की सांस ली, क्योंकि उनका मंत्रिमंडल में होना बरकत साहब के लिए भी दुविधा का एक कारण बना हुआ था और बैद के विरोधियों को नहीं सुहा रहा था। आचार्यश्री तुलसी के भक्तों ने उनके फैसलों को अहिंसा का बहुत ऊंचा आदर्श माना है और सनातन धर्म के नाम पर आंदोलन करने वालों ने इसे अपनी जीत बताया है। कुल मिलाकर मामला घरेलू-सा बन गया और घरेलू तरीके से ही उसे निबटा दिया गया है।

आचार्य तुलसी के फैसले में यह बड़प्पन तो झलकता है कि उन्होंने अपनी पुस्तक को मान-मर्यादा का प्रश्न नहीं बनाया और चूरू के हालात को ज्यादा बिगड़ने से या वहां की हवा को बाहर फैलने से बचा लिया। सरकार चलाने वालों को राहत की सांस जरूर मिली है, क्योंकि इनके सामने इससे ज्यादा अहम सवाल हैं जो जवाब चाहते हैं।

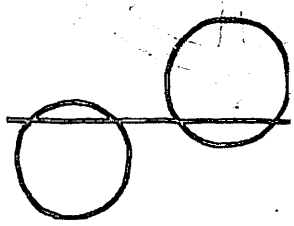

जो भी हुआ अच्छा हुआ, यह कहकर एक-बारगी हम सारे घटना चक्र पर पटाक्षेप कर सकते हैं। परंतु वे मुद्दे जहां के तहां कायम हैं जो विवाद की नींव में ही हैं। आचार्य तुलसी ने अहिंसा के महत्त्व को मान लिया और जनता के सामने एक अच्छा आदर्श पेश कर दिया। उन्होंने महसूस किया कि 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक के वितरण को जारी रखने पर अशांति अधिक फैलेगी, अतः यह ठीक समझा कि अशांति का खतरा बढ़ाने के बजाय पुस्तक को वितरण से हटा लिया जाए। परंतु मैं ऐसा मानता हूं कि उनके इस कदम ने ज्यादा बड़े खतरे पैदा कर दिए। अहिंसा एक उदात्त गुण है परन्तु सत्य उससे भी बड़ा गुण है। अहिंसा की इस प्रतिष्ठा में मैं सत्य की स्पष्ट बलि देखता हूं। सत्याग्रह के स्थान पर दुराग्रह की जीत देखता हूं। 'अग्निपरीक्षा' विवाद की जिस रूप में समाप्ति हुई है, उससे यह खतरा पैदा हो गया है कि हमारे देश में अल्पसंख्यक संप्रदाय अपनी सामान्य धार्मिक गतिविधि निर्विघ्न रूप से नहीं चला सकते। भारतवासियों का यह रवैया कभी नहीं रहा, किंतु 'अग्निपरीक्षा' विवाद ने इस दुर्वृत्ति को उभार कर सामने रख दिया है। चूरू के उपद्रव से यूरोप में चले रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टैन्ट चर्च के हिंसात्मक उपद्रव याद आने लगे हैं। एक संप्रदाय की बात दूसरे धर्म वाले सुनने को तैयार नहीं। चूरू में आचार्य तुलसी का चातुर्मास मुश्किल में पड़ता नजर आया। यह तो समझ में आता है कि एक पुस्तक के किसी अंश पर दूसरों को आपत्ति हो और उसके विरुद्ध विचार करें, प्रचार करें, तर्क और शास्त्रार्थ करें। समाचार-पत्रों में लिखें, पुस्तकें प्रकाशित करें और जनमत का निर्माण करें। परंतु यह कैसे बर्दाश्त किया जा सकता है कि पुस्तक का विरोध करने के लिए उपद्रव करें। चूरू में यही हुआ और योजनाबद्ध ढंग से हुआ। इसके विपरीत जब तमिलनाडु में राम के पुतले और रामायण के संस्करण जलाए गए तो पुरी शंकराचार्य और सनातनधर्मी चुपचाप बैठे देखते रहे। इसी से मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि चूरू में जो कुछ हुआ सनातन धर्म के नाम पर हुआ, उसमें एक अल्पसंख्यक संप्रदाय पर आतंक जमाकर उसकी धार्मिक मान्यताओं को आघात पहुंचाने के लिए किया गया और साम्प्रदायिक वैमनस्य के कारण किया गया। यदि पुस्तक पर सनातनधर्मियों को आपत्ति होती तो उनके आरोपों के आधार पर देश के कई महान् ग्रंथों पर पाबंदी लग चुकी होती, जिन में वाल्मीकि रामायण से लेकर महर्षि दयानंद के सत्यार्थप्रकाश तक शामिल होते। शायद हिन्दुओं के अठारह पुराण भी उनके कोपभाजन का शिकार होने से नहीं बचते जिनमें आज के नैतिकता से च्युत समझे जाने वाले अनेक प्रसंग भरे पड़े हैं। अनीश्वरवाद के प्रचारक चार्वाक और वेदों के भाष्यकार महीधर को जीवित जला दिया गया होता यदि हिन्दू धर्म पुरी के शंकराचार्य की कसौटी पर कसा जाता।

'अग्निपरीक्षा' पुस्तक को लेकर व्यापक विवाद छिड़ा हुआ है। हमारे यहां हर दिन दर्जनों पत्र इस विवाद के संबंध में आ रहे हैं। हर पहलू पर राजस्थान पत्रिका में पाठकों के लिखे हुए पत्र छप रहे हैं। पत्रों के साथ-साथ निबंध भी लिखे जा सकते हैं वे भी छप सकते हैं। यदि स्थानाभाव हो तो विशेषांक छप सकते हैं और पुस्तकें छप सकती हैं। परंतु उपद्रव किसलिए? इस देश के कानून में जिस बात पर आपत्ति नहीं है, वह सब कुकर्म छप सकता है। यदि किसी धर्म, संप्रदाय, जाति, वर्ग या व्यक्ति को शिकायत हो तो वह अदालत की शरण में जा सकता है, फिर उपद्रव क्यों? यदि लिखित शब्द को लेकर उपद्रव करता है तो यह मानना पड़ेगा कि उसके पास लिखने या बोलने को कुछ नहीं है या लिखने या बोलने से कतराता है या उसका अन्य कोई अभिप्राय है। जिस समाज में कानून के दायरे में खुलकर विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता नहीं हो, उसे आज के युग में तो सभ्य समाज नहीं कहा जा सकता, बल्कि बर्बर कहा जाएगा। हिन्दू समाज में तो यह बर्बरता कभी नहीं थी। जो चूरू में सनातन धर्म के नाम पर देखने में आया, वो सनातन धर्म के किस आदर्श के अनुरूप है, यह भी बुद्धि के बाहर की बात है।

आचार्यश्री तुलसी ने भी अपनी पुस्तक को वापस लेकर यह दावा तो कर दिया कि उन्होंने हिंसात्मक घटनाओं को बढ़ावा न देने के लिए ही ऐसा किया है परंतु क्या उनका यह फैसला हिंसक कार्यवाहियों के डर से नहीं हुआ? यदि हिंसात्मक उपद्रव न होते तो क्या वे अपनी पुस्तक बंद करते? सवाल उठता है कि विजय किसकी हुई। हिंसा की या अहिंसा की? इसका जवाब चंदनमल बैद देंगे या आचार्य तुलसी?

मुख्यमंत्री बरकतुल्ला खां ने दोनों पक्षों को बधाई दी और कहा कि इस विवाद को निबटाने से राष्ट्रीय एकता को बल मिलेगा। क्या खूब राष्ट्रीय एकता कायम हो रही है! जो सरकार एक अल्पसंख्यक संप्रदाय की धार्मिक प्रवृत्तियों की सुरक्षा की गारंटी नहीं दे सकती वह बहुसंख्यकों के आतंक से राष्ट्रीय एकता पैदा करने की दुराशा कर रही है। राष्ट्रीय एकता अगर इतनी ही सस्ती है तो वह डंडे के जोर से कहीं भी की जा सकती है। कौन अल्पसंख्यक हिम्मत करेगा मुंह खोलने की?

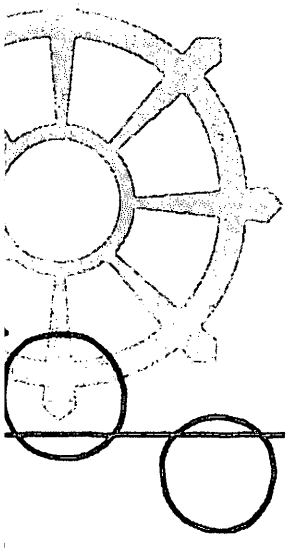

इस विवाद का एक राजनीतिक पहलू भी है। बरकत मियां और चंदनमल बैद गहरे दोस्त हैं। चंदनमल बैद तेरापंथ संप्रदाय के हैं। चूरू में उनके विरोधी उन्हें हर घड़ी नीचा दिखाने का अवसर खोजते रहते हैं। 'अग्निपरीक्षा' विवाद में उन्हें सहज ही यह अवसर मिल गया। वे मुख्यमंत्री और वित्तमंत्री की दुविधा को बढ़ाने में क्योंकर चूकते? शंकराचार्य की बनी बनाई भूमिका मिल गई। यह भूमिका देश के हर कोने में मिल जाएगी। साम्प्रदायिक वैमनस्य और राजनीतिक प्रतिशोध के साथ-साथ जनता का अभियान यदि साथ दे तो कहीं भी कोई ध्वंसलीला की जा सकती है। ऐसे हालात जिस देश में पैदा हो जाते हैं वहां फासिज्म पनपता है, लोकतंत्र और सभ्यता का तो जनाजा ही निकला समझिए। बलिहारी अहिंसा की और बलिहारी राष्ट्रीय एकता की!'

आचार्यश्री ने घोषणा के बाद प्राप्त होने वाली प्रतिक्रियाओं को ध्यान में रखकर २७ अगस्त, १९७२ को एक लिखित वक्तव्य दिया। आपने लिखा–

'अग्निपरीक्षा' पुस्तक को स्थगित करने पर मिश्रित प्रतिक्रिया प्राप्त हो रही है। कुछ लोग इसे उदारता और महानता बताते हैं तो कुछ लोग इसे बाध्यता बता रहे हैं।

मैंने यह कार्य न उदारता की दृष्टि से किया और न किसी से बाध्य होकर किया। मैंने यह कार्य कर्तव्य-निर्वाह की दृष्टि से किया। कुछ लोग जानना चाहते हैं कि यह कार्य उपद्रवों के बाद किया तो उनसे पहले क्यों नहीं किया?

मैंने 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक में राम और सीता के चरित्र को आदर्श चरित्र के रूप में प्रतिष्ठित किया है, इसलिए मैं उसे स्थगित करना नहीं चाहता था। किंतु उपद्रवों के शांत होने पर मैंने सोचा कि हिंसा के साथ बार-बार मेरा नाम जुड़ता है, इसका मुझे स्थायी प्रतिकार करना चाहिए। श्री जयप्रकाशजी जैसे अहिंसानिष्ठ व्यक्तियों ने भी मेरे सामने यह प्रश्न रखा कि हिंसा के साथ आपका नाम जुड़ता है, यह अच्छा नहीं लगता। इसलिए आप इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार करें।

इस चिंतन और इस प्रश्न के उपस्थित होने पर प्रस्तुत पुस्तक को स्थगित करना मेरा अहिंसक कर्तव्य हो गया। इसी आधार पर मैंने उसे स्थगित करने का निर्णय लिया और इसी आधार पर मैंने जयप्रकाशजी के अनुरोध को स्वीकार किया।

मुझे लगता है कि मैंने जो किया वह उचित समय में उचित कार्य किया। सार्वजनिक क्षेत्र में इसकी उचित प्रतिक्रिया हुई है। मैं चाहता हूं कि इस निर्णय को उदारता या बाध्यता की कसौटी से मुक्त रखकर कर्तव्य की कसौटी से ही कसा जाए।'

इन सारे उतार-चढ़ाव के बाद वह अध्याय समाप्त हो गया। 'मैं साधक पहले हूं, साहित्यकार बाद में हूं', आचार्यश्री को इस उत्तर का अनेक बार प्रयोग करना पड़ा। एक साहित्यकार ने कहा—आपने 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक के स्थगन की घोषणा कर अच्छा नहीं किया, पूरे साहित्य-जगत् का अपमान किया है। आचार्यश्री ने सस्मित कहा—'यदि मैं कवि होता तो ऐसा नहीं करता, किंतु मैं साधक पहले हूं, कवि बाद में।' कुलिशजी के प्रश्नों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हिन्दू और सिखों के बीच चल रहे संघर्ष में चूरू की घटनाओं का सिंहावलोकन किया जा सकता है। इस घटनाक्रम के संतुलन में तत्कालीन मुख्यमंत्री बरकतुल्ला खां, वित्तमंत्री चंदनमल बैद की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। विधायक मोहरसिंह राठौड़ का सहयोग भी बराबर मिलता रहा। समाज के अन्य अनेक कार्यकर्ताओं ने उल्लेखनीय सेवाएं दीं।[1]

१. देखें—साप्ताहिक विज्ञप्ति संख्या १६६, २६ अगस्त, १६७२।

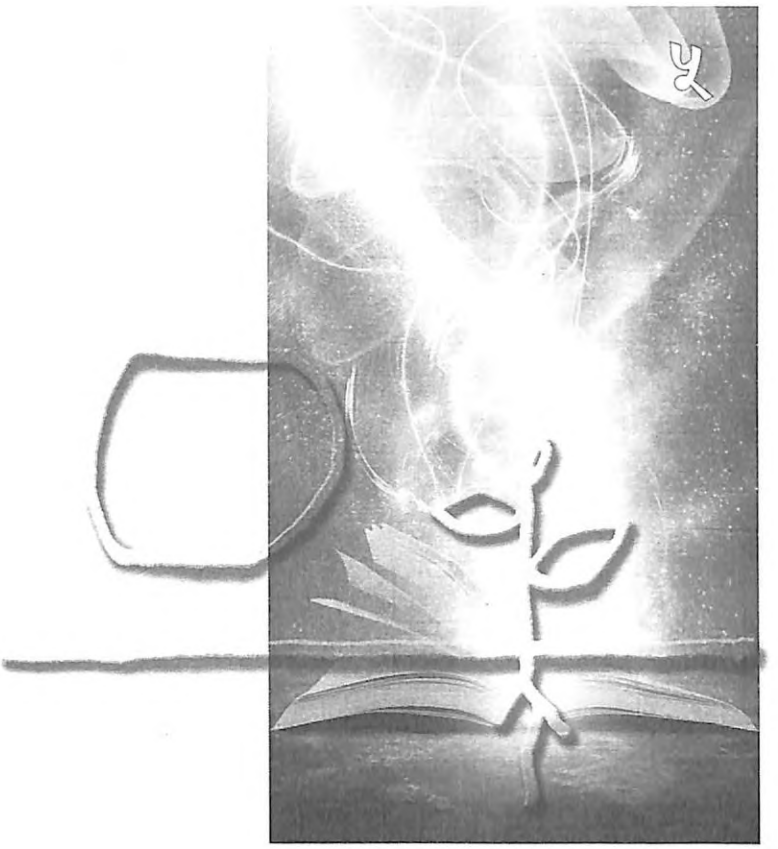

सृजनात्मक दृष्टियां
रचनात्मक प्रवृत्तियां

दशवैकालिक के प्रकाशन के बाद आगम-संपादन में रुचि लेने वालों का ध्यान हमारी ओर खिंच गया। हमारा कार्य सभी दिशाओं में चल रहा था। जैसे–पाठ-संशोधन, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, समालोचनात्मक टिप्पण, समीक्षात्मक अध्ययन, शब्दकोश, आदि-आदि। देवर्धिगणी ने आगम की अंतिम वाचना की थी। उसके पश्चात् (पन्द्रह सौ वर्षों के बाद) आगम-संपादन का इतना बड़ा प्रयत्न आचार्यश्री के वाचना-प्रमुखत्व में प्रारंभ हुआ। इस योजना में सौ पुस्तकों की संभावना है। लगभग एक लाख पृष्ठ होंगे। इस कार्य से हमारे साधु-साध्वियों के अध्ययन की दिशा बहुत व्यापक हुई है। भारतीय साहित्य के आकाश में यह कार्य एक उज्ज्वल नक्षत्र की भांति चमकता रहेगा।

सृजनात्मक दृष्टियां : रचनात्मक प्रवृत्तियां

सुदूर अतीत की यात्रा करने पर पता चलता है कि सृजनात्मक दृष्टिकोण भगवान् महावीर की देन है। आसन्न अतीत की यात्रा करने पर पता चलता है कि सृजनात्मक दृष्टिकोण आचार्य भिक्षु द्वारा संवर्धित है। आचार्यश्री को यह दृष्टिकोण विरासत में मिला। आपने इसकी संपुष्टि की और इसके द्वारा लाभ उठाया। तेरापंथ की प्रगति का रहस्य-सूत्र है–सृजनात्मक दृष्टिकोण और रचनात्मक प्रवृत्तियां।

तेरापंथ की ओर से आज तक किसी धर्म-संप्रदाय के विरोध में दो पंक्तियां भी नहीं लिखी गईं। उसके विषय में काफी आक्षेपात्मक साहित्य लिखा गया, किन्तु उसका उत्तर भी नहीं दिया गया।

अहिंसा के विकास के बिना सृजनात्मक दृष्टिकोण संभव नहीं। आचार्य भिक्षु ने अहिंसा को बहुत मूल्य दिया था। तेरापंथ धर्मसंघ ने आचार्य भिक्षु को बहुत बड़ा मूल्य दिया है इसलिए प्रत्येक तेरापंथी के मन पर अहिंसा की छाप है। आचार्य पूरे धर्मसंघ का नेतृत्व करते हैं, इसलिए उनमें अहिंसा के प्रति गहरी आस्था का होना और सृजनात्मक दृष्टिकोण से काम करना उनकी नियति बनी हुई है। आचार्यश्री के प्रगतिशील विचार और सृजनात्मक दृष्टिकोण का रहस्य यही था।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

आचार्य उपायज्ञ होता है। वर्तमान समस्या के समाधान के लिए वह उपाय खोजता है और उसे जनता के सामने प्रस्तुत करता है। आचार्यश्री ने जनता का मानसिक झुकाव बदलने के लिए समय-समय पर अनेक उपायों का प्रयोग किया और आलंबन सूत्र के रूप में कुछ प्रेरक उद्घोष दिए। वे अहिंसा या सृजनात्मक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते थे। जोधपुर में अणुव्रत का (सन् १९५४ में) अधिवेशन था। साम्प्रदायिक तत्त्वों ने विरोधी परचे निकाले। उन्हें प्रचारित किया। दीवारों पर चिपकाया और सड़कों को भी उनसे ढक दिया। हम लोग सोजती गेट के बाहर अधिवेशन स्थल पर पहुंचे। आचार्यश्री ने इस पर टिप्पणी की–'साम्प्रदायिक लोग कभी-कभी अनजाने में हित कर देते हैं। यदि आज सड़कों पर ये पोस्टर बिछे नहीं होते तो पैर कितने जलते। दुपहरी के समय में डामर की सड़कों पर नंगे पैर चलना कितना कठिन होता। इन पोस्टरों ने हमारी कठिनाई कम कर दी।'

इस अवसर पर आचार्यश्री ने यह घोष दिया–'जो हमारा करे विरोध, हम उसे समझें विनोद।'

वैज्ञानिक युग की मानसिकता में जीने वाले धर्म को मृत घोषित कर रहे थे। उनका अनुसरण करने वाले कुंठा और निराशा का अनुभव कर रहे थे। उस स्थिति में आचार्यवर ने सूत्र दिया–'अमर रहेगा धर्म हमारा।'

भोगवादी या पदार्थवादी दृष्टिकोण के कारण नैतिकता की समस्या विकट हो रही थी। असंयम

और उच्छृंखलता को प्रोत्साहन मिल रहा था। उस वातावरण में अणुव्रत आंदोलन का घोष समुच्चारित हुआ–'संयमः खलु जीवनम्।' संयम ही जीवन है।

इन दशकों में अनुशासनहीनता की समस्या उभर कर आ रही थी। पारिवारिक जीवन से लेकर शिक्षा और राजनीति सब उससे प्रभावित हुए। आचार्यवर ने समस्या के मूल को पकड़ा और एक उद्घोष दिया–'निज पर शासन, फिर अनुशासन।'

धर्म का मंच कोरे उपदेश का मंच रह गया। उससे परिवर्तन संभव नहीं हो रहा था। प्रेक्षाध्यान के विकास के साथ इस घोष को जन्म मिला–'कैसे बदले जीवनधारा, प्रेक्षाध्यान साधना द्वारा।'

समय-समय पर उभरने वाले जातीय और साम्प्रदायिक उपद्रवों के क्षणों में आचार्यवर ने जनता का ध्यान वास्तविक सचाई की ओर आकर्षित किया। 'मनुष्य जाति एक है' यह जैन परम्परा का बहुत पुराना सूत्र है। आचार्यवर ने उस पुराने सूत्र की नई आवृत्ति की–'पहले इंसान इंसान, फिर हिन्दू या मुसलमान।'

अमृत महोत्सव चेतना-जागरण के रूप में मनाया गया। मूर्च्छा का विष धुल जाए, आंतरिक चेतना जाग उठे, इस भावना का प्रतीक घोष है–'नया सवेरा आए, सोया मन जग जाए।'

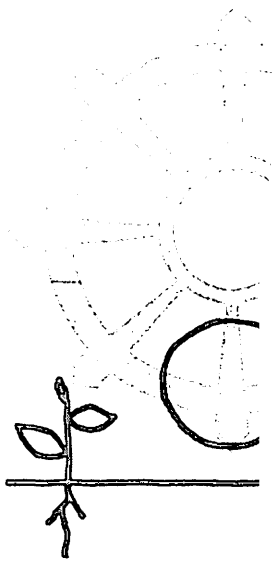

धर्मचक्र का प्रवर्तन

साहित्य : नव उन्मेष–नए आयाम

आचार्यश्री की चिंतनधारा एक ही दिशा में प्रवाहित नहीं हुई। उसने जीवन की सभी दिशाओं का स्पर्श किया। साधु-साध्वियों की प्रारंभिक शिक्षा के लिए आपने 'शैक्ष-शिक्षा' आदि ग्रंथ रचे। प्रारंभिक धार्मिक शिक्षा के लिए 'धर्मबोध' लिखवाया।

सह-स्वाध्याय, शिक्षण-शिविर, वाद-विवाद प्रतियोगिता आदि प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया। प्रचार के क्षेत्र में आचार्यश्री ने एक क्रांति कर डाली। जैन-धर्म और तेरापंथ को युग का परम स्पृहणीय तत्त्व बना दिया। आप विद्यार्थियों, युवकों, महिलाओं, शिक्षकों, राज्य कर्मचारियों, हरिजनों के सम्मेलनों में गए और अपने विचार उन्हें दिए। अणुव्रत-विचार परिषद्, दर्शन-गोष्ठी, साहित्य-गोष्ठी, कवि-गोष्ठी आदि विविध गोष्ठियां आयोजित हुईं। उनमें अपने विचार दिए और दूसरे विद्वानों के विचार लिए। सुदीर्घ यात्राएं कीं। आपने 'चरैवेति-चरैवेति' के स्थान पर 'चरामीति-चरामीति' ही पढ़ा।

महान् साहित्यकार

आचार्यश्री की लेखनी ने भी बहुत दिया। यद्यपि आपका अधिकांश समय दूसरों की परिधि में बीतता, फिर भी साहित्य रचना हो जाती। आश्चर्य अवश्य है, पर बात यथार्थ है। आचार्यश्री के संदेश जनता के हृदय का स्पर्श करते थे। विद्याधर शास्त्री के शब्दों में–'आचार्यश्री की 'अमर-संदेश' नामक पुस्तक विश्व-दर्शन की उच्चतम पुस्तक है।'

आचार्यश्री का 'अशान्त विश्व को शान्ति का सन्देश' विश्व के कोने-कोने तक पहुंचा। न्यूयार्क के साइरेक्यूज विश्वविद्यालय के डॉ. रेमण्ड एफ. पीपर ने एक पत्र में लिखा कि उन्होंने तुलनात्मक अध्ययन के लिए अपने छात्रों के पाठ्यक्रम में जैन तेरापंथ के नवमाचार्य आचार्यश्री तुलसी द्वारा गत २६ जून, १९४५ को दिए गए प्रवचन 'अशान्त विश्व को शान्ति का संदेश' के महत्त्वपूर्ण अंशों को सम्मिलित कर लिया है।'

आचार्यश्री में कवित्व का सहज स्पर्श था। 'कालूयशोविलास' आपकी अमर काव्य-कृति है। उसमें शब्दों का चयन, भावों का गांभीर्य, वर्णना की प्रौढ़ता, परिस्थितियों का प्रकाशन, घटनाओं का चुनाव ऐसी भावुकता के साथ हुआ है कि वह अपने परिचय के लिए पर-निरपेक्ष है। संगीत के मिठास से भरापूरा वह महाकाव्य जैन संतों की साहित्य-साधना का जीवित प्रमाण है।

मेवाड़ के लोग श्री कालूगणी को अपने देश पधारने की प्रार्थना करने आए। उनके हृदय में बड़ी तड़प थी। उनकी अन्तर्भावना का मेवाड़ की मेदिनी में आरोप कर आपने बड़ा सुन्दर चित्रण किया है–

पतित-उधार पधारिये, संग सबल लहि थाट।
मेदपाट नी मेदिनी, जोवे खड़ि-खड़ि वाट॥

सघन शिलोच्चयनै मिषे, ऊंचा करि-करि हाथ।
चंचल दल शिखरी मिषे, दे झाला जगनाथ॥

नयना विरह तुमारडे, झरे निझरणा जास।
भ्रमराराव भ्रमे करी, लह लांबा निःश्वास॥

कोकिल कूजित व्याज थी, व्रतिराज उड़ावे काग।
अरघट खट खटका करी, दिल खटक दिखावे जाग॥

मैं अबला अचला रही, किम पहुंचे मम संदेश।
इम झुर-झुर मनु झूरणा, संकोच्यो तनु सुविशेष॥

इसमें केवल कवि हृदय का सारस्य ही उद्वेलित नहीं हुआ है, किन्तु इसे पढ़ते-पढ़ते मेवाड़ के हरे-भरे जंगल, गगनचुंबी पर्वतमालाएं, निर्झर, भंवरे, कोयल, घड़ियाल और स्तोक-भूभाग का साक्षात् हो जाता है। मेवाड़ की ऊंची भूमि में खड़ा रहने का, गिरिशृंखला में हाथ ऊंचा करने का, वृक्षों के पवन चलित दलों में आह्वान करने का, मधुकर के गुंजारव में दीर्घोष्ण निःश्वास का, कोकिल कूजन में काक उड़ाने का आरोपण करना आपकी कवि प्रतिभा की मौलिक सूझ है। रहट की घड़ियों में दिल की टीस के साथ-साथ रात्रि-जागरण की कल्पना से वेदना में मार्मिकता आ जाती है। उसका चरम रूप अन्तर्जगत् में रह सकने के कारण बहिर्जगत् में आ साकार बन जाता है। उसे कवि-कल्पना सुनाने की अपेक्षा दिखाने में अधिक सजीव हुई है। अन्तः-व्यथा से पीड़ित मेवाड़ की मेदिनी का कृश शरीर वहां की भौगोलिक स्थिति का सजीव चित्र है।

मघवागणि के स्वर्गारोहण के समय कालूगणी के मनोभावों का आकलन करते हुए आपने गुरु-शिष्य के मधुर संबंध एवं विरह-वेदना का जो सजीव वर्णन किया वह कवि की लेखनी का अद्भुत चमत्कार है–

नेहड़ला री क्यारी म्हांरी, मूकी निराधार।
इसड़ी क्यां कीधी म्हांरा, हिवड़े रा हार॥

चितड़ो लाग्यो रे, मनड़ो लाग्यो रे।
खिण-खिण समरूं, गुरु थांरो उपकार रे॥

किम बिसराये म्हांरा, जीवन-आधार।
विमल-विचार चारू, अव्वल आचार रे॥

कमल ज्यूं अमल, हृदय अविकार।
आज सुदि कदि नहीं, लोपी तुझ कार रे॥
वह्यो बलि-बलि तुम, मींट विचार।
सोरे कां पधार्‌या, मोये मूकी इह वार रे॥
स्व स्वामी रू शिष्य-गुरु, संबंध विसार।
पिण सांची जन-श्रुति जगत् मझार रे॥
एक पक्खी प्रीत नहीं, पड़ै कदि पार।
पिऊ-पिऊ करत, पपेयो पुकार रे।
पिंण नहीं मुदिर ने, फिकर लिगार॥

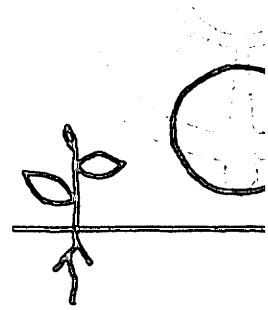

'कालू उपदेश वाटिका', 'भरत-मुक्ति', 'आषाढ़भूति', 'अग्निपरीक्षा' आदि अनेक गीत-संग्रह और खंडकाव्य आपकी लेखनी से उद्‌भूत हुए।

तत्त्वज्ञान का क्षेत्र भी अस्पृष्ट नहीं रहा। 'जैन सिद्धान्त दीपिका', 'श्री भिक्षु न्यायकर्णिका' आदि अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियां आपने लिखीं। 'मनोनुशासनम्' जैसी कृति के द्वारा आपने अपनी साधना का नवनीत भी जन-सुलभ किया।

भाषा की दृष्टि से आचार्यश्री की रचनाओं को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है–

संस्कृत–जैन सिद्धान्त दीपिका, श्री भिक्षु न्यायकर्णिका, मनोनुशासनम्, पंचसूत्रम् आदि।

हिन्दी–भगवान् महावीर, प्रेक्षा : अनुप्रेक्षा, क्या धर्म बुद्धिगम्य है, धर्म : एक कसौटी, एक रेखा, मेरा धर्म : केन्द्र और परिधि, अणुव्रत-साहित्य, प्रज्ञापुरुष जयाचार्य, महामनस्वी आचार्य कालूगणी आदि।

राजस्थानी–कालूयशोविलास, डालिम चरित्र, माणक महिमा, मगन चरित्र, माँ वदना, सेवाभावी, नन्दननिकुंज, चन्दन की चुटकी भली, सोमरस आदि-आदि।

आचार्यश्री की साहित्य-रचना के अलग-अलग युग रहे हैं। एक युग में उन्होंने तत्त्वविद्या 'जैन सिद्धान्त दीपिका' जैसे ग्रन्थों की रचना की। एक युग में 'मनोनुशासनम्' जैसे योग ग्रन्थों का प्रणयन किया। एक युग में 'पंचसूत्रम्' जैसे अनुशासन ग्रन्थों का निर्माण किया। एक युग में जीवनवृत्तों की संरचना की। 'श्री कालूयशोविलास' से शुरू हुई जीवनवृत्तों की यात्रा को 'सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति' तक पहुंचकर भी विराम नहीं मिला था। कुछ और जीवनवृत्त लिखने की कल्पना भी आकार लेने लगी थी।

आचार्यश्री ने अपने जीवन के आखिरी दशक में रचना का एक नया दौर शुरू किया। आचार-बोध, संस्कार-बोध, व्यवहार-बोध, तेरापंथ-प्रबोध और श्रावक-संबोध–इन पांच बोध, प्रबोध और संबोध ग्रन्थों का निर्माण हुआ। यहां यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि इन लघुकाय ग्रन्थों में साठ वर्ष के अनुभवों तथा ज्ञानराशि का एक समुच्चय हुआ है। पर्वतों को अपना समुच्चय करने में हजारों वर्ष लगते हैं। इस दशक में आचार्यवर द्वारा जो उच्चयन हुआ है वह विद्वानों के लिए शोध का विषय है, विद्यार्थियों के लिए सम्बोध का विषय है और सामान्य जनता के लिए मानसिक आह्लाद का विषय है।

आचार्यश्री के शासनकाल में दर्शन, चिंतन, अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, विज्ञान, काव्य, इतिहास, कथा आदि विषयों पर अनेक ग्रंथ तैयार हुए। इन पांच-छह दशकों में लगभग पांच सौ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

पांच-छह दशक पहले पढ़े-लिखे युवक कहते थे–'हम क्या पढ़ें?' वर्तमान के युवक कहते हैं–'हम क्या-क्या पढ़ें?' आज हमारा साहित्य केवल तेरापंथ समाज के द्वारा ही नहीं, पूरे जैन समाज के द्वारा पढ़ा जा रहा है। केवल जैन समाज के द्वारा ही नहीं किन्तु हिन्दुस्तान के प्रबुद्ध वर्ग के द्वारा पढ़ा जा रहा है। इस व्यापकता की आधारभूमि व्यापक दृष्टिकोण और साहित्यिक प्रतिभा का विकास बना।

आचार्यश्री के शासनकाल में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी हुआ। साधुओं ने 'जयज्योति', 'एषणा' नामक हस्तलिखित पत्रिकाओं का तथा साध्वियों ने 'अन्वेषणा', 'तरंगिणी' और 'पराग' नामक पत्रिकाओं का संपादन किया। जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा द्वारा 'जैन भारती, अणुव्रत महासमिति द्वारा 'अणुव्रत', युवक परिषद् द्वारा 'युवादृष्टि' और 'तेरापंथ टाइम्स', जैन विश्व भारती संस्थान द्वारा 'तुलसी प्रज्ञा', जैन विश्व भारती द्वारा 'प्रेक्षाध्यान' आदि पत्र प्रकाशित हुए और हो रहे हैं। आदर्श साहित्य संघ द्वारा साप्ताहिक विज्ञप्ति भी बराबर प्रकाशित हो रही है।

आगम साहित्य का संपादन

आचार्यश्री महाराष्ट्र की यात्रा पर थे। पूना से 'नारायण गांव' की ओर जाते हुए एक दिन का प्रवास 'मंचर' में हुआ। आचार्यश्री जहां ठहरे वहां मासिक पत्रों की फाइलें पड़ी थीं। साधुओं ने उन्हें देखा। गृहस्वामी की अनुमति से पढ़ने के लिए कई प्रतियां लीं। कुछ पत्र आचार्यश्री के पास रख दिए, कुछेक साधु ले गए।

सांझ की वेला। लगभग छह बजे होंगे। मैं एक पत्र के किसी उपयोगी अंश की जानकारी के लिए आचार्यश्री के पास गया। आचार्यश्री पत्रों को देख रहे थे। मैं पहुंचा और आचार्यश्री ने 'धर्मदूत' की ओर संकेत करते हुए कहा–'यह देखा कि नहीं?'

धर्मचक्र का प्रवर्तन

मैंने सविनय निवेदन किया–'नहीं, अभी नहीं देखा।'

आचार्यश्री ने गंभीर भाव से कहा–'इसमें बौद्ध साहित्य के संपादन की बहुत बड़ी योजना है। बौद्धों ने इस दिशा में पहले ही बहुत किया है और अब भी वे सतर्क हैं। जैन लोग इधर-उधर के झगड़ों में समय बिताते हैं। मौलिक समस्याओं को बहुत कम छूते हैं। जैन साहित्य के पुनरुद्धार की आवश्यकता तो जैसे लगती ही नहीं, ऐसा जान पड़ता है।' आचार्यश्री की वह वाणी उभरी हुई अन्तर्वेदना-सी लगी।

आचार्यश्री ने कहा–'आगम संपादन का कार्य हाथ में लें?'

मैंने प्रार्थना की–'अवश्य लें।'

आचार्यश्री–'सोच लिया?'

मैं–'सोचने की क्या आवश्यकता है? जो आपका संकल्प है वह अवश्य पूर्ण होगा।'

दो क्षण में निर्णय की पूर्वभूमिका बन गई। समय की अल्पता ने चर्चा को आगे नहीं बढ़ने दिया। रात्रिकालीन प्रार्थना के बाद आचार्यश्री ने अध्ययन करने वाले संतों को आह्वान किया। संत आए, वंदना कर पंक्तिबद्ध बैठ गए। आचार्यश्री ने सायंकालीन चर्चा को छूते हुए कहा–'जैन साहित्य का कायाकल्प किया जाए, ऐसा संकल्प उठा है। उसकी पूर्ति के लिए कार्य करना होगा, पूर्ण श्रम करना होगा। बतलाओ कौन तैयार है?'

पांच-छह दशक पहले पढ़े-लिखे युवक कहते थे–'हम क्या पढ़ें?' वर्तमान के युवक कहते हैं–'हम क्या-क्या पढ़ें?' आज हमारा साहित्य केवल तेरापंथ समाज के द्वारा ही नहीं, पूरे जैन समाज के द्वारा पढ़ा जा रहा है। केवल जैन समाज के द्वारा ही नहीं किन्तु हिन्दुस्तान के प्रबुद्ध वर्ग के द्वारा पढ़ा जा रहा है। इस व्यापकता की आधारभूमि व्यापक दृष्टिकोण और साहित्यिक प्रतिभा का विकास बना।

आचार्यश्री के शासनकाल में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी हुआ। साधुओं ने 'जयज्योति', 'एषणा' नामक हस्तलिखित पत्रिकाओं का तथा साध्वियों ने 'अन्वेषणा', 'तरंगिणी' और 'पराग' नामक पत्रिकाओं का संपादन किया। जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा द्वारा 'जैन भारती, अणुव्रत महासमिति द्वारा 'अणुव्रत', युवक परिषद् द्वारा 'युवादृष्टि' और 'तेरापंथ टाइम्स', जैन विश्व भारती संस्थान द्वारा 'तुलसी प्रज्ञा', जैन विश्व भारती द्वारा 'प्रेक्षाध्यान' आदि पत्र प्रकाशित हुए और हो रहे हैं। आदर्श साहित्य संघ द्वारा साप्ताहिक विज्ञप्ति भी बराबर प्रकाशित हो रही है।

आगम साहित्य का संपादन

आचार्यश्री महाराष्ट्र की यात्रा पर थे। पूना से 'नारायण गांव' की ओर जाते हुए एक दिन का प्रवास 'मंचर' में हुआ। आचार्यश्री जहां ठहरे वहां मासिक पत्रों की फाइलें पड़ी थीं। साधुओं ने उन्हें देखा। गृहस्वामी की अनुमति से पढ़ने के लिए कई प्रतियां लीं। कुछ पत्र आचार्यश्री के पास रख दिए, कुछेक साधु ले गए।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

सांझ की वेला। लगभग छह बजे होंगे। मैं एक पत्र के किसी उपयोगी अंश की जानकारी के लिए आचार्यश्री के पास गया। आचार्यश्री पत्रों को देख रहे थे। मैं पहुंचा और आचार्यश्री ने 'धर्मदूत' की ओर संकेत करते हुए कहा–'यह देखा कि नहीं?'

मैंने सविनय निवेदन किया–'नहीं, अभी नहीं देखा।'

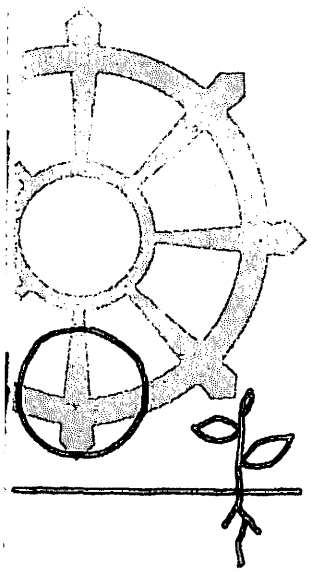

आचार्यश्री ने गंभीर भाव से कहा–'इसमें बौद्ध साहित्य के संपादन की बहुत बड़ी योजना है। बौद्धों ने इस दिशा में पहले ही बहुत किया है और अब भी वे सतर्क हैं। जैन लोग इधर-उधर के झगड़ों में समय बिताते हैं। मौलिक समस्याओं को बहुत कम छूते हैं। जैन साहित्य के पुनरुद्धार की आवश्यकता तो जैसे लगती ही नहीं, ऐसा जान पड़ता है।' आचार्यश्री की वह वाणी उभरी हुई अन्तर्वेदना-सी लगी।

आचार्यश्री ने कहा–'आगम संपादन का कार्य हाथ में लें?'

मैंने प्रार्थना की–'अवश्य लें।'

आचार्यश्री–'सोच लिया?'

मैं–'सोचने की क्या आवश्यकता है? जो आपका संकल्प है वह अवश्य पूर्ण होगा।'

दो क्षण में निर्णय की पूर्वभूमिका बन गई। समय की अल्पता ने चर्चा को आगे नहीं बढ़ने दिया। रात्रिकालीन प्रार्थना के बाद आचार्यश्री ने अध्ययन करने वाले संतों को आह्वान किया। संत आए, वंदना कर पंक्तिबद्ध बैठ गए। आचार्यश्री ने सायंकालीन चर्चा को छूते हुए कहा–'जैन साहित्य का कायाकल्प किया जाए, ऐसा संकल्प उठा है। उसकी पूर्ति के लिए कार्य करना होगा, पूर्ण श्रम करना होगा। बतलाओ कौन तैयार है?'

सारे हृदय से एक साथ बोल उठे–'सब तैयार हैं।'

आचार्यश्री ने सबकी भावनाओं को पकड़ते हुए कहा–'वह महान् कार्य है, उसके लिए पूर्व तैयारी भी बहुत बड़ी चाहिए। इसलिए अपनी-अपनी रुचि का विषय चुनो और उसमें प्रगति करो।'

साहित्य संशोधन की सारी कल्पना विषय-चुनाव में बदल गई। यात्रा चालू थी। विविध प्रसंग और बहुविध कार्य सामने आते रहे। पर जो चुभन थी वह मिटी नहीं। जो कल्पना का उभार था वह दबा नहीं। बातचीत के प्रसंगों में आचार्यश्री उसकी चर्चा करते रहे, हमारी भावना को गति देते रहे।

'संगमनेर' में जैन उपाश्रय में निवास था। रात को फिर प्रसंग छिड़ा। आचार्यवर ने कहा–'श्रीचंदजी रामपुरिया जैनागमों के हिन्दी अनुवाद के लिए कई बार कहते रहे हैं। और-और व्यक्ति भी ऐसा चाहते हैं। मेरी स्वयं की इच्छा भी है। पर एक ओर यात्रा, दूसरी ओर इतना गुरुतर कार्य। यह कैसे बने?'

आचार्यश्री के हृदय का स्पर्श करते हुए मैंने कहा–'यह कोई कठिन बात नहीं है। अगर आचार्यश्री का ध्यान अभी-अभी साहित्य-शोध का कार्य आरम्भ करने का हो तो निश्चय हो जाना चाहिए। कार्यकर्ता स्वयं पैदा होंगे। सामग्री अपने आप जुटेगी। आपका संकल्प फलने में संदेह नहीं है।'

लंबी चर्चा के उपरांत आचार्यश्री ने अपना निर्णय तत्रस्थ साधु-साध्वियों को बताने का निश्चय किया। दूसरे दिन दुपहरी में आचार्यश्री की सेवा में परिषद् हुई। साधु-साध्वियां सभी उपस्थित थे। आचार्यश्री ने अपना हृदय स्पष्ट किया। गूढ़ और अधुनोत्पन्न संकल्प को सबके सामने रखा। साधु-साध्वियों की भावनाएं प्रफुल्ल हो उठीं। आचार्यश्री ने सबकी प्रफुल्लता को बटोरते हुए पूछा–'क्या इस संकल्प को अब निर्णय का रूप दे देना चाहिए?'

समलय से प्रार्थना का समस्वर निकला–'अवश्य, अवश्य।'

कुछ देर के विचार-विमर्श के बाद संकल्प को औपचारिक निर्णय का रूप मिला। आचार्यश्री ने हर्ष-ध्वनि के बीच घोषित किया कि आगामी पांच वर्षों में जैनागम-शोध कार्य विचार-क्षेत्र में सर्वोपरि साध्य रहेगा–ऐसा मेरा लक्ष्य है। और उसी के अनुसार साधु-साध्वियों को कार्य करना है। तेरापंथ द्वि-शताब्दी महोत्सव के अवसर पर हमारा लक्ष्य फलीभूत हो जाना चाहिए।'

स्वस्थ मस्तिष्क कल्पना देता है। वह संकल्प के बिना फल नहीं लाती। संकल्प स्वस्थ मन में जन्म लेता है। जहां मस्तिष्क और मन दोनों स्वस्थ होते हैं, जहां कल्पना और संकल्प का संगम होता है वहां सफलता स्वयं चरण चूमती है।

आचार्यश्री औरंगाबाद पधारे। महावीर जयंती का पवित्र दिन। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका चतुर्विध संघ की उपस्थिति। आपने आगम-संपादन की घोषणा की। कार्य-पद्धति की कुछ रेखाएं मैंने प्रस्तुत कीं। उल्लासपूर्ण वातावरण में कार्यक्रम संपन्न हुआ। अब योजना का प्रसार हुआ। समूचा संघ लक्ष्यबद्ध हो गया। दूर-दूर से कार्य निर्देशन की अज्ञात ध्वनि गूंजने लगी। सतत प्रवहमान यात्रा और अपेक्षित सामग्री की असुलभता के कारण योजना को सक्रिय रूप नहीं मिल सका।

महाराष्ट्र की यात्रा पूरी हुई। धूलिया में आचार्यश्री ने मध्यप्रदेश की यात्रा का निर्णय ले लिया। चातुर्मास में एक महीना बाकी था। मध्यप्रदेश की यात्रा शुरू हुई। महु होते हुए इन्दौर आगमन हुआ।

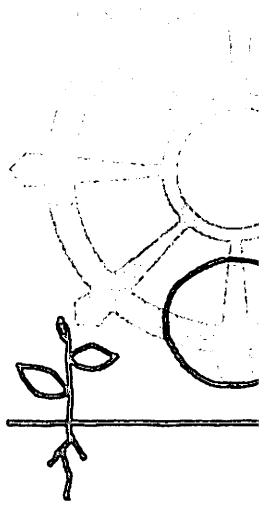

चातुर्मास की प्रार्थना हुई, उज्जैन वालों का भी विशेष आग्रह था। वर्षा के दिन बहुत थोड़े बच रहे थे। आचार्यश्री ने उज्जैन में चातुर्मास बिताने का निश्चय किया। लोगों को बहुत अचरज हुआ। अच्छे-अच्छे लोगों ने कहा–यह क्या? आचार्यश्री इन्दौर को छोड़ उज्जैन जा रहे हैं। ऐसा निर्णय क्यों हुआ? लगभग एक-दो दिन तक निर्णय पर पुनर्विचार करने की प्रार्थनाओं का तांता-सा बंध गया।

आचार्यश्री जनता की मांग का औचित्य समझते थे पर निर्णय के पीछे भी बड़ा औचित्य था। जैनागम-शोध की योजना को कार्यरूप देना था। इन्दौर में समय की अल्पता होती। कार्य-बहुलता की दृष्टि से उज्जैन अधिक उपयोगी जान पड़ा। आचार्यश्री 'देवास' होते हुए उज्जैन पधारे।

चातुर्मास (सन् १९५५) शुरू हुआ। पुस्तकों की साम्रगी जुटने लगी। स्थानीय पुस्तकालयों से हम पुस्तकें लाए। पुस्तकालयों की अव्यवस्था के कारण कुछ कठिनाइयां आईं। आखिर सामग्री जुट गई।

जेठ शुक्ला एकादशी को आचार्यश्री फागणे में थे–धूलिया से दो कोस की दूरी पर। वहां श्रीचंदजी रामपुरिया दर्शन करने आए। साहित्य-संशोधन की चर्चा चली। उन्होंने सबसे पहले जैनागम शब्दकोश तैयार करने का सुझाव रखा। आचार्यश्री को वह उचित लगा। आगमों का हिन्दी अनुवाद और शब्दकोश ये दो कार्य प्रारम्भणीय थे।

आगमों के हिन्दी अनुवाद के बारे में कोई विकल्प खड़ा नहीं हुआ। आगम-कोश के निर्माण के विषय में विचार-विमर्श हुआ। चार शब्दकोश सामने आए–१. राजेन्द्र सूरि का अभिधान राजेन्द्र। २. मुनि रत्नचंदजी का अर्धमागधी शब्दकोश। ३. जैनागम शब्द-संदोह। ४. हरगोविन्ददास भाई का 'पाइअसद्दमहण्णवो'। इन शब्दकोशों को देखने के बाद भी नये आगम शब्दकोश का निर्माण आवश्यक लगा।

यह कार्य अत्यंत गंभीर, अत्यंत दुरूह और अत्यंत उत्तरदायित्वपूर्ण था। इस कार्य-संपादन में अनेक कठिनाइयां थी। सबसे बड़ी कठिनाई थी–मूलपाठ के संशोधन की। संशोधन का अर्थ उनका परिवर्तन या नवीनीकरण नहीं, किंतु उनके मौलिक रूप का पर्यन्वेषण था। लिपि-दोष, दृष्टि-दोष के कारण ऐसे पाठ-भेद आ गए जिनमें से मूलपाठ को ढूंढ़ निकालना सहज कार्य नहीं था। अभयदेवसूरी को टीका-निर्माण में बड़ी कठिनाइयां महसूस हुईं। उन्होंने उन्हें संकलित करते हुए लिखा है–

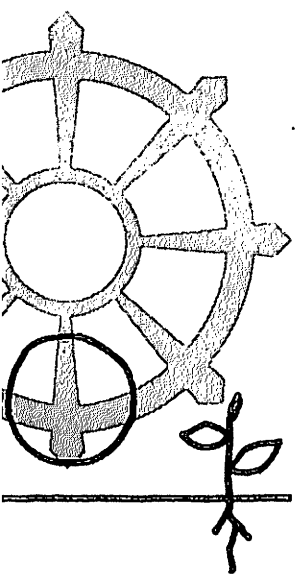

सत्सम्प्रदायहीनत्वात्, सहृदयस्य वियोगतः।
सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे॥
वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धितः।
सूत्राणामतिगाम्भीर्याद् मतभेदाच्च कुत्रचिद्॥
क्षुण्णानि संभवन्तीह, केवलं सुविवेकिभिः
सिद्धान्तानुगतो योऽर्थः, सोऽस्माद् ग्राह्यो न चेतरः।

(भगवती प्रशस्ति श्लोक १-३)

आठ-नौ शताब्दी पहले भी प्रतियों की अशुद्धता की कठिनाई थी। इस युग में तो वह और भी भयानक हुई है। वाचना की अनेकता आदि-आदि कठिनाइयां भी गहरी थी। मध्यकाल में अनेक आचार्य हुए, जिन्होंने अनेक रहस्यों का उद्घाटन और विविध विचारों का स्थिरीकरण किया। विविध परम्पराएं चल पड़ी। अर्थभेद का तनाव भी कम नहीं था। ये सारी स्थितियां अपने आपमें जटिल थी। सबसे बड़ी कठिनाई

थी—सत्संप्रदाय-परम्परा का विच्छेद। परम्परा का मौलिक स्रोत उपलब्ध नहीं था। इसीलिए अर्थभेद की बहुलता थी। सब सूत्रों का ठीक मौलिक आशय पकड़ना सरल नहीं था। आगमों का अर्थ-गांभीर्य भी दुस्तर था। उनके मनन, चिंतन और स्वाध्याय की भी चिंतनीय कमी थी। अर्थ-भेद या विचार-भेद का यह भी बहुत बड़ा हेतु था। टीका, टब्बे आदि-आदि जो हैं वे भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा लिखे गए हैं।

इन सारी कठिनाइयों के होने पर भी संकल्प में कोई शिथिलता नहीं आई। महावीर ज़यंती के दिन आचार्यश्री ने आगम-संपादन की योजना आत्मबल के सहारे ही प्रस्तुत की। आपने कहा—'आगमों की भाषा प्राकृत है। वह कभी जन-भाषा थी, पर अब नहीं है। मुझे आवश्यक लगता है कि आगमों का आज की जन-भाषा हिन्दी में अनुवाद किया जाए। आज हम इस गुरुतर भार को अपने कंधों पर उठा रहे हैं। हमारे पास काम करने वाला कोई पंडित नहीं है। यह सारा कार्य साधुओं के बलबूते पर ही हाथ में लिया जा रहा है। किन्तु कोई गृहस्थ हमें सहयोग देगा, उसे अस्वीकार नहीं करेंगे।

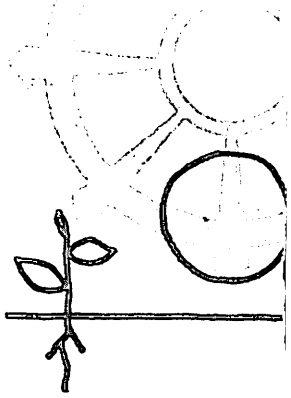

आगम का मूल्य अभी लोगों ने आंका नहीं है। आगमों के प्रकाशन की दिशा में पहला प्रयत्न जर्मन विद्वानों ने किया। दशवैकालिक का सर्वप्रथम प्रकाशन जर्मनी में हुआ। ऐसा श्रीचंदजी रामपुरिया कह रहे थे।

हमारा जीवन आगम-निश्चित है। कहा जा सकता है—आगम हमारे लिए जीवन है। हम जीवित रहने के लिए अपना जीवन लगा देंगे।' आचार्यश्री के इस पावन-संकल्प से कार्य का उद्घाटन हुआ और क्रमशः गतिमान् होता गया।

आगम-संपादन का कार्य एक विशाल कार्य है। जिस समय यह प्रारंभ किया गया उस समय हमें संपादन का अनुभव नहीं था। फिर भी कोई नियति थी। उससे जुड़ा हुआ था हमारा पुरुषार्थ। आचार्यश्री पुरुषार्थ के प्रतीक थे। हम कितना ही पुरुषार्थ करें पर काल-मर्यादा का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। आचार्यश्री ने औरंगाबाद में घोषणा की—'हम तेरापंथ द्वि-शताब्दी तक पांच वर्षों में आगमों का हिन्दी अनुवाद कर देंगे।' राजगृह के वैभार पर्वत के शिखर पर फिर पांच वर्ष में पाठ-शोधन की घोषणा की गई। ये दोनों घोषणाएं क्रियान्वित नहीं हो सकीं। इससे कार्य की दुरूहता का अनुमान किया जा सकता है। जर्मन विद्वान् डॉ. रोथ सरदारशहर में मिले। आगम-संपादन कार्य को एक वर्ष पूर्ण हो चुका था। आचार्यश्री ने डॉक्टर रोथ से पूछा—'इस कार्य में कितने वर्ष लगेंगे?'

डॉ. रोथ ने कहा—'पूरे सौ वर्ष लगेंगे।'

एक वर्ष में २५-३० आगमों की शब्द-सूचियां तैयार कर ली गई थीं। आचारांग-आयार चूला के हिन्दी अनुवाद, संस्कृत छाया और टिप्पण का कार्य भी प्रारंभ हो गया था। यह सारा कार्य उन्हें बताया गया। डॉ. रोथ बोले—'निश्चित ही कोई दिव्यशक्ति आपका सहयोग कर रही है। फिर भी इस कार्य में पचास वर्ष अवश्य लगेंगे।'

आचार्यश्री—'हम तो इस कार्य को पांच वर्ष में पूरा करना चाहते हैं।'

डॉ. रोथ—'तो फिर यह कार्य रद्दी की टोकरी में डाल दिया जाए।'

आगम-संपादन : सत्यनिष्ठा और असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति

उज्जैन में यह कार्य प्रारंभ हुआ तब आचार्यवर ने हम सबको आमंत्रित कर कहा—'यह कार्य बहुत दायित्वपूर्ण है। इस गंभीर दायित्व का हमें अनुभव करना है। आगम का जो सही अर्थ है उसे पूरी सचाई

के साथ प्रस्तुत करना है। हमारी साम्प्रदायिक परम्परा से भिन्न अर्थ फलित होता हो तो भले हो। आगम के मौलिक अर्थ की प्रस्तुति करनी है। साम्प्रदायिक परंपरा-भेद को पाद-टिप्पण में उल्लिखित किया जा सकता है, किन्तु मूल में उसका समावेश नहीं करना है।' इस संदेश-वाणी को हम सबने आत्मसात् किया और पूर्ण तटस्थ दृष्टि के साथ उस कार्य में लग गए।

पंडित प्रवर सुखलालजी सिंघवी और उनका शिष्यवर्ग जैन दर्शन का अधिकारी विद्वान् माना जाता था। भारतीय दर्शन पर भी उनका पूरा अधिकार था। हमने आगम-संपादन का कार्य शुरू किया, उसके प्रति उनके मन में संदेह था। हम साम्प्रदायिक दृष्टि से मुक्त होकर कार्य कर सकेंगे, इसका उन्हें भरोसा नहीं था। किंतु जैसे ही दशवैकालिक सूत्र प्रकाशित होकर उनके पास पहुंचा, उन्होंने उसे देखा। देखने के पश्चात् उनकी धारणा ही बदल गई। अहमदाबाद चातुर्मास (सन् १९६७) में मैं कुछ मुनियों के साथ उनसे मिला तो उन्होंने कहा–'आचार्य तुलसी के पास युवक साधु-साध्वियों की बड़ी संख्या है। उनमें अध्ययन है, चिंतन है, तर्क-शक्ति है, एक अनुशासन है। जैन आगमों और जैन दर्शन का कार्य आचार्य तुलसी ही कर सकेंगे, ऐसा मुझे विश्वास हो गया है।'

मुनि पुण्यविजयजी अहमदाबाद में आगमों के पाठ-संपादन का कार्य कर रहे थे। उनसे भी हमें इस कार्य में सहयोग और समर्थन मिला। उनके पास आगम-ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियां थीं। उन्होंने मुक्तभाव से वे हमें दीं।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

दशवैकालिक के प्रकाशन के बाद आगम-संपादन में रुचि लेने वालों का ध्यान हमारी ओर खिंच गया। हमारा कार्य सभी दिशाओं में चल रहा था। जैसे–पाठ-संशोधन, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, समालोचनात्मक टिप्पण, समीक्षात्मक अध्ययन, शब्दकोश, आदि-आदि। देवर्धिगणी ने आगम की अंतिम वाचना की थी। उसके पश्चात् (पन्द्रह सौ वर्षों के बाद) आगम-संपादन का इतना बड़ा प्रयत्न आचार्यश्री के वाचना-प्रमुखत्व में प्रारंभ हुआ। इस योजना में सौ पुस्तकों की संभावना है। लगभग एक लाख पृष्ठ होंगे। इस कार्य से हमारे साधु-साध्वियों के अध्ययन की दिशा बहुत व्यापक हुई है। भारतीय साहित्य के आकाश में यह कार्य एक उज्ज्वल नक्षत्र की भांति चमकता रहेगा।

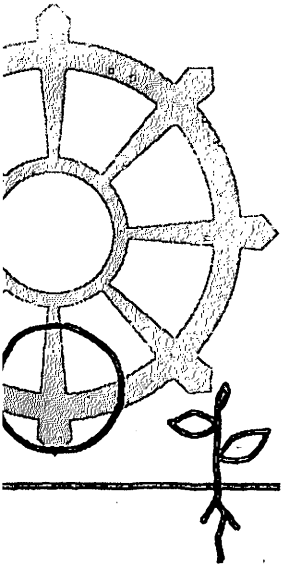

हमारी सारी प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है व्यक्तित्व निर्माण। कोई भी प्रवृत्ति समर्थ व्यक्तियों के बिना क्रियान्वित नहीं हो सकती। आचार्यश्री ने व्यक्तित्व निर्माण की दिशा में जो कार्य किया वह सचमुच श्लाघनीय है। आगम-संपादन के कार्य में कम से कम पचास साधु-साध्वियां, समणियां व मुमुक्षु बहिनें संलग्न थीं। पाठ-संशोधन के कार्य में मुनि हीरालालजी का उल्लेखनीय श्रम रहा। हिन्दी अनुवाद, टिप्पण और समीक्षात्मक अध्ययन आदि में मुनि दुलहराजजी ने जो कार्य किया वह बहुत मूल्यवान् है। उन्होंने मेरे संपादन-कार्य को काफी सरल बना दिया। इस कार्य में श्रीचंदजी रामपुरिया, मदनचंदजी गोठी भी बहुत सहयोगी रहे।

इतिहास की एक उल्लेखनीय घटना है साध्वियों, समणियों और मुमुक्षु छात्राओं द्वारा निरुक्त-कोश, एकार्थक-कोश, देशी शब्द कोश, भिक्षु आगम विषय कोश जैसे बृहत् कोश-ग्रंथों का निर्माण। केवल स्त्री जाति के समन्वित प्रयत्न से इतना बड़ा कार्य हुआ हो, ऐसा अभी ज्ञात नहीं है।

कला का विकास

आचार्य तुलसी प्रेरणा के स्रोत थे। आपने अपने शिष्यवर्ग को अनेक दिशाओं में प्रेरित किया। प्रेरणा का एक स्रोत था कला का विकास। सूक्ष्माक्षर लिपि का विकास पहले हो चुका था, वह आज भी चालू है। साधु-जीवन के उपयोगी उपकरणों–रजोहरण, पात्र, मुख-वस्त्रिका, सिलाई-रंगाई आदि प्रवृत्तियों में साध्वियों ने बहुत विकास किया है।

उज्जैन में दो अमरीकन आए। आचार्यश्री ने उन्हें सूक्ष्मलिपि वाला पत्र दिखलाया। उसे देखकर वे मुग्ध हो गए। उन्होंने एक लाख रुपये में उस पत्र को खरीदने का प्रस्ताव रखा।

आचार्यश्री ने कहा–'हमारा पत्र वाहन में नहीं जा सकता।'

वे बोले–'पदयात्रा हमारे लिए संभव नहीं है।'

आचार्यश्री ने कहा–'फिर पत्र लेना कैसे संभव है?'

प्रेक्षाध्यान

आचार्यश्री का चिंतन प्रारंभ से ही इस ओर स्फुरित होता रहा–साधु सर्वप्रथम साधु ही रहे, साधना-प्रवण ही रहे, फिर वह और-और बने। युग विचित्र है। पौद्गलिक उपकरणों की प्रधानता है। वे लुभावने भी हैं। बहुत लोग साधु-संस्थाओं के पक्ष में नहीं हैं। वे साधुओं के वैराग्य को विनष्ट करने के यत्न में रहते हैं। इन स्थितियों में साधना का प्रबल-भाव ही आलंबन हो सकता है। इसीलिए आचार्यश्री उसे सर्वोपरि महत्त्व देते थे। जैसे-जैसे अनुभव का परिपाक हुआ, वैसे-वैसे इस चिंतन में तीव्रता आई।

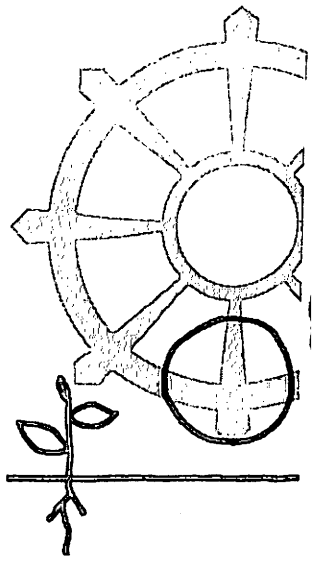

धर्मचक्र का प्रवर्तन

साधना के क्षेत्र में आपने विभिन्न प्रयोग किए। उनमें एक प्रयोग है–कुशल की साधना। इसका प्रयोग उज्जैन चातुर्मास में हुआ। एक ओर आगम-संपादन का कार्य चल रहा था, दूसरी ओर आध्यात्मिक प्रयोग चल रहे थे। इन प्रयोगों से आगम-संपादन को बल मिला और आगम-संपादन से अध्यात्म के नए आयाम खुले। आपने अध्यात्म के प्रथम प्रयोग का उल्लेख इन शब्दों में किया–'आज श्रावण बदी चतुर्दशी है। उपवास है। आज सवेरे मर्यादा का वाचन हुआ। उसके बाद साधु-साध्वियों की सम्मिलित सभा हुई। उसमें एक विशेष आयोजना साध्वादर्श को विकसित करने के लिए हमने रखी। उसमें साधना-कुशल साधु के दस आदर्श बतलाए गए, जैसे–

१. निर्जरार्थिता २. फलाशा-संयम ३. खाद्य-संयम ४. उपधि-संयम ५. वाणी-संयम ६. इन्द्रिय मानस-संयम ७. कष्ट-सहिष्णुता ८. अभय ९. पवित्रता १०. आनन्द।

आचार्यश्री प्रश्न की भाषा में बोलते–'कुशल साधक कौन है?' हम लोग समवेत स्वर में इनके उत्तरों को दुहराते, जैसे–

कुशल साधक कौन? निज्जरट्ठिए–जो निर्जरार्थी है, परमार्थी है।

कुशल साधक कौन? निरासए–जो फलाशा का संयम करता है।

कुशल साधक कौन? मियासणे–जो मितभोजी है।

कुशल साधक कौन? अप्पोवही–जो अल्प उपकरण वाला है।

कुशल साधक कौन? अप्पभासी–जो मितभाषी है।

कुशल साधक कौन? जिइंदिए–जो जितेन्द्रिय है।

कुशल साधक कौन? परिसहरिउदंता–जो कष्ट-सहिष्णु है।

कुशल साधक कौन? अभए–जो अभय है।

कुशल साधक कौन? निस्संगे–जो पवित्र है।

कुशल साधक कौन? आणंदघणे–जो आनन्दघन है।

इस योजना की अच्छी प्रतिक्रिया हुई। हम लोगों में सामूहिक कार्य दीक्षाक्रम से होता रहा है। उस चातुर्मास में सामुदायिक कार्य सबने स्वेच्छा से किए।

तेरापंथी द्विशताब्दी (सन् १९६०) के अवसर पर आचार्यश्री ने साधना का दस-सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया। वे दस सूत्र हैं–आसन, प्राणायाम, प्रतिसंलीनता, रस-परित्याग, क्षमा आदि दसविध श्रमण-धर्म का अभ्यास, पांच महाव्रतों की पचीस भावनाओं का अभ्यास, अनित्य आदि सोलह भावनाओं का अभ्यास, जप, स्वाध्याय और ध्यान।

उदयपुर में चातुर्मासिक प्रवास। सन् १९६२। उत्तराध्ययन के संपादन का कार्य चल रहा था। उसमें ध्यान की काफी सामग्री थी। दिन में हमारा जो कार्य चलता उसे संध्या प्रतिक्रमण के पश्चात् मैं आचार्यवर के सामने प्रस्तुत कर देता। ध्यान के बारे में चर्चा चली तब आचार्यवर ने सहज मुद्रा में कहा–'जैन परम्परा में ध्यान की शृंखला विच्छिन्न हो गई है। उसे फिर से जोड़ दिया जाए तो एक महत्त्वपूर्ण कार्य होगा।' आचार्यवर की प्रेरणा को मैंने अपना लक्ष्य-सूत्र बना लिया। प्रयोग चलते रहे। इस विषय में खोज भी चलती रही।

लाडनूं (सन् १९६३) में एक मास के साधना शिविर की आयोजना की गई। उसका सारा कार्यक्रम आचार्यश्री की सन्निधि में चलता। आप प्रातःकालीन प्रवचन करते, उसके अतिरिक्त शेष सारा समय एकान्त में बीतता।

मर्यादा महोत्सव शताब्दी (सन् १९६४) के अवसर पर आचार्यवर ने भावितात्मा की साधना का प्रयोग संघ को दिया। सर्दी के मौसम में साधु-साध्वियों की संख्या अधिक हो जाती। उस समय 'प्रणिधान कक्ष' की आयोजना की जाती। वह दस दिवसीय शिविर केवल साधु-साध्वियों के लिए ही होता था।

ध्यान-साधना मेरी दिनचर्या का अनिवार्य अंग बन चुका था। मैंने अपने जीवन को ध्यान की प्रयोगशाला बना लिया। ध्यान, मंत्र जप और अनुप्रेक्षा के प्रयोग चलते रहे। उसके साथ-साथ ध्यान-शिविरों का आयोजन भी होता रहा। उनका एक प्रयोग-क्रम भी निर्धारित हो गया। आखिर जयपुर (सन् १९७५) ग्रीन हाउस में इस नई ध्यान पद्धति का नामकरण प्रेक्षाध्यान किया गया। फिर इसके शिविर आयोजित किए जाने लगे। लाडनूं (सन् १९७७) में इसका विधिवत् शिविर हुआ। इससे पहले के शिविरों में मैं एक-दो प्रयोग करा देता, प्रवचन कर देता किन्तु पूरे शिविर का संचालन नहीं करता। लाडनूं में आचार्यवर ने कहा–'तुम पूरे शिविर का संचालन क्यों नहीं करते?' मैंने इस इंगित को समझा और शिविर-संचालन की पूरी प्रकल्पना की। वह प्रथम शिविर हमारे भावी शिविरों का आधार बन गया। आज प्रेक्षाध्यान की पद्धति सर्वसम्मत और सर्वप्रिय हो गई है। उसके अभ्यास से हजारों-हजारों लोग लाभान्वित हो रहे हैं। आचार्यश्री

के एक प्रेरणा-स्फुलिंग ने अध्यात्म की उस ज्योति को प्रज्वलित किया जिसकी इस बौद्धिक और वैज्ञानिक युग को बहुत अपेक्षा है।

प्रेक्षाध्यान के क्षेत्र में मुनि किशनलालजी और मुनि महेन्द्रकुमारजी ने बहुत कार्य किया है। आज पचासों व्यक्ति प्रेक्षाध्यान के प्रशिक्षक बन गए हैं। उनमें मोहनलालजी कठौतिया, जेठाभाई, धर्मानंदजी, नगीनभाई, शंकरलालजी मेहता, एस.के. जैन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रेक्षाध्यान पर विपुल साहित्य सामने आया। उसके संपादन में आगममनीषी मुनि दुलहराजजी और मुनि धनंजयकुमारजी ने अत्यन्त मनोयोग से कार्य किया। प्रेक्षा-साहित्य से प्रेक्षाध्यान के प्रति आकर्षण सघन बना। मुनि महेन्द्रकुमारजी और जेठाभाई ने जीवन-विज्ञान ग्रंथमाला के माध्यम से प्रेक्षाध्यान के साहित्य को वैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत करने का सराहनीय कार्य किया।

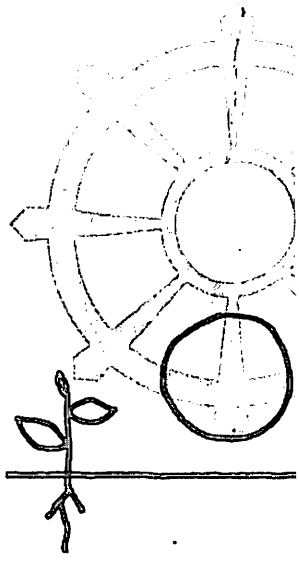

धर्मचक्र का प्रवर्तन

जीवन विज्ञान

दो दशक पूर्व नैतिक शिक्षा की आवश्यकता अधिक अनुभव की गई। अनेक राज्य सरकारों ने नैतिक शिक्षा को अनिवार्य बना दिया। प्रेक्षाध्यान के शिविर काल में अनुभव हुआ कि अभ्यास से आदमी का स्वभाव बदलता है, आदतें बदलती हैं। प्रश्न उठा कि क्या विद्यार्थी को नहीं बदला जा सकता? समाधान मिला कि बड़े आदमी की अपेक्षा छोटे लड़कों को बदलना आसान है। इस चिंतन के दौरान अध्यापकों के शिविर आयोजित हुए। चिंतन-मंथन चलते-चलते इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि शिक्षा के क्षेत्र में प्रेक्षाध्यान का प्रयोग करना चाहिए। शिक्षाधिकारियों से बातचीत चली। आखिर जीवन-विज्ञान के नाम से प्रयोग शुरू हो गए। बौद्धिक विकास और भावनात्मक विकास के संतुलनकारी प्रयोग के रूप में इसे मान्यता मिली। राजस्थान सरकार ने कुछ विद्यालयों में इस प्रयोग को चालू किया। एन.सी.ई.आर.टी. के माध्यम से विद्यार्थियों पर होने वाले प्रभावों की जांच तथा रिपोर्ट तैयार की गई। अमृत महोत्सव वर्ष में भी वह प्रयोग सत्ताईस विद्यालयों में चला। उसकी देख-रेख का सारा कार्य एन.सी.ई.आर.टी. ने किया। शिक्षा के क्षेत्र में इस प्रयोग को बहुत महत्त्व दिया गया। इस प्रयोग के माध्यम से आचार्यश्री शिक्षा-जगत् के साथ एकात्मक भाव से जुड़ गए।

जीवन-विज्ञान : प्रशिक्षक प्रशिक्षण

अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय की बात एक शताब्दी से चल रही है। स्वामी विवेकानंद ने कहा था–'अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय होना चाहिए।' आचार्य विनोबा भावे भी इसे दोहराते रहे। आचार्यश्री तुलसी के द्वारा वह कार्य संपन्न हो गया। जीवन-विज्ञान के प्रशिक्षक तैयार करने की एक योजना प्रस्तुत की गई। जैन विश्व भारती द्वारा योजना की क्रियान्विति अध्यात्म और विज्ञान के समन्वित कोर्स के रूप में हुई। एक पाठ्यक्रम बना। उसमें अध्यात्म और विज्ञान दोनों का समन्वय है। योग, दर्शन, अध्यात्म, कर्मशास्त्र–इन प्राच्य-विद्याओं के साथ शरीरविज्ञान, शरीर-क्रिया-विज्ञान, मनोविज्ञान, मनश्चिकित्सा, समाज-विज्ञान, पर्यावरण-विज्ञान आदि का भी अध्ययन कराया जाता है। इस प्रकार जीवन-विज्ञान प्रशिक्षक प्रशिक्षण को आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया कहा जा सकता है।

२३ अक्टूबर, १९८५ को अखिल भारतीय अणुव्रत समिति द्वारा 'नई शिक्षा नीति और जीवन-विज्ञान' पर एक संगोष्ठी आयोजित की गई। उसमें सुप्रसिद्ध शिक्षाविद् ईश्वरभाई पटेल, यशवंत भाई

शुक्ल, चिनूभाई नायक, डॉ. रामजीसिंह, डॉ. दयानन्द भार्गव आदि ने भाग लिया। नई शिक्षा नीति की निर्धारणा के समय एक अनुशंसा-पत्र तैयार किया गया। उसमें शिक्षा प्रणाली में जीवन-विज्ञान की अपेक्षा पर बल दिया गया–

'शिक्षा और समाज-व्यवस्था के बीच गहरा अनुबंध है। दुर्भाग्य से हमारी शिक्षा समाज-व्यवस्था से कटी हुई है। इसलिए इसकी प्रासंगिकता दिनोंदिन क्षीण होती जा रही है। शिक्षा समाज-व्यवस्था के अनुरूप होकर ही प्रासंगिक होती है। इसलिए न केवल व्यक्ति के निर्माण के लिए बल्कि समाज-व्यवस्था को युगानुरूप और गतिशील बनाने के लिए शिक्षा अत्यंत सशक्त उपकरण है। जीर्ण-शीर्ण सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों के परिवर्तन तथा लोकतांत्रिक, समाजवाद एवं सर्व-धर्म समभाव एवं अहिंसा आदि के जीवन-मूल्यों के प्रति निष्ठा जागृत करना शिक्षा का मुख्य प्रश्न है। यदि हमारी शिक्षा-व्यवस्था समाज में धर्मान्धता, अंधविश्वास, आर्थिक विषमता, हिंसा और आतंकवाद की चुनौतियों का उत्तर नहीं दे सकती, तो वह अप्रासंगिक है।

नैतिक और चारित्रिक शिक्षा पर विभिन्न शिक्षा आयोगों एवं विशेषज्ञ समितियों ने समय-समय पर अपनी महत्त्वपूर्ण अनुशंसाएं दी हैं, किंतु उनके ठोस कार्यान्वयन का कभी गंभीर प्रयास नहीं हुआ। आज मूल्यों की इस संकटग्रस्त स्थिति को अत्यंत खतरनाक माना जा रहा है और शिक्षा की प्रक्रिया को सुसंगत और व्यवहार्य मूल्य-प्रणाली तथा तर्कसंगत वैज्ञानिक एवं नैतिक दृष्टिकोण पर आधारित करने की आवश्यकता को महसूस किया जा रहा है। यह एक शुभ लक्षण है।

मूल्यों के उत्तरोत्तर ह्रास को रोकने के लिए बौद्धिक पाठ्यक्रम में भी बच्चे से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक यथायोग्य महापुरुषों की जीवनियां, महाकाव्यों से त्यागमय जीवन घटनाएं, कला-साहित्य का ज्ञान, स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास के साथ-साथ मानवीय संस्कृति के विकास की गाथा, धर्म के मूल तत्त्वों की जानकारी, विज्ञान और अध्यात्म का सामंजस्य, तुलनात्मक धर्म-दर्शन के अध्ययन आदि का समावेश अपेक्षित है। किंतु केवल बौद्धिकता एवं विचारवादिता से भावना का विकास संभव नहीं। इसलिए हमें इसका अनुसंधान करना होगा कि हम किस प्रकार शिक्षार्थियों में नैतिकता एवं चरित्र विकसित कर सकते हैं।

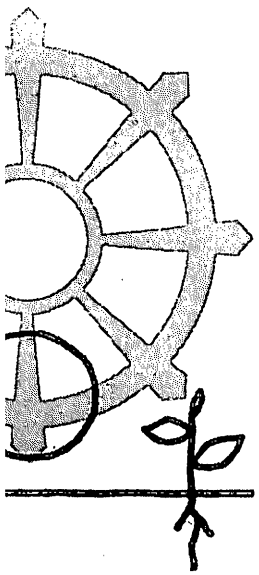

सौभाग्य से आचार्यश्री तुलसी के मार्गदर्शन में इस संदर्भ में जीवन-विज्ञान की कल्पना और योजना रखी गई है जो वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत तो है ही, अब प्रयोगसिद्ध भी हो चुकी है। केवल सिद्धांत-बोध के द्वारा विद्यार्थी अपनी अस्मिता को पहचान सके और सामाजिक न्याय के प्रति समर्पित हो सके, यह कम संभव है। इसके लिए सिद्धांत एवं प्रयोग दोनों का समन्वय आवश्यक है। जीवन-विज्ञान में अध्यात्म और विज्ञान, तत्त्वमीमांसा और योग, मानविकी और भौतिकी रसायन-विज्ञान, मनोविज्ञान और समाज-विज्ञान तथा सृष्टि-संतुलनशास्त्र का समन्वय है। संक्षेप में जीवन-विज्ञान यह मानता है कि मस्तिष्क में असीम शक्ति की जागृति तनाव और थकान के बिना की जा सकती है।

अतः संगोष्ठी की यह सशक्त अनुशंसा है कि 'जीवन-विज्ञान के अध्ययन और प्रयोग को 'नयी शिक्षा नीति' में प्रारंभिक स्तर से ही यथायोग्य अनिवार्य स्थान दिया जाए। इससे परंपरागत धार्मिक शिक्षा को लागू करने के विवाद भी खड़े नहीं होंगे एवं भारतीय संविधान की धारा २८ का भी किंचित् उल्लंघन नहीं होगा। जीवन-विज्ञान वास्तव में केवल नैतिक शिक्षा का ही विकल्प नहीं, यह शिक्षा को सार्थक, समयोपयुक्त एवं समग्र बनाने का एक विज्ञान है। इसमें न धर्म या अध्यात्म की एकांगिता है, न विज्ञान

की। अन्तर्विषयानुबंधी होने के कारण इसके अंतर्गत एक साथ सामान्यीकरण एवं विशिष्टीकरण दोनों का समन्वय है।'

७ नवम्बर, १९८५ को प्राथमिक एवं अनौपचारिक शिक्षा पर संगोष्ठी हुई। ग्रामीण-विकास एवं पंचायतराज मंत्रालय के मंत्री, सचिव, निदेशक, शिक्षा अनुसंधान अधिकारी, शिक्षाविद् तथा प्राथमिक शाला के अध्यापकों ने भाग लिया। जीवन-विज्ञान पर काफी विस्तार से विचार-विमर्श किया गया।

चुने हुए सत्ताईस विद्यालयों में जीवन-विज्ञान का प्रयोग चला। इसकी देखरेख एस.आई.ई.आर.टी. द्वारा की गई। उसके द्वारा शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए जीवन-विज्ञान प्रशिक्षण शिविर आयोजित हुआ। उसमें १०८ अध्यापक, मुख्याध्यापक संभागी बने। राजस्थान विद्यापीठ एवं राष्ट्रीय अमृत महोत्सव समिति द्वारा द्वि-दिवसीय जीवन-विज्ञान सम्मेलन (१०,११ फरवरी, १९८६) की आयोजना की गई। उसमें जीवन-विज्ञान के विविध पहलुओं पर विचार-विमर्श किया गया, शोध-पत्र पढ़े गए। इसी अवसर पर उदयपुर में कोबसे की कांफ्रेन्स हुई। उसमें हिन्दुस्तान के सभी प्रांतों के माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के अध्यक्षों एवं सचिवों ने भाग लिया। आचार्यश्री की सन्निधि में उनके द्वारा जीवन-विज्ञान पर एक संगोष्ठी (७ फरवरी, १९८६) आयोजित की गई। सुखाड़िया विश्वविद्यालय द्वारा भी ७ फरवरी, १९८६ को जीवन-विज्ञान पर एक संगोष्ठी रखी गई।

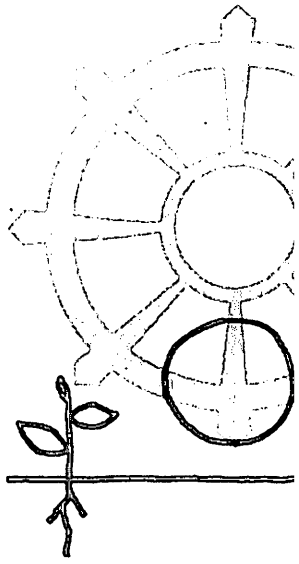

धर्मचक्र का प्रवर्तन

जीवन-विज्ञान को शिक्षा जगत् में एक अभिनव उपक्रम स्वीकार किया गया। राजस्थान, दिल्ली, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु आदि अनेक प्रांतों के विद्यालयों में जीवन-विज्ञान के प्रयोग शुरू हुए। वे बहुत सफल रहे। जीवन-विज्ञान के पाठ्यक्रम का निर्माण किया गया। इसमें मुनि किशनलालजी और शुभकरण सुराणा (मोतीपुर) ने काफी श्रम किया। अजमेर विश्वविद्यालय ने जीवन-विज्ञान को वैकल्पिक विषय के रूप में स्वीकार किया। वर्तमान में अनेक कालेजों में हजारों छात्र जीवन-विज्ञान में स्नातकोत्तर शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। इस विषय पर अनेक शोधार्थियों ने शोध-प्रबंध लिखे हैं।

जैन विद्या परिषद्

जैन विद्या के अध्ययन और अनुसंधान के लिए जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा द्वारा 'जैन विद्या परिषद्' का कार्य शुरू किया गया। उसके बाद यह कार्य जैन विश्व भारती द्वारा संचालित हुआ। इसके माध्यम से जैन विद्या के क्षेत्र में काम करने वाले विद्वानों का मिलन और शोध-पत्रों का वाचन होता है। जैन विद्या परिषद् के दिल्ली अधिवेशन में आचार्यवर ने दो विद्वानों को 'जैन विद्या मनीषी' के अलंकरण से अलंकृत किया। उनमें एक है आगम साहित्य के मर्मज्ञ जर्मन विद्वान् डॉ. एल्सडोर्फ, दूसरे हैं श्रीचंदजी रामपुरिया।

अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद् की स्थापना

धर्म और नैतिकता के क्षेत्र में युवक-शक्ति का सही ढंग से उपयोग हो सके, अनुशासन और संगठन की दृष्टि से युवक कार्य कर सकें, इस चिंतन के साथ सं. २०२१ (सन् १९६४) बीकानेर में अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद् की स्थापना हुई। उसकी अनेक उल्लेखनीय प्रवृत्तियां चल रही हैं। जैन संस्कार निर्माण की दृष्टि से उसके कार्य बहुत उपयोगी हैं। बालकों में जागृति लाने के लिए उसके अनुज के रूप में स्थान-स्थान पर किशोर मण्डल भी स्थापित हो गए हैं।

अखिल भारतीय तेरापंथ महिला मंडल की स्थापना

महिला-जागरण की दृष्टि से कार्य का प्रारंभ अणुव्रत आंदोलन के साथ-साथ हो गया। स्थान-स्थान पर महिला मण्डलों का गठन हुआ और उनकी स्वतंत्र प्रवृत्तियां चलने लगीं। संवत् २०२३ (सन् १९६६) में अखिल भारतीय तेरापंथ महिला मंडल की स्थापना हो गई। उसके बाद स्थानीय महिला मंडल के अंतर्गत 'कन्या मंडल' भी गठित होते गए। शिक्षा, संस्कार, साहस, वक्तृत्व आदि अनेक विषयों में उनकी उल्लेखनीय प्रगति हुई। इस दिशा में यह आपका एक ऐतिहासिक अवदान है।

जैन विश्व भारती

भगवान् महावीर ने २५०० वर्ष पूर्व अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्तवाद का संदेश दिया था। वह आज भी उतना ही उपयोगी है। वर्तमान समस्या के संदर्भ में शायद अधिक उपयोगी है। इस उपयोगिता के आधार पर जैन विश्व भारती की परिकल्पना ने जन्म लिया। सन् १९७१ लाडनूं में उसकी स्थापना की गई। शिक्षा, शोध, साधना, संस्कृति और सेवा में समन्वित विकास के रूप में उसका उदय हुआ। आज वह जैन दर्शन और आध्यात्मिक प्रयोग का ऊर्जा केन्द्र बनी हुई है।

अहिंसा सार्वभौम

राधा विनोदपाल अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त न्यायाधीश थे। उन्होंने कहा–'मैं आपको एक सुझाव देने आया हूं।' आचार्यश्री के पूछने पर बोले–'नैतिकता की शिक्षा देने वाली संस्थाएं नहीं हैं अथवा बहुत कम हैं। वर्तमान शिक्षा पद्धति में नैतिक शिक्षा का अभाव है। अहिंसा विश्वविद्यालय की स्थापना आवश्यक है। उसके माध्यम से अहिंसा का स्वर उदात्त बनेगा और नैतिकता विकसित होगी। आपके समाज में पैसे की कमी नहीं है। मैं चेष्टा करूंगा और सरकार से सहायता दिलाऊंगा। इस सुझाव को लेकर आपके पास आया हूं।' आचार्यश्री ने कहा–'आपका सुझाव तथ्यपूर्ण है, चिंतन सापेक्ष है। इन वर्षों में अहिंसा सार्वभौम का विकास हो रहा है। अहिंसा के विकास के लिए अनेक योजनाएं क्रियान्विति की प्रतीक्षा में हैं।'

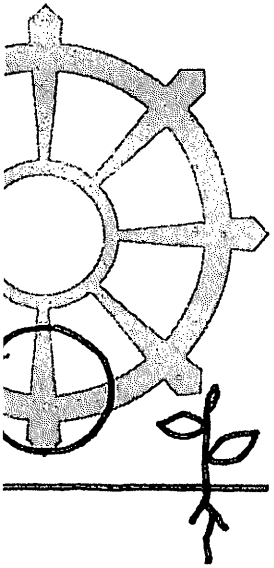

श्रावक सम्मेलन

संगठन और सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन लाने की दृष्टि से समय-समय पर श्रावक सम्मेलन आयोजित किए गए। अमृत-महोत्सव के अवसर पर कानोड़ में श्रावक सम्मेलन का पंचदिवसीय आयोजन हुआ। उसमें दीर्घकालीन विचार-विमर्श के पश्चात् अनेक प्रस्ताव पारित हुए। वे 'कानोड़ प्रस्ताव' के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनमें धार्मिक समारोहों तथा अन्य अवसरों पर की जाने वाली आडंबरपूर्ण प्रवृत्तियों को बंद करने का आह्वान किया गया। संस्कार निर्माण आदि की प्रेरणाएं उससे फलित हुईं। सामाजिक स्तर पर प्रोत्साहन और मूल्यांकन की अनेक प्रवृत्तियां विकसित हुईं। उनमें समाजभूषण, युवक-रत्न, नारी-रत्न आदि अलंकरण उल्लेखनीय हैं।

मित्र परिषद् द्वारा साहित्य प्रकाशन के लिए कोष की व्यवस्था की गई। वह एक माध्यम बना जनता तक साहित्य पहुंचाने का।

ऑडियो वीडियो कैसेट, सी.डी. आदि वर्तमान युग में विचार-संप्रेषण का सशक्त माध्यम बन चुके हैं। जैन विश्व भारती के नियमन में जेसराजजी सेखाणी के प्रयत्नों से सैकड़ों प्रवचनों और गीतों के कैसेट

एकम की रात जैसे जागरण की रात्रि थी। रातभर बसें, मोटर-कारें आदि, और भी संभव साधन इधर-इधर चक्कर लगा रहे थे। जैन विश्व भारती का प्रांगण जैसे बसों का अड्डा बन रहा था। बाहरी सड़कों पर मोटरकारों और बसों की कतारें खड़ी थीं। चारों ओर जयघोष सुनाई दे रहे थे। पूरा लाडनूं शहर, गलियां, सड़कें, घर लोगों से भरे थे। चप्पे-चप्पे पर आदमी ही आदमी दीख रहे थे। जैन विश्व भारती का सचिवालय भी आगन्तुक यात्रियों के लिए खोल दिया गया। इस उल्लासमय वातावरण में तीन महत्त्वपूर्ण कार्य एक साथ प्रारंभ हुए—आचार्यवर का जन्मदिन, अणुव्रत दिवस और विलक्षण दीक्षा।

विलक्षण दीक्षा आचार्यवर के सुचिर चिंतन की एक निष्पत्ति थी, अतः जन्मदिन और अणुव्रत दिवस के कार्यक्रम उससे पूर्णतः व्याप्त हो गए। पूरा वातावरण दीक्षामय था। जैसे ही दीक्षार्थी बहिनों ने भाषण शुरू किए, लोग बड़ी अधीरता के साथ सुनने लगे। भाषण संपन्न हुए और वे वेश बदलने के लिए चली गईं। आज्ञा-पत्रों का वाचन हुआ और वे आचार्यवर को समर्पित हो गए। अल्प समय में ही दीक्षार्थिनियां नए वेश में उपस्थित हो गईं। जनता ने पहली बार दीक्षार्थिनियों को नई वेश-भूषा में देखा। विलक्षण वेश ने विलक्षणता का एक पहलू समाहित कर दिया। आचार्यवर ने उनके पारिवारिकजनों से स्वीकृति मांगी। प्रायः सभी परिवार बहुत बड़े थे इसीलिए सैकड़ों-सैकड़ों लोग दीक्षा की स्वीकृति देने के लिए अग्रिम पंक्तियों में खड़े हो गए।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

आचार्यवर ने दीक्षार्थिनियों को संबोधित करते हुए कहा—'अब तुम विशिष्ट साधना में प्रवेश कर रही हो, घर से तुम्हारा संबंध विच्छिन्न हो रहा है। क्या तुमने भलीभांति सोच लिया है?' दीक्षार्थिनियों ने समर्पण की भाषा और मुद्रा में स्वीकृतिसूचक सिर हिलाया और दीक्षा के लिए प्रार्थना की। नमस्कार मंत्र और मंगलसूत्र की ध्वनि के साथ दीक्षा का क्रम शुरू हुआ। सामायिक सूत्र के उच्चारण के साथ दीक्षा-विधि संपन्न हुई।

आचार्यवर का जन्मदिन प्रतिवर्ष मनाया जाता था किन्तु इतनी बड़ी उपस्थिति में पहली बार ही मनाया गया। सुधर्मा सभा का परिवर्धित प्रवचन पंडाल छोटा पड़ गया। चारों ओर रास्ते बंद हो गए। दूर-दूर तक हजारों-हजारों लोग धूप में खड़े थे। इतनी भीड़ होने पर भी अपेक्षाकृत बहुत शान्ति थी। लोग जाते-जाते कहने लगे—'यदि इस समय नहीं आते तो मन में रह जाती।' दीपावली निकट होने के कारण जो लोग नहीं आ सके उनके मन में कुछ खटकता रहा। लोगों ने कहा—'यदि दीपावली के एक सप्ताह बाद यह कार्यक्रम होता तो और अधिक उपस्थिति हो जाती।' अहमदाबाद से समागत जैन समाज के प्रमुख विद्वान् पंडित दलसुख मालवणिया ने कहा—'मैंने इतनी बड़ी उपस्थिति जीवन में पहली बार देखी है।' उन्होंने आगे कहा—'तीसरी श्रेणी की बात वर्षों से चल रही थी। सब लोग बात करते हैं, पर किसी ने यह साहस नहीं किया। यह नया कदम नए चिंतन और साहस के साथ आपने ही उठाया है।' और भी अनेक प्रबुद्ध लोगों की अनेक सुन्दर प्रतिक्रियाएं सामने आईं। ऐसा लगा कि हजारों चिंतकों के मन की जो चाह थी उसकी संपूर्ति हो गई। लोगों की मंगलभावना और मंगलकामना के साथ कार्यक्रम संपन्न हुआ।

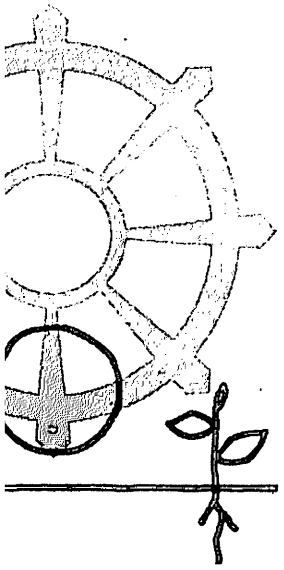

पल्लवित संस्थाएं

आचार्यश्री का गति में विश्वास था। गति की परिणति है प्रगति। गतिशील व्यक्ति अकेला नहीं चलता, उसके साथ हजारों चरण आगे बढ़ते हैं। लौ से लौ प्रज्वलित होती है। पुरुषार्थ अपने आस-पास

प्रेरणा छोड़ जाता है। आचार्यश्री अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए चल रहे थे। उनका लक्ष्य था आध्यात्मिक चेतना का विकास। उस लक्ष्य की पूर्ति के परिपार्श्व में अनेक संस्थाएं पल्लवित हुईं–

१. श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी मानव हितकारी संघ : १९४४, राणावास (राज.)
२. आदर्श साहित्य संघ : १९४८, सरदारशहर (राज.)
३. अखिल भारतीय अणुव्रत समिति : १९४९, नई दिल्ली
४. पारमार्थिक शिक्षण संस्था : १९४९, सरदारशहर (राज.)
५. मित्र परिषद् : १९५८ कोलकाता (पश्चिम बंगाल)
६. श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी स्मारक समिति : १९६०, राणावास (राज.)
७. अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद् : १९६४, बीकानेर (राज.)
८. अखिल भारतीय अणुव्रत न्यास : १९६५, नई दिल्ली
९. अखिल भारतीय तेरापंथ महिला मंडल : १९६६, बीदासर (राज.)
१०. जैन विश्व भारती : १९७१, लाडनूं (राज.)
११. साहित्य संस्थान : १९७१, टॉडगढ़ (राज.)
१२. जय तुलसी फाउण्डेशन : १९८०, लाडनूं (राज.)
१३. अहिंसा सार्वभौम : १९८३, अहमदाबाद (गुजरात)
१४. अणुव्रत विश्व भारती, सन् १९८५, राजसमंद (राज.)
१५. जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय, सन् १९९१
१६. तेरापंथ विकास परिषद्, सन् १९९४

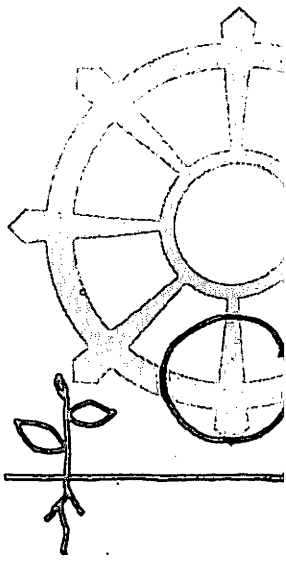

धर्मचक्र का प्रवर्तन

वर्तमान युग को आचार्यश्री का अवदान

आचार्यश्री के बहुमुखी कर्तृत्व से तेरापंथ धर्मसंघ, जैनधर्म और भारतीय दर्शन तथा चिंतन की परम्परा भी उपकृत हुई। इन क्षेत्रों में आचार्यश्री का उल्लेखनीय अवदान रहा–

(१) तेरापंथ को अवदान

• शिक्षा के क्षेत्र में नए उन्मेष • साधना के नए प्रयोग • विहार-क्षेत्र का विस्तार • आचार्य भिक्षु के सिद्धांतों की दार्शनिक प्रस्तुति • सत्यशोध की वृत्ति • संघर्षों से जूझने की क्षमता • युवा और प्रबुद्ध साधु-साध्वियों का निर्माण।

(२) जैन धर्म को अवदान

• साम्प्रदायिक समन्वय • जैन धर्म की जन-धर्म के रूप में प्रस्तुति • जैन धर्म की वैज्ञानिकता की प्रस्तुति • जैन आगम साहित्य का शोधपूर्ण संपादन • जैन साधना पद्धति–प्रेक्षाध्यान का अनुसंधान, खोज और प्रयोग।

(३) भारतीय दर्शन तथा चिंतन को अवदान

• भावात्मक एकता • अहिंसा सार्वभौम • धर्म-क्रान्ति • अणुव्रत का सिद्धान्त और आंदोलन • धर्म और विज्ञान का समन्वय • जीवन-विज्ञान।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का आदमी एक आत्मघाती सभ्यता के दंश से पीड़ित रहा। उसकी अनास्था, असंतोष, असुरक्षा, बिखराव, आक्रोश और कुंठाओं से संत्रस्त मानसिकता को उस दिशा-दर्शन की अपेक्षा थी जो उसे अन्तर्मुखी बना सके। विश्व के क्षितिज पर ऐसे अनेक व्यक्तियों का उदय होता है, जो अपने युग को सही दिशा देने में सक्षम होते हैं। आचार्यश्री तुलसी भी उन्हीं दुर्लभ महान् व्यक्तियों में से थे जिन्होंने अपने समाज, देश और युग की समस्याओं को समाधान देने का प्रयत्न किया।

आयोजन : नव उन्मेष : नई दिशाएं

आचार्यश्री का शासनकाल लम्बा रहा। उसमें आपको कुछ दुर्लभ अवसर मिले। उनका चिंतनपूर्वक उपयोग भी किया गया। इसलिए कुछ ऐतिहासिक आयोजन नव उन्मेष के निमित्त बन गए।

(१) स्थिरवास शताब्दी समारोह

वृद्ध साध्वियों की सेवा के लिए लाडनूं में सेवाकेन्द्र बना हुआ है। वहां प्रतिवर्ष साध्वियों के दो वर्ग उनकी सेवा के लिए नियुक्त किए जाते हैं। तेरापंथ धर्मसंघ में सेवा को बहुत मूल्य दिया गया है। सेवा करने वाली साध्वियां आत्म-शुद्धि के लिए सेवा करती हैं, इसलिए उनकी सेवा एकात्मकता या तन्मयता का प्रयोग बनी हुई है। सर्वोदयी नेता श्री कृष्णराज मेहता ने लाडनूं के सेवाकेन्द्र को निकटता से देखकर कहा–'मैंने हिन्दुस्तान के अनेक सेवाकेन्द्र देखे हैं, लेकिन यह सेवाकेन्द्र उन सबसे विलक्षण है। इसमें सेवा लेने वाली वृद्ध साध्वियां और सेवा करने वाली साध्वियां प्रसन्न हैं। उन सबमें समाधि और प्रसन्नता का भाव है।' सन् १९५७ में सेवाकेन्द्र की शताब्दी मनाई गई। आचार्यवर ने सेवा की दिशा में कुछ नया चिंतन किया। उसके बाद चार और समाधि-केन्द्र या सेवाकेन्द्रों की स्थापना की गई–पहला बीदासर, दूसरा राजलदेसर, तीसरा श्रीडूंगरगढ़ और चौथा गंगाशहर। वृद्ध साधुओं की सेवा के लिए छापर में एक सेवाकेन्द्र की व्यवस्था है।

(२) तेरापंथ द्वि-शताब्दी समारोह

आचार्य भिक्षु को बोधि-बीज मिला राजनगर में और उन्होंने तेरापंथ की दीक्षा स्वीकार की केलवा में। आचार्य भिक्षु की दीक्षा तेरापंथ का आदि-दिन है। इसलिए ८ जुलाई, १९६० को केलवा में तेरापंथ द्वि-शताब्दी समारोह का सूत्रपात किया गया। राजनगर के चातुर्मास में उसके शेष कार्यक्रम चले। उस अवधि में हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े विद्वान्, साहित्यकार, राजनेता, न्यायपालिका और कार्यपालिका के प्रमुख व्यक्ति तेरापंथ से परिचित हुए। उन्हें तेरापंथ और आचार्य भिक्षु के सिद्धांतों को समझने का अवसर मिला। वे लोग अणुव्रत अनुशास्ता के रूप में आचार्यश्री से परिचित थे। इस अवसर पर उन्हें तेरापंथ के आचार्य का परिचय प्राप्त हुआ। आचार्य भिक्षु के विचार आधुनिक युग के लिए अधिक उपयोगी हैं। उनकी उपयोगिता ने विचारकों का ध्यान तेरापंथ की ओर आकृष्ट किया।

तेरापंथ द्वि-शताब्दी की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि रही–साहित्य के क्षेत्र में नया उन्मेष। द्वि-शताब्दी से एक वर्ष पूर्व कोलकाता यात्रा में आचार्यश्री ने मुझे कहा–'आचार्य भिक्षु के बारे में एक पुस्तक लिखो।'

(३) भारतीय दर्शन तथा चिंतन को अवदान

• भावात्मक एकता • अहिंसा सार्वभौम • धर्म-क्रान्ति • अणुव्रत का सिद्धान्त और आंदोलन • धर्म और विज्ञान का समन्वय • जीवन-विज्ञान।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का आदमी एक आत्मघाती सभ्यता के दंश से पीड़ित रहा। उसकी अनास्था, असंतोष, असुरक्षा, बिखराव, आक्रोश और कुंठाओं से संत्रस्त मानसिकता को उस दिशा-दर्शन की अपेक्षा थी जो उसे अन्तर्मुखी बना सके। विश्व के क्षितिज पर ऐसे अनेक व्यक्तियों का उदय होता है, जो अपने युग को सही दिशा देने में सक्षम होते हैं। आचार्यश्री तुलसी भी उन्हीं दुर्लभ महान् व्यक्तियों में से थे जिन्होंने अपने समाज, देश और युग की समस्याओं को समाधान देने का प्रयत्न किया।

आयोजन : नव उन्मेष : नई दिशाएं

आचार्यश्री का शासनकाल लम्बा रहा। उसमें आपको कुछ दुर्लभ अवसर मिले। उनका चिंतनपूर्वक उपयोग भी किया गया। इसलिए कुछ ऐतिहासिक आयोजन नव उन्मेष के निमित्त बन गए।

(१) स्थिरवास शताब्दी समारोह

वृद्ध साध्वियों की सेवा के लिए लाडनूं में सेवाकेन्द्र बना हुआ है। वहां प्रतिवर्ष साध्वियों के दो वर्ग उनकी सेवा के लिए नियुक्त किए जाते हैं। तेरापंथ धर्मसंघ में सेवा को बहुत मूल्य दिया गया है। सेवा करने वाली साध्वियां आत्म-शुद्धि के लिए सेवा करती हैं, इसलिए उनकी सेवा एकात्मकता या तन्मयता का प्रयोग बनी हुई है। सर्वोदयी नेता श्री कृष्णराज मेहता ने लाडनूं के सेवाकेन्द्र को निकटता से देखकर कहा–'मैंने हिन्दुस्तान के अनेक सेवाकेन्द्र देखे हैं, लेकिन यह सेवाकेन्द्र उन सबसे विलक्षण है। इसमें सेवा लेने वाली वृद्ध साध्वियां और सेवा करने वाली साध्वियां प्रसन्न हैं। उन सबमें समाधि और प्रसन्नता का भाव है।' सन् १९५७ में सेवाकेन्द्र की शताब्दी मनाई गई। आचार्यवर ने सेवा की दिशा में कुछ नया चिंतन किया। उसके बाद चार और समाधि-केन्द्र या सेवाकेन्द्रों की स्थापना की गई–पहला बीदासर, दूसरा राजलदेसर, तीसरा श्रीडूंगरगढ़ और चौथा गंगाशहर। वृद्ध साधुओं की सेवा के लिए छापर में एक सेवाकेन्द्र की व्यवस्था है।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

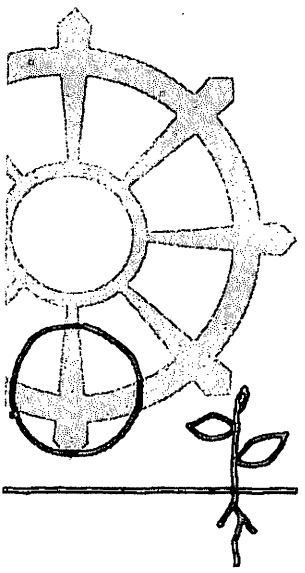

(२) तेरापंथ द्वि-शताब्दी समारोह

आचार्य भिक्षु को बोधि-बीज मिला राजनगर में और उन्होंने तेरापंथ की दीक्षा स्वीकार की केलवा में। आचार्य भिक्षु की दीक्षा तेरापंथ का आदि-दिन है। इसलिए ८ जुलाई, १९६० को केलवा में तेरापंथ द्वि-शताब्दी समारोह का सूत्रपात किया गया। राजनगर के चातुर्मास में उसके शेष कार्यक्रम चले। उस अवधि में हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े विद्वान्, साहित्यकार, राजनेता, न्यायपालिका और कार्यपालिका के प्रमुख व्यक्ति तेरापंथ से परिचित हुए। उन्हें तेरापंथ और आचार्य भिक्षु के सिद्धांतों को समझने का अवसर मिला। वे लोग अणुव्रत अनुशास्ता के रूप में आचार्यश्री से परिचित थे। इस अवसर पर उन्हें तेरापंथ के आचार्य का परिचय प्राप्त हुआ। आचार्य भिक्षु के विचार आधुनिक युग के लिए अधिक उपयोगी हैं। उनकी उपयोगिता ने विचारकों का ध्यान तेरापंथ की ओर आकृष्ट किया।

तेरापंथ द्वि-शताब्दी की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि रही–साहित्य के क्षेत्र में नया उन्मेष। द्वि-शताब्दी से एक वर्ष पूर्व कोलकाता यात्रा में आचार्यश्री ने मुझे कहा–'आचार्य भिक्षु के बारे में एक पुस्तक लिखो।'

कोलकाता प्रवास में मैंने वह पुस्तक लिखी। उसका नाम रखा 'भिक्षु विचार दर्शन।' उसमें जीवन-दर्शन की अपेक्षा विचार-दर्शन अधिक है। उसे आचार्यवर ने देखा और प्रसन्नता की अनुभूति की। आज भी वह कृति आचार्य भिक्षु के हृदय को समझने का सशक्त माध्यम बनी हुई है। इस अवसर पर और भी अनेक ग्रंथ प्रकाशित हुए। 'भिक्षु ग्रंथरत्नाकर' के नाम से आचार्य भिक्षु के मूल ग्रंथों का प्रकाशन किया गया। मर्यादा और व्यवस्था के ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद संपन्न हुआ। प्रस्तुत आयोजन विचार-मंथन और साहित्य-सृजन की दृष्टि से विकास का पहला चरण सिद्ध हुआ।

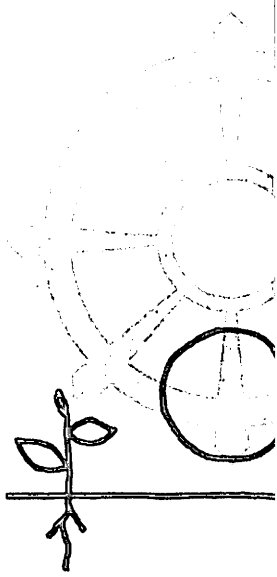

धर्मचक्र का प्रवर्तन

(३) मर्यादा महोत्सव शताब्दी समारोह

तेरापंथ मर्यादा-मंडित धर्मसंघ है। आचार्य भिक्षु ने संघीय संगठन और एकता की दृष्टि से अनेक मर्यादा-पत्र लिखे। संघ ने उन्हें आप्तवाणी की भांति शिरोधार्य किया और वह मर्यादाओं के प्रति पूर्णतः समर्पित हो गया। जयाचार्य आचार्य भिक्षु के प्रथम और सशक्त भाष्यकार थे। उन्होंने आचार्य भिक्षुकृत मर्यादाओं के उपलक्ष्य में एक महोत्सव का प्रवर्तन किया। माघ शुक्ला सप्तमी के दिन लिखे गए मर्यादा-पत्र को आधार मानकर उसी दिन महोत्सव मनाया जाने लगा। आचार्यश्री ने ८ फरवरी, १९६५ बालोतरा में उसकी शताब्दी मनाई। मर्यादाओं पर पुनर्विचार करने पर भी लगा कि आचार्य भिक्षुकृत मौलिक मर्यादाओं की आज भी उतनी ही उपयोगिता है जितनी पहले थी। उनमें परिवर्तन की कोई अपेक्षा नहीं लगी। सामायिक मर्यादाओं में कुछ परिवर्तन किए गए और उनके साथ कुछ नई मर्यादाएं जोड़ी गईं।

(४) भगवान् महावीर का पचीससौवां निर्वाण जयन्ती समारोह

भगवान् महावीर भारतीय दर्शन और तत्त्वविद्या के प्रतिनिधि पुरुष हैं। उनका महान् अवदान है अनेकान्त जैसा महान् सिद्धान्त। उसके फलित हैं समन्वय, अनाग्रह, सत्यशोध की विनम्र मनोवृत्ति, सहिष्णुता, मैत्री, संतुलन और सहअस्तित्व। आचार्यश्री भगवान् महावीर की तत्त्वविद्या से बहुत प्रभावित रहे। जैन दर्शन के प्रति आपकी गहरी आस्था थी। उसी आस्था में से निर्वाण जयंती मनाने का संकल्प प्रकट हुआ। जैन शासन के सभी मुख्य संप्रदायों ने सम्मिलित होकर उसे मनाने का निर्णय लिया। एक वर्ष तक उस समारोह की आयोजना की गई। मुख्य दिन १८ नवम्बर, १९७४ को दिल्ली में मनाया गया। उस आयोजन में आचार्यश्री का सक्षम नेतृत्व सबके लिए बहुत प्रेरक रहा। एलाचार्य श्री विद्यानंदजी के शब्दों में–'यदि आचार्य तुलसी का सक्रिय योग नहीं मिल पाता तो निर्वाण जयंती का इतना भव्य और प्रभावी आयोजन नहीं हो पाता।'

एक दिन साहू शांतिप्रसाद जैन आचार्यश्री के पास आए। उन्होंने कहा–'आचार्यश्री! कस्तूर भाई की अध्यक्षता में कार्य संचालिका समिति बन गई है, पर कार्य आगे नहीं बढ़ रहा है। भावी कार्यक्रम की दिशाएं स्पष्ट नहीं हो रही हैं। आप मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) को अनाथाश्रम में भेजें। वहां मुनि विद्यानंदजी विद्यमान हैं। ये मुनि मिलकर निर्णय लें, जिससे कार्य आगे बढ़ सके।' आचार्यश्री ने प्रार्थना को स्वीकार किया। मुझे वहां भेजने की स्वीकृति दे दी। मैं सात संतों के साथ वहां गया। मुनि विद्यानंदजी ने वहां जो स्वागत किया उससे कार्य की सफलता का संकेत मिल गया। मुनि सुशीलकुमारजी और मुनि जनकविजयजी स्थानकवासी और मूर्तिपूजक संप्रदाय के प्रतिनिधि के रूप में वहां आ गए। हम चारों मुनि चिंतन के लिए बैठे। प्रारंभ के क्षणों में ही विश्वास का वातावरण बन गया। मुनि विद्यानंदजी ने कहा–'मुनि नथमलजी जो कर दें वह मुझे मान्य है।' मैंने कहा–'मुनि विद्यानंदजी जो कर दें वह मुझे

मान्य है।' इस प्रकार एक-दूसरे ने एक-दूसरे के प्रति विश्वास प्रकट किया। विश्वास के साथ चिंतन आगे बढ़ा। निर्वाण जयंती के कार्यक्रम की पूरी रूपरेखा हमने तैयार कर ली। उस महान् अवसर को ध्यान में रखकर हमने जैन एकता की दिशा में कुछ सोचा। विचार-विमर्श के बाद एक ध्वज और एक प्रतीक का हमने निर्धारण कर लिया।

नमस्कार महामंत्र के पांच पदों पर आश्रित पचरंगे जैनध्वज की परिकल्पना की गई।

लोक-पुरुष को जैन प्रतीक के रूप में मान्य किया गया। उसके साथ सहअस्तित्व का सूत्र जोड़ा गया। 'जीवन के लिए संघर्ष अनिवार्य है' इस दर्शन के स्थान पर 'जीवन के लिए परस्परावलंबन अनिवार्य है', यह दर्शन प्रस्तुत किया गया।

एक सप्ताह के चिंतन और निर्णय के पश्चात् हम अपने-अपने स्थान पर गए। अपने-अपने संघ या आचार्य के सामने वे निर्णय प्रस्तुत किए। हमारे निर्णयों की सब ओर से संपुष्टि हो गई। आयोजन का प्रारम्भ हुआ। विशाल स्तर पर कार्यक्रम शुरू हुए। एक अकल्पित वातावरण बना। एक मंच पर चारों संप्रदायों के लगभग २५० साधु-साध्वियां एक साथ बैठते। वह दृश्य बहुत ही सुहावना और लुभावना होता। केवल साधु-साध्वियों की गोष्ठी में भी हम लगभग उतनी ही बड़ी संख्या में एक साथ बैठते। सभी साधु-साध्वियों ने आचार्यश्री को प्रधान स्थान दिया और उनके मार्गदर्शन को सहज भाव से स्वीकार किया। इसे मैं आचार्यवर के व्यक्तित्व, कर्तृत्व और समन्वयदृष्टि का ही परिणाम मानता हूं।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

मूर्तिपूजक समाज के कुछ आचार्य और मुनि निर्वाण जयंती मनाने का विरोध कर रहे थे। वह विरोध केवल प्रचार तक ही सीमित नहीं था। इस विषय को वे स्थगन आदेश के लिए उच्च न्यायालय तक ले गए। तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी और अनेक केन्द्रीय मंत्री निर्वाण जयंती समारोह समिति से जुड़े हुए थे। डी. पी. यादव सरकार की ओर से प्रतिनिधित्व कर रहे थे। आचार्यश्री ने आयोजन के विषय में प्रधानमंत्री से बातचीत की। प्रधानमंत्री ने कहा–'आचार्यजी! आपके जैन समाज के लोग ही इस मामले को न्यायालय तक ले गए हैं, तब काम आगे कैसे बढ़ेगा?'

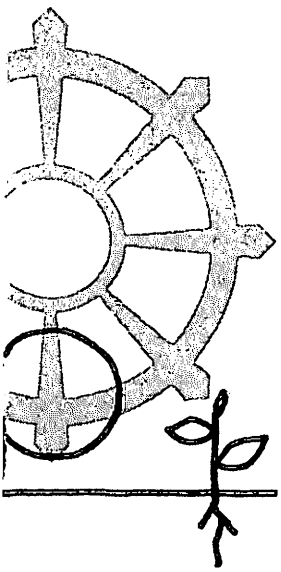

आचार्यश्री ने तत्काल कहा–'विरोध किसका नहीं होता? कब नहीं होता? यह तो दुनिया का स्वभाव है। अच्छे काम का भी विरोध होता है। हमें विरोध के कारण अटकना नहीं है। कोई विरोध करता है तो करता है। हम सब आपके साथ हैं। फिर आप विरोध की क्यों चिंता कर रही हैं?' इस बातचीत से प्रधानमंत्री को बल मिला और उन्होंने सरकारी स्तर पर काम को आगे बढ़ाने के निर्देश दे दिए।

आचार्य विनोबा भावे की हार्दिक इच्छा थी कि इस अवसर पर सब जैनों द्वारा मान्य एक ग्रंथ बने। उनके प्रयत्न से श्री जिनेन्द्रवर्णी ने ग्रंथ का संकलन शुरू किया। मान्यता के लिए जैन विद्वानों की एक संगीति आयोजित की गई। पूरे ग्रंथ का पारायण किया गया। ग्रंथ तत्त्व-प्रधान बन गया। जीवन को स्पर्श करने वाले सिद्धान्त उसमें कम थे। वह सर्वसम्मति से स्वीकृत नहीं हुआ। दूसरी संगीति आचार्यश्री तुलसी, आचार्यश्री धर्मसागरजी, आचार्यश्री समुद्रविजयसूरीजी, चार प्रतिनिधि मुनियों तथा जैन विद्वानों की सन्निधि में आयोजित की गई। उसमें ग्रंथ का पारायण हुआ। अन्त में सर्वसम्मति से एक निर्णय किया गया कि श्री जिनेन्द्रवर्णीजी और मुनि नथमलजी, ये दोनों मिलकर ग्रंथ का पुनश्चयन करें। हमने एक सप्ताह की अवधि में ग्रंथ का नवीकरण किया। लगभग ३०० श्लोक नए जोड़े। उस नवीकृत ग्रंथ को हमने संगीति के

सामने प्रस्तुत किया और वह सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गया। उसका नाम रखा गया 'समण-सुत्तं'। उसकी संपन्नता पर आचार्य विनोबा भावे ने अत्यंत हर्ष प्रकट किया। उसकी भूमिका में उन्होंने लिखा–

'मेरे जीवन में मुझे अनेक समाधान प्राप्त हुए हैं। उसमें आखिरी, अंतिम समाधान, जो शायद सर्वोत्तम समाधान है, इसी साल प्राप्त हुआ। मैंने कई दफा जैनों से प्रार्थना की थी कि जैसे वैदिक धर्म का सार 'गीता' में सात सौ श्लोकों में मिल गया है, बौद्धों का 'धम्मपद' में मिल गया है, जिसके कारण ढाई हजार साल के बाद भी बुद्ध का धर्म लोगों को मालूम होता है, वैसे जैनों का होना चाहिए। यह जैनों के लिए मुश्किल बात थी। इसलिए कि उनके अनेक पंथ हैं और ग्रंथ भी अनेक हैं। जैसे बाइबिल है या कुरान है, कितना भी बड़ा हो एक ही है। लेकिन जैनों में श्वेताम्बर-दिगम्बर ये दो, उसके अलावा तेरापंथी, स्थानकवासी ऐसे चार मुख्य पंथ तथा दूसरे भी पंथ हैं। और ग्रंथ तो बीस-पचीस हैं। मैं बार-बार उनको कहता रहा कि आप सब लोग, मुनिजन, इकट्ठा होकर चर्चा करो और जैनों का एक उत्तम, सर्वमान्य धर्मसार पेश करो। आखिर वर्णीजी नाम का एक 'बेवकूफ' निकला और बाबा की बात उसको जंच गई। वे अध्ययनशील हैं, उन्होंने बहुत मेहनत कर जैन-परिभाषा का एक कोश भी लिखा है। उन्होंने जैन-धर्म-सार नाम की एक किताब प्रकाशित की, उसकी हजार प्रतियां निकालीं और जैन समाज में विद्वानों के पास और जैन-समाज के बाहर के विद्वानों के पास भी भेज दीं। विद्वानों के सुझावों पर से कुछ गाथाएं हटाना, कुछ जोड़ना, यह सारा करके 'जिणधम्म' किताब प्रकाशित की। फिर उस पर चर्चा करने के लिए बाबा के आग्रह से एक संगीति बैठी। उसमें मुनि, आचार्य और दूसरे विद्वान् श्रावक मिलकर लगभग तीन सौ लोग इकट्ठे हुए। बार-बार चर्चा करके फिर उसका नाम भी बदला, रूप भी बदला, आखिर सर्वानुमति से 'श्रमण सूक्तम्'–जिसे अर्धमागधी में 'समण-सुत्तं' कहते हैं, बना। उसमें ७५६ गाथाएं हैं। ७ का आंकड़ा जैनों को बहुत प्रिय है। ७ और १०८ को गुणा करो तो ७५६ बनता है। सर्वसम्मति से इतनी गाथाएं लीं और तय किया कि चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को वर्धमान जयंती आएगी, जो इस साल २४ अप्रैल को पड़ती है, उस दिन वह ग्रंथ अत्यन्त शुद्ध रीति से प्रकाशित किया जाएगा। जयंती के दिन जैन-धर्म-सार, जिसका नाम 'समण-सुत्तं' है, सारे भारत को मिलेगा। और आगे के लिए जब तक जैन धर्म मौजूद है, तब तक सारे जैन लोग और दूसरे धर्म के लोग भी जब तक उनके धर्म वैदिक, बौद्ध इत्यादि जीवित रहेंगे तब तक 'जैन-धर्म-सार' पढ़ते रहेंगे। एक बहुत बड़ा कार्य हुआ है जो हजार, पन्द्रह सौ सालों में हुआ नहीं था। उसका निमित्तमात्र बाबा बना, लेकिन बाबा को पूरा विश्वास है कि यह भगवान् महावीर की कृपा है।

मैं कबूल करता हूं कि मुझ पर गीता का गहरा असर है। उस गीता को छोड़कर महावीर से बढ़कर किसी का असर मेरे चित्त पर नहीं है। उसका कारण यह है कि महावीर ने जो आज्ञा दी है वह बाबा को पूर्ण मान्य है। आज्ञा यह कि सत्यग्राही बनो। आज जहां-जहां जो उठा सो सत्याग्रही होता है। बाबा को भी व्यक्तिगत सत्याग्रही के नाते गांधीजी ने पेश किया था, लेकिन बाबा जानता था वह कौन है, वह सत्याग्रही नहीं, सत्यग्राही है। हर मानव के पास सत्य का अंश होता है, इसलिए मानव-जन्म सार्थक होता है। तो सब धर्मों में, सब पंथों में, सब मानवों में सत्य का जो अंश है उसको ग्रहण करना चाहिए। हमको सत्यग्राही बनना चाहिए यह जो शिक्षा है महावीर की, बाबा पर गीता के बाद उसी का असर है। गीता के बाद कहा, लेकिन जब देखता हूं तो मुझे दोनों में फर्क ही नहीं दीखता है।'[1]

१. ब्रह्मविद्या मंदिर, पवनार (वर्धा), ता. २५.१२.१९७४।

उसके अनुवाद का दायित्व पंडित कैलाशचंद्रजी शास्त्री और मुझे सौंपा गया। वैदिकों के लिए जो स्थान गीता का है, बौद्धों के लिए जो स्थान धम्मपद का है, वही स्थान जैनों के लिए 'समण-सुत्तं' का है।

निर्वाण जयंती से तीन वर्ष पूर्व आचार्यश्री ने कहा–'भगवान् महावीर की जीवनी तैयार करनी है।' रायपुर चातुर्मास (सन् १९७०) से पूर्व मैंने उसे लिखना शुरू किया। ढाई वर्ष के अध्ययन और अनुसंधान के साथ मैंने भगवान् महावीर का जीवनवृत्त लिखा। उसका नाम रखा गया–श्रमण महावीर। दूसरा ग्रंथ आचार्यश्री की ओर से सामने आया, उसका नाम रखा गया–'भगवान् महावीर।' निर्वाण जयंती की राष्ट्रीय समिति ने सूचना प्रसारित की–भगवान् महावीर के विषय में सर्वोत्तम कृति को समिति प्रकाशित करेगी। 'श्रमण महावीर' पुस्तक समिति के सामने प्रस्तुत की गई। और भी कुछ पुस्तकें उसके सामने आईं। राष्ट्रीय समिति के सदस्यों तथा विद्वानों की दृष्टि में उसे प्रकाशन योग्य माना गया। किंतु कुछ साधुओं की सांप्रदायिक मनोवृत्ति के कारण वैसा नहीं हो सका।

निर्वाण जयंती वर्ष साहित्य की दृष्टि से बहुत समृद्ध रहा। जैन विश्व भारती ने निर्वाण जयंती के उपलक्ष्य में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित किए–अंगसुत्ताणि (तीन भाग), आयारो, श्रमण महावीर, भगवान् महावीर, भरत-बाहुबलि महाकाव्य, आदि-आदि। आदर्श साहित्य संघ ने 'महावीर की साधना का रहस्य' प्रकाशित किया।

निर्वाण जयंती के अवसर पर जैन समाज ने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य संपादित किए। उनकी सारे विश्व में गूंज हुई। भगवान् महावीर के सिद्धान्तों की प्रासंगिकता का बोध हुआ। जैन धर्म की एक निखार-पूर्ण छवि जनता के सामने आई।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

(५) कालूगणी जन्म-शताब्दी समारोह

पूज्य कालूगणी तेरापंथ के आठवें आचार्य थे। उन्होंने तेरापंथ धर्मसंघ को नए आयाम दिए। हमारा वर्तमान का विकास उन्हीं के प्रसाद और प्रयत्न-बीज की एक निष्पत्ति है। २० फरवरी, १९७० में उनकी जन्म-शताब्दी छापर (राजस्थान) में मनाई गई। आचार्यश्री द्वारा कालूगणी का जीवनवृत्त प्रस्तुत हुआ। एक अत्यंत उपयोगी शोध-पूर्ण स्मृति ग्रंथ 'जैन व्याकरण, न्याय एवं कोश की परंपरा' प्रकाशित हुआ। अन्य अनेक ग्रंथ सामने आए।

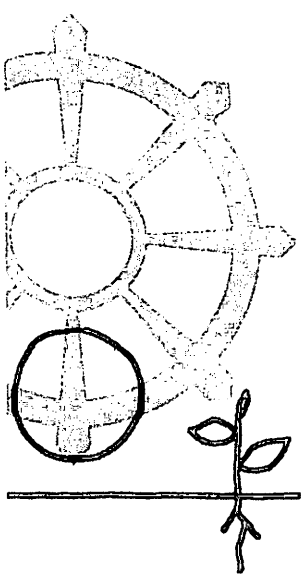

(६) जयाचार्य निर्वाण-शताब्दी समारोह

जयाचार्य तेरापंथ के नवनिर्माता होने के साथ-साथ महान् साहित्यकार और अनुशासन के मंत्रदाता थे। इन सब बिन्दुओं को ध्यान में रखकर उनका निर्वाण-शताब्दी वर्ष मनाया गया। उसमें कुछ उल्लेखनीय आयोजन और कार्य संपन्न हुए–जयसंसद का गठन, जय तुलसी फाउण्डेशन की स्थापना, दिल्ली में अनुशासन यात्रा का विशाल और भव्य कार्यक्रम, जय तुलसी फाउण्डेशन द्वारा अणुव्रत पुरस्कार की घोषणा। इसी शताब्दी के उपलक्ष्य में आचार्यश्री ने अनुशासन-गीत लिखा। 'निज पर शासन : फिर अनुशासन' का मंत्र भी इसी शताब्दी में समुच्चारित हुआ। २६ अगस्त, १९८१ दिल्ली में इसका मुख्य समारोह आयोजित हुआ। जय साहित्य के प्रकाशन का भगीरथ कार्य हाथ में लिया। आचार्यवर ने भगवती सूत्र की जोड़ के संपादन का कार्य शुरू किया। प्रस्तुत ग्रंथ राजस्थानी का बहुत बड़ा या सबसे बड़ा ग्रंथ

है। भगवती सूत्र, उसकी टीका व अन्य अनेक ग्रंथों के साक्ष्य से किया जाने वाला यह संपादन-कार्य जोड़ के रचना-कार्य से कम जटिल नहीं था। आचार्यश्री ने बहुमुखी प्रवृत्तियों के साथ इस कार्य को भी संपन्न किया। इसमें साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा का भी उल्लेखनीय श्रम रहा।

(७) मघवा निर्वाण शताब्दी समारोह

वीतराग कल्प आचार्यश्री मघवा तेरापंथ के पांचवें आचार्य थे। आचार्य मघवा पापभीरु और पुण्यात्मा थे। समतामूर्ति और धृतिधारी थे। समता, क्षमा, सरलता, सहिष्णुता, श्रमशीलता आदि गुणों के आकर थे। वे संस्कृत के पंडित थे। तेरापंथ धर्मसंघ में संस्कृत भाषा का जो विकास हुआ है, उसका मूल श्रेय आचार्य मघवागणी को है। १२ मार्च, १९९३ (चैत्र कृष्णा पंचमी वि.संवत् २०४९) से आचार्य मघवा निर्वाण शताब्दी का साप्ताहिक कार्यक्रम रहा। सरदारशहर में आयोजित इस कार्यक्रम में 'वीतराग कल्प आचार्य मघवा' आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का लोकार्पण हुआ।

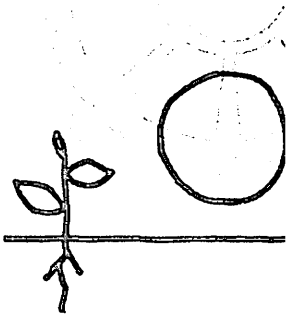

अभिवंदना और नियोजन

अपने पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना, उनके गौरवपूर्ण कार्यों को प्रस्तुति देना एक शिष्ट परम्परा है। आचार्यश्री ने इस परम्परा का सजगता से निर्वाह किया। उसका प्रभाव शिष्य-समुदाय पर भी हुआ। उसने आचार्यश्री के यशस्वी व्यक्तित्व को उजागर करने का कोई अवसर नहीं खोया।

(१) धवल समारोह

धर्मचक्र का प्रवर्तन

आचार्यश्री के आचार्यत्व काल के पचीस वर्ष की संपन्नता पर 'धवल समारोह' आयोजित किया गया। लौकिक क्षेत्र में रजत जयंती मनाई जाती है। अध्यात्म के क्षेत्र में उसे 'धवल समारोह' का रूप दिया गया। इस अवसर पर आचार्यश्री ने 'मनोनुशासनम्' नामक ग्रंथ संघ को उपहार में दिया। यह अध्यात्म या योग के विषय का सर्वांगीण ग्रंथ है। इसे जैन साधना-पद्धति का प्रतिनिधि-ग्रंथ कहा जा सकता है। इसका प्रथम समारोह भाद्रपद शुक्ला नवमी (सन् १९६१) को बीदासर में हुआ। इस अवसर पर मुख्यमंत्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया आदि राजनीतिक व्यक्तियों के अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति आए, सुप्रसिद्ध साहित्यकार कामरेड यशपाल। उन्होंने कहा–'लखनऊ से बीदासर आना एक कठिन बात है, किंतु आचार्यश्री ने मुझे इतना आत्मीय बना लिया है इसलिए इनके 'धवल समारोह' के मंगल पर्व पर मैं अपना महाकाय उपन्यास 'झूठा-सच' आचार्यश्री को भेंट करने आया हूं।'

धवल समारोह का मुख्य आयोजन १ मार्च, १९६२ को गंगाशहर में आयोजित हुआ। उस अवसर पर तत्कालीन उपराष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन ने अभिनंदन ग्रंथ समर्पित किया। आचार्यश्री के जीवन के विषय में दो ग्रंथ प्रकाश में आए–एक मेरा 'आचार्यश्री तुलसी : जीवन और दर्शन' और दूसरा मुनि बुद्धमल्लजी का 'आचार्य तुलसी : जीवन-दर्शन।'

(२) षष्टिपूर्ति समारोह

जीवन के साठ बसंतों की संपन्नता पर १६ नवम्बर, १९७४ को दिल्ली में षष्टिपूर्ति समारोह की आयोजना की गई। उसके उपलक्ष्य में तत्कालीन राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद ने 'आचार्य तुलसी षष्टिपूर्ति अभिनंदन ग्रंथ' आचार्यश्री को भेंट किया।

भगवान् महावीर की पचीससौवीं निर्वाण जयंती के सफल सूत्रधार के रूप में आचार्यश्री का व्यक्तित्व जनता के सामने उभर आया।

(३) दीक्षा-कल्याणक समारोह

मुनि जीवन के ५० वर्षों की संपन्नता के उपलक्ष्य में आयोजित किया गया 'दीक्षा-कल्याणक समारोह।' २३ दिसम्बर, १९७५। जैन विश्व भारती, लाडनूं के प्रांगण में उसका भव्य समारोह। तत्कालीन उपराष्ट्रपति श्री बी. डी. जत्ती आदि अनेक प्रमुख व्यक्ति उसमें उपस्थित हुए। उसके उपलक्ष्य में तेरापंथ युवक परिषद् ने 'दीर्घा' नामक ग्रंथ प्रकाशित किया। उसमें आचार्यश्री के व्यक्तित्व और कर्तृत्व का सचित्र लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया।

(४) अमृत महोत्सव

आचार्य-काल के पचासवें वर्ष के उपलक्ष्य में अमृत महोत्सव मनाने की कल्पना हुई। आचार्यवर ने कहा–'आयोजन बहुत हो चुके, एक नया आयोजन फिर क्यों किया जाए?' आपकी अनिच्छा का मर्म हमने पकड़ा। मैंने कहा–'यह आयोजन नहीं किंतु भविष्य को और अधिक समर्थ-सार्थक बनाने का उपक्रम होगा।' इस आधार पर मौन स्वीकृति मिल गई। वह कहां और कैसे मनाया जाए, इसका भार मुझ पर आ गया। मैंने आचार्यश्री के इंगित को समझ उसे मेवाड़ में मनाने की घोषणा की। गंगापुर आचार्य-पदाभिषेक का स्थल है इसलिए वहां प्रथम चरण मनाया गया। आचार्यश्री ने अणुव्रत आंदोलन के माध्यम से चरित्र निर्माण का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। अमृत महोत्सव की आयोजना का प्रथम कार्य रहा–चरित्र निर्माण के कार्य को आगे बढ़ाना। उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'अमृत-कलश-यात्रा' की परिकल्पना प्रस्तुत हुई। यात्रा में वाहन पर अमृत कलश रखा गया। गंगापुर से पद यात्रा प्रारंभ हुई। सात-सात सप्ताह तक मेवाड़ के विविध अंचलों का स्पर्श कर उसे आमेट में संपन्न किया गया। पूरणचंद्र बडोला, डॉ. महेन्द्र कर्णावट आदि ने उसका संचालन किया। इस यात्रा के दौरान (१) दहेज उन्मूलन, (२) मिलावट निरोध, (३) मद्य-निषेध, (४) अस्पृश्यता निवारण, और (५) भावनात्मक एकता–इन पांच प्रतिज्ञाओं से युक्त ३५,४६० संकल्प-पत्र अमृत कलश में डाले गए।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

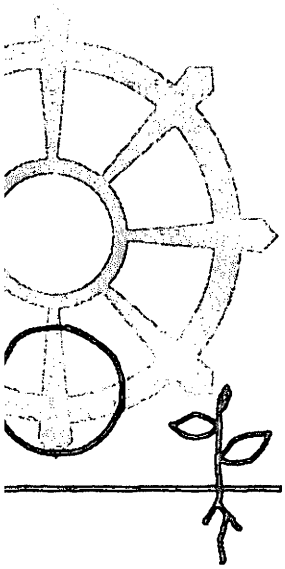

अमृत महोत्सव वर्ष का दूसरा कार्यक्रम था–बौद्धिक तथा भावनात्मक विकास की संतुलित शिक्षा पद्धति का प्रस्तुतीकरण। शिक्षा हमारे युग की एक उलझी हुई पहेली बनी हुई है। जीवन-विज्ञान के रूप में उसे मूल्यपरक बनाने के लिए एक सुंदर, सरल और सक्षम हल प्रस्तुत हुआ। उसे राष्ट्रव्यापी बनाने के लिए विविध उच्चस्तरीय संगोष्ठियों तथा प्रयोगों द्वारा शिक्षा क्षेत्र में लागू किए जाने का प्रयत्न किया गया।

अमृत महोत्सव वर्ष के लिए चतुःसूत्री कार्यक्रम निर्धारित किया गया–

१. समर्पण २. विसर्जन ३. व्रत-दीक्षा ४. उपासक-दीक्षा।

मेरा विश्वास है जब तक अपरिग्रह की दिशा में प्रयत्न नहीं होगा, अहिंसा के प्रयत्नों में सार्थकता नहीं आएगी। हिंसा का परिग्रह से बड़ा संबंध है। व्यक्ति हिंसा के लिए परिग्रह बाद में जुटाता है, पहले परिग्रह के लिए हिंसा करता है। इस स्थिति में विसर्जन का अभियान बहुत कारगर हो सकता है। यह अभियान समूची मानव-जाति की चेतना को जगाने का अभियान है। हिंसा की आग में झुलसते हुए विश्व के लिए विसर्जन को मैं अमृत की बूंदें मानता हूं। विसर्जन का प्रयोग अमृत महोत्सव की महान् उपलब्धि

बना। अपरिग्रही समाज-रचना की दिशा में चरण बढ़ाकर ही अहिंसक समाज-रचना के स्वप्न को साकार किया जा सकता है। इस दिशा में अमृत महोत्सव एक नई प्रेरणा, एक नया अभियान बन गया।

साठ वर्ष के बाद जीवन की दिशा बदलनी चाहिए। परिवार की सीमा से कुछ आगे बढ़कर व्यापक सीमा में प्रवेश की अपेक्षा अनुभव की जानी चाहिए। इस विचार के आधार पर उपासक दीक्षा का प्रयोग किया गया। गृहस्थ जीवन त्यागमय और नैतिकतापूर्ण बने–इस दृष्टि से व्रत-दीक्षा का आधुनिकीकरण किया गया। सम्यक्त्व दीक्षा का नवीनीकरण भी इसी शृंखला की एक कड़ी बना।

अमृत महोत्सव का दूसरा चरण आमेट, तीसरा चरण उदयपुर और चौथा चरण राजसमंद में मनाया गया। तीसरे चरण के समय महामहिम राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने आचार्यश्री को 'भारत ज्योति' का अलंकरण उपहृत किया। यह राजस्थान विद्यापीठ का सर्वोच्च अलंकरण है। आचार्यश्री 'आत्म-ज्योति' थे। जो आत्म-ज्योति होता है उसे ज्योति का अलंकरण ओढ़ने की जरूरत नहीं होती, फिर भी हम व्यवहार की दुनिया में सांस लेते हैं। व्यवहार में आत्मा को शरीर का आवरण ओढ़ना ही होता है।

जैन एकता की दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयोग है–संवत्सरी की एकता। उसे संपादित करने के लिए आचार्यश्री की सन्निधि में 'जैन समन्वय सम्मेलन' का आयोजन किया गया।

आचार्यवर के जीवन-दर्शन और अवदानों को चित्रों के माध्यम से प्रदर्शित किया गया। आमेट और उदयपुर में प्रदर्शित दोनों प्रदर्शनियां महत्त्वपूर्ण थीं। उनके माध्यम से जनता ने आचार्यश्री के व्यक्तित्व और कर्तृत्व का साक्षात्कार किया। समाचार-पत्रों ने अमृत महोत्सव के कार्यक्रम के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। सामयिक संवादों के अतिरिक्त बड़े-बड़े लेख प्रकाशित किए। जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने वाले इतने लेख एक साथ इससे पूर्व कभी प्रकाशित नहीं हुए थे।

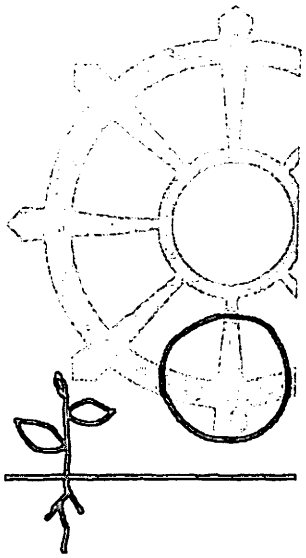

धर्मचक्र का प्रवर्तन

योगक्षेम वर्ष

११ नवम्बर, १९८८ को आचार्यवर ने ७५वें वर्ष में प्रवेश किया। इस उपलक्ष में कोई आयोजन की कल्पना नहीं की गई। अनायास प्रशिक्षण की परिकल्पना हुई, पचहत्तरवें वर्ष में प्रवेश का संदर्भ जुड़ गया और उसे 'योगक्षेम वर्ष' के रूप में मनाने का निर्णय हो गया। योगक्षेम वर्ष तेरापंथ की भाग्य-लिपि का एक अनुत्तर अभिलेख बन गया। उसके सारे कार्यक्रम प्रज्ञापर्व समारोह समिति के अंतर्गत जैन विश्व भारती में आयोजित हुए। बहुआयामी प्रशिक्षण की दृष्टि से प्रशिक्षण व्यवस्था को चार भागों में बांटा गया–१. प्रबुद्ध वर्ग २. बोधार्थी वर्ग ३. तत्त्वज्ञ वर्ग ४. स्नातक वर्ग। इनमें २५० से अधिक साधु-साध्वियों एवं समण-समणियों ने प्रशिक्षण प्राप्त किया, विकास के नए आयाम उद्घाटित हुए।

योगक्षेम वर्ष में प्रशिक्षण का मुख्य उद्देश्य रहा–

१. आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण।

२. जैन दर्शन, तेरापंथ, प्रेक्षाध्यान एवं जीवन-विज्ञान के अधिकृत प्रवक्ताओं का निर्माण।

त्रिदिवसीय अनुष्ठान के पश्चात् २१ फरवरी, १९८९ को प्रज्ञापर्व समारोह का विधिवत् उद्घाटन हुआ और ६ फरवरी, १९९० को समापन समारोह। लगभग एक वर्ष तक प्रशिक्षण का सघन उपक्रम चला। साधु-साध्वियों और समण-समणियों के सर्वतोमुखी विकास की दृष्टि से यह उपक्रम बहुत मूल्यवान

प्रमाणित हुआ। योगक्षेम वर्ष की कुछ उपलब्धियां बहुत महत्त्वपूर्ण रहीं–

- भगवान् महावीर के जीवन और दर्शन पर 'गाथा' ग्रंथ का प्रणयन।
- प्रशिक्षण में विभज्यवादी शैली का प्रयोग।
- जैन जीवन शैली का निर्धारण।
- अहिंसा प्रशिक्षण पद्धति का प्रयोग।
- परीक्षा (मूल्यांकन) की नई पद्धति का निर्धारण।
- आत्म-विज्ञान की नई शाखा का उद्घाटन।

योगक्षेम वर्ष में धर्मसंघ की व्यवस्था में भी एक नया उन्मेष आया। आचार्यवर ने अपने पदारोहण दिवस पर ९ सितम्बर, १९८९ को धर्मसंघ में नई व्यवस्था का प्रवर्तन करते हुए महाश्रमण और महाश्रमणी पद का सृजन किया। आचार्यवर ने मुनि मुदितकुमार को 'महाश्रमण' और साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा को 'महाश्रमणी' पद पर प्रतिष्ठित किया। आचार्य, युवाचार्य, महाश्रमण, महाश्रमणी–यह धर्मसंघ की अंतरंग परिषद् बन गई। इस दूरदर्शितापूर्ण कार्य ने धर्मसंघ में एक नए इतिहास का निर्माण कर दिया।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

आचार्यवर ने आध्यात्मिक एवं संघीय चेतना के उन्नयन की दृष्टि से अनेक जन-अभिप्रेरणा वर्षों की संकल्पना और आयोजना की–१. संयम वर्ष (सन् १९८२-८३) २. जीवन-विज्ञान वर्ष (सन् १९८४-८५) ३. स्वाध्याय वर्ष (सन् १९८७-८८) ४. भिक्षु चेतना वर्ष (सन् १९९२-९३) ५. अणुव्रत वर्ष (सन् १९९४-९५) ६. प्रेक्षा वर्ष (सन् १९९५-९६)। इन अभिप्रेरक वर्षों में जन-चेतना के जागरण का उल्लेखनीय कार्य हुआ। तेरापंथ के असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण, प्रेक्षाध्यान, अणुव्रत, जीवन-विज्ञान आदि को गहराई से समझने का अवसर मिला। ये वर्ष तेरापंथ के चिन्तन-दर्शन तथा धर्मसंघ के मानव हितकारी अवदानों को व्यापक बनाने में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए।

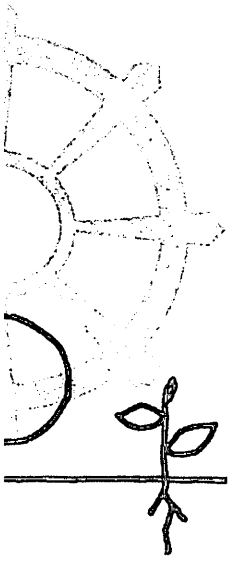

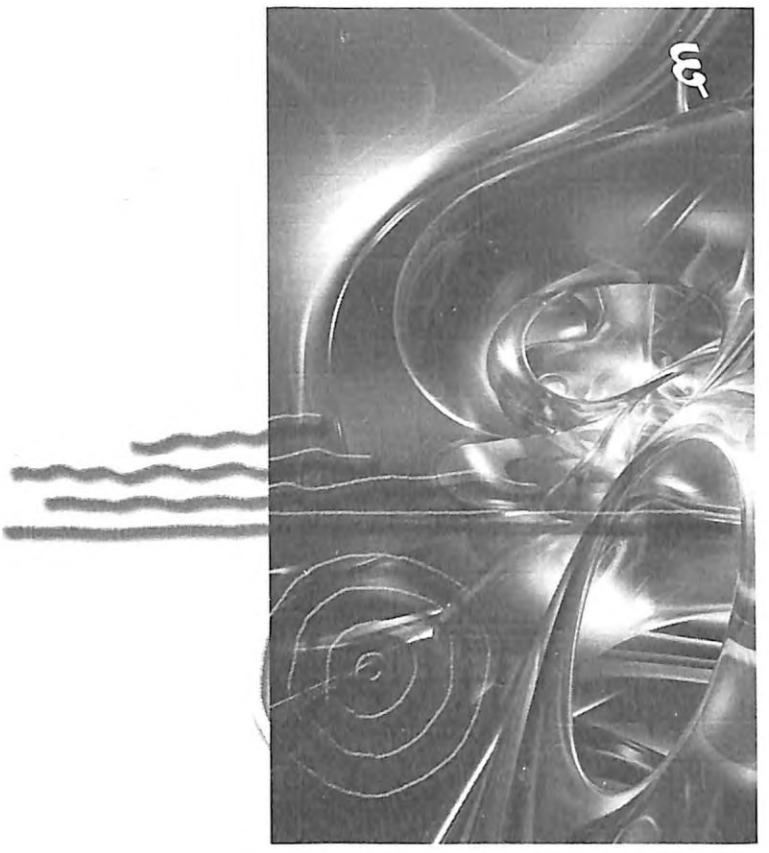

विचार मंथन

आचार्यश्री तुलसी विविधताओं के संगम थे। उनमें श्रद्धा भी थी, तर्क भी था, सहिष्णुता भी थी, आवेग भी था और शासक का मनोभाव भी थी। हृदय की सुकुमारता भी और कठोरता भी, अपेक्षा भी थी और उपेक्षा भी। राग भी था और विराग भी।

विचार मंथन

व्यक्तित्व की प्रतिमा

व्यक्तित्व की प्रतिमा दो धातुओं से बनती है। वे धातुएं हैं–आचार और विचार। ये ही जीवन के दो पंख हैं। इन्हीं के सहारे व्यक्ति उड़ान भरता है और बहुत ऊंचाई तक पहुंच जाता है। आचार की ऊंचाई में विचारों की गहराई होती है और विचारों की ऊंचाई में आचार की गहराई होती है। दोनों एक-दूसरे को थामे हुए हैं।

समुद्र की गहराई और पर्वतों की ऊंचाई को व्यक्ति नाप सकता है, पर विचारों की गहराई और ऊंचाई नाप सके, वैसी शक्ति कोई नहीं है। मैं आचार्यश्री के विचारों की थाह पाने का यत्न नहीं कर सका हूं। उनका स्पर्श ही मेरे लिए पर्याप्त है।

आस्था

विचारों के उत्स दो होते हैं–निसर्ग और चिंतन। आचार्यश्री के विचार चिंतन की अपेक्षा निसर्ग के अधिक समीप हैं। वे आत्मा की सन्निधि में विश्वास करते हैं। इसीलिए उनकी स्फुरणा जितनी सहज है उतनी शास्त्रीय नहीं है। युद्धोत्तर काल में जनमानस अप्रामाणिकता से आक्रान्त हो रहा था, विकृतियां प्रसार पा रही थीं, उस समय आचार्यश्री ने मार्मिक बात कही। उससे समस्या का परिधान ही नष्ट हो गया। लोग कहते थे–सचाई का नाम शेष हो रहा है, यह आज के युग की सबसे बड़ी समस्या है। आचार्यश्री ने तब कहा–'सबसे बड़ी समस्या यह है कि सचाई के प्रति आस्था नहीं रही है। सचाई का अभाव जितना चिंताजनक नहीं है उतना चिंताजनक है उसके प्रति आस्था का अभाव। उसके प्रति आस्था हो तो वह फिर प्रतिष्ठा पा सकती है। किंतु आस्था का रूप यह हो जाए कि आज झूठ के बिना काम चल ही नहीं सकता, तब सचाई की पुनः प्रतिष्ठा की आशा ही कैसे की जाए?'

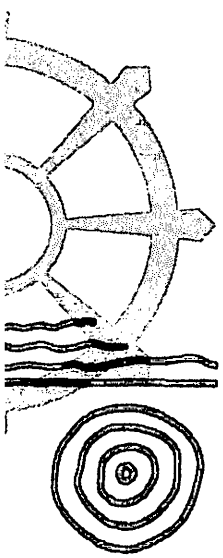

अनुशासन

युग की सर्वोपरि समस्या आस्था और अनास्था के बीच में है। पदार्थ में आस्था फलित हुई है, अपने में अनास्था पनपी है। असंयम और अनुशासनहीनता इसी मनोवृत्ति के परिणाम हैं। बाहरी विधि-विधानों का जाल भी इसी परिस्थिति में बिछ पाता है। आचार्यश्री ने एक बार कहा था–'अंतर् की आंख खुलने पर दीया आलोक देने नहीं आता। दीया स्वयं नहीं जलता, जलाया जाता है। मर्यादाएं स्वयं नहीं आतीं, वे बुलाई जाती हैं। बुलाने वाला कौन? वही, जो स्वयं नियन्ता न हो। जो जितना अधिक नियंत्रणहीन होता है वह

उतना ही अधिक अपने आस-पास मर्यादा का जाल बुनता है। संयम और अनुशासन परस्पर परिव्याप्त हैं। संयम के बिना कोई अनुशासित नहीं होता और जो अनुशासित नहीं होता, वह संयम को नहीं साध सकता।'

हिन्दुस्तान स्वतंत्र हो गया पर उसने अपनी परंपरागत सहज स्वतंत्रता की स्मृति को धुंधला बना दिया। उस स्थिति में अनेक समस्याएं उठ खड़ी हुईं। विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता से शिक्षक और शासक दोनों अधीर हो उठे। आचार्यश्री समय-समय पर विद्यार्थियों के बीच गए और उन्हें समझाया–'आप विद्यार्थी हैं, इसलिए तोड़फोड़ व विध्वंसमूलक कार्यों में भाग न लें। राजनीतिक संघर्षों और विप्लव में अपनी शक्ति, प्रतिभा और समय का दुरुपयोग न करें। अनुशासन, नम्रता, सद्व्यवहार और संयत आचरण विद्यार्थी के अमूल्य आभूषण हैं। उन्हें धारण करना प्रत्येक विद्यार्थी का आवश्यक कर्तव्य है।'

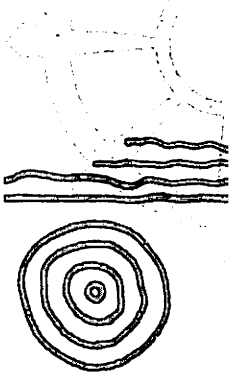

अनुशासनहीनता केवल विद्यार्थियों में ही नहीं है, उसे समाज के अनेक अंगों में प्रवेश मिला है। स्वतंत्रता दिवस का उत्सव मनाने वालों को संबोध देते हुए आचार्यश्री ने कहा–'अपने पर नियंत्रण न हो सके तब कैसी स्वतंत्रता? स्वतंत्रता में सुख और परवशता में दुःख, यह सत्य या तो सत्य नहीं है या इसका सही रूप पकड़ा नहीं जा रहा है। अवश्य कहीं भूल है।

मैं समझता हूं भूल सिद्धांत में नहीं, भूल उसे पकड़ने में हो रही है। स्वतंत्रता अपना निजी गुण है। अन्याय के सामने न झुकने वाले विदेशी सत्ता में भी स्वतंत्र रह सकते हैं और अन्याय के प्रवर्तक स्वदेशी सत्ता में भी स्वतंत्र नहीं बनते। विदेशी सत्ता हटने पर आत्मानुशासन आना चाहिए, वह आया नहीं। इसलिए सच्ची स्वतंत्रता नहीं आई।'

जब-जब अनुशासनहीनता का प्रदर्शन हुआ तब-तब आचार्यश्री ने उसकी आलोचना की और जनता को पथ-दर्शन दिया। सीमा-निर्णय के समय जो दंगे हुए, उस समय आपने कहा था–'सीमा कमीशन का फैसला लोगों के समक्ष आया, तब कहीं-कहीं ऐसी जघन्य घटनाएं घटीं कि उन्हें देखकर नागरिकता स्वयं लजाती है। यह अनुशासन वर्जित और अश्रद्धामय मानस का परिचायक है। अतः मैं राष्ट्र के नागरिकों से कहना चाहूंगा कि वे अपने जीवन में अनुशासन को पूरा-पूरा स्थान दें।'

आप हिन्दू हैं या जैन?

आचार्यश्री बिहार के जनपदों में प्रवचन कर रहे थे। एक व्यक्ति ने पूछा–'आप हिन्दू हैं या मुसलमान?'

आचार्यश्री ने उत्तर दिया–'भाई! मैं हिन्दू भी नहीं हूं, क्योंकि मेरे सिर पर चोटी नहीं है। मैं मुसलमान भी नहीं हूं क्योंकि मैं इस्लाम की परम्परा में नहीं जन्मा हूं।'

'तो आप क्या हैं?' वह पूछ बैठा।

आचार्यश्री ने कहा–'मैं जन्मना मानव हूं। अपने आपको जगाने या जीतने का यत्न करता हूं, इसलिए जैन हूं।'

पूना की एक परिषद् में एक संस्कृत विद्वान् ने पूछा–'जैन हिन्दू हैं या नहीं?' आचार्यश्री ने कहा–'हिन्दू का अर्थ भारतीय हो तो जैन हिन्दू हैं और उसका अर्थ यदि वैदिक धर्म का अनुयायी हो तो जैन हिन्दू नहीं हैं।'

आचार्यश्री की दृष्टि में जैन, वैदिक, ईसाई, मुसलमान बनने से पहले मनुष्य को मनुष्य बन जाना चाहिए। वह ऐसा करके ही और-और बन सकता है।

९ दिसम्बर, १९७५ को विज्ञान भवन, नई दिल्ली में विश्व हिन्दू धर्म सम्मेलन का आयोजन। आचार्यश्री द्वारा 'हिन्दू' शब्द पर अपने चिंतन का प्रस्तुतीकरण–

'आज हम विश्व हिन्दू धर्म सम्मेलन के माध्यम से हिन्दू धर्म तथा संस्कृति पर चिंतन करने के लिए यहां एकत्र हुए हैं। जो एकत्र हैं उनमें वैदिक, जैन, बौद्ध, सिक्ख आदि अनेक धर्मों के प्रवक्ता हैं। सब प्रवक्ता हिन्दू-धर्म के बारे में अपने-अपने विचार प्रस्तुत करेंगे। इस विषय में मुझे कई बार चिंतन का अवसर मिला है। मेरे सम्मुख अनेक बार यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि जैन लोग हिन्दू हैं या नहीं?

मैंने इस प्रश्न पर गहराई से चिंतन किया। चिंतन के पश्चात् मैं जिस निष्कर्ष पर पहुंचा, वह मैंने प्रश्नकर्ताओं को बताया। आज मैं आप सबके सामने अपना विचार प्रस्तुत कर रहा हूं। मेरे चिंतन का मुख्य विषय है, 'हिन्दू' शब्द का अर्थ क्या है? वैदिक का अर्थ स्पष्ट है–जो वेदों का प्रामाण्य स्वीकार करता है, वह वैदिक है। 'जिन' अर्थात् तीर्थंकर की वाणी को प्रमाण मानता है, वह जैन है। बुद्ध का अनुगमन करने वाले बौद्ध हैं। पर हिन्दू न तो कोई शास्त्र है और न कोई व्यक्ति।

आरंभ में 'हिन्दू' शब्द किसी जाति या धर्म का वाचक नहीं रहा है। मेरे अभिमत में उसका संबंध भौगोलिक स्थिति से था। इसका उद्गम सिंधु नदी से है। सिन्धु नदी के इस पार रहने वाले लोगों को उस पार के लोगों ने हिन्दू नाम दिया। यह सिन्धु का ही उच्चारण-भेद है। इस शब्द का उत्कर्ष हुआ और यह बहुत व्यापक बन गया। आज यह धर्म और संस्कृति के साथ भी संबद्ध है। किन्तु इस शताब्दी में हिन्दू शब्द की जो परिभाषाएं लिखी गई हैं उनमें से कुछ परिभाषाएं ऐसी हैं जो हिन्दू शब्द की व्यापकता को संकीर्ण बनाती हैं। वेद या अन्य किसी शास्त्र के साथ हिन्दू शब्द को जोड़ने का अर्थ ही है, उसे संकुचित बनाना। सब भारतीय धर्म किसी एक ही शास्त्र का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते, इस स्थिति में उसे शास्त्र के साथ जोड़ना कैसे उपयुक्त हो सकता है?

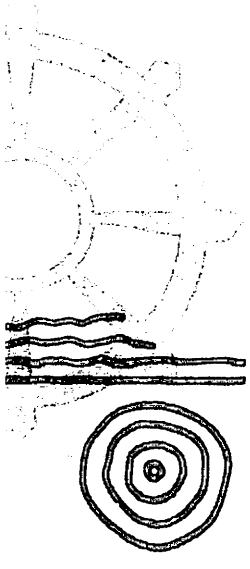

इस चिंतन के आधार पर मैंने प्रश्नकर्ताओं से कहा–हिन्दू का अर्थ यदि किसी अमुक शास्त्र को मानने वाला हो तो जैन हिन्दू नहीं हैं और यदि उसका अर्थ भारतीय संतति हो तो जैन हिन्दू हैं। भारतीय होना किसी सिद्धांत या मान्यता पर आश्रित नहीं है। जो व्यक्ति भारत को अपनी मातृभूमि तथा पुण्यभूमि माने, वह भारतीय और शेष अभारतीय–यह परिभाषा मुझे तथ्य पर आधारित नहीं लगती। कोई व्यक्ति क्या मानता है, इस आधार पर उसकी राष्ट्रीयता मान्य नहीं होती, किंतु वैधानिक दृष्टि से वह जिस देश का नागरिक होता है, वह उसकी राष्ट्रीयता होती है। भारत की राष्ट्रीयता जिसे प्राप्त है वह भारतीय है। इसी प्रकार हिन्दुस्तानी होने के कारण वह हिन्दू है।

सहस्राब्दी पूर्व भारतीय लोग प्रादेशिकता के आधार पर बंगाली, बिहारी, मारवाड़ी, गुजराती, आदि-आदि कहलाते थे और भौगोलिकता की दृष्टि से भारतीय या भारतवासी कहलाते थे। इसमें विभिन्न जातियां थीं और विभिन्न धर्म थे किंतु उनके आधार पर जनता का नामकरण नहीं हुआ था।

मुसलमान जब प्रतिपक्षी के रूप में व्यवस्थित हुए तब मूल भारतवासी लोग हिन्दू के रूप में संगठित हुए। कुछ समय बाद हिन्दू और मुसलमान दो परस्पर विरोधी धाराएं निश्चित हो गईं। उनके सामने भौगोलिकता और राष्ट्रीयता गौण हो गई और साम्प्रदायिकता मुख्य। यदि उस समय हिन्दू शब्द जाति या धर्म के रूप में विकसित नहीं होता तो राष्ट्रीयता की दृष्टि से मुसलमान भी हिन्दू होते। जैसे वैदिक

धर्म, शैव धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म आदि-आदि थे, वैसे ही मुसलमान का संबंध धर्म के साथ होता और राष्ट्रीयता के प्रति द्वैधभाव उत्पन्न नहीं होता।

आज हिन्दू शब्द की परिभाषा को फिर से परिष्कृत कर राष्ट्रीयता के साथ संबद्ध करना आवश्यक है। ऐसा करने पर भारतीय और हिन्दू पर्यायवाची हो जाएंगे और हिन्दू शब्द अपनी व्यापकता को पुनः प्राप्त कर लेगा।

जनगणना के समय धर्म के कोष्ठ में हिन्दू का कोष्ठक स्वयं विघटनकारी है। इसके स्थान पर 'वैदिक' आदि उपयुक्त शब्द का चुनाव अधिक संगत हो सकता है।

मेरा अभिमत है कि आधुनिक भारतीय संस्कृति के निर्माण में वैदिक, जैन, बौद्ध, सिक्ख, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि सब धर्मों का योग है। इसलिए हिन्दू धर्म का अर्थ हिन्दुस्तान में चलने वाला धर्म किया जाए तो अधिक स्वस्थता प्राप्त होगी। 'हिन्दू' शब्द को हम उस अर्थ में ले जाएं कि जिन धर्मों की उत्पत्ति हिन्दुस्तान की भूमि में हुई, वे धर्म हिन्दू हैं और शेष हिन्दू नहीं हैं। मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि धर्म, जिनका उद्गम भारतभूमि नहीं है, हिन्दू धर्म नहीं माने जा सकते, ऐसा चिंतन बहुत बार सामने आता है। पर आप इतिहास की दृष्टि से देखें–उद्गम और विकास दोनों धर्म की अभिधा के मूल रहे हैं। बौद्ध धर्म उद्गम की दृष्टि से विशुद्ध भारतीय धर्म है पर विकास की दृष्टि से क्या वह चीनी या जापानी धर्म नहीं है? यदि है तो हिन्दुस्तान में विकास या प्रसार पाने वाले धर्म हिन्दुस्तानी (हिन्दू) धर्म क्यों नहीं हो सकते?

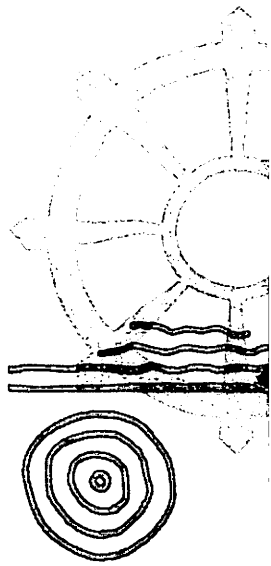

धर्मचक्र का प्रवर्तन

हिन्दू संस्कृति संग्राहक, उदार और व्यापक संस्कृति है। उसमें स्वीकरण के तत्त्व जितने अधिक होंगे, उतनी ही वह तेजस्वी होगी। यदि हम संग्राहक शक्ति में विश्वास करते हैं, जैसा कि कभी हमारे पूर्वजों ने किया था, तो हम आज हिन्दू शब्द की ऐसी परिभाषा गढ़ें जिसमें हिन्दुस्तान की भूमि में उपजने वाले और फलने वाले दोनों प्रकार के तत्त्व समाविष्ट हो जाएं।

जिस देश में अनेक जातियां और अनेक धर्म हों वहां उनमें से किसी एक जाति या धर्म से संबद्ध शब्द को व्यापकता प्राप्त नहीं हो सकती। व्यापकता उसी को मिल सकती है जो उन सबका सामान्य आधार है। किसी भी जाति या धर्म के लोग हों, वे सब भारतवासी हैं अतः भारतीय हैं। वे सब हिन्दुस्तानवासी हैं, अतः हिन्दू हैं।'

इस परिभाषा के विकास में मुझे अनेक समस्याओं का समाधान दीख रहा है। वर्तमान पीढ़ी की अपेक्षा भावी पीढ़ी हमसे अधिक लाभान्वित होगी।

समस्या समाज की : समाधान अध्यात्म का

आर्थिक विषमता समाज की एक ज्वलंत समस्या है। इस पर आपने दिल्ली के पत्रकार सम्मेलन में आध्यात्मिक समाधान प्रस्तुत किया। वह दृष्टिकोण को बदलने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसका संक्षिप्त सार यह है–

'आर्थिक वैषम्य को लेकर जो स्थिति बिगड़ रही है, उसे भी हम दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। मेरी दृष्टि में साम्यवाद इसी का परिणाम है। लोग मुझसे पूछते हैं–क्या भारत में साम्यवाद आएगा? मैं इसके लिए क्या कहूं? यही कहना पड़ता है–आप बुलाएंगे तो आएगा, नहीं तो नहीं। जिनके हृदय में धर्म

की तड़प है, उसकी रक्षा की चिंता है, वे अर्थ-संग्रह करना छोड़ दें। उनकी भावना अपने आप सफल हो जाएगी। दान करने के लिए भी आप संग्रह की भावना मत रखिए। दुनिया आपके दान की भूखी नहीं है। उसे आपके संग्रह पर रोष है। यदि पूंजीपति इसे नहीं समझ पाए तो चालू वेग न अणुबम से रुकेगा, न अस्त्र-शस्त्रों के वितरण से। आप यह मत समझें कि मैं साम्यवाद का समर्थक हूं। मुझे साम्यवाद त्रुटिपूर्ण दिखाई देता है। पूंजीवाद तो है ही। राष्ट्रीय पूंजी-संग्रह भी उतना ही बुरा है जितना व्यक्तिगत। जब तक इच्छाओं को सीमित करने की बात का यथेष्ट प्रचार नहीं होगा तब तक आवश्यकता-पूर्ति के साधनों का समाजीकरण केवल बाह्य उपचार होगा। व्यक्ति की स्थिति राष्ट्र ले लेगा। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का शोषक बन जाएगा। आर्थिक समानता का सूत्र पूंजीपतियों को ही अप्रिय लगेगा, किंतु इच्छा-नियंत्रण का सूत्र पूंजीपति और गरीब दोनों को अप्रिय लगेगा। लगे, यह तो रोग का उपचार है। इसमें प्रिय-अप्रिय लगने का प्रश्न ही नहीं होता।'

अध्यात्म क्या और किसलिए?

आचार्यश्री ने इस पौद्गलिक वातावरण में अध्यात्म की लौ को पुनरुद्दीप्त किया। आपके अभिमत में–'अपने लिए, अपने द्वारा, अपना नियंत्रण' यही है थोड़े में अध्यात्मवाद। दूसरों के लिए अपना नियंत्रण करने वाला और दूसरों पर नियंत्रण करने वाला धोखा दे सकता है। किंतु अपने लिए अपना नियंत्रण करने वाला वैसा नहीं कर सकता।'

आचार्यश्री अध्यात्म की विस्मृति को सब समस्याओं का मूल मानते थे और उनकी दृष्टि में सब समस्याओं का समाधान अध्यात्म था किन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि रोटी की समस्या अध्यात्म के अभाव में है और अध्यात्म के भाव में वह सुलझ जाएगी। इसका अर्थ यह था कि अध्यात्म प्रखर हो तो रोटी समस्या नहीं बनती, जबकि अध्यात्म रोटी के लिए नहीं है। आचार्यश्री ने उद्देश्य की व्याख्या करते हुए लिखा–'अहिंसा किसलिए? आत्म-शांति के लिए। हमारा घर साफ-सुथरा होगा तो पड़ोसी को उससे दुर्गन्ध नहीं मिलेगी। हम अहिंसक रहेंगे तो पड़ोसी को हमारी ओर से क्लेश नहीं होगा। पड़ोसी को दुर्गन्ध न आए इसलिए हम घर को साफ-सुथरा बनाए रखें, यह सही बात नहीं है। दूसरों को कष्ट न हो इसलिए हम अहिंसक रहें, यह अहिंसा का सही मार्ग नहीं है। आत्मा का पतन न हो इसलिए हिंसा न करें, यह है अहिंसा का सही मार्ग। कष्ट का बचाव तो स्वयं हो जाता है। विचार संचारशील होता है। उसका प्रवाह अनेक दिशाओं में एक समान बहता है।'

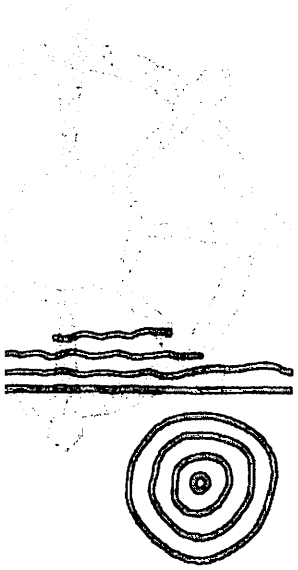

महात्मा भगवानदीन ने अध्यात्म की फल-मीमांसा में लिखा है–'यह कहकर मैं हिंसा को बढ़ावा नहीं दे रहा। मैं तो सिर्फ अहिंसा की हद बता रहा हूं। सत्य, अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य–इन सभी धर्मों का मैं पुजारी हूं। मैं इन सब पर अमल भी करता हूं, पर मैं यह मानने को तैयार नहीं कि इन धर्मों की मदद से किसी को स्वराज्य मिल सकता है या कोई आदमी मालदार हो सकता है, किसी तरह का शारीरिक सुख प्राप्त कर सकता है। इन धर्मों के पालन से तो केवल मानसिक सुख मिल सकता है और जो आत्मा में विश्वास रखते हैं उनकी आत्मा को सुख प्राप्त हो सकता है। इसलिए यह समझना कि स्वराज्य हमारे अहिंसा धर्म-पालन का नतीजा है, बहुत बड़ी भूल है।

मैं फिर दोबारा कहता हूं कि मैं अहिंसा का निरादर नहीं कर रहा। मैं अहिंसा का पुजारी हूं। मैं तो केवल यह कहना चाहता हूं कि अहिंसा से जिस कर्म की आशा की जाती है, वह गलत है।'

उद्देश्य और परिणाम एक ही रेखा में स्थित होते हैं। उद्देश्य के प्रतिकूल उस क्रिया का परिणाम नहीं होता और परिणाम के प्रतिकूल उसका एक उद्देश्य नहीं होता।

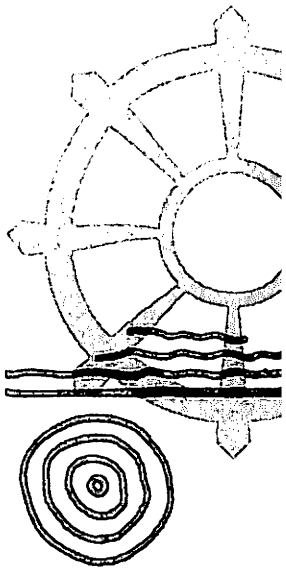

धर्मचक्र का प्रवर्तन

अध्यात्म और विज्ञान

आचार्यश्री कोरे गगन-विहारी नहीं थे। वे धरती का स्पर्श करके ही कुछ कहते थे। आज का युग पदार्थ-विज्ञान का युग है। अध्यात्म के साथ उसका सामंजस्य है या नहीं, इसकी चर्चा बहुत बार होती है। इस विषय में आचार्यश्री का दृष्टिकोण रहा–'विज्ञान और धर्म का ऐक्य नहीं है तो उसमें विरोध भी नहीं है। दोनों की दो दिशाएं हैं। पदार्थ-विश्लेषण और नई-नई वस्तुओं को प्रस्तुत करने की दिशा में विज्ञान आगे बढ़ता है और आंतरिक विश्लेषण की दिशा में धर्म की साधना चलती है।

पदार्थ-विश्लेषण के साथ-साथ आंतरिक विश्लेषण चले, यही दोनों के समन्वय का मार्ग है।

पदार्थ-प्रयोग की स्थिति समाज का अनिवार्य अंग बन गई। इसलिए मनुष्य उसकी उपेक्षा नहीं करता, किन्तु आत्म-प्रयोग के बिना वह उच्छृंखल बन मानव समाज की उपेक्षा कर डालेगी, ऐसा लगता है। इसलिए विज्ञान पर धर्म का नियंत्रण आवश्यक है।

पौद्गलिक विज्ञान और आत्म-विज्ञान दोनों मिलकर जीवन को पूर्ण बनाते हैं। पौद्गलिक विज्ञान दैहिक अपेक्षा से संबद्ध है, इसलिए उसकी उपेक्षा की नहीं जा सकती। आत्म-विज्ञान दैहिक अपेक्षा नहीं है, इसलिए उसकी उपेक्षा हो जाती है। इस लंगड़ेपन की मीमांसा में आचार्यश्री ने लिखा है–'वर्तमान जीवन में गतिरोध उत्पन्न हो रहा है। उसका कारण लंगड़ापन है। उपासना है, पर वासना को मिटाने का प्रयत्न नहीं। उपासना को मैं अनावश्यक नहीं मानता। पर चरित्र-शुद्धि के बिना वह अपूर्ण है। सही बात यह है कि उपासना भी हो और चरित्र भी। दोनों का अपना-अपना स्थान है। भोजन की जगह भोजन है, पानी की जगह पानी। प्यास बुझाने के लिए भोजन नहीं किया जाता और भूख मिटाने के लिए पानी नहीं पीया जाता। दोनों आवश्यक हैं। शुद्धि के लिए चरित्र आवश्यक है और उसकी स्थिरता के लिए उपासना भी आवश्यक है। जीवन का गतिरोध तभी मिटेगा जब दोनों का साथ-साथ विकास होगा।

वैज्ञानिक विश्व की समृद्धि और दर्शन-संपदा की विपन्नता भी आज के जीवन का लंगड़ापन है। विज्ञान बाहरी उपकरणों को बढ़ा रहा है, किंतु दर्शन की कमी अतिरिक्त संपदा को न्यून बना रही है। विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ दर्शन की प्रगति का संतुलन रहे, यह आवश्यक है। जीवन का गतिरोध तभी मिटेगा जब विज्ञान के साथ दर्शन का भी विकास होगा।'

अध्यात्म और व्यक्ति

आचार्यश्री की दृष्टि में परिवर्तन का मूल आधार व्यक्ति रहा। व्यक्ति से भिन्न समाज और समाज से भिन्न व्यक्ति नहीं है। विवशता उत्पन्न की जा सकती है, किंतु हृदय-परिवर्तन की अनिवार्यता उत्पन्न नहीं की जा सकती, वह व्यक्ति व्यक्ति में ही संभव है। इसी दृष्टि से आचार्यश्री ने कहा–'व्यक्ति सुधार समाज-सुधार की रीढ़ है। मुझे समाज, जाति, देश या राष्ट्र के सुधार की चिंता नहीं। मुझे व्यक्ति-सुधार की चिंता है।'

अध्यात्म और परिस्थिति

व्यक्ति जो अनाचारी बनता है, उसका हेतु उसकी अपनी दुर्बलता व दृष्टिदोष है। परिस्थिति भी उसमें निमित्त बनती है। नैतिकता के पुनः निर्माण की चर्चा में आचार्यश्री ने अपना मत व्यक्त किया–'मानव समाज पूर्ण नैतिक या पूर्ण अनैतिक होता है इसमें मुझे विश्वास नहीं है। एक समय में समाज नीति-प्रधान था। सचाई और प्रामाणिकता में विश्वास था। आज सचाई में श्रद्धा नहीं है। इसके अनेक कारण हैं। परिस्थितियों की जटिलता भी कम कारण नहीं है। कोई एक अहेतुक चोर बनता होगा। अधिकांशतः जो चोर बनते हैं वे परिस्थितिवश बनते हैं। परिस्थिति का निमित्त मिलता है, बुराई हावी हो जाती है। वस्तुओं के अभाव और महंगाई ने सत्यनिष्ठा के आस-पास रहने वालों को घूस और चोर-बाजारी की ओर खींचा है।'

भारतीय चिंतन में चार पुरुषार्थ के सिद्धान्त की चर्चा हुई है। अर्थ और काम ये दो एक कोटि के हैं। सामाजिक जीवन की भूमिका में काम साध्य है, अर्थ उसका साधन है। धर्म और मोक्ष ये दो एक श्रेणीगत हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में मोक्ष साध्य है और धर्म उसका साधन है। आपने कहा–'सब प्रवृत्तियों का मूल काम है।' कार्ल मार्क्स ने कहा–'सब परिवर्तनों का आधार अर्थ है।' दोनों सच हैं, पर दोनों एकांगी हैं। काम के लिए अर्थ और अर्थ के द्वारा काम–इस प्रकार दोनों एक-दूसरे में गुंथे हुए हैं। इस भूमिका तक धर्म का उदय ही नहीं होता। आर्थिक विषमता मिटाओ–यह इसी जगत् का घोष है। आध्यात्मिक जगत् का घोष है–'आर्थिक दासता मिटाओ।' आचार्यश्री की भाषा में–'जीवन की अनिवार्य अपेक्षाएं–रोटी, पानी, मकान, कपड़ा, दवाई आदि की पूर्ति के साधन आर्थिक-दासता नहीं है। आर्थिक-दासता वह है जो अन्याय द्वारा अर्थ-संग्रह किया जाए। पचास रुपये मासिक वेतन पाने वाला कहे कि घूस के बिना काम नहीं चलता, उसकी बात छोड़िये। पर हजार रुपये मासिक वेतन पाने वाला घूस ले, यह क्या आर्थिक-दासता नहीं है? एक करोड़पति भी पदार्थों में मिलावट करे और चोर-बाजारी करे, यह क्या आर्थिक-दासता नहीं है? इसी को मैं अनुभवहीन गुलामी कहता हूं। इसे मिटाना सर्वोपरि अपेक्षा है।'

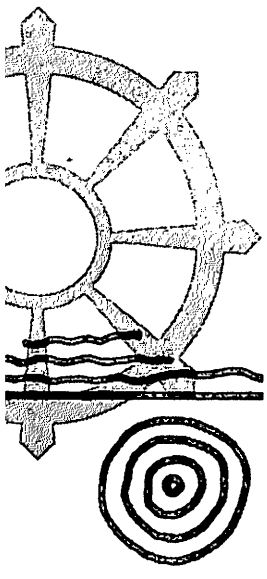

आचार्यश्री अध्यात्म में विश्वास करते थे, इसलिए वे परिस्थिति को जय-पराजय का निमित्त मानते थे, उपादान नहीं। व्यक्ति की विजय का मूल उसका अपना पुरुषार्थ है और उसकी पराजय भी अपने में ही निहित होती है। परिस्थिति से जूझने में अध्यात्मवादी का पुरुषार्थ निखरता है।

पद, यश और स्वार्थ भी परिस्थिति हैं। ये प्रगति के निमित्त भी बन सकते हैं किंतु ये जब व्याधि बन जाते हैं तब प्रगति का पथ अवरुद्ध हो जाता है। कन्हैयालाल मिश्र ने आचार्यश्री की एक वाणी पर लिखा–'अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक संत तुलसी ने दो शब्दों में इस विकृति–प्राप्त सुख का न लेना और अप्राप्त की सतत चाह रखना–का जो चिंतन दिया है, उसे हजार विद्वान् हजार-हजार पृष्ठों की हजार पुस्तकों में भी नहीं दे सकते। वे शब्द हैं–भूख और व्याधि। संत की वाणी है–'आज के मनुष्य को पद, यश और स्वार्थ की भूख नहीं, व्याधि लग गई है जो बहुत कुछ बटोर लेने के बाद भी शांत नहीं होती। संत का दिशा-निर्देशन है कि हम पद, यश, स्वार्थ की भूख से उत्तेजित हों, व्याधि से पीड़ित नहीं।'

सह-अस्तित्व की नीति

आचार्यश्री की मनोवृत्ति में अहिंसा का आंतरिक स्पर्श था। उनका मानदंड बाह्य की अपेक्षा आंतरिक अधिक था। वे अहिंसा और समता को सर्वत्र समर्थन देते थे। वे राजनीति में कोई रस नहीं लेते थे पर उसकी

गतिविधि से वे अपरिचित भी नहीं थे। सह-अस्तित्व, अनाक्रमण और अहिंसात्मक नीति का उन्होंने बड़ी दृढ़ता से समर्थन किया। पिछले वर्षों में विश्व के बड़े-बड़े राजनयिकों ने पं. नेहरू की सक्रिय तटस्थ नीति की कटु आलोचनाएं कीं। उसे अदूरदर्शितापूर्ण एवं राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल बताया। उसे किंकर्तव्यविमूढ़ नेताओं के मस्तिष्क के कृत्रिम व्यायाम की उपज माना गया। किंतु दूसरे ही दशक में लोग अनुभव करने लगे कि सक्रिय तटस्थता बलहीन व्यक्ति का मिथ्या उपदेश नहीं है। अमेरिका के परराष्ट्र मंत्री श्री डीन रस्क ने जैसा कहा–'अमेरिका के नवयुवक नेता अब यह नहीं मानते कि जो हमारा साथी नहीं है, वह अनिवार्यतः हमारा शत्रु है।' यह धारणा भी बहुत सम्मत हुई कि शस्त्रास्त्रों पर अधिक बल देकर अमरीका, रूस आदि ने भारी भूल की है। यह सब आवेश के कारण हुआ है। संतुलित मस्तिष्क से सोचा जाता तो शस्त्रों का इतना भीषण प्रवाह नहीं होता। आचार्यश्री आवेश को राजनीति की बहुत बड़ी दुर्बलता मानते थे। गोआ की स्वतंत्रता के प्रश्न को लेकर जब भारतीय लोग आवेश में थे, सत्याग्रह अपनी तीव्र गति पर था, उसी समय आचार्यश्री ने अपनी एक सम्मति दी थी–'गोआ के सत्याग्रह को लेकर आज देश में बहुत बड़ी हलचल मच गई है। जब से भारत स्वतंत्र हुआ है तब से भारत की बस्तियों जैसे गोआ, पांडिचेरि आदि भी स्वतंत्र होने के लिए उत्सुक हैं। गत वर्ष से गोआ में आंदोलन चल रहा है। वहां के अधिकारी पुर्तगाली दमन नीति को काम में ले रहे हैं। उससे उत्तेजित होकर भारत से सत्याग्रहियों के जत्थे जा रहे हैं। कल पन्द्रह अगस्त (स्वतंत्रता दिवस) को हजारों व्यक्ति सत्याग्रह के लिए एकत्र हो गए। पुर्तगाली पुलिस ने मशीनगनों से गोलियां चलाईं। पैंतीस सत्याग्रही मरे। पचास घायल हुए। किसी प्रकार की हिंसात्मक प्रवृत्ति न करने वाले सत्याग्रहियों पर गोली चलाना सरासर अन्याय है।

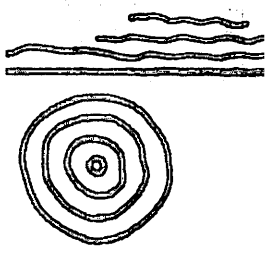

धर्मचक्र का प्रवर्तन

इधर जनता भारतीय सरकार से फौजी कार्यवाही की मांग कर रही है। इधर पं. नेहरू, जो दूसरे राष्ट्रों को अहिंसा, समझौता, मैत्रीपूर्ण व्यवहार और सह-अस्तित्व की सम्मति देते हैं, कैसे प्रथम प्रयोग में ही शस्त्र प्रयोग करेंगे? भारत की आज तक की प्रतिष्ठा नीतिमत्ता और अहिंसा के बल पर ही बनी हुई है, वह ऐसे कैसे खोई जा सकती है? दूसरा प्रश्न यह भी है भारतीय लोग अपने अधिकार को भी कैसे छोड़ेंगे? समस्या बड़ी जटिल है। एक ओर दमन और दूसरी ओर शांत सत्याग्रह?

मेरा खयाल है अभी इतनी उत्तेजना नहीं होनी चाहिए। गोआ की स्वतंत्रता कोई कठिन नहीं है। संभव है पुर्तगालियों को वह स्वयं देनी पड़े।'

कांग्रेस महासमिति के शांतिपूर्ण निर्णय पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए आचार्यश्री ने लिखा–'कांग्रेस महासमिति व नेहरू सरकार ने यह निर्णय किया है कि गोआ सत्याग्रह कतई बंद किया जाए। यह सर्वथा अकल्पित किंतु दूरदर्शितापूर्ण कार्य हुआ है। ऐसा लगा इससे भारत की अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में जो ख्याति है वह सुरक्षित और सुदृढ़ बनेगी।'

संघर्ष और शांति

जहां जीवन है, अनेकता है वहां संघर्ष भी है। जहां संघर्ष है वहां शांति के प्रयत्न भी। आचार्यश्री ने समय-समय पर जनता को शांति के दिशा-संकेत दिए। उनके अभिमत में–'अपने सुख, भोग और बड़प्पन के लिए दूसरों के सुख, भोग और बड़प्पन को लूटने की लालसा संघर्ष का बीज है।'

संघर्ष का हेतु विविधता या भेद है। मनुष्यों में रुचि, विचार और आचार का भेद होता है। चिंतन की

सहज धारा ऐसी होती है कि जैसा हम करें वैसा ही सब करें। किंतु रुचिभेद के कारण ऐसा नहीं होता। बस, यहीं से संघर्ष उठ खड़ा होता है। अधिकांश संघर्ष व्यक्ति या समाज के उन्माद से उत्पन्न होते हैं। हिन्दुस्तान में प्रांतों की पुनर्रचना हो रही थी। इधर बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों पर दृष्टि गड़ाए बैठे थे। उस समय आचार्यश्री ने चेतावनी के स्वर में कहा–'एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण करता है, उसके श्रम का अनुचित लाभ उठाना चाहता है, दूसरों को हीन समझ उन्हें तिरस्कृत करता है, यह वैयक्तिक उन्माद है।

एक राष्ट्र की प्रजा भी प्रांत-भेद के कारण आपस में संदेहशील रहे, एक-दूसरे को कुचलना या गिराना चाहे–यह उन्माद नहीं तो क्या है? प्रांतों की नवरचना के प्रश्नों को लेकर परस्पर लड़ना, तुच्छ स्वार्थ के लिए देश के महान् हित में बाधक बनना, यह प्रादेशिक उन्माद है।

एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को दबाए रखना, हड़प जाना चाहता है–यह राष्ट्रीय उन्माद है।

सभ्य, सुसंस्कृत और शिक्षित लोग जाति और रंग की भेदरेखाएं खींचकर मनुष्य को अपना शत्रु मान रहे हैं–यह जाति का उन्माद है।

पढ़े-लिखे लोग अनपढ़ व्यक्तियों से घृणा करते हैं–यह विद्या का उन्माद है।

ऐश्वर्यशाली लोग गरीबों को सदा तुच्छता की दृष्टि से देखना चाहते हैं–यह ऐश्वर्य का उन्माद है।

धर्म-रक्षा के बहाने, अहिंसा के नाम पर हिंसा और सत्य के नाम पर झूठ का जो व्यवहार चलता है वह धार्मिक उन्माद है।

जाति-मद, विद्या-मद और ऐश्वर्य के मद से आत्म-पतन के अतिरिक्त प्रतिहिंसा की भावना भी तीव्र होती है, सामाजिक विक्षोभ भी उत्पन्न होता है इसलिए उन्माद हिंसा है। इसके परिणाम हैं चिनगारी, ताप और सर्वनाश।

विश्व-शांति के लिए यह अपेक्षा है–१. युद्ध न हो। २. लालसाएं सीमित हों। ३. शोषण न हो। विश्व-शांति के लिए यह भी अपेक्षित है कि अस्पृश्यता, हीनता, संदेहशीलता, वैमनस्य, आक्रमण और मिथ्यावाद न बढ़े–उतनी सीमा तक जाति, प्रदेश, राष्ट्र और धर्म-संप्रदायों का विलीनीकरण भी आवश्यक है।'

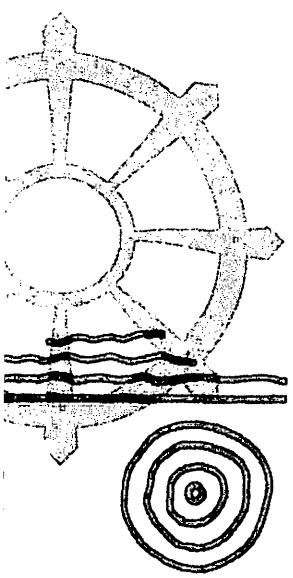

आचार्यश्री का नेतृत्व अध्यात्म के परिपार्श्व में पल्लवित हुआ था। इसलिए आप समय-समय पर अध्यात्म की सचाइयों को अभिव्यक्ति देते थे। आचार्यकाल के पचीसवें और पचासवें वर्ष के उद्‌गार यहां उल्लेखनीय हैं। धवल समारोह के अवसर पर आपने कहा–'मेरे आध्यात्मिक नेतृत्व के पचीस वर्ष पूर्ण हुए हैं। इस अवधि में मुझे जो वस्तु-सत्य उपलब्ध हुए हैं उन्हें मैं आपके सामने प्रस्तुत करना चाहता हूं–

१. अध्यात्म-शून्य बुद्धिवाद मनुष्य को भटकाने वाला होता है।

२. साधना की गहराई में समुदायवाद और व्यवहार की चोटी पर व्यक्तिवाद–ये दोनों भ्रांत हैं।

३. नग्न सत्य के बिना सवस्त्र सत्य कोरा आभास होता है तो सवस्त्र सत्य के बिना कोरा नग्न सत्य अनुपादेय। इसलिए इन दोनों की सहावस्थिति ही मनुष्य को सत्य की उपलब्धि करा सकती है।

४. धर्म-संस्थान के बिना अध्यात्म प्रगतिशील नहीं रह सकता।

५. भौतिकता मनुष्य को विभक्त करती है। उसकी एकता अध्यात्म के क्षेत्र में ही सुरक्षित है।

६. धर्म-संस्थान राजनीति और परिग्रह से निर्लिप्त रहकर ही अपना अस्तित्व रख सकते हैं।

७. वर्तमान जीवन में मोक्ष की अनुभूति करके ही कोई धार्मिक या आध्यात्मिक बन सकता है। केवल परलोक के लिए धर्म करने वाला अच्छा धार्मिक नहीं बन सकता।

८. आध्यात्मिक एकता का विकास होने पर ही सह-अस्तित्व का सिद्धान्त क्रियान्वित हो सकता है। जातिवाद, भाषावाद, संप्रदायवाद, प्रांतवाद और राष्ट्रवाद की सीमाएं निर्विकार हो सकती हैं। अभेदबुद्धि को विकसित किए बिना कोई भी व्यक्ति दूसरों को अपना नहीं सकता।

९. धर्म को सर्वोच्च उपलब्धि मानकर ही मनुष्य साम्राज्यवादी या आक्रामक मनोवृत्ति को त्याग सकता है।

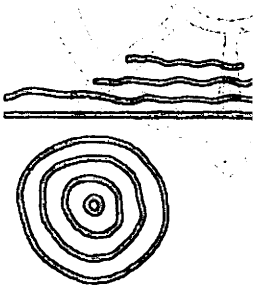

ये सत्य केवल श्रुत नहीं हैं, अनुभूतिगम्य हैं। थोड़ा-सा ध्यान देने पर लगेगा कि विश्व की वर्तमान गतिविधि से ये स्वयं फलित हो रहे हैं। मैं कोरा भारतीय ही नहीं हूं, जागतिक भी हूं इसलिए केवल भारत से ही नहीं, बल्कि समूचे जगत् से अनुरोध करने का अधिकारी हूं कि वह इन वस्तु-सत्यों की ओर ध्यान दे। अणुव्रत आंदोलन और क्या है? इन वस्तु-सत्यों की ही क्रियान्विति है। मैं आज भी उसी विश्वास पर दृढ़ हूं कि अणुव्रती बने बिना कोई भी आदमी अच्छा आदमी नहीं बन सकता, भले फिर वह आंदोलन का सदस्य बने या न बने। अणुव्रत आंदोलन आदर्श और व्यवहार की दूरी को कम करने में सहयोगी बना है, यह बहुत स्पष्ट है।'

अमृत महोत्सव के अवसर पर आपने लिखा–'आचार्यकाल के इन पांच दशकों में मैंने अनुभव किया–

१. व्यक्ति की अपेक्षा संगठन के माध्यम से अधिक कार्य किया जा सकता है।

२. वही संगठन अधिक कार्य कर सकता है जो अनुशासित, ज्ञान और चरित्र से संपन्न होता है। मुझे इस बात का गौरव है कि 'तेरापंथ' जैसे अनुशासित, ज्ञान और चरित्र से संपन्न संघ में मैं दीक्षित हुआ और वह मेरे कार्य का माध्यम बना।

३. व्यापक क्षेत्र में कार्य करने के लिए दृष्टिकोण को उदार बनाना जरूरी है। संकीर्ण दृष्टि वाला कोई बड़ा कार्य नहीं कर सकता।

४. प्रगति के लिए प्राचीन परम्पराओं को बदलना जरूरी है। किंतु बदलने में विवेक उससे अधिक जरूरी है। आध्यात्मिक विकास के साथ परम्परा का परिवर्तन विशुद्ध नीति में आस्था पैदा करता है। आस्था के सहारे समाज परिवर्तन को सह लेता है।

५. प्रगति और परिवर्तन के साथ संघर्ष भी आता है। उसे झेलने के लिए मानसिक संतुलन आवश्यक है। असंतुलित व्यक्ति संघर्ष में विजयी नहीं हो सकता। मैंने अपने शासनकाल में अनेक संघर्ष झेले हैं। गुरुदेव के आशीर्वाद से अपना संतुलन बनाए रखा। आने वाले संघर्ष विकास के चरण बन गए।

६. संगठन की दृष्टि से संस्था का मूल्य निश्चित है, पर उससे भी अधिक मूल्य है गुणात्मकता का। मैंने प्रारंभ से ही व्यक्ति-निर्माण पर ध्यान दिया। उसमें मुझे कुछ सफलता मिली। उसका मुझे संतोष है।

मैंने इन ४९ वर्षों में २३२ साधुओं और ५४४ साध्वियों को दीक्षित किया। उनमें से अनेक साधु-साध्वियों ने विशिष्ट क्षमता का अर्जन किया है। कुछ असफल भी हुए हैं। उनकी असफलता में कहीं न कहीं जाने-अनजाने मेरी भी असफलता रही है, इसे मैं स्वीकार करता हूं।

७. केवल विद्या के क्षेत्र में आगे बढ़ने वाला संघ चरित्र की शक्ति के बिना चिरजीवी नहीं हो सकता तो केवल चरित्र को मूल्य देने वाला जनता के लिए उपयोगी नहीं बन सकता। इसलिए हमारा संघ चरित्र और ज्ञान दोनों क्षेत्रों में गतिशील रहा है। मैंने युग की भाषा को समझने और युगचेतना को जगाने के लिए कुछ नए कार्यक्रम जोड़े। वे हमारे विकास में सहयोगी बने हैं।

८. आज तेरापंथ धर्म-संघ के परिपार्श्व में अनेक संस्थाएं विकसित हुई हैं। उनके प्रति हमारी जितनी निःस्पृहता रहेगी उतना ही साधु-संघ के लिए अच्छा रहेगा।

९. सुविधावादी दृष्टिकोण मनुष्य को कर्तव्य-विमुख, सिद्धांत-विमुख और दायित्वबोध से विमुख बनाता है। इसलिए हमारे साधु-साध्वियां जितने श्रमपरायण और स्वावलंबी रहेंगे उतना ही संघ का विकास होगा।

१०. आध्यात्मिक विकास के लिए महत्त्वाकांक्षी होना बहुत अच्छी बात है। किंतु पद और उपाधि के लिए जिन साधु-साध्वियों ने महत्त्वाकांक्षा की, उन्हें गिरते देखा। इसलिए साधु-साध्वियां इससे बचते रहेंगे।

११. जहां संघ है, संगठन है वहां व्यवहार का निर्वाह भी जरूरी है। साधु-साध्वियां परस्पर और श्रावकों के साथ मृदु और कुशलतापूर्ण व्यवहार करते हैं तब संगठन को बल मिलता है अन्यथा समस्याएं पैदा होती हैं।

१२. सेवा संगठन की शक्ति का मूल आधार है। मैंने हमारी सेवा की परम्परा को जागरूकता के साथ निभाने का प्रयत्न किया है और मेरी यह दृढ़ मान्यता है कि संघीय शक्ति को विकसित करने का यह एक अपूर्व माध्यम है। हमारी यह विशेषता भविष्य में भी बनी रहेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

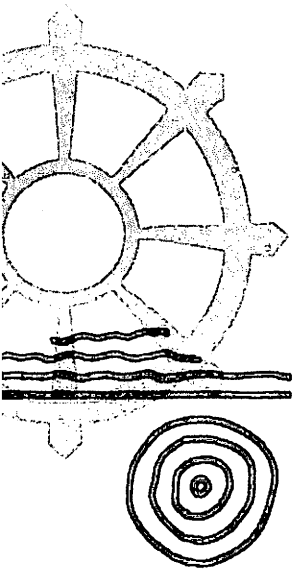

१३. चतुर्विध धर्म-संघ की भावनाओं को पूरा करना, संतुष्टि देना आचार्य का कर्तव्य है। मैंने इस कर्तव्य-पालन में जागरूकता बरती है, फिर भी मैं नहीं कह सकता कि सबकी भावनाओं को पूरा कर सका हूं और संतुष्टि दे सका हूं। पर जब कभी मुझे संघ के किसी सदस्य में असंतोष का पता चला, उसको संभालने में मैंने तत्परता अवश्य बरती है।'

विचार-मंथन आत्म-मंथन या आत्मालोचन की गहराई तक पहुंच जाता है। आचार्यश्री ने गहरा आत्म-मंथन किया और उससे जो नवनीत निकला वह निश्छल भाव से जनता को उपलब्ध कराया–

- सबसे पहले मैंने अपने पूज्य गुरु कालूगणी का अखण्ड विश्वास पाया।
- धर्म-संघ के सात सौ साधु-साध्वियों और लाखों श्रावकों का समर्पण की भावना से ओत-प्रोत सहयोग पाया।
- देश के लाखों-करोड़ों लोगों की कान्तिमयी श्रद्धा, सद्भावना और प्रेम का अवदान पाया।
- बौद्धिक और तार्किक लोगों का नेतृत्व कैसे करना चाहिए, यह बोध-पाठ पाया।

• एक सुसंगठित, व्यवस्थित, अनुशासित और शक्तिशाली धर्म-संघ को अपरिचय की धुंध से बाहर निकालने का सौभाग्य पाया।

• संप्रदायवाद की सरहदों में कैद धर्म को निर्विशेषण-धर्म या मानव-धर्म की ऊंचाई तक उठाने का अवसर पाया।

• आए दिन बढ़ रहे मूल्यों के संकट से देश को उबारने के लिए नैतिक मूल्यों की मशाल प्रज्वलित करने का चिंतन और साहस पाया।

• उपदेश-प्रधान और रूढि-प्रधान धर्म की जड़ता को तोड़ने के लिए प्रायोगिक दृष्टिकोण पाया और उसका सफल क्रियान्वयन किया।

• अपने धर्म-संघ में ज्ञान-विज्ञान की नई धाराओं को प्रवाहित करने का श्रेय पाया।

• विरोध और उत्तेजना भरे वातावरण में शांत और सहिष्णु बने रहने का सबक पाया।

• समकालीन धर्म-संप्रदायों में सौहार्द और समन्वय स्थापित करने के लिए मित्रता का हाथ बढ़ाया।

• साम्प्रदायिक सद्भावना के लिए पंचसूत्री कार्यक्रम देकर सार्वभौम मूल्यों के प्रचार-प्रसार हेतु एक मंच स्थापित किया।

• जातिवाद, वर्गवाद, रंगभेद, लिंगभेद, छुआछूत आदि संकीर्ण दृष्टिकोणों के खिलाफ आवाज उठाकर मानवीय एकता का नारा बुलंद किया।

• समाज में व्याप्त रूढियों को दूर करने के लिए क्रांतिकारी दृष्टिकोण पाया और उसके सहारे समाज में एक सीमा तक क्रांति लाने में सफलता प्राप्त की।

• युग-युग से उपेक्षित, प्रताड़ित और शोषित नारी-जाति को अपने अस्तित्व का बोध और जीवन का नया दृष्टिकोण दिया।

• धर्म-संघ की मौलिक मर्यादाओं को सुरक्षित रखते हुए समय-समय पर अनेक बड़े परिवर्तन किए। उन परिवर्तनों के कारण धर्मसंघ को युगीन परिवेश मिला।

• तेरापंथ के मौलिक मन्तव्यों को आधुनिक संदर्भों में प्रस्तुत करने से 'चूहे-बिल्ली' जैसे विवादों का अंत हो गया।

• जैन आगमों का असाम्प्रदायिक और वैज्ञानिक दृष्टि से संपादन का काम शुरू करने से हर क्षेत्र में अनेक नई दृष्टियां उपलब्ध हुईं।

• धर्म-संघ से साधना, शिक्षा, कला और तपस्या की अनेक नई धाराएं बहीं, इससे तेरापंथ धर्म-संघ को नई पहचान मिली।

• अपने पीछे एक योग्य उत्तराधिकारी की नियुक्ति कर मैंने अतिरिक्त आत्मतोष पाया।

• देश के राजनेताओं, जननेताओं, बौद्धिक लोगों, साहित्यकारों और पत्रकारों के संपर्क से मुझे अपने मिशन 'अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान' को देशव्यापी बनाने में बड़ा सहयोग मिला।

• अपने विरोधी लोगों की हरकतों से मुझे पग-पग सजग सावधान रहने की प्रेरणा मिली तथा मेरी चिंतनधारा और कार्यपद्धति को नई दिशा मिली।

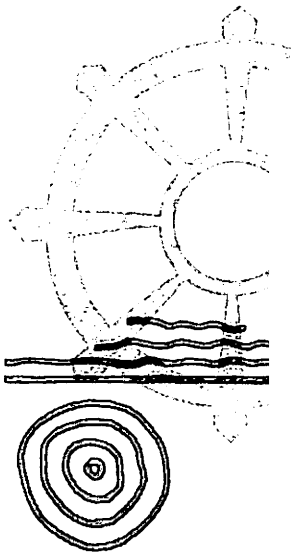

सत्य की दिशा में

मैसूर में दिसम्बर, १९५२ को फिलोसोफिकल कांग्रेस की आयोजना हो रही थी। डॉ. राधाकृष्णन् उसका सभापतित्व कर रहे थे। उस अवसर पर आचार्यश्री ने कुछ मननीय विचार प्रस्तुत किए। उनमें एक यह था–'निर्मीयमाण दार्शनिक साहित्य पर विचार होना चाहिए। प्रत्येक दर्शन के अधिकारी अपना-अपना दृष्टिकोण प्रकाश में लाएं–यह मर्यादा से परे नहीं, किन्तु दूसरों का दृष्टिकोण समझे बिना या आग्रह के कारण उसे विकृत बनाकर प्रकाश में लाएं–यह औचित्य की परिधि से परे है। लगभग इस अर्धशताब्दी में अनेक दर्शनों को छूने वाली जो पुस्तकें लिखी गई हैं वे प्रायः त्रुटिपूर्ण हैं। एक व्यक्ति का पूरा अधिकार एक या दो दर्शन पर हो सकता है। दर्शन पूरे न तो हृदयंगम हो सकते हैं और न उनका हार्द व्यक्त किया जा सकता है। इसलिए एक व्यक्ति अनेक दर्शनों पर लिखे, यह अधिकारपूर्ण कार्य नहीं कहा जा सकता। इसमें केवल शब्द पकड़े जाते हैं, आत्मा नहीं पकड़ी जाती। अपने-अपने दर्शन के अधिकारी व्यक्तियों के लिखे लेखों की संकल्पना से एक ग्रंथ बने, वही वास्तव में यथार्थ संकलन हो सकता है।'

युवक की भाषा

आचार्यश्री युवक-शक्ति में बहुत विश्वास करते थे। उसके लिए उनकी अपनी एक परिभाषा थी। सही अर्थ में युवक वही है जिसका मस्तिष्क बूढ़ा हो, पैर तरुण हों। इसलिए वे कहते थे–'सभी वृद्ध युवक बन जाएं और सभी युवक वृद्ध बन जाएं। इसका हृदय यह था कि अनुभव और मति का समन्वय हो जाए। इसी समन्वय का नाम है–युवक।

युवक शक्ति का प्रयोग धैर्यपूर्वक होना चाहिए, प्रारंभ बहुत छोटा चाहिए। प्रातःकालीन छाया बहुत विशाल होती है पर वह क्रमशः सिमटती-सिमटती दुपहरी में शेष हो जाती है। कार्यारम्भ का उत्साह ऐसा नहीं होना चाहिए। वह दुपहरी की छाया जैसा होना चाहिए जो प्रारंभ में बहुत कृश, किंतु अंत में व्यापक बन जाए। यह शक्ति की सफलता का मंत्र है।

जैन मंदिर : हरिजन प्रवेश

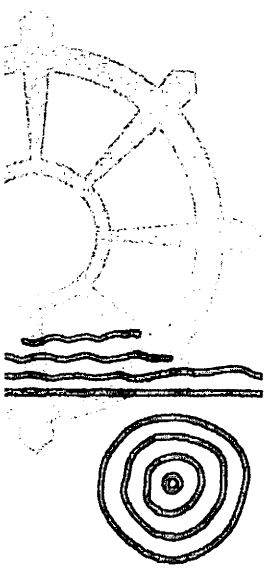

आचार्यश्री से पूछा गया–'जैन-मंदिर में हरिजन प्रवेश कर सकते हैं या नहीं?'

आचार्यश्री–'मेरा कोई मंदिर नहीं है इसलिए अधिकार की भाषा में मैं नहीं कह सकता कि जैन-मंदिर में हरिजनों का प्रवेश हो या नहीं। किंतु मुझे यदि पूछा जाए तो मैं यही परामर्श दूंगा कि धर्म-संस्थान में किसी का भी प्रवेश निषिद्ध नहीं होना चाहिए। हरिजन अपने घर बैठा-बैठा भगवान् को अपने मन-मंदिर में बिठा लेगा, उसे कौन-कैसे रोकेगा? धर्म के क्षेत्र में जातिजन्य उच्चता मान्य नहीं है। वहां आचरण ही प्रधान है। ऊंचा वही है जिसका जीवन पवित्र हो। पवित्रता महाजन या हरिजन में नहीं होती, मनुष्य के जीवन में होती है। जैन लोग सदा से जातिवाद के विरोधी रहे हैं। वे इस दलदल में फंसें, यह आश्चर्य की बात है।'

१५ दिसम्बर, १९५६ को तत्कालीन उपराष्ट्रपति डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् से मिलना हुआ। उपराष्ट्रपति ने पूछा–'जैन मंदिर में हरिजन-प्रवेश के विषय में आपका क्या अभिमत है?'

आचार्यश्री बोले–'जहां धर्माभिलाषी व्यक्ति प्रवेश न पा सके वह क्या मंदिर है? किसी को अपनी अच्छी भावना को फलित करने से रोकना, मैं धर्म में बाधा डालना मानता हूं। वैसे हम तो अमूर्तिपूजक हैं।

जैनों में मुख्य दो परम्पराएं हैं–श्वेताम्बर और दिगम्बर। दोनों ही परम्पराओं के दो प्रकार के संप्रदाय हैं–एक अमूर्तिपूजक और दूसरा मूर्तिपूजक। जैन संप्रदायों में मूर्तिपूजा के विषय में मौलिक दृष्टि से प्रायः सभी एकमत हैं। कुछ एक चीज को लेकर थोड़ा पार्थक्य है जो अधिकांश बाह्य व्यवहारों का है, जो क्रमशः कम होता जा रहा है। अभी जैन सेमिनार में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों संप्रदायों के साधुओं ने भाग लिया। वहां मुझे भी प्रमुख वक्ता के रूप में निमंत्रित किया गया था और सहिष्णुता का वातावरण वहां था।'

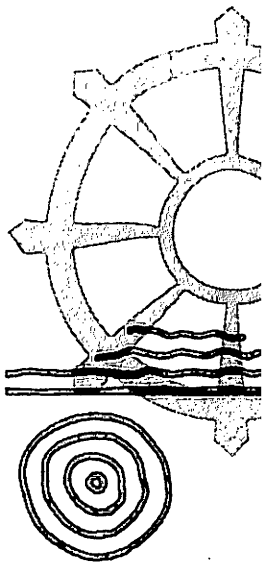

धर्मचक्र का प्रवर्तन

उपराष्ट्रपति ने कहा–'समन्वय का प्रयत्न तो होना ही चाहिए। आज के समय की सबसे बड़ी यह मांग है और इसी के सहारे बड़े-बड़े काम किए जा सकते हैं।'

२७ अप्रैल, १९५० की दुपहरी में फिनलैंड के राजदूत हुगो वेलवाने ने आचार्यश्री से भेंट की। उन्होंने कहा–'संसार आज अशांति से त्रस्त है। भारतवर्ष शांति का संदेशवाहक रहा है। मुझे आशा है आपकी संस्था भी इस दिशा में योगदान करेगी।'

आचार्यश्री–'हमारी संस्था अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह के आधार पर व्यक्ति को उन्नत करने का प्रयत्न कर रही है। उसका प्रभाव संसार पर भी पड़ेगा।'

वेलवाने–'राष्ट्रों में परस्पर चलने वाले युद्धोन्माद को निरस्त कैसे किया जा सकता है?'

आचार्यश्री–'युद्ध के दो पहलू हैं–आक्रमण और सुरक्षा। सुरक्षा राष्ट्रीय अनिवार्यता है। आक्रमण उन्माद है। अभी अहिंसा का इतना विकास नहीं हुआ है कि युद्ध की प्रवृत्ति का उन्मूलन किया जा सके। अहिंसा और मैत्री का प्रबल विकास होने पर ही युद्धोन्माद के निरसन की बात सोची जा सकती है।'

वेलवाने–'हिन्दुस्तान ने अहिंसा के द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त की है। अब वह शस्त्रों के निर्माण में लगा है। क्या वह उसी मार्ग पर नहीं चल रहा है जिस पर दूसरे राष्ट्र चल रहे हैं?'

आचार्यश्री–'स्वतंत्रता-प्राप्ति में अहिंसा का प्रयोग शक्तिशाली रहा है, ऐसा मैं मानता हूं। उसमें हिंसा का प्रयोग नहीं हुआ, ऐसा मैं नहीं सोचता। हिंसा का मुकाबला करने के लिए जितनी अहिंसा चाहिए उतनी हिन्दुस्तानी लोगों में नहीं है। इसलिए शस्त्र पर भरोसा होना स्वाभाविक है।'

वेलवाने–'मैं चीन और जापान में भी राजदूत रह चुका हूं। मेरा यह अभिमत है कि हिन्दुस्तान में संसार को मार्गदर्शन देने की क्षमता है।'

आचार्यश्री–'इसमें कोई संदेह नहीं कि क्षमता है, किंतु हिन्दुस्तानी लोग दूसरों का अनुसरण करने में लगे हुए हैं इसलिए उनकी क्षमता का उपयोग नहीं होता।'

वेलवाने–जैन दर्शन बहुत प्राचीन दर्शन है। मैं गहराई में उतरकर इसे समझना चाहता हूं।'

आचार्यश्री ने इस जिज्ञासा को समाधान देने के लिए जैन दर्शन के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। प्रसंगवश शाकाहार की चर्चा की। प्रस्थान करते समय राजदूत ने रविवार को मांस न खाने की प्रतिज्ञा की।

१ मई, १९५० की दुपहरी में फिनलैंड के राजदूत की धर्मपत्नी बिग्रेटा वेलवाने ने आचार्यश्री से भेंट की। आपने कहा–'दुनिया में सबसे अधिक आवश्यक है आत्म-ज्ञान, अपने आपको जानना-पहचानना। भौतिक सुख-प्राप्ति के लिए तो सारा संसार सचेष्ट है, पर आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए आज कहां प्रयत्न हो रहा है? वस्तुतः आत्म-ज्ञान सृष्टि का सबसे बड़ा रहस्य है जिसे पाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को प्रयत्न करना चाहिए।'

बिग्रेटा वेलवाने–'पश्चिम में मेरी आत्मा को संतोष नहीं मिला; इसलिए मैं भारत आई हूं। मुझे आपमें कुछ विशेषताएं अनुभव हो रही हैं। आपके पास मेरे बार-बार आने का यही कारण है। जब मैं बचपन में थी, मुझे यह ज्ञान हुआ कि जल, वनस्पति और अग्नि में भी जीव है। मैं अपने बगीचे में फूल तोड़ती हूं तो मुझे बड़ा दुःख होता है। मैं आजीवन निरामिष भोजी रही हूं।'

आचार्यश्री–(विनोद में) 'क्या साध्वी बन सकती हो?'

बिग्रेटा वेलवाने–'हां, मैं ऐसा चाहती तो हूं।'

आचार्यश्री–'साध्वी बनने पर केश-लुंचन करना पड़ता है। क्या तुम ऐसा कर सकती हो?'

बिग्रेटा वेलवाने–'यदि मुझे आत्मगत सत्य की उपलब्धि हो तो मेरे लिए कोई भी कार्य दुष्कर नहीं है। मैं अपने गत जन्म में भारतवर्ष में ही पैदा हुई थी। मुझे यह अच्छी तरह याद पड़ता है कि मैं अपने किसी भी जन्म में नास्तिक नहीं रही। मैंने अपने जीवन में बहुत से व्यक्तियों को पशुवध से निवृत्त किया है। आपने जो भी विचार प्रकट किए हैं उनसे मैं पूर्णतः सहमत हूं।'

आचार्यश्री–'आत्मा स्वयं ही अपना उत्थान करती है और स्वयं ही अपना पतन। उसके उत्थान और पतन में दूसरे निमित्त बन सकते हैं, पर होता वैसा ही है जैसा कि आत्मा स्वयं करती है। आत्मा अपने सत्कर्तृत्व के सहारे परमात्मा भी बन सकती है और दुष्कर्तृत्व के सहारे नरकगामी भी।'

बिग्रेटा वेलवाने–'मैं भी ईश्वर-कर्तृत्व में विश्वास नहीं करती। मेरी यह सुदृढ़ मान्यता है कि अपने सुख-दुःख की कर्ता आत्मा स्वयं ही है।'

आचार्यश्री–'जैन दर्शन के अनुसार बंधन-मुक्त आत्मा ही ईश्वर होती है।'

बिग्रेटा वेलवाने–'आप जिन मान्यताओं का विश्लेषण कर रहे हैं वे अंतर्मन में अस्पष्ट रूप से छुपी हुई हैं। मैं बहुत वर्षों से इन्हीं विचारों का प्रचार करती रही हूं। आपके विचार के साथ मेरा सर्वाधिक साम्य है। इन्हीं विचारों से प्रभावित होकर राजदूत महोदय ने मेरे साथ शादी की है। मेरे लिए ये सिद्धांत संस्कारगत हैं, पर उन्होंने इन सिद्धांतों को प्रयत्नपूर्वक प्राप्त किया है।'

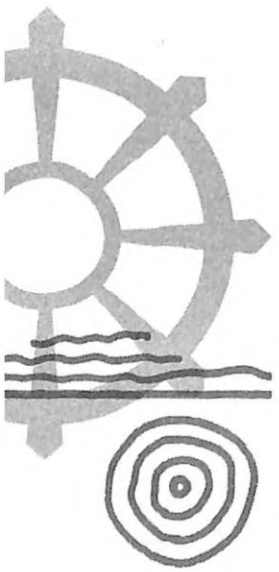

६ मई, १९५० के मध्याह्नोपरान्त बिग्रेटा वेलवाने ने भेंट कर कहा–'मुझे ऐसा लगता है, मैं पूर्वजन्म में आपके निकट वातावरण में रही थी। मैं सुख-दुःख में समान रह सकूं–ऐसा मेरा प्रयत्न है।'

आचार्यश्री–'भावना बहुत अच्छी है। क्या इसमें कुछ सफलता मिली है?'

बिग्रेटा वेलवाने–'अभी इस दिशा में चलना शुरू ही किया है।'

आचार्यश्री–'यह बहुत बड़ा प्रयत्न है।'

बिग्रेटा वेलवाने–'क्या आप सुख-दुःख में समान रहते हैं? क्या ऐसा होना संभव है?'

आचार्यश्री–'हां, संभव है। सुख-दुःख में समत्व-वृत्ति न रहे तो हम साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ ही नहीं सकते। पूर्णता की बात तो नहीं कही जा सकती किन्तु विकास अवश्य हुआ है।'

बिग्रेटा वेलवाने–'मैंने आपके सान्निध्य में जो तत्त्व सीखा है, उस पर एक लेख लिख रही हूं। मैं अपने पुराने परिवार के संपर्क में आकर अपने आपको बहुत हर्षान्वित अनुभव करती हूं।'

शिक्षा का नया आयाम–जीवन-विज्ञान

२ अप्रैल, १९७९ को आचार्यश्री ने प्रधानमंत्री की आवासीय कोठी पर प्रवास किया। वहां तत्कालीन प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई से लंबी बातचीत हुई। उसका एक बिन्दु था–शिक्षा।

आचार्यश्री–'शिक्षा के द्वारा व्यक्ति-निर्माण का काम होना चाहिए। वह क्यों नहीं हो रहा है?'

प्रधानमंत्री–'आज शिक्षा केवल डिग्री पाने तक सीमित हो गई है। वह जीवन को नहीं छू रही है। मैं इस दिशा में प्रयत्न कर रहा हूं कि शिक्षा के साथ धर्म जुड़ जाए। पर यह कार्य सरल नहीं है।'

आचार्यश्री–'धर्म और संप्रदाय एक बन गए हैं। यह सबसे बड़ी कठिनाई है।'

प्रधानमंत्री–'नियति भी एक तत्त्व है। वह हो तो कुछ काम अनायास हो जाते हैं। आपका यहां आना भी एक नियति है। आज आप यहां रहेंगे, यह कल्पना ही नहीं थी। अच्छा हुआ, आपका रात्रिकालीन प्रवास यहां हो गया। अब हम निश्चिन्तता से बात कर रहे हैं। दिन में इतना मुक्त-समय कहां मिल पाता है?'

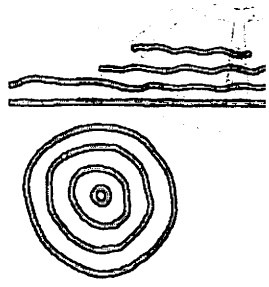

आचार्यश्री–'आज वैज्ञानिक साधन बहुत विकसित हो गए। उनके माध्यम से जनता को प्रशिक्षित किया जा सकता है। टी.वी. के माध्यम से बहुत कुछ सिखाया जा रहा है तो क्या उसके माध्यम से नैतिक प्रशिक्षण नहीं दिया जा सकता?

मैं फिर उस बात को दोहराना चाहता हूं कि धर्म के नाम से शिक्षा के क्षेत्र में कोई काम नहीं किया जा सकता। उसके लिए हमने जीवन-विज्ञान का नया काम शुरू किया है। यह पद्धति जीवन-विकास में उपयोगी है और वैज्ञानिक भी है।'

प्रधानमंत्री–'आचार्यश्री! आपकी यह योजना मुझे बहुत पसन्द आई। मैं स्वयं चाहता हूं कि कोई नया दृष्टिकोण सामने आए। आप इसकी पूरी रूपरेखा मुझे दें। मैं इसे आधार बनाकर चिंतन करूंगा।'

एन.सी.ई.आर.टी. के निदेशक डॉ. एस.के. मित्रा ५ अप्रैल को अणुव्रत भवन में आचार्यश्री से मिले। वार्तालाप के मध्य उन्होंने कहा–'शिक्षा पद्धति का पुनर्मूल्यांकन आवश्यक है।'

आचार्यश्री–'साथ-साथ विद्यार्थियों का दृष्टिकोण बदले, यह भी आवश्यक है।'

मित्रा–'वह कैसे बदल सकता है?'

आचार्यश्री–'उसका उपाय है अध्यात्म।'

इस प्रसंग में उन्हें अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान की जानकारी दी गई। उन्होंने उसकी उपयोगिता का अनुभव किया।

अणुव्रत विचारगोष्ठी

४ अप्रैल, १९७९ पार्लियामेन्ट सौंधकक्ष नं. १३९ में संसदीय अणुव्रत मंच द्वारा सांसदों के बीच अणुव्रत विचार-गोष्ठी का आयोजन। अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान की चर्चा। आचार्यश्री के विचार-मंथन से निकला नवनीत सबके लिए स्निग्धता का हेतु बन गया।

आचार्यवर ने अपनी बात को प्रारंभ किया–'एक बार विद्या ब्राह्मण के पास जाकर बोली–मैं आपकी निधि हूं। आप मेरी रक्षा करें। ब्राह्मण ने पूछा–आपके सामने कठिनाई क्या है? आप स्वयं को इतनी असहाय क्यों मान रही हैं? विद्या ने अपने मन की व्यथा सुनाते हुए कहा–आप मेरा पाणिग्रहण उस व्यक्ति

के साथ करा देते हैं जो सुपात्र नहीं है। कोई भी आपके पास आ जाए आप उसी को मुझे दे देते हैं। इससे मैं बहुत बेचैन हूं। ब्राह्मण ने उसकी आकृति पर खिंची पीड़ा की रेखाएं पढ़कर कहा–तुम चाहती क्या हो? विद्या ने तत्परता से कहना शुरू किया–ब्राह्मणदेव! आप मुझे तीन प्रकार के व्यक्तियों से बचाएं। ब्राह्मण ने पूछा–कौन से तीन व्यक्ति? विद्या बोली–जो लोग केवल परदोषदर्शी होते हैं, उनके साथ मेरा गठबंधन मत कीजिए। जो लोग कुटिल हैं, ऋजु नहीं हैं, उन्हें मत सौंपिए। जो लोग प्रमादी हैं, असंयमी हैं, उनसे मेरी रक्षा करें।'

'मैं इस बात को आप लोगों पर घटित करना चाहता हूं। संसद राष्ट्र के सामने खड़ी होकर कह रही है–मैं दुःखी हूं। मेरे दुःख दूर करने के लिए मुझे तीन प्रकार के लोगों से बचाएं। पहले वे व्यक्ति हैं जो केवल विरोध के लिए विरोध करते हैं। उनकी यह विरोध-वृत्ति अंतःकरण को वेध रही है। दूसरे वे व्यक्ति हैं जो येन-केन-प्रकारेण वोट पाने का प्रयास करते हैं। ऐसे लोग तो मेरे लिए सिरदर्द हैं और तीसरे वे व्यक्ति हैं जो असंयमी हैं। ऐसे लोगों से मेरी प्रतिमा खंडित होती है, विकृत होती है। इसलिए ऐसे लोगों को संसद में प्रवेश मत दो।'

'मैं एक बात की ओर आप सबका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं–देश में कोई व्यक्ति कलक्टर बनता है, उसके लिए आचार-संहिता है। कोई व्यक्ति कालेज का प्रिंसिपल बनता है तो उसकी भी आचार-संहिता है। और भी कोई पद होता है, उसकी योग्यता के कुछ मानक होते हैं। किंतु संसद-सदस्य या मंत्री बनने के लिए कोई मानक या कोई आचार-संहिता है, मुझे ज्ञात नहीं है। मेरा एक छोटा-सा सुझाव है कि सांसदों और मंत्रियों की भी एक निश्चित आचार-संहिता चाहिए।'

'एक बात मैं आप लोगों से फिर कहना चाहता हूं कि भारत जैसे अध्यात्म-प्रधान देश में भी फांसी की सजा होती है। क्या यह क्रूरता की अंतिम सीमा नहीं है? क्या फांसी के द्वारा किसी व्यक्ति के मन को बदला जा सकता है? मुझे विश्वास है कि भारत के चिंतनशील लोग, विशेष रूप से संसद-सदस्य, इस बात पर गहराई से विचार करेंगे और व्यक्ति को समाप्त करने की अपेक्षा उसकी बुरी आदतों को समाप्त करने का कोई नया प्रयोग करेंगे।'

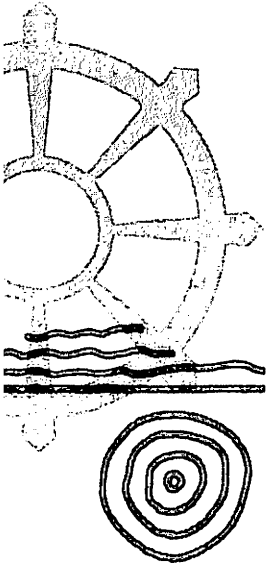

चिन्तन हिंसा की समस्या पर

पंजाब तनाव की स्थिति में गुजर रहा था। यत्र-तत्र हिंसा की चिनगारियां उछल रही थीं। आचार्यश्री के मन में एक विचार उठा। आपने संत लोगोंवाल को याद किया। ९ जुलाई, १९८५ को वे आए। औपचारिक बातचीत के बाद आचार्यश्री ने कहा–'हमारा मिलन सर्वथा वैयक्तिक स्तर पर है। हमारा न तो कोई सरकार से संबंध है और न हम मध्यस्थता करना चाहते हैं।'

हरचंदसिंह लोंगोवाल–'हमारे मन में आपके प्रति श्रद्धा है। आपसे मिलकर हमें प्रसन्नता हुई।'

आचार्यश्री–'हिन्दू एक समाज है, संस्कृति है, जाति है। उसे धर्म मानने से गड़बड़ी पैदा हुई है।'

लोंगोवाल–'आपका विचार बिलकुल सही है। आपने राजस्थान में बैठे-बैठे पंजाब में शांति पैदा करने का प्रयत्न किया, यह आपकी महानता है। मैं भी शांति चाहता हूं इसीलिए मैं आपके पास आया हूं।'

आचार्यश्री–'आपकी दृष्टि में अशांति का मूल कारण क्या है?'

लोंगोवाल–'पहली बात–केन्द्रीय सरकार हमारी भावना का मूल्यांकन नहीं कर रही है। दूसरी बात–जब आदमी परमेश्वर को भूल जाता है तब अशांति होती है।'

आचार्यश्री–'इस अशांति को दूर करने के लिए आप क्या सोचते हैं?'

लोगोंवाल–'पहला है परमेश्वर की प्रार्थना। दूसरा है सरकार को सद्बुद्धि मिले।'

आचार्यश्री–'हमने सुना है और पढ़ा भी है, आपके प्रयास से वातावरण में मोड़ आ रहा है। यह बहुत प्रसन्नता की बात है। यह वातावरण जल्दी स्वस्थ बन जाए तो राष्ट्र को अधिक लाभ होगा। क्या ऐसा प्रभावी प्रयत्न किया जा सकता है?'

लोंगोवाल–'किया जा सकता है, पर वह तभी संभव होगा जब सरकार अपनी नीति बदले। 'फूट डालो और राज करो' की नीति को छोड़े।'

आचार्यश्री–'इस नीति से सरकार को क्या लाभ?'

लोंगोवाल–'अपनी गद्दी बचाने के लिए कुछ भी किया जा सकता है।'

आचार्यश्री–'सिखों में उग्रवादी कैसे पनप रहे हैं?'

लोंगोवाल–'उनके पनपने के कई कारण हो सकते हैं पर हमारी पार्टी (अकाली दल) का उनके साथ कोई संबंध नहीं है। अंग्रेजों के समय से हम देश के लिए संघर्ष कर रहे हैं। हमारे संघर्ष का तरीका शांतिपूर्ण रहा है। गांधीजी पंजाब के शांतिपूर्ण आंदोलन की सराहना करते थे।'

आचार्यश्री–'यह प्रसन्नता की बात है कि आप और हम हिंसा के खिलाफ हैं। हिंसा कहीं भी हो और किसी के द्वारा हो, वह गलत है। यह बात हमें खुलकर कहनी चाहिए। इससे आम जनता में एक अच्छी धारणा बनेगी।

दूसरी बात सरकारी नीति के बदलने की है। क्या उसके लिए सरकार के साथ बैठकर बातचीत करना जरूरी नहीं है? परस्पर बातचीत करने से दोनों तरफ की गलतफहमियां दूर हो सकती हैं।'

लोंगोवाल–'इस संबंध में हमने सरकार के साथ कोई दो दर्जन मीटिंग कर ली हैं पर नतीजा कुछ भी नहीं निकला।'

आचार्यश्री–'अब तो इंदिरा सरकार बदल गई है। क्या आप फिर एक बार उसका प्रयोग नहीं कर सकते? क्या यह नहीं हो सकता कि पहले सार नहीं निकला, अब वह निकल जाए।'

लोंगोवाल–'बातचीत से पहले पंजाब का वातावरण ठीक होना चाहिए। आनंदपुर साहिब प्रस्ताव में अलगाव की कोई बात नहीं है। उसका आशय तो इतना ही है कि संविधान के अंतर्गत राज्यों को पूरे अधिकार मिलने चाहिए।'

आचार्यश्री–'आपकी और मांगें क्या हैं?'

लोंगोवाल–'देश में कानून और अदालतें सबके लिए हैं। आज तक जहां, जितने दंगे हुए हैं, उन सबकी सही जांच होनी चाहिए। दंगों में जिन लोगों का नुकसान हुआ है, उन्हें व्यवस्था देनी चाहिए। जिन निर्दोष लोगों को बंदी बना रखा है, उन्हें छोड़ देना चाहिए। फौजियों के विरुद्ध बगावत का आरोप है। किन्तु उन्होंने देश के खिलाफ बगावत नहीं की। अपने धर्म की हानि के संवाद सुनकर वे आवेश में आकर अमृतसर की ओर भागे थे। उन फौजियों के साथ नर्मी का व्यवहार होना चाहिए।'

आचार्यश्री–'परस्पर बातचीत होने पर इनका समाधान बहुत कठिन नहीं लगता। हमारे मिलन और वार्तालाप से लोगों में आशा बंधी है। इसलिए उसका कोई परिणाम आना चाहिए। आपके यहां आने के संवाद से एक हलचल पैदा हुई है।'

लोंगोवाल–'हमें भी पूछा गया कि आप आचार्यश्री के साथ किस विषय पर बात करेंगे। मैंने कहा–हम दोनों संत हैं इसलिए हम शांति की ही बात करेंगे।'

आचार्यश्री–हमारा मिलन पंजाब में शांति का निमित्त बने, यही मेरी भावना है। आप देश की अखंडता चाहते हैं। अलगाववाद और आतंकवाद में आपका विश्वास नहीं है। फिर यह समस्या क्यों नहीं सुलझेगी?'

लोंगोवाल–'सिखों के दिलों में जो चोट लगी है, जो घाव हुए हैं उन पर कुछ मरहम सरकार लगाए और कुछ हम लगाएं तो वातावरण बदल सकता है।'

इस परिवर्तन की भावना ने एक चमत्कार पैदा किया और बहुत जल्दी प्रधानमंत्री राजीव गांधी और संत लोंगोवाल की बातचीत हुई। पंजाब समस्या का समाधान हो गया।

डायरी : आत्म-मंथन के कुछ चित्र

विचार-मंथन का आधार बनता है आत्म-मंथन। जो अपनी आत्मा की सन्निधि में कम रहता है उसके विचार-मंथन से नवनीत नहीं निकलता। आचार्यश्री ने आत्मा की अंतरंग उपासना की इसलिए आपने गहराई को नापा।

आचार्यश्री तुलसी विविधताओं के संगम थे। उनमें श्रद्धा भी थी, तर्क भी था, सहिष्णुता भी थी, आवेग भी था, साम्य भी था और शासक का मनोभाव भी था। हृदय की सुकुमारता भी थी और कठोरता भी। अपेक्षा भी थी और उपेक्षा भी। राग भी था और विराग भी।

विरोधी युगलों का संगम

अनेकान्त की भाषा में प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक व्यक्ति में अनन्त विरोधी युगल होते हैं। आचार्यश्री भी एक व्यक्ति थे। उनमें भी अनन्त विरोधी युगलों का संगम हो तो कोई आश्चर्य नहीं था। अस्तित्व की दृष्टि से आश्चर्य-जैसा कुछ है भी नहीं। प्रत्येक आत्मा में अनन्त-ज्ञान है, अनन्त-दर्शन है, अनन्त-आनन्द है और अनन्त-शक्ति है। आश्चर्य का क्षेत्र है अभिव्यक्ति।

अदृश्य जब दृश्य बनता है तब मन को चमत्कार-सा लगता है। पानी का योग मिलता है तो मिट्टी की गंध अव्यक्त से व्यक्त हो जाती है। अग्नि का योग मिलता है तब अगर की गंध अव्यक्त से व्यक्त हो जाती है। मिट्टी और अगर में गंध जो है वह असत् नहीं है। वस्तु के बहुत सारे पर्याय, बहुत सारी शक्तियां अव्यक्त रहती हैं, अनुकूल निमित्त मिलता है तब वे व्यक्त हो जाती हैं। वह अभिव्यक्ति ही चमत्कार का केन्द्र है। पौद्गलिक विज्ञान और क्या है? यही पुद्गल की अव्यक्त शक्तियों के व्यक्तीकरण की प्रक्रिया है।

धर्म और क्या है? यही चैतन्य की अव्यक्त शक्तियों के व्यक्तीकरण की प्रक्रिया। इसीलिए उनके संस्थान चमत्कार से परिपूर्ण हैं। आचार्यश्री का व्यक्तित्व भी इसीलिए आकर्षक था, उनकी उपलब्धियां विशिष्ट थी और सर्वोपरि आकर्षण का विषय था उनकी शक्तियों की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया। हम उनकी

विशिष्ट उपलब्धियों को देखकर केवल प्रमोद का अधिकार पा सकते हैं, किन्तु अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को जानकर हम स्वयं आचार्यश्री तुलसी बनने का अधिकार पा सकते हैं।

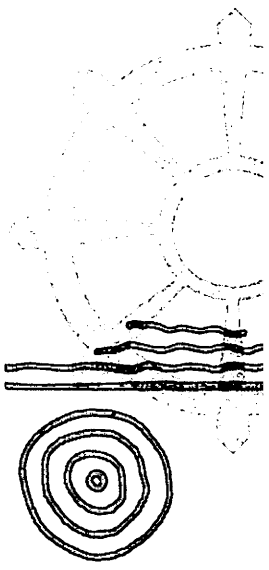

प्रायोगिक जीवन

तपे बिना कोई भी व्यक्ति ज्योति नहीं बनता और खपे बिना कोई भी व्यक्ति मोती नहीं बनता, यह शाश्वत स्थिति है, पर जनतंत्र के युग में तो यह बहुत ही स्पष्ट है। आचार्यश्री ने बहुत तप तपा, वे बहुत खपे। जनता की भाषा में, उन्होंने जन-हित संपादन के लिए ऐसा किया। उनकी अपनी भाषा में उन्होंने अपनी साधना के लिए ऐसा किया। आत्मोपकार के बिना परोपकार हो सकता है, इसमें उनका विश्वास नहीं था। उनके अभिमत में परोपकार का उत्स आत्मोपकार में ही था। जो अपने को गंवाकर दूसरों को बनाने का यत्न करता है वह औरों को बना नहीं पाता और स्वयं को गंवा देता है। दूसरों का निर्माण वही कर सकता है जो पहले अपना निर्माण कर ले। आचार्यश्री को व्यक्ति-निर्माण में जितना रस था, उससे कहीं अधिक रस अपने निर्माण में था। लगता है यह स्वार्थ है पर उनकी मान्यता में परमार्थ का बीज स्वार्थ ही था। उन्होंने अपने विषय में जो अनुभव प्राप्त किए वे उन्हीं की भाषा में इस प्रकार हैं–'मेरा जीवन प्रयोगों का जीवन है। मैं हर बात का प्रयोग करता रहता हूं; जो प्रयोग खरा उतरता है, उसे स्थायी रूप देता हूं।'[१]

आचार्यश्री का जीवन वैयक्तिक की अपेक्षा सामुदायिक अधिक था। उनका चिंतन समुदाय की परिधि में अधिक होता था। वे तेरापंथ के शास्ता थे। शासन में उनका विश्वास था, यदि वह आत्मानुशासन से फलित हो तो। संगठन में उनका विश्वास था, यदि वह आत्मिक पवित्रता से शृंखलित हो तो। उनकी मान्यता थी–'मेरी आत्मा जितनी अधिक उज्ज्वल रहेगी, शासन भी उतना ही समुज्ज्वल रहेगा।'[२]

स्तवना में खुश न होने की साधना

आचार्यश्री की आस्था आत्मा से फलित थी और धर्म में क्रियान्वित। इसलिए वे आत्म-विजय को सर्वोपरि प्राथमिकता देते थे। लक्ष्य की सिद्धि का अंकन करते हुए आचार्यश्री ने लिखा–'लाडनूं का एक व्यक्ति आया और उसने कहा, 'इन वर्षों में मेरे मनोभाव आपके प्रति बहुत बुरे रहे हैं। मैंने अवांछनीय प्रचार भी किया है।' उसने जो किया, वह मुझे सुनाया। उसे सुनकर क्रोध उभरना सहज था, पर मुझे बिलकुल क्रोध नहीं आया। मैंने सोचा–निन्दा सुन कर उत्तेजित न होना, इस बात में मेरी साधना काफी सफल है, पर स्तवना या प्रशंसा सुन कर खुश न होना, इस बात में मैं कहां तक सफल होता हूं, यह देखना है।'[३]

असमर्थता की अनुभूति

आचार्यश्री सत्य की उपासना में संलग्न थे। सत्य को अभय की बहुत बड़ी अपेक्षा है। जहां अभय नहीं होता, वहां सत्य की गति कुंठित हो जाती है। सत्य और अभय की समन्विति ने आचार्यश्री को यथार्थ कहने की शक्ति दी और इसीलिए उनमें अपनी दुर्बलताओं को स्वीकार करने व दूसरों की दुर्बलताओं को उन्हीं के सम्मुख कहने की क्षमता विकसित हुई। तेरापंथ के आचार्य जो चाहते हैं वह उनके गण में सहज ही

१. वि.सं. २०१० चैत्र कृष्णा १४।
२. वि.सं. २०१४ आश्विन शुक्ला ५, सुजानगढ़।
३. वि.सं. २०१४ दीपावली, सुजानगढ़।

क्रियान्वित हो जाता है। किन्तु कुछ भावनाएं ऐसी थी जिन्हें आचार्यश्री समूचे गण में प्रतिबिम्बित नहीं कर पाए। इस असमर्थता का उल्लेख आचार्यश्री ने इस भाषा में किया–'मेरा हृदय यह कह रहा है कि धर्म को ज्यादा से ज्यादा व्यापक बनाना चाहिए। पर समूचे संघ में मैं इस भावना को भरने में समर्थ नहीं हुआ। हो सकता है मेरी भावना में इतनी मजबूती न हो, अथवा और कोई कारण हो।'[1]

आचार्यश्री किसी भी धर्म-संप्रदाय पर आक्षेप करना नहीं चाहते थे, पर धार्मिक लोगों में जो दुर्बलताएं घर कर गई थी उन पर कटु प्रहार किए बिना भी नहीं रहते थे। बीकानेर में एक ऐसा ही प्रसंग था। उसका चित्र आचार्यश्री के शब्दों में यों है–'आज साल्हे की होली वाले चौक में भाषण हुआ। उपस्थिति अच्छी थी। लगभग पांच-छह हजार भाई-बहिन होंगे। दस बजे तक व्याख्यान चला। इस स्थान में जैनाचार्य का व्याख्यान होना एक विशेष घटना है। यहां ब्राह्मण ही ब्राह्मण रहते हैं। जैन धर्म के प्रति कोई अभिरुचि नहीं; फिर भी बड़ी शांति से प्रवचन हुआ। यद्यपि आज का प्रवचन बहुत स्पष्ट और कटु था, फिर भी कटुकौषधपान-न्यायेन लोगों ने उसे बहुत अच्छे रूप में ग्रहण किया।'[2]

उदार दृष्टिकोण का परिणाम

आचार्यश्री केवल वाक्पटु ही नहीं, समयज्ञ भी थे। वे कटु बात भी ऐसी परिस्थिति में कहते कि श्रोता को वह असह्य नहीं होती। आचार्यश्री बहुत बार कहते–मुझमें व्यवहार-कौशल उतना नहीं, जितना कि एक शास्ता में होना चाहिए। पर सचाई यह थी–उनका कठोर संयम उन्हें कृत्रिम व्यवहार की ओर प्रेरित नहीं करता था। वे औपचारिकताओं से दूर हटते गए फिर भी उनकी सहृदयता परिपक्व थी। उनकी प्रगति तत्त्ववेत्ता की भूमिका से स्थितप्रज्ञता की भूमिका की ओर हुई। वे एक धर्म-संप्रदाय के आचार्य थे, फिर भी उनका दृष्टिकोण संप्रदायातीत था। उनकी विशेषताएं इसलिए चमकी कि उन्होंने दूसरों की विशेषताओं को मुक्तभाव से स्वीकार किया। वे इसलिए सबके बने कि उन्होंने सबको अपनत्व की दृष्टि से देखा। वे अतीत और वर्तमान की तुलना करते हुए अनेक बार कहते–'आज हम भी उदार बने हैं, आप लोग भी उदार बने हैं। मैं मानता हूं कि सब संप्रदाय उदार बने हैं। उदार बने बिना कोई व्यक्ति ग्रहणशील भी नहीं बनता।' आचार्यश्री के सामने जो विशेषता आती उसे वे सहसा ग्रहण कर लेते। यह उनके उदार दृष्टिकोण का परिणाम था। आचार्यश्री की डायरी के पृष्ठ इसके स्वयंभू प्रमाण हैं–'आज दुपहरी में पौने तीन बजे विमला बहिन आई। वह विनोबा के भूदान-यज्ञ की कार्यकर्त्री है, विदुषी है। बड़ा अच्छा वक्तव्य देती है। आकृति पर ओज है। थोड़ा प्रवचन सुना। भूदान-यज्ञ के कार्यकर्ता अच्छे-अच्छे हैं। इससे प्रगति का सूचन मिलता है। अणुव्रत आंदोलन के कार्यकर्ता भी ऐसे हों, तो बहुत काम हो सकता है।'[3]

'आज वृन्दावन के वन महाराज वैष्णव संन्यासी आए। वृन्दावन में एक विश्वविद्यालय बनाना चाहते हैं। उसमें सब धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए तेरह पीठ रखे गए हैं। उनमें एक जैन-पीठ भी है। जैन-पीठ के लिए लोगों ने हमारा नाम सुझाया, इसलिए वे आए हैं। बहुत बातें हुईं। समन्वयवादी व विद्वान् व्यक्ति मालूम हुए।'[4]

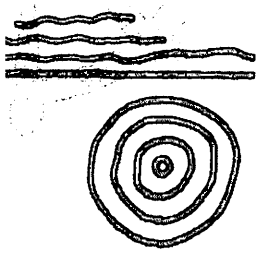

१. वि.सं. २०१० चैत्र कृष्णा ७, पुनरासर।
२. वि.सं. २०१० श्रावण कृष्णा ८, जोधपुर।
३. वि.सं. २०१० वैशाख कृष्णा ९, बीकानेर।
४. वि.सं. २०१० आश्विन शुक्ला ९, मुंबई, सिक्कानगर।

इस उदारदृष्टि से ही आचार्यश्री का अन्य दर्शनानुयायियों के साथ संपर्क बढ़ा। वे यहां आते और आचार्यश्री उनके वहां जाते। इस क्रम से समन्वय की एक सुन्दर सृष्टि हुई। आचार्यश्री ने ऐसे अनेक प्रसंगों का उल्लेख किया–'आज तीन बौद्ध भिक्षु आए। एक लंका के थे, एक बर्मा के और तीसरे महाबोधि सोसायटी मुंबई के मंत्री थे। प्रवचन सुना। आगामी रविवार को सोसायटी की तरफ से यहीं सिक्कानगर में व्याख्यान रखा है और मुझे अपने विहार में ले जाने के लिए निमंत्रण देकर गए हैं।'[१]

'आज हम बौद्ध-विहार में गए। वहां के भिक्षुओं ने बड़ा स्वागत किया। अच्छी चर्चा चली। फिर फादर विलियम्स के चर्च में गए। ये सब मुंबई सेन्ट्रल स्टेशन की तरफ हैं।'[२]

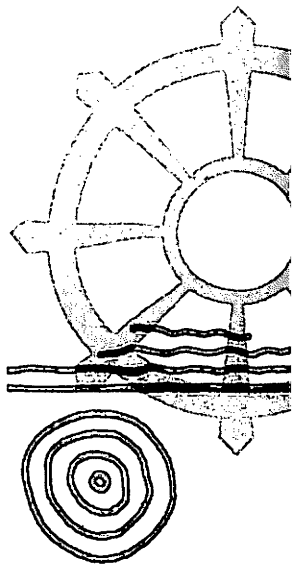

धर्मचक्र का प्रवर्तन

द्रुतगामी पाद-विहारी

आचार्यश्री पाद-विहारी थे; किन्तु उनका कार्यक्रम यान-विहारी से द्रुतगामी होता था। एक प्रसंग है–'आज सिक्कानगर में व्याख्यान हुआ। व्याख्यान के बाद एक 'रशियन' सुन्दरलाल के साथ आया। उसने कहा–'भारतीय लोगों की तरह रशियनों को स्वतंत्रता से फलने-फूलने का अवसर नहीं मिलता। बड़ा कष्ट होता है।' उसकी बहुत जिज्ञासाएं थीं, पर हमें समय नहीं था। डेढ़ बजे जे.जे. स्कूल ऑफ आर्ट्स, जो एशिया का सुप्रसिद्ध कला-शिक्षण केन्द्र है, में प्रवचन करने गए। फिर बोरीबन्दर स्टेशन होते हुए लौंकागच्छ के उपाश्रय में यति हेमचंद्रजी, जो दो बार अपने यहां आ चुके थे, से मिलने गए। कुछ प्रवचन किया। उपाश्रय बड़ा है। फिर सिक्कानगर आए।'[३]

'गंगाशहर से विहार किया। दूसरे दिन नाल पहुंचे। रास्ते में नत्थुसर दरवाजे के बाहर लालीबाई का आश्रम है, वहां गए। वह पुरुष वेश में रहती हैं। भगवा पहनती हैं। विधवा बहनों के चरित्र-सुधार का काम करती हैं। उसकी बहुत शिष्याएं हैं। वे सिर के बाल मुंडाती हैं और सफेद वस्त्र पहनती हैं। लालीबाई बोली–आचार्य आशारामजी से हम आपके विषय में बहुत बातें सुनतीं हैं, पर आज आपके दर्शन हो गए। वहां का वातावरण अच्छा मालूम दिया।'[४]

सिद्धान्त और समझौतावादी दृष्टिकोण

आचार्यश्री सर्वधर्म-समन्वय के समर्थक थे। साम्प्रदायिक एकता उनकी दृष्टि में असंभव या अस्वाभाविक प्रयत्न था। सिद्धांत और समझौतावादी दृष्टिकोण उनके अभिमत में भिन्न वस्तुएं थी। वे संप्रदाय-मैत्री के पोषक थे। विचार-भेद मैत्री के अभाव में ही पलता है। सहज ही तर्क होता है, क्या विचार-भेद मैत्री में बाधक नहीं है? प्रतिप्रश्न भी होता है–क्या जिनमें मैत्री है उनमें कोई विचार-भेद नहीं है अथवा जिनमें विचार-भेद नहीं है उनमें मैत्री है ही? मैत्री का संबंध जितना सद्व्यवहार और हृदय की स्वच्छता से है, उतना विचारों की एकता से नहीं है। अपने-अपने सिद्धान्तों को मान्य करते हुए भी सब संप्रदाय मित्र बन सकते हैं। जो विचारों से हमारे साथ नहीं है वह हमारा विरोधी ही है, ऐसा मानना अपने हृदय की अपवित्रता का चिह्न है। दो विरोधी विचारों का सहावस्थान या सह-अस्तित्व सर्वथा संभव है। इसी धारणा की नीति पर आचार्यश्री ने वि. सं. २०११ मुंबई में संप्रदाय-मैत्री के पांच सूत्र प्रस्तुत किए–

१. वि.सं. २०१६ कार्तिक कृष्णा ७, कोलकाता।
२. वि.सं. २०११ आश्विन शुक्ला २, मुंबई।
३. वि.सं. २०११ आश्विन शुक्ला ३, मुंबई।
४. वि.सं. २०११ भाद्रपद कृष्णा ११, मुंबई।

१. मंडनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरों पर लिखित या मौखिक आक्षेप न किया जाए।

२. दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।

३. दूसरे संप्रदाय और उसके अनुयायियों के प्रति घृणा व तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।

४. कोई संप्रदाय परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।

५. धर्म के मौलिक तथ्य–अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवनव्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

उन दिनों के आचार्यश्री के मनोमन्थन के चित्र देखें–'इस वर्ष स्थानकवासी साधुओं का सम्मेलन भीनासर में होने वाला है। सुना है, वे थली की ओर भी जाएंगे। मैंने अपने श्रावकों से कहा है कि यदि वे वहां आएं तो उनके साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार न हो, इसका पूरा ध्यान रखा जाए।'[१]

'आज जयप्रकाश नारायण से मिलना हुआ। एक घंटे तक बातचीत हुई। विचारों का आदान-प्रदान हुआ। अहिंसक दृष्टियों का समन्वय हो, यह मैंने सुझाया। वातावरण बड़ा सौहार्दपूर्ण रहा।'[२]

'जयप्रकाशजी आज तीन बजे फिर आए। उनसे जीवनदानी बनने का इतिहास सुना, बड़ा स्फूर्तिदायी था। फिर उन्होंने पूछा–'अहिंसक शक्तियों का मिलन हो, इस बारे में आपके क्या सुझाव हैं? मैंने कहा– विचारों का आदान-प्रदान हो, परस्पर एक-दूसरे को बल दें, कठिनाइयों के प्रतिकार के लिए सह-प्रयत्न हो और सामान्य नीति का निर्धारण हो। उन्होंने कहा–मैं यह विचार विनोबा के पास रखूंगा और आपसे भी समय-समय पर संपर्क बनाए रखूंगा।'[३]

मौन की साधना

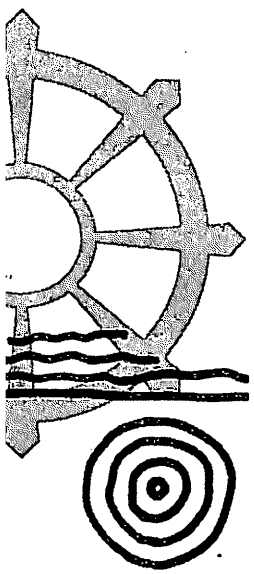

समन्वय की साधना के लिए आचार्यश्री ने बहुत सहा, मौन की बहुत बड़ी साधना की। उसके परिणाम भी अनुकूल हुए। इस प्रसंग में आचार्यश्री की डायरी का एक पृष्ठ–'आज व्याख्यानोपरांत मुंबई समाचार के प्रतिनिधि मि. त्रिवेदी आए। उन्हें प्रधान संपादक सोरावरजी भाई ने भेजा। हमारा विरोध क्यों हो रहा है? उसे जानना चाहते थे। और वे यह भी जानना चाहते थे कि एक ओर से इतना विरोध और दूसरी ओर से इतना मौन! आखिर क्या कारण है?'

'आज त्रिवेदी का लेख मुंबई समाचार में आया। काफी स्पष्टीकरण किया है। वे कहते थे, अब हमने आक्षेपपूर्ण लेखों का प्रकाशन बंद कर दिया है। यह निभेगा तो अच्छी बात है।'[४]

'समन्वय साधकों के प्रति प्रशंसा का भाव बन रहा है। विजयवल्लभसूरीजी का स्वर्गवास हो गया। उनकी भावना समन्वय की थी। वे अपना नाम कर गए।'[५]

---

१. वि.सं. २०१० द्वितीय वैशाख कृष्णा १, नाल।
२. वि.सं. २०११ मार्गशीर्ष कृष्णा १, मुंबई, चर्चगेट।
३. वि.सं. २०११ मार्गशीर्ष कृष्णा ३, मुंबई, चर्चगेट।
४. वि.सं. २०११ मार्गशीर्ष कृष्णा ५, मुंबई, चर्चगेट।
५. वि.सं. २०११ श्रावण शुक्ला १०, मुंबई।

'इस दिशा में सर्वधर्म गोष्ठियां भी होती रहीं। आज सर्वधर्म गोष्ठी हुई। उसमें ईसाई धर्म के प्रतिनिधि डॉ. वेरन आदि अमरीकन, पारसी मठ के संन्यासी संबुद्धानंदजी, आर्य समाजी आदि वक्ता थे। अन्त में अपना प्रवचन हुआ। फादर विलियम्स ने उसका अंग्रेजी अनुवाद किया। बड़े अच्छे ढंग से किया। कार्यक्रम सफल रहा।'[१]

उन्हीं दिनों मुंबई समाचार में एक विरोधी लेख प्रकाशित हुआ। आचार्यश्री ने उस समय की मनःस्थिति का चित्रण करते हुए लिखा–'आज मुंबई समाचार में एक मुनिजी का बहुत बड़ा लेख आया है। आक्षेपों से भरा हुआ है। भिक्षु-स्वामी के पद्यों को विकृत रूपों में प्रस्तुत किया गया। जघन्यता की हद हो गई। पढ़ने मात्र से आत्म-प्रदेशों में कुछ गर्मी आ सकती है। औरों को गिराने की भावना से मनुष्य क्या-क्या कर सकता है, यह देखने को मिला। उसका प्रतिकार करना मेरे तो कम जंचता है। आखिर इस काम में (औरों को नीचा दिखाने के काम में) हम कैसे बराबरी कर सकते हैं! यह काम तो जो करते हैं उन्हीं को मुबारक हो। अलबत्ता स्पष्टीकरण करना जरूरी है। देखें, किस तरह होगा।'[२]

'इधर में विरोधी लेखों की बड़ी हलचल है। दूसरे लोग उनका सीधा उत्तर दे रहे हैं। उन्हें घृणा की दृष्टि से देख रहे हैं। अपना मौन बड़ा काम कर रहा है।'[३]

साधु-साध्वियों का निर्माण

इस मौन का अर्थ वाणी का अप्रयोग नहीं, किंतु उसका संयम है। आचार्यश्री का जीवन संयम के संस्कारों में पला था, इसलिए वे दूसरों के असंयम को भी संयम के द्वारा जीतने का प्रयत्न करते थे। वे व्यक्ति-विकास में विश्वास करते थे। उसका आधार भी संयम ही था। उन्होंने अपने हाथों अनेक व्यक्तियों का निर्माण किया। उनका सर्वाधिक निकट-क्षेत्र रहा–साधु समाज। पहला दृष्टिपात वहीं हो, यह अस्वाभाविक नहीं। निर्माण की पहली रेखा यही है। 'साधु-साध्वियों में प्रारंभ से ही उच्च साधना के संस्कार डाल दिए जाएं तो बहुत संभव है कि उनकी प्रकृति में अच्छा सुधार हो जाए। इसे प्रमाणित करने के लिए मैंने इधर में नवदीक्षित साधुओं पर कुछ प्रयोग किए हैं। चलते समय इधर-उधर नहीं देखना, बातें नहीं करना, वस्त्रों के प्रतिलेखन के समय बातें नहीं करना, अपनी भूल को नम्रभाव से स्वीकार करना, उसका प्रायश्चित्त करना, आदि-आदि। इससे उनकी प्रकृति में यथेष्ट परिवर्तन आया है। पूरा फल तो भविष्य बताएगा।'[४]

'आज के बाल साधु-साध्वियों के जीवन को प्रारंभतः संस्कारी बनाना मेरा स्थिर लक्ष्य है। उसमें मुझे बड़ा आनंद मिलता है।'[५]

'साधुओं को किस तरह बाह्य विकारों से बचा कर आंतरिक वैराग्य-वृत्ति में लीन बनाया जाए, इस प्रश्न पर मेरा चिंतन चलता ही रहता है।'[६]

'इस बार साधु-समाज में आचारमूलक साधना के प्रयोग चल रहे हैं। साधु-साध्वियों से अपने-अपने

१. वि.सं. २०११ श्रावण शुक्ला १३, मुंबई।
२. वि.सं. २०११ आश्विन कृष्णा ११, मुंबई।
३. वि.सं. २०११ आश्विन कृष्णा १२, मुंबई।
४. वि.सं. २०११ आश्विन कृष्णा २, मुंबई।
५. वि.सं. २०११ आश्विन कृष्णा २, सिक्कानगर।
६. वि.सं. २०११ श्रावण शुक्ला ११, मुंबई, सिक्कानगर।

अनुभव लिखाए। वे प्रामाणिकता के साथ अपनी प्रगति व खामियों को लिख कर लाए। मुझे प्रसन्नता हुई। आगामी चातुर्मास में बहुत कुछ करने की मनोभावना है।'[1]

साधु साधना में ही है, सिद्धि में नहीं। वे समय पर भूल भी कर बैठते हैं। आचार्यश्री को उससे बहुत मानसिक वेदना होती थी। उसी का एक चित्र है–'आज कुछ बातों को लेकर साधुओं में काफी ऊहापोह हुआ। आलोचनाएं चलीं, कुछ व्यंग्य भी कसे गए। न जाने, ये आदतें क्यों चल पड़ीं? कोई युग का प्रभाव है या विवेक की भारी कमी? आखिर हमारे संघ में ये बातें सुंदर नहीं लगतीं। कुछ साधुओं को मैंने सावधान किया है। अब हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्तों को काम में लेकर कुछ करना होगा।'[2]

गृहस्थों के जीवन-निर्माण के लिए भी आचार्यश्री ने समय-समय पर अनेक प्रयत्न किए। उन्हें जो भी कमी लगी, उस पर प्रहार किया और जो विशेषता लगी उसका समर्थन किया–'आज मित्र परिषद् के सदस्यों को मौका दिया। उन्होंने विशिष्ट सेवाएं दी हैं। एक इतिहास बन गया है। मैंने उनसे एक बात यह कही है–यदि तुम्हें आगे बढ़ना है तो प्रतिशोध की भावना को दिल से निकाल दो।'[3]

अणुव्रत आंदोलन इसी परिवर्तनवादी मनोवृत्ति का परिणाम है। उस समय जो स्थिति थी उससे उन्हें संतोष नहीं था। वे न्यूनतम संयम का भी अभाव देखते तो उनका मन छटपटा उठता। वे सोचते रहते–जो इष्ट परिवर्तन आना चाहिए वह पर्याप्त मात्रा में क्यों नहीं आ रहा है? इसी चिंतन में से अनेक प्रवृत्तियां जन्म लेती। 'नया मोड़' का उद्भव भी इसी धारा में हुआ। समाज जब तक प्रचलित परम्पराओं में परिवर्तन नहीं लाएगा, तब तक जो संयम इष्ट है वह संभव नहीं। उसके बिना एक दिन मानवता और धार्मिकता दोनों का पलड़ा हलका हो जाएगा। उनके हित-चिंतन में बाधाएं भी कम नहीं थी। कई बार उन्हें थोड़ी निराशा-सी होती थी किंतु उनका आत्मविश्वास फिर उन्हें झकझोर देता–'इधर मेरी मानसिक स्थिति में काफी उतार-चढ़ाव रहा। कारण, मेरी प्रवृत्ति सामूहिक हित की ओर अधिक आकृष्ट है और मैं जो काम करना चाहता हूं उसमें कई तरह की बाधाएं सामने आ रही हैं। इससे मेरा हृदय संतुष्ट नहीं है। मेरा आत्मविश्वास यही कहता है कि आखिर मेरी धारणा के अनुसार काम होकर रहेगा, थोड़ा समय चाहे लग जाए।'[4]

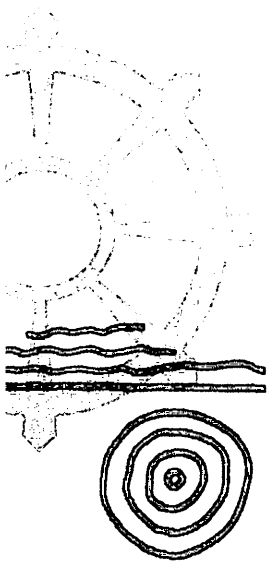

आस्था का आलोक

आचार्यश्री में चिंतन था, विचार के अभिनव उन्मेष थे इसलिए वे रूढ़ मार्ग पर ही नहीं चलते थे, उपयोगितानुसार नये मार्ग का भी आलंबन लेते थे, नई रेखाएं भी खींचते थे। यह संभवतः असंभव ही है कि कोई नई रेखा खींचे और संघर्ष का वातावरण न बने। संघर्ष को निमंत्रण देना बुद्धिमानी नहीं है, तो प्रगति के परिणामस्वरूप जो आए उसे नहीं झेलना भी बुद्धिहीनता है। संघर्ष बुरा क्या है? वह सफलता की पहली तेज किरण है। उससे जो चौंधिया जाता है वह भटक जाता है और उसे जो सह लेता है वह सफलता का वरण कर लेता है। असफलता और सफलता की भाषा में स्वामी विवेकानंद ने जो कहा है वह चिर सत्य है–'संघर्ष और त्रुटियों की परवाह मत करो। मैंने किसी गाय को झूठ बोलते नहीं सुना; पर वह केवल गाय है, मनुष्य कभी नहीं। इसलिए असफलताओं पर ध्यान मत दो। ये छोटी-छोटी फिसलनें हैं। आदर्श को सामने रख कर हजार

१. वि.सं. २०१० चैत्र कृष्णा १४, उदासर।
२. वि.सं. २०१० श्रावण शुक्ला १५, जोधपुर।
३. वि.सं. २०११ मार्गशीर्ष कृष्णा ८, चर्चगेट, मुंबई।
४. वि.सं. २०१२ जेठ शुक्ला १०, डांगर-महाराष्ट्र।

बार आगे बढ़ने का प्रयत्न करो। यदि तुम हजार बार भी असफल होते हो तो एक बार फिर प्रयत्न करो।' आचार्यश्री को अपनी गति में अनेकानेक अवरोधों का सामना करना पड़ा, पर वे थके नहीं। विराम लिया, पर रुके नहीं। उस अबाधगति के संकल्प और अगाध आस्था ने उनका पथ प्रशस्त कर दिया। आस्थाहीन व्यक्ति हजार बार सफल होकर भी परिणाम-काल में असफल होता है और आस्थावान पुरुष हजार असफलताओं को चीर कर अन्त में सफल हो जाता है। आचार्यश्री ने अपनी आस्था के आलोक में अपने-आपको देखते हुए लिखा–

'यह तीन-चार वर्ष का संक्रांति काल रहा। इसमें जो घटना-क्रम चला उसका हरेक आदमी के दिमाग पर असर हुए बिना नहीं रहा। इस समय मेरा साथी मेरा आत्मबल था और साथ ही मैं अपने भाग्यविधाता गुरुदेव को एक घड़ी के लिए भी भूला हूं, ऐसा नहीं जान पड़ता। उनकी स्मृति मात्र से मेरा बल हर वक्त बढ़ता रहा। मेरी आत्मा हर वक्त यह कहती रही कि तेरा रास्ता सही है और यही सत्यनिष्ठा मुझे आगे बढ़ाए चल रही है।

विरोध भीषण था, पर मेरे लिए बलवर्धक बना। संघर्ष खतरनाक था, पर मेरे और संघ के आत्मालोचन के लिए हेतु बना। इससे सतर्कता बढ़ी। साधु-संघ में प्राचीन ग्रंथों व सिद्धान्तों के अध्ययन की अभिरुचि बढ़ी। सजगता बढ़ी। पचासों वर्षों के लिए रास्ता सरल हो गया। इत्यादि कारणों से मैं इसे एक प्रकार की गुणकारक वस्तु समझता हूं। फिर भी संघर्ष कभी न हो, शान्त वातावरण रहे, संगठन अधिक दृढ़ रहे, हर वक्त यही काम्य है। भिक्षुशासन विजयी है, विजयी रहे। साधु-संघ कुशल आचारवान् है, वैसा ही रहे।'[1]

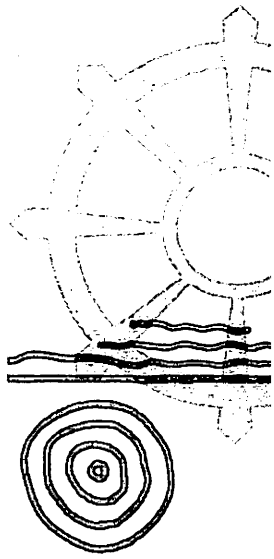

धर्मचक्र का प्रवर्तन

अपराजेय मनोवृत्ति

विजय की भावना व्यक्ति के आत्मबल से उद्भूत होती है। आत्मा प्रबल होती है, परिस्थिति पराजित हो जाती है। आत्मा-दुर्बल होती है, परिस्थिति विजयी हो जाती है। साधना का आशय यही है कि आत्मा प्रबल रहे, परिस्थिति से पराजित न हो। इस अपराजेय मनोवृत्ति का अंकन इस प्रकार हुआ–'स्वास्थ्य कुछ ठीक नहीं रहता। मौन विश्राम से काम चल जाता है। वर्षभर तक दवा लेने का प्रत्याख्यान है। आत्मबल प्रबल है, फिर क्या?'[2]

आत्मा में अनन्त वीर्य है। उसका उदय अभिसन्धि से होता है। अभिसन्धिहीन प्रवृत्ति से वीर्य की स्फुरणा नहीं होती। जो कार्य वीर्य-अभिसन्धि के बिना किया जाता है वह सफल नहीं होता और वही कार्य वीर्य-अभिसंधि द्वारा किया जाता है तो सहज सफल हो जाता है। आचार्यश्री का अपना अनुभव रहा–'परिश्रम की अधिकता के कारण सिर में भार, आंखों में गरमी आज काफी बढ़ गई। रात्रि के विश्राम से भी आराम नहीं मिला, तब सवेरे डेढ़ घण्टे का मौन किया और नाक से लंबे श्वास लिए। इससे बहुत आराम मिला। पुनः शक्ति-संचय-सा होने लगा। चित्त प्रसन्न हुआ। मेरा विश्वास है कि मौन साधना मेरी आत्मा के लिए, मेरे स्वास्थ्य के लिए बहुत अच्छी खुराक है। बहुत बार मुझे ऐसे अनुभव भी होते रहते हैं। यह मौन साधना मुझे नहीं मिलती तो स्वास्थ्य संबंधी बड़ी कठिनाई होती पर वैसा क्यों हो? स्वाभाविक मौन चाहे पांच घंटे का हो उससे उतना आराम नहीं मिलता, जितना कि संकल्पपूर्वक किए गए एक घंटे के

१. वि.सं. २०१४ आषाढ़ कृष्णा ६, बीदासर।

२. वि.सं. २०१६ कार्तिक कृष्णा ६, कोलकाता।

मौन से मिलता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि संकल्प में कितना बल है। साधारणतया मनुष्य यह नहीं समझ सकता, पर तत्त्वतः संकल्प में बहुत बड़ी आत्मशक्ति निहित है। उससे आत्मशक्ति का भारी विकास होता है। अवश्य ही मनुष्य को इस संकल्प-बल का प्रयोग करना चाहिए।'[1]

आचार्य हरिभद्र ने अभिसन्धिपूर्वक वस्तु के परिहार को ही त्याग कहा है। संकल्प में कितना वीर्य केन्द्रित है उसे एक कुशल मनोवैज्ञानिक ही समझ सकता है। आचार्यश्री ने जो कुछ पाया, उसके पीछे उनका कर्तृत्व था, पुरुषार्थ था और लक्ष्यपूर्ति का दृढ़संकल्प था। वे निरंतर लक्ष्य की ओर बढ़े। जब भी लक्ष्य की गति में अंतराल हुआ, उसका पुनः सन्धान किया–'इन दिनों डायरी भी नहीं लिखी गई। मौन भी छूट गया। अब दोनों पुनः प्रारंभ किए हैं। धनजी सेठिया बेंगलुरू वाले आए, और बोले–'आपने मौन क्यों छोड़ दिया? वह चालू रहना चाहिए। उससे विश्राम, स्वास्थ्य और बल मिलेगा।' मैंने कहा–'आठ वर्षों से चलने वाला मौन यू.पी. से बन्द हो गया, पर अब चालू करना है।' जेठ सुदी १ से पुनः मौन प्रारंभ है।'[2]

सिद्धान्त-विरोधी प्रवृत्ति में असहिष्णुता

आचार्यश्री में समता के प्रति आस्था थी और सिद्धान्त के प्रति अनुराग था। इसलिए वे किसी भी सिद्धान्त-विरोधी प्रवृत्ति को सहन नहीं करते थे–'दुपहरी में संत व्याख्यान दे रहे थे। एक लाल दरी बिछी हुई थी। सब लोग बैठे थे; कुछ भांभी (हरिजन) भी उस पर बैठ गए। सुनने लगे। जैन लोगों ने यह देखा तो बड़े जोश से बोले–तुम लोगों में होश नहीं जो जाजम पर आकर बैठ गए? यह पंचायती जाजम है? वे आक्रोश करते हुए हरिजनों को उठाकर जाजम खींच कर ले गए। बहुतों को बुरा लगा, हरिजनों को बहुत ही धक्का लगा। कई तो रोने लग गए। मैंने भीतर से यह दृश्य देखा। मन में वेदना हुई। मानवता के अपमान को मैं सह नहीं सका। मैं व्याख्यान में गया। स्पष्ट शब्दों में मैंने कहा–जिन तीर्थंकर भगवान् महावीर ने जातिवाद के विरुद्ध प्रबल आंदोलन किया, उन्हीं के भक्त आज उसी दलदल में फंस रहे हैं, बड़ा आश्चर्य है। मैंने आंखों से देखा–मनुष्य किस प्रकार मनुष्य का अपमान कर सकता है। दरी आपको इतनी प्यारी थी तो बिछाई ही क्यों? मैंने उनसे कहा–साधुओं के सान्निध्य में इस प्रकार किसी जाति का तिरस्कार करना क्या साधुओं का तिरस्कार नहीं है? वहां के सरपंच को, जो जैन थे, मैंने कहा–'क्या पंचायत में सभी सवर्ण ही हैं? नहीं, भांभी भी है! तो कैसे बैठते हो? वहां तो एक ही दरी पर बैठते हैं। तो फिर यहां क्या हुआ? हमारे यहां ऐसी ही रीति है। आखिर उन्होंने भूल स्वीकार की। उन्हें छुआछूत की भावना मिटाने की प्रेरणा दी और हरिजनों को भी शांत किया।'[3]

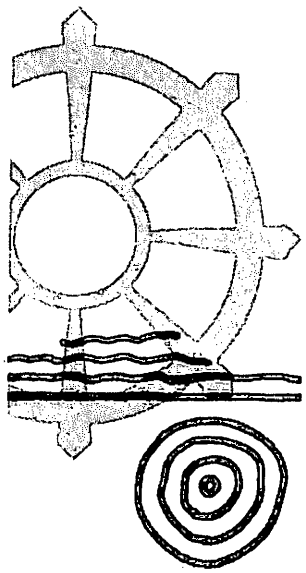

१. वि.सं. २००९ फाल्गुन कृष्णा २, सरदारशहर।
२. वि.सं. २०१२ भाद्रपद शुक्ला २, उज्जैन।
३. वि.सं. २०११ फाल्गुन शुक्ला ७, पूना।

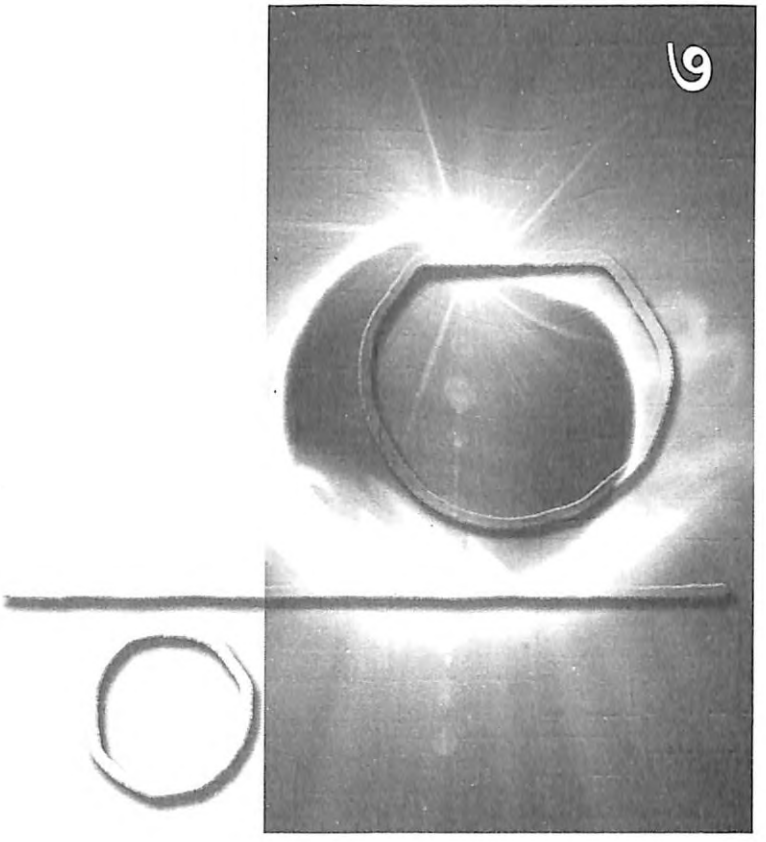

व्यक्तित्व

आचार्यश्री के व्यक्तित्व की मूल प्रवृत्ति आध्यात्मिक थी। आध्यात्मिक व्यक्ति अंतर्मुखी निश्चित होता है। इस अंतर्मुखी दृष्टिकोण के कारण आप परिस्थिति के दलदल में कभी नहीं फंसते थे। परिस्थितियां आती हैं, अपना प्रभाव भी जताती हैं और अनामंत्रित अतिथि की भांति अपने आप चली जाती हैं। संघर्ष जीवन की नियति है। इस विचार के साथ आपका जीवन चलता था। अंतर्मुखी चेतना से प्रभावित मनःस्थिति परिस्थिति को कभी भी प्रभावी नहीं बनने देती।

व्यक्तित्व

उभरता व्यक्तित्व

जो बड़े में छोटा और छोटे में बड़ा हो, वह है व्यक्तित्व। जो स्थूल में सूक्ष्म और सूक्ष्म में स्थूल हो, वह है व्यक्तित्व। व्यक्तित्व का कोई चित्र नहीं होता। वह अदृश्य होता है। मन के मुकुर में प्रतिबिम्बित होकर ही वह दृश्य बनता है। व्यक्तित्व के लिए कोई तुला नहीं होती। वह अपने आप में भारी नहीं होता। उसके गुरुत्व की अनुभूति दूसरों को ही होती है।

आचार्यश्री का व्यक्तित्व उन अणुओं से बना हुआ था जिनमें प्रतिबिम्बित होने की क्षमता थी। वे स्फटिक में भी प्रतिबिम्बित हुए और उनमें भी प्रतिबिम्बित हुए जो स्फटिक नहीं थे। वे प्रकाश में भी दृश्य थे और वहां भी दृश्य थे जहां प्रकाश नहीं था। मैं उस दशा की बात करता हूं जब मैं और मेरे साथी स्फटिक नहीं थे। मैं उस समय की बात करता हूं जब आचार्यश्री प्रकाश में नहीं आए थे।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

व्यक्तित्व : मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

मानसशास्त्री मैस्लो ने पारमार्थिक दृष्टि वाले व्यक्तित्व का मनःशास्त्र के आधार पर विश्लेषण किया है। उनके अनुसार–

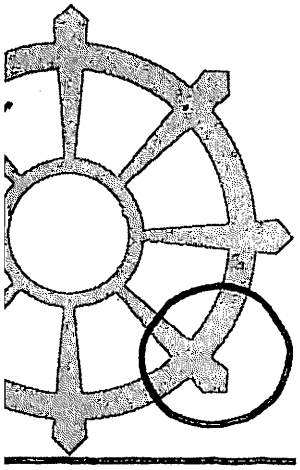

- श्रेष्ठ व्यक्तित्व सहज स्वभाव का होता है, उसमें कृत्रिमता नहीं होती।
- वह बाहर और भीतर एक जैसा होता है। उसमें भावना, विचारणा और क्रिया तीनों एक रूप होते हैं।
- वह स्वतंत्र स्वभाव का होता है, मर्यादाहीन नहीं। किंतु परम्परागत रूढ़ियों का विरोध करने और उन्हें तोड़ने में जरा भी नहीं हिचकता।
- विचारों की सीमित परिधि में रहना उसे अच्छा नहीं लगता। वह नित नए और प्रगतिशील विचारों का आह्वान करता है।
- वह स्वयं अपना मार्ग बनाता है। परंपरावादियों के विरोध का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता।
- वह संघर्षों के कारण अपने पथ से विचलित नहीं होता। वह संघर्षों को स्वयं आमंत्रण देता है। उन्हें मनोरंजन मानकर उनके माध्यम से अपनी शक्ति बढ़ाता है।
- वह उन समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है जिनमें समाज, देश एवं मानवता का हित जुड़ा हुआ होता है।

• वह अपने स्वार्थों पर अंकुश रखता है।

• उसका दृष्टिकोण वस्तु को नए-नए रूपों में ग्रहण करता है, इसलिए उसके जीवन में एकरूपता की ऊब नहीं होती।

• सामान्य व्यक्ति की तुलना में वह अधिक प्रसन्न एवं प्रफुल्ल होता है।

• वह पाप से घृणा करता है, किसी व्यक्ति से घृणा नहीं करता।

• उसमें सहनशक्ति और सामंजस्य की असाधारण प्रवृत्ति होती है।

• उसकी चिंतनधारा निषेधात्मक नहीं होती। वह सदा विधेयात्मक ढंग से सोचता है।

• वह किसी काम को छोटा मानकर उसकी उपेक्षा नहीं करता किन्तु उसे सफल बनाने के लिए मनोयोग से लग जाता है।

आचार्यश्री के व्यक्तित्व को इन कसौटियों पर कसने से एक प्रश्न उपस्थित होता है कि व्यक्ति की ये कसौटियां पहले निर्धारित की गईं अथवा आपने अपने व्यक्तित्व की संरचना पहले की। जीवन-दर्शन एवं जीवन की विविध घटनाओं के अध्ययन के बाद इस प्रश्न का उपस्थित होना अस्वाभाविक नहीं है।

• आचार्यश्री पूर्वाग्रहों से ग्रस्त नहीं थे। वे परिस्थिति के अनुसार कार्य का निर्धारण करते थे।

• आप अतिवादी नहीं थे। मानव को दुर्बलताओं का पुतला मानकर उसे सुधारने का प्रयत्न करते थे। उसे अलग नहीं फेंकते थे।

• आप कोलाहल के बीच रहकर भी एकान्तप्रिय थे।

• आपकी इच्छाएं स्वार्थपरक नहीं, उद्देश्यपरक थी।

• आप में युवा जैसी मस्ती, ताजगी और उत्साह था इसलिए अधिक काम करने पर भी थकान का अनुभव नहीं करते थे।

• विनोदप्रियता आपके स्वभाव का अंग था।

कार्ल गुस्ताव युंग के अनुसार बहिर्मुखी चिंतन अविकसित व्यक्तित्व का लक्षण है। छोटे प्राणी केवल परिस्थितिजन्य संवेदनाओं से ही प्रभावित होते हैं। वे उन्हीं के साथ तालमेल बिठाने अथवा उन्हें बदलने में लगे रहते हैं। उन्हें आत्मचिंतन की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। जो आत्म-समीक्षा नहीं करते, वे मात्र परिस्थितियों में उलझे रहते हैं।

आचार्यश्री के व्यक्तित्व की मूल प्रवृत्ति आध्यात्मिक थी। आध्यात्मिक व्यक्ति अंतर्मुखी निश्चित होता है। इस अंतर्मुखी दृष्टिकोण के कारण आप परिस्थिति के दलदल में कभी नहीं फंसते थे। परिस्थितियां आतीं, अपना प्रभाव भी जतातीं और अनामंत्रित अतिथि की भांति अपने आप चली जातीं। संघर्ष जीवन की नियति है–इस विचार के साथ आपका जीवन चलता था। अन्तर्मुखी चेतना से प्रभावित मनःस्थिति परिस्थिति को कभी भी प्रभावी नहीं बनने देती।

व्यक्तित्व : नीतिशास्त्रीय दृष्टिकोण

नीतिशास्त्री डब्ल्यू. सी. लूसमोर ने विकसित व्यक्तित्व को तीन भागों में बांटा है–विवेक, पराक्रम और साहचर्य।

नीतिशास्त्री ग्रीन ने नैतिक प्रगति के दो लक्षण बतलाए हैं–सामंजस्य और व्यापकता। इनके विकास से मनुष्य अधिकाधिक महान् बनता है। व्यक्तित्व के विकास के लिए अपने आपको स्वार्थ की सीमा से हटाकर दूसरों से जोड़ देने वाला सचमुच महानता का वरण करता है।

आचार्यश्री तब मुनि जीवन में थे। सत्रह वर्ष की अवस्था होगी। आप पढ़ते भी थे और हमें पढ़ाते भी थे। हमारी पढ़ने में उतनी रुचि नहीं थी जितनी आपकी हमें पढ़ाने में थी। इसीलिए स्वयं पढ़ने में कम समय लगाते और हमें पढ़ाने में अधिक समय लगाते। मुनिश्री चंपालालजी को यह रुचा नहीं। एक बार उन्होंने कहा–'तू अपने लिए बहुत कम समय लगाता है। तेरा अधिकांश समय दूसरों को पढ़ाने में ही बीत जाता है।'

आपने विनम्र स्वर में कहा–'ये भी तो अपने ही हैं।' आचार्यश्री की सफलता का रहस्य इस आपे का विस्तार था।

एक बार जैनेन्द्रकुमार ने कहा था–'आप हर किसी को अपना लेते हैं, इसलिए जो भी आपके पास आता है वह आपका हो जाता है। हम लोग जब आपसे बातें करते हैं तब हमें गहरी आत्मीयता की अनुभूति होती है। इसीलिए हम आपके लिए और आप हमारे लिए दूसरे नहीं रहे हैं।' आचार्यश्री का व्यक्तित्व इसीलिए विराट् था कि उसे आत्मीयता के महानिलय में परकीयता को विलीन करने का वरदान सहज प्राप्त था।

व्यक्तित्व का उपयोग

दुनिया स्वार्थी है। वह उसी का व्यक्तित्व स्वीकार करती है जिसके जीवन का उसके लिए उपयोग हो। जिसमें उच्च प्रतिभा, चरित्र-बल और आकर्षण नहीं होता, वह अपने जीवन-पुष्प को उपयोग के धागे से नहीं जोड़ सकता। इसलिए हमें व्यक्तित्व का फलित अर्थ करना चाहिए–प्रतिभा, चरित्र और आकर्षण की असाधारणता।

आचार्यश्री तुलसी का व्यक्तित्व, जो बहुत वर्षों तक अपने आपमें समाये रहा, निखरता चला गया। सब क्षेत्रों में उसके प्रति पूजा, प्रतिष्ठा और सम्मान की भावना प्रवर्धमान रही।

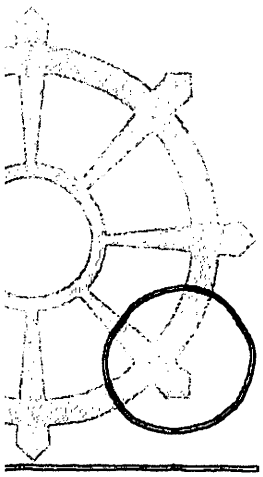

आप संत थे, आचार्य थे, आध्यात्मिक क्रांति के वाहक, नेता और अहिंसक समाज के अग्रणी थे। हमें उनका व्यक्तित्व स्वीकार करने से पहले मुड़कर देखना होगा कि क्या इस भौतिक युग में आपके जीवन का कुछ उपयोग था? क्या विद्युत् यंत्रों की चकाचौंध में अध्यात्म की किरणें कुछ कर सकीं? इसका उत्तर देना कठिन है, यह नहीं मानना चाहिए।

आचार्यश्री ने जनता के जीवन-शोधन के लिए चरित्र का आश्रय नहीं लिया था। आपके सहज जीवन-शोधन से ही जनता को उसकी प्रेरणा मिली। इसीलिए यह परमार्थ की भूमिका में रहकर भी जन-जीवन को जगाने वाला महामंत्र था। अन्न, वस्त्र, मकान आदि सुलभ करने वाला ही जनता के लिए उपयोगी है, यह मानना एक बड़ी वज्र भूल है, जो एक वज्रमूर्ख ही कर सकता है।

चरित्र-बल के बिना उक्त पदार्थों से सिर्फ जीवन चल सकता है, शांति नहीं मिल सकती। मानव का ध्येय पशु की तरह जीवन चलाना ही नहीं होता। उसके लिए शांति और विकास के द्वार खुले रहते हैं। हम इस तत्त्व को समझ गए तो आचार्यश्री के जीवन का उपयोग समझना शेष नहीं रहेगा।

अब्राहम मास्लोव ने मनुष्य-समाज को दो भागों में विभक्त किया है–१. निर्वाह-आश्रित चेतना वाले (नीड डिपेण्डेन्ट) २. आदर्शवादी (सेल्फ एक्चुअलाइजेशन)

जो सुविधा के साधनों को जुटाने में संलग्न रहते हैं, जिन्हें शारीरिक पीड़ा, धन-हानि या अपमान से उत्पन्न व्यथाएं सताती रहती हैं वे निर्वाह-चेतना स्तर के होते हैं। जिनकी आकांक्षाएं और प्रवृत्तियां महान् उद्देश्यों की पूर्ति के साथ जुड़ी हुई होती हैं वे आदर्शवादी होते हैं। वे पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर सत्य की खोज में लगे रहते हैं। वे आशावादी होते हैं और कठिन परिस्थिति में भी अपना संतुलन नहीं खोते।

आचार्यश्री में आत्मसंतोष था, संकल्प का बल और अहिंसा की आस्था थी। आपमें इस स्थिति का निर्माण आदर्शवादिता के कारण हुआ। आप स्वयं सुविधावादी नहीं थे और न सुविधावाद को प्रश्रय देते थे। इसीलिए अपने आपमें निर्भीक और अपराजेय थे।

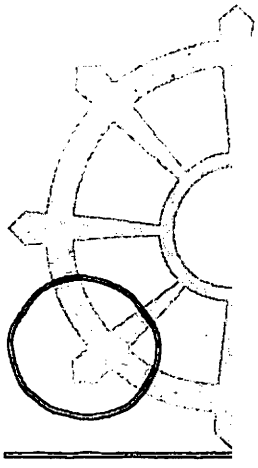

अभय

भय के परिपार्श्व में जीवन का रस शोष पाता है तो अभय के परिपार्श्व में वह विकास पाता है। स्थिति जो बनती है, वह बनती ही है। प्रश्न मन की स्थिति का है। भीत मन उसमें डूब जाता है और अभीत मन उससे तर जाता है। आचार्यश्री में अभय ने पर्याप्त विकास पाया। कठिनाइयों के कगार पर खड़े रहकर भी वे त्रस्त नहीं होते थे। पाली की बात है। रात का समय था। मैंने आचार्यश्री के सामने संघ की आंतरिक स्थिति की चर्चा की। आपने थोड़े में सारी चर्चा का उपसंहार कर दिया। आपने कहा–'जिसे साधना में रस होगा, वही गण में रहेगा; जिसे रस नहीं है, वह रहकर भी क्या करेगा? गण में कोई दीक्षित होता है वह अपने हित के लिए होता है, हमें उपकृत करने के लिए नहीं।'

आचार्यश्री की निरपेक्ष वाणी में मेरे सारे प्रश्न विलीन हो गए। दूसरों द्वारा उत्पन्न किए गए अवरोध को सहने में उतनी कठिनाई नहीं होती जितनी कठिनाई अपने अनुयायियों द्वारा उत्पन्न किए गए अवरोध को सहने में होती है। आंतरिक अवरोध एक अकल्पित भय की सृष्टि कर देता है। आचार्यश्री उस स्थिति में भी भयमुक्त रहते थे। नम्रता के अभाव में अभय भी कहीं-कहीं उद्दंडता में परिणत हो जाता है। आचार्यश्री के स्वभाव में विनम्रता थी लचीलापन था इसलिए उनका अभय भाव कलुषित नहीं था। जिस समय तेरापंथ के आंतरिक वातावरण में एक कंपन था, उस समय कुछ प्रमुख श्रावक भी आचार्यश्री के कार्यक्रम को संदेहपूर्ण दृष्टि से देखते थे। आचार्यश्री ने उस स्थिति के भावों को इन शब्दों में चित्रित किया–'कुछ लोग मेरे दृष्टिकोण को सही रूप में समझ नहीं पाए। मुझे इस विषय में काफी सतर्क रह कर कार्य करना चाहिए। लोगों की श्रद्धा या कम श्रद्धा से पहले मुझे अपने आपको देखना चाहिए। मेरा कार्य किस धरातल पर है, इसका चिंतन करना चाहिए। जहां तक मैं सोचता हूं मेरा कार्य वर्तमान व भविष्य के लिए लाभप्रद है।

संभव है कुछ लोगों की दृष्टि में मैं गलती पर होऊं। छद्मस्थ की भूल हो सकती है। भूल होना कोई बड़ी बात नहीं। मेरी भूल कोई समझाए तो मैं ध्यानपूर्वक समझने की चेष्टा करूंगा। जो ऐसा नहीं करते, दूर रहकर केवल थोथी आलोचना करते हैं, उनसे मुझे घबराने की कोई आवश्यकता नहीं।'

अभय की साधना के कारण ही वे सब जगह तत्त्व देखते थे, अच्छाई देखते थे और जीवन से निराश नहीं होते थे। जहां कुछ भी नहीं था वहां बहुत कुछ पाया–उसका रहस्य यही था।

आचार्यश्री लड़ाई-झगड़े में विश्वास नहीं करते थे। व्यर्थ के वाद-विवादों में नहीं फंसते थे, उसका रहस्य भी यही अभय का विकास था। लड़ाई, विवाद, आरोप–ये सब भीत मानस की प्रवृत्तियां हैं।

शक्ति का सही प्रयोग

आचार्यश्री आदर्शवादी थे इसलिए अपनी शक्ति का सही दिशा में प्रयोग करते थे। जिसका अस्तित्व है वह कहीं भी रिक्त नहीं है। सब अनन्त शक्ति के भंडार हैं। पर कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें अपनी शक्ति का भान नहीं होता। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो प्रमादवश शक्ति का प्रयोग नहीं करते। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो शक्ति का दुरुपयोग करते हैं, विरोध या प्रतिकार में अपनी शक्ति खपा देते हैं। अपनी शक्ति का सही ढंग से उपयोग करने वाले बहुत कम लोग होते हैं। आचार्यश्री इस ओर सदा सजग रहते थे कि हमारी शक्ति निर्माण में लगे, विरोध में न खपे। विरोध में संतुलित रहना कोई साधारण बात नहीं है। संतुलन में लाभ होता है, यह जानते हुए भी मनुष्य उसे तब खो बैठता है जब सामने विरोधी परिस्थिति उत्पन्न होती है परन्तु स्थितात्मा वही होता है जो असंतुलन की स्थिति में संतुलन रखे। जोधपुर में 'तेरापंथ नाम-प्रतिष्ठापन' समारोह मनाया जा रहा था। पंडाल में लगभग ८-१० हजार व्यक्ति थे। शांत वातावरण में कार्यक्रम चल रहा था। इतने में एक ओर हो-हल्ला-सा हुआ। लोग उठ खड़े हुए। पता चला कुछ जैन युवक जानबूझ कर ऐसा कर रहे हैं। आचार्यश्री ने उस समय ऐसा स्मित बिखेरा कि हल्ला शांत हो गया। दूसरी बार फिर हल्ला हुआ। आचार्यश्री ने कहा–'हमारे सामने बहुत बड़ा कार्य है। इस नगण्य घटना में हम रस न लें।' दूसरे क्षण सब शांत थे। हजारों व्यक्तियों ने शान्ति के सामने विरोध को क्षीण-बल होते देखा और देखा कि अविवेक विवेक से पराभूत हो रहा है।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

आचार्यश्री ने सौराष्ट्र में साधु-साध्वियों को भेजा। वहां स्थानकवासी बंधुओं ने घोर विरोध किया। चूड़ा में कुछ लोग तेरापंथ के अनुयायी बने, उन्हें जाति-बहिष्कृत किया गया। हमारे साधुओं के पास जाने वालों के साथ रोटी-बेटी का व्यवहार बंद किया गया। 'बाव' (गुजरात) में जो व्यक्ति तेरापंथ के अनुगामी बने उनके लिए भी मंदिरमार्गी जैनों द्वारा ऐसा ही किया गया। ब्यावर में आचार्यश्री ने मर्यादा-महोत्सव किया। उस समय स्थानकवासी बंधुओं द्वारा स्थान-बहिष्कार किया गया। यह परम्परा बहुत पुरानी है। आचार्य भिक्षु के पास जाने वालों के लिए सामाजिक दंड का विधान था। मैं यह इसलिए नहीं बता रहा हूं कि इन संप्रदायों के प्रति हमारा मन क्षुब्ध हो। मैं यह इसलिए बता रहा हूं कि हमने विरोधी वातावरण में भी सहिष्णु और संतुलित रहने का वरदान पाया है। तेरापंथ का छोटे से छोटा साधु भी इस परीक्षा में उत्तीर्ण होता है। इस स्थिति में आचार्यश्री तुलसी जैसे महामनीषी विरोधी वातावरण में अनुद्विग्न रहे, यह कोई विशेष अचरज की बात नहीं थी।

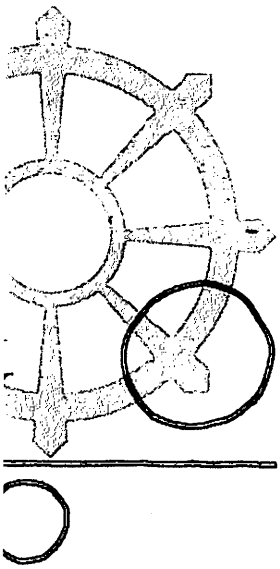

विरोध के सामने झुका न जाए

उन दिनों मुनिश्री घासीरामजी, डूंगरमलजी और कुछ साध्वियों के सिंघाड़े सौराष्ट्र में थे। विरोध प्रबल था। चातुर्मास नजदीक था। स्थान नहीं मिल रहा था। यह चिंतनीय हो रहा था कि चातुर्मास कहां हो?

आचार्यश्री उन दिनों चाड़वास में थे। सौराष्ट्र से कई भाई आए। उन्होंने वहां की स्थिति बतलाई। आचार्यश्री थोड़े समय तक मौन रहे। फिर कहा–'यद्यपि वहां साधु-साध्वियों को स्थान और आहार-पानी की कठिनाइयां झेलनी पड़ रही हैं, फिर भी उन्हें घबराना नहीं चाहिए। मुझे विश्वास है, मेरे साधु-साध्वियां

घबराने वाले नहीं हैं। उन्हें भिक्षु-स्वामी के आदर्श को सामने रखकर दृढ़ता के साथ कठिनाइयों का सामना करना चाहिए। जैन-अजैन, हिन्दू-मुस्लिम, कोई भी स्थान दे, वहां रह जाएं और कोई स्थान न मिले तो श्मशान में रह जाएं। मूल बात यह है कि उन्हें वहां रहना है और अहिंसा में विश्वास करने वाले विरोध के सामने घुटने नहीं टेकते, इसे प्रमाणित करना है।' आचार्यश्री की इस स्फूर्ति भरी वाणी ने श्रावकों के खिन्न मन में चैतन्य उंडेल दिया। साधु-साध्वियों को भी बड़ी प्रेरणा मिली और वे अपने निश्चय पर अडिग रहे।

जिसे अपने आपमें विश्वास होता है वह दूसरों में विश्वास उत्पन्न कर सकता है। जहां विश्वास है वहां सब कुछ है।

रोष में तोष

सौराष्ट्र से मास्टर रतीलाल भाई आए। आचार्यश्री ने पूछा–'कहिए, क्या बात है? प्रचार कार्य ठीक चल रहा है?' मास्टरजी ने कहा–'ठीक चल रहा था किंतु विरोधी वातावरण के कारण गति कुछ धीमी हो चली है। साधु-साध्वियों को बड़ी कठिनाइयां झेलनी पड़ रही हैं।' आचार्यश्री ने पूछा–'उनमें कोई घबराहट तो नहीं है?'

मास्टर–'नहीं, कतई नहीं।' आचार्यश्री–'अपनी ओर से पूर्ण शांति रहनी चाहिए। अपना मार्ग शांति का है। विरोध का शमन विरोध से नहीं, शांति से ही होगा।'

मास्टर–'गुरुदेव! मैं इस धारणा को लेकर आया था कि वहां पहुंचते ही मुझे उलाहना मिलेगा। सौराष्ट्र में साधु-साध्वियों के साथ जो व्यवहार हो रहा है, उसके कारण आपके मन में अवश्य रोष होगा, किंतु यहां आने पर मुझे कुछ और ही मिला–शांति का उपदेश और सौहार्द मिला।'

अहिंसा की उपासना में जो चिंतन होता है वह साधारण आदमी की कल्पना से बाहर होता है। आचार्यश्री की अहिंसा के प्रति जितनी आस्था थी उतनी संभवतः किसी के प्रति नहीं थी।

आचार्यश्री ने सत्य को व्यापक दृष्टि से देखा इसलिए जनमानस में आपका असाम्प्रदायिक व्यक्तित्व अपनी छाप छोड़ता था। दिल्ली की घटना है। आचार्यश्री भिवानी के लिए प्रस्थान कर चुके थे। नए बाजार से चले, आपका पहला पड़ाव करौलबाग देवनगर में हुआ। वहां विश्व हिन्दू परिषद् के कुछ कार्यकर्ता पहुंचे। उन्होंने अनुरोध किया–विज्ञान भवन में हिन्दू धर्म पर एक सम्मेलन आयोजित किया जा रहा है। उसमें आप अवश्य भाग लें।

आचार्यश्री–'मैं हरियाणा की ओर जा रहा हूं। भिवानी तक हमारी पदयात्रा के कार्यक्रम की घोषणा हो चुकी है। उसे कैसे बदल सकता हूं?'

कार्यकर्ताओं ने फिर अपनी प्रार्थना दोहराई और सम्मेलन में उपस्थित होने के लिए बहुत आग्रह किया।

आचार्यश्री ने फिर अपनी कठिनाई बतलाई, तब उन्होंने कहा–'हम लोग राष्ट्रपति राधाकृष्णन् के पास गए। सम्मेलन का उद्घाटन करने के लिए उन्हें निमंत्रण दिया। उन्होंने इस सम्मेलन को साम्प्रदायिक बतलाकर हमारे निमंत्रण को अस्वीकार कर दिया। हमने बार-बार कहा–यह सम्मेलन साम्प्रदायिक नहीं है, यह व्यापक दृष्टिकोण से किया जा रहा है। तब उन्होंने पूछा–क्या आचार्य तुलसी इसमें भाग ले रहे हैं? हां

ले रहे हैं–आपकी स्वीकृति के बिना ही हमने ऐसा कह दिया। इस आधार पर राष्ट्रपति ने हमारा निमंत्रण स्वीकार कर लिया। इसलिए सम्मेलन में आपकी उपस्थिति अनिवार्य है।'

आचार्यश्री ने परिस्थिति की बाध्यता का अनुभव किया और यात्रा के कार्यक्रम में परिवर्तन कर सम्मेलन में भाग लेने की स्वीकृति दे दी।

उन दिनों श्री सी. सुब्रह्मण्यम् केन्द्रीय सरकार में वित्तमंत्री थे। आचार्यश्री जयपुर में चातुर्मास प्रवास कर रहे थे। वे दर्शन करने आए। आपसे कालेधन की समस्या के बारे में बातचीत की। आपने इंगित किया–'काले को सफेद (दो नम्बर को एक नम्बर) करने का अवकाश क्यों नहीं देते हैं? यदि यह अवकाश दिया जाए तो समस्या सुलझ सकती है।' वित्तमंत्री ने आचार्यश्री के इस विचार को पकड़ा। वे दिल्ली गए। प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरागांधी से विचार-विमर्श किया। कालेधन को प्रकट करने पर अमुक छूट की घोषणा कर दी। उस समय बड़ी संख्या में कालेधन की घोषणाएं हुईं। वित्तमंत्री ने परिषद् के बीच आचार्यश्री के सुझाव की चर्चा की। उससे व्यापारी वर्ग और सरकार दोनों का तनाव कम हुआ इसलिए उन्होंने आभार व्यक्त किया।

व्यक्तित्व : आध्यात्मिक दृष्टिकोण

आत्म-निरीक्षण और आत्मालोचन अध्यात्म के दो नेत्र हैं। दूसरे को देखने वाला लौकिक या राजनीतिक होता है। अपने आपको देखने वाला होता है आध्यात्मिक। अध्यात्म की भाषा में व्यक्तित्व की एक ही कसौटी है, वह है हृदय-परिवर्तन। जो अपने आपको जानने के लिए स्वतः प्रेरित हो जाता है उसकी जीवनधारा बदल जाती है। वही व्यक्ति अस्पर्श-योग की दिशा में प्रस्थान कर सकता है। इस प्रस्थान के कुछ प्रसंग बहुत प्रेरक हैं।

आत्मालोचन : आत्मनिरीक्षण

करणीय और अकरणीय की संकरी पगडंडी पर चलने वाला कोई भी व्यक्ति अन्तर्द्वंद्व से मुक्त नहीं हो सकता। आखिर व्यक्ति का विवेक ही उसे मुक्ति देता है। आचार्यश्री ने एक ऐसा ही मनोमंथन प्रस्तुत किया–'आज सवेरे जब जागकर उठा तब विचारों में उथल-पुथल-सी थी। तेरापंथ द्वि-शताब्दी समारोह का बड़े पैमाने पर कार्य प्रारंभ कर दिया गया है। साहित्य की विशाल योजना हमारे सामने है। श्रावक लोग भी एकमत से जुट गए। इसमें बहुत से काम गृहस्थों से संबंधित और सावद्य भी होंगे। वे सबके सब हमारे सामने आए बिना रहते नहीं, जहां चिंतन में, भाषा में, कहीं-कहीं समिति-गुप्ति में खंडन भी संभव हो सकता है। ऐसी स्थिति में साधु-संघ की संयम-साधना अक्षुण्ण रहे, यह नितांत एवं अनिवार्य अपेक्षित है तो क्या करना चाहिए? आखिर समाधान यही मिला कि सब कामों में तीखे उपयोग और विवेक की आवश्यकता है। संघपति के पास संघ की कोई स्थिति न आए, यह भी कैसे संभव हो सकता है? अतः 'विवेगे धम्म माहिए' इसी पथ पर चलना होगा। न समाज के आवश्यक काम बंद होंगे और न हमारी साधना भी। चित्त को समाधान मिला। हां, यह जरूर है कि भाषा समिति की गलतियां अनेक बार हो जाती हैं। उनको प्रोत्साहन नहीं; वे खामी पेटे ही गिनी जाएंगी।'[1]

१. कोलकाता ता. १६-९-१९५९।

कुछ लोग सोचते थे–आचार्यश्री बाहरी चकाचौंध को पसंद करते हैं। उनका यह चिंतन सर्वथा निराधार भी नहीं था। कभी-कभी ऐसी स्थिति बन जाती थी जिससे सहज ही यह अनुमान किया जा सकता था किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न होती थी। आचार्यश्री का अन्तःकरण बहुत निर्मल था। उनके आत्मालोचन में कहीं-कहीं उसका जो प्रतिबिम्ब पड़ा है, वह उस अनुमान की शल्य-चिकित्सा कर डालता है। आचार्यश्री ने लिखा–'आज मेरा १९वां पट्टोत्सव दिवस है। इसे सवेरे ९ से १२ बजे तक मनाया गया। कविताओं व वक्तव्यों द्वारा अभिनंदन किया गया। इसके उपलक्ष में व्यापारिक जीवन-शुद्धि आंदोलन शुरू किया गया। हिन्दुस्तान, अमरीका और बेलजियम के ईसाई नेता मुझे भाव-भीनी अभिवंदना दे रहे थे। मैं इन श्रद्धामय भावों के भार से दबा जा रहा था। मैं अपने आपको खोजने लगा कि मैंने कहां तक प्रगति की है? साधना पथ पर कितना आगे बढ़ा हूं? नाम और प्रतिष्ठा की भूख तो कहीं मुझे नहीं सता रही है? मौलिक आचार में कहीं शैथिल्य तो नहीं है? पर-कल्याण या जन-कल्याण में कहीं स्व-कल्याण ओझल तो नहीं हो रहा है? मेरा जीवन व्यक्तिगत जीवन नहीं है, यह समूचे संघ का जीवन है। मेरा जीवन स्वस्थ है तो संघ का जीवन स्वस्थ है। संघ का जीवन स्वस्थ है तो मेरा जीवन स्वस्थ है। संघ की समस्त गतिविधियों का असर मेरे जीवन पर सीधा पड़ता है। मेरे जीवन की पवित्रता का असर समूचे संघ पर हुए बिना नहीं रह सकता। अतः आज मुझे अपना आत्म-निरीक्षण बहुत गहराई से करना चाहिए।

हृदय साक्ष्य देता है कि छद्मस्थता के कारण त्रुटि होना कोई बड़ी बात नहीं; पर गलती को गलती समझ कर उसे प्रश्रय देने के लिए वह तैयार नहीं है, ऐसा आत्म-विश्वास है। यद्यपि दिल इतना मजबूत नहीं है इसलिए छिटपुट घटनाओं का आवश्यकता से अधिक उस पर असर हो जाता है। हीनता व महत्ता का भी उसी तरह अनुभव हो जाता है। पर पवित्रता को छोड़कर कहीं भी जाना नहीं चाहता। पिछले वर्ष से प्रगति हुई है। आशा है अगले वर्ष अच्छी सफलता मिलेगी। गुरुदेवः शरणमस्तु।'[1]

आचार्यश्री तेरापंथ के सर्वाधिकार संपन्न शास्ता थे। उसके विधान के अनुसार संघ-संचालन के सारे अधिकार आचार्य में निहित हैं। फिर भी आचार्यश्री में लोकतंत्रीय भावना का पूर्ण सामंजस्य था। उनकी साधना वृत्ति ने ही उन्हें स्थिति के प्रति समन्वयपूर्ण दृष्टि दी। वे हठधर्मी नहीं थे। प्रारंभ में उनमें शास्ता का भाव अधिक था। बाद में उनमें गुरु का भाव अधिक हो गया। शास्ता शासन के द्वारा दूसरों को नियंत्रित करता है और गुरु अपनी गुरुता से दूसरों को जीत लेता है। पहले में थोड़ी विवशता है, दूसरे में हृदय-परिवर्तन। अपनी प्रबलता के मध्याह्न में दुर्बलता का दर्शन करना सबसे बड़ी गुरुता है। वह आत्म-निरीक्षण और दूसरों के व्यक्तित्व के मूल्यांकन से ही संभव है। आचार्यश्री की इस गुरुता से बहुत लोग अनभिज्ञ थे। उनकी डायरी का एक पृष्ठ है–'व्यापक दृष्टिकोण से जो कार्य हो रहा है वह मुझे बहुत ही उज्ज्वल भविष्य का सूचक लगता है। वह सबके लिए कल्याण का मार्ग है, फिर भी न जाने कुछ लोग, जिनमें कुछ साधु भी सम्मिलित हैं, क्यों सशंक हैं। पता नहीं, उन्हें क्या अनिष्ट की आशंका है? उनके विचारों को सुन-देखकर कभी-कभी मैं भी सोचता हूं–कहीं गलती तो नहीं हो रही है? आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। करता भी हूं। पर कुछेक कदाचित् छद्मस्थता की भूलों के सिवाय मैं अपने आपको विश्वस्त व निस्संदेह पाता हूं। दिल व दिमाग, मनोबल या आत्मबल यथेष्ट मजबूत न होने के कारण ऐसी व्यापक प्रवृत्ति से जितना आनन्द

१. मुंबई वि.सं. २०११ भाद्रपद शुक्ला ९।

मिलना चाहिए उतना तो नहीं मिल पाता, फिर भी ज्यों-ज्यों सुन्दर परिणाम सामने आते हैं, त्यों-त्यों विश्वास बढ़ता जाता है। मनोबल भी दृढ़ बनता जाता है। अन्ततोगत्वा गुरुदेवः शरणम्।[1]

कभी-कभी यह आत्मालोचन बहुत ही प्रखर बना। उसमें पद्मवत् निर्लेप की भारतीय कल्पना बहुत ही सजीव हुई है। डायरी का एक पन्ना है–'मुझे कभी-कभी बड़ा भय लगता है दुनिया की विचित्रता से। यह क्या हो रहा है? संसार क्या है? कहीं विकार, विलास, कामना, भोगों की भट्ठी में जलना, अनवरत जलना, कहीं विराग, निग्रह, संयम, सत्य की साधना, कहीं इन दोनों का संगम।

मेरे कंधों पर संघ के अनुशासन की पूरी जिम्मेवारी है। मेरी आत्मा जितनी अधिक उज्ज्वल होगी, शासन भी उतना ही समुज्ज्वल रहेगा। मेरी मानसिक स्थिति मुझे बहुत ऊंची नहीं लगती। साधना चल रही है, सिद्धि साधनानुसार होगी।'[2]

प्रायश्चित्त

साधना की उपेक्षा वही कर सकता है जिसका मानस पापभीरु नहीं होता, अनाचरण से सहज संकोचशील नहीं होता। आचार्यश्री का मानस धर्म से ओत-प्रोत था। धर्मनिष्ठ से कहीं कोई प्रमाद नहीं होता, यह बात जैन दृष्टि से सम्मत नहीं है। फिर भी यह निश्चित है कि उसका प्रमाद प्रसरणशील नहीं होता। आलोचना और प्रायश्चित्त उसे जागरूक बनाए रखते हैं। अपने प्रमाद की स्वीकृति एक अल्पचेता के लिए गुरुतर और एक महाचेता के लिए अल्पतर कार्य होता है। आचार्यश्री अपने अन्तस्तल का जिस सहज ऋजुता से प्रक्षालन करते रहते थे वह सचमुच अल्पचेता जगत् को विस्मित करने वाला था।

आचार्यश्री ने एक प्रसंग में लिखा–'मुझसे भाषा समिति व भावों की गलतियां कई बार हो जाती हैं। मैं बहुत महसूस भी करता हूं। मन में ग्लानि भी होती है, पर छद्मस्थता के कारण ऐसा हो जाता है। आशा तो यही है कि साधना अधिक विशुद्ध रहे और रहेगी भी।'[3]

वीतराग एक बार भी प्रमाद नहीं करता। यहां छद्मस्थ का अर्थ ही अवीतराग है। अवीतराग होने का अर्थ यह तो नहीं कि वह प्रमाद करता ही जाए। किन्तु वह जानते हुए भी कर लेता है, उसकी पुनरावृत्ति भी कर लेता है। इसी का नाम है छद्मस्थता।

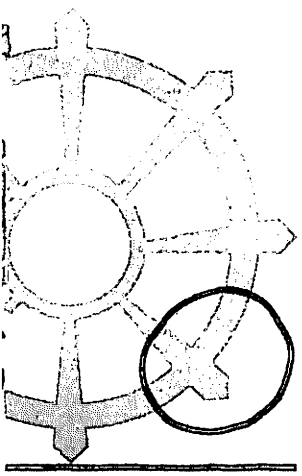

'आज एकाशन है। आज मेरा मन खिन्न है। कारण कुछ मानसिक समस्याएं हैं। मैं मेरी मानसिक दुर्बलता का स्पष्ट रूप से अनुभव कर रहा हूं। अब विश्वास है हृदय करवट लेगा और कुछ मूर्त व स्फूर्त कार्यक्रम सामने आएंगे। गुरुदेव की स्मृति सदा मेरी सह-संगिनी रहेगी।'[4]

अपूर्णता में पूर्णता

अध्यात्म अपूर्णता से पूर्णता की ओर जाने का प्रयोग है। जीवन की भाषा है–मान्यताओं, धारणाओं, सिद्धान्तों और विश्वासों की अभिव्यक्ति व क्रियान्विति। इस अभिव्यक्ति में व्यक्ति के विचारों के दर्शन होते हैं और इस क्रियान्विति में उसके जीवन के दर्शन होते हैं।

मान्यता और क्रियान्विति के मध्य में व्यक्ति की दुर्बलता और प्रबलता, दैन्य और तेज, कठोरता

१. अमलनेर, वि.सं. २०१२, ज्येष्ठ शुक्ला १२।
२. वि.सं. २०१४, आश्विन शुक्ला ५।
३. वि.सं. २०१०, ज्येष्ठ शुक्ला ५, नोखामंडी।
४. वि.सं. २०१५, आषाढ़ कृष्णा ८, सीतापुर।

और मृदुता आदि के अनेक उतार-चढ़ाव होते हैं। उनमें से गुजरता हुआ व्यक्ति चहुंओर झांकता जाता है कि कहां क्या है और अपनी धारणा बनाता चलता है। यही है जीवन-दर्शन।

जैन दर्शन व्यक्ति को देखने की एक दृष्टि देता है, परखने की कसौटी देता है कि जब तक व्यक्ति में रागात्मक प्रवृत्तियां हैं तब तक उसे पहले मान्यताओं की दृष्टि से देखो फिर आचरणों की दृष्टि से। प्रारंभ में आचरणों की अपूर्णता मान्यताओं में पूर्ण होती है। जब साधना है तब सिद्धि की दृष्टि से मत देखो। साधना की अपूर्णता सिद्धि में पूर्ण होती है।

जीवन-दर्शन के प्रथम सोपान में ही कुछ लोगों को निराशा का मुंह देखना पड़ता है और इसलिए कि उनकी पूर्णता की कल्पना में तब अपूर्णता हाथ लगती है। साप्ताहिक हिन्दुस्तान के संपादक बांकेबिहारी भटनागर ने इसी प्रकार का एक अनुभव अंकित किया–

'आचार्यश्री तुलसी के दर्शन-लाभ से पहले मुझे दिल्ली में अनेक जैन मुनियों से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ था और जब-जब मैं उनसे मिला था, उनके गाम्भीर्य, उनकी विनयशीलता और उनकी सौम्यता ने मुझे बड़ा प्रभावित किया था। स्वभावतः मुझे आशा थी कि इन मुनियों के आचार्य एक बहुत ही शांत और स्थिर प्रकृति के अनुनयी तथा विचारशील महापुरुष होंगे। किन्तु आचार्य तुलसी की प्रथम प्रतिक्रिया मुझ पर अधिक सुखद नहीं हुई। मुझे उनमें अपेक्षाकृत अधिक आवेग, अधिक आवेश और अधिक आक्रोश की भावना दिखाई दी और मैंने अपने पर निराशा का एक भार-सा अनुभव किया। किन्तु मेरी यह मनःस्थिति अधिक समय तक टिकी न रही। अपने चित्त को झकझोर कर जब मैंने वस्तुस्थिति पर विचार करने की चेष्टा की तब मुझे स्वयं अपनी नासमझी पर हंसी आई। आचार्य तुलसी आचार्य होने के नाते एक महान् संघ के संचालक हैं। उन्हें स्वाध्याय और आध्यात्मिक चिंतन के अतिरिक्त संघ के संगठन, प्रचार और प्रगति की भी चिंता करनी पड़ती है। सैकड़ों साधु-साध्वियों के संयमपूर्ण जीवनयापन का उत्तरदायित्व उनके कंधों पर है और अपने संप्रदाय को रूढ़िवाद के पंक से बचाए रखकर आधुनिक तत्त्वों के निकट लाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना भी उनका ही कर्तव्य है। अतः उनके कार्यकलाप में नैतिक आदर्शवाद के साथ व्यवहारकुशलता का समावेश अनिवार्य है। यदि ऐसा न हो तो वह मिट्टी का घोंघा बनकर न रह जाए?'

आचार्यश्री अपनी कल्पना में स्वयं को पूर्ण नहीं मानते थे। वे अपने को पूर्णता के पथ का पथिक मानते थे। जैन भाषा में क्रियमाण को कृत कहा जा सकता है। पूर्णता के पथ पर जिसके चरण बढ़ते हैं उसे पूर्ण कहा जा सकता है। जीवन का अर्थ ही है–इन्द्रिय, प्राण, मन और शरीर का समवाय। जो समवाय होता है, अनेक का एक समवेत रूप होता है, वह पूर्ण होता ही नहीं। आत्मा अनेक तत्त्वों का समवाय नहीं है इसलिए वह स्वयं में परिपूर्ण है। जीवन और आत्मा के मध्य में जो पूर्णता होती है वह स्वयं में अपूर्ण होती है किन्तु विविध मनोभावों व कृतियों के आलोक में उसका स्वरूप परिपूर्ण बन जाता है।

आस्था के विविध रूप

आचार्यश्री का व्यक्तित्व सफलताओं की वर्णमाला थी। उसमें कोई विफलता नहीं थी, यह नहीं कहा जा सकता। किंतु सफलता ने विफलता को गौण बना दिया। सफलता और विफलता हमारे प्रत्यक्ष होती है। उनके हेतु परोक्ष होते हैं। आचार्यश्री की सफलता के दो हेतु थे–आस्था और पुरुषार्थ। आस्था के बिना पुरुषार्थ फलता नहीं, पुरुषार्थ के बिना आस्था स्थिर नहीं बनती। दोनों वैसे ही अविभक्त हैं जैसे मनुष्य का

दायां और बायां पार्श्व। आचार्यश्री मुंबई में थे। विरोध अपनी तीव्रगति पर था। उस स्थिति में आचार्यश्री की आस्था ने अपने आपको इस रूप में देखा–'कुछ लोग प्रचुर विद्वेष फैलाने की चेष्टा में हैं। किन्तु मेरा आत्मविश्वास अपने आत्मबल व गुरु के प्रति एक-निष्ठ रहने में है। मेरी नीति साफ है। हृदय स्वच्छ है। स्व-प्रतिष्ठा की भावना नहीं सताती। जो कुछ करता हूं वह गण-हित व जन-हित के लिए करता हूं। फिर चिन्ता हृदय को क्यों छुए?'[1]

आस्था अपने हृदय की पुण्य निधि है। वह सदा दृश्य नहीं होती। योग मिलने पर वह साकार हो जाती है। आस्था अपने हृदय का पुण्य देवता है। उसमें सब देवों की शक्ति अर्जित है। जो उसकी आराधना कर पाता है वह सब कुछ कर पाता है। जो उसकी आराधना किए बिना अन्य देवों की उपासना करता है, वह कभी कुछ नहीं कर पाता। वि.सं. २००९ की बात है। आचार्यश्री उन दिनों आंतरिक संघर्ष का सामना कर रहे थे। उसी स्थिति का एक चित्र है–'मंत्रीमुनि की असाधारण भक्ति का ही यह फल है कि सरदारशहर में मर्यादा-महोत्सव, चातुर्मास और फिर मर्यादा-महोत्सव–तीनों संलग्न हुए। इसमें कुछ लोग नई-नई कल्पनाएं कर रहे हैं। कुछ कहते हैं–बहुत बड़ा परिवर्तन संभावित है। उसे मंत्रीजी के सहारे हल करना चाहते हैं। इस प्रकार अनेक कल्पनाएं हैं। पर मैं इन सबका उत्तर कार्यरूप से ही देना चाहता हूं। मुझे आचार्यवर कालूगणी पर पूर्ण आस्था है, पूरा भरोसा है। मैं मानता हूं कि लोगों की कल्पना, कल्पना ही रह जाएगी।'

लोग सोच रहे थे–आचार्यश्री जो चरण बढ़ा रहे हैं उनसे संघ संतुष्ट नहीं है। इस महोत्सव के अवसर पर कोई बड़ा विद्रोह होगा। वातावरण भी ऐसा बना दिया गया था। आचार्यश्री ने अहिंसा का प्रयोग किया। उनकी मृदुता ने वातावरण को इस प्रकार जीता कि उन्हें किसी प्रकार की पराजय की अनुभूति नहीं हुई। संभावित संकट टल गया।

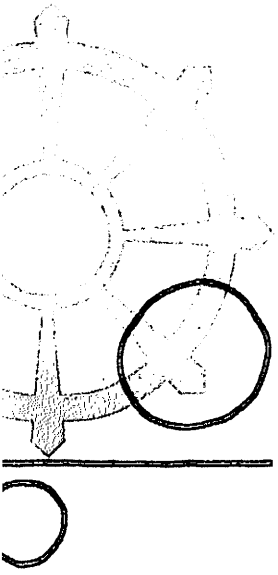

आचार्यश्री अपने निर्णय में अदृश्य शक्ति का भी बहुत बड़ा हाथ मानते थे। संभव है मनोविज्ञान की भाषा में वह अवचेतन मन का कार्य हो। कुछ भी हो, आस्था उस शक्ति को प्रस्फुटित अवश्य करती है जो सामान्यतः व्यक्ति में नहीं होती। खानदेश और बंगलुरू के लिए खिंचावपूर्ण वातावरण बन गया। लंबी चर्चा के बाद आचार्यश्री ने खानदेश विहार का निर्णय लिया। उसे आचार्यश्री ने इस भाषा में लिखा–'समूचा वातावरण दक्षिण के अनुकूल और खानदेश के प्रतिकूल बना हुआ है। जिस पर हमने खानदेश का निर्णय किया, वह बहुत ही आश्चर्यकारी लगा। दक्षिणवासी लोगों की आंतरिक वेदना को देखकर मेरा हृदय भी द्रवित हो गया। मैंने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अनुकूल रहे तो दक्षिण में आने का विचार है, यह आश्वासन भी दे दिया। इससे उनका हृदय प्रफुलित है। इधर खानदेश वाले भी संतुष्ट हो गए हैं। सब प्रसन्न हैं। इस निर्णय में सुगनचंदजी का सहयोग तो था ही, पर अप्रत्यक्ष सहयोग किसी दूसरी शक्ति का होगा। निस्संदेह ऐसा लगता है। अन्यथा सर्वांग-संपूर्ण, सर्व संतोषप्रद और जैसा होना चाहिए था वैसा निर्णय केवल मेरी ही सूझ के बल पर हो, कम से कम मुझे संभव नहीं लगता। 'गुरुदेवः शरणमस्तु'–इस वाक्य को मैं स्मृति में लाता हूं, लिखता हूं, वही मेरी संजीवनी शक्ति है। उसी से मैं कुछ यश पा लेता हूं। कार्य-प्रेरिका तो वही शक्ति है।'

१. वि.सं. २०११ श्रावण कृष्णा १४, मुंबई।

आचार्यश्री का सारा जीवन आस्था की धुरी पर चलता था। वे अपने लिए भी चिन्तित नहीं होते थे। वे पुरुषार्थ में विश्वास रखते हुए भी नियति की भाषा में सोचते थे। एक बार आचार्यश्री के मूत्राशय में कुछ जलन-सी हो गई। आचार्यश्री ने उसे गहराई से लिया–'न जाने यह क्यों हुई है? गर्मी में विहार करने से, श्रम बहुलता से या प्रकृति के प्रकोप से? मैं नहीं समझ पाता, किंतु गुरुदेव को मुझसे सेवाएं लेनी हैं तो वे स्वयं सोचेंगे। अगर प्रायश्चित्त कराना है तो वैसा होगा। मैं तो यही चाहता हूं कि कष्टों में मेरा मनोबल अत्यधिक दृढ़ रहे। 'हो प्राण बलि प्रण पाने में'–यही भावना सफल बने।'[1]

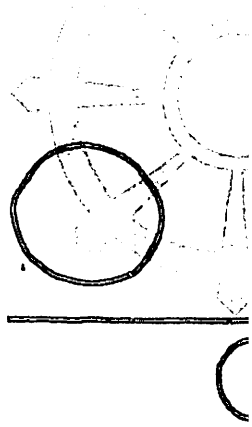

कठिनाइयां, विरोध, निराशाएं और विफलताएं–ये एक-एक कर ही व्यक्ति को परिवृत करती हैं, तब वह असंतुलित-सा हो जाता है। उस समय की कौन जाने जब ये समुदित होकर व्यक्ति को आक्रान्त करती हैं। ऐसा कौन है जिसने इनका मुंह नहीं देखा, इनकी पद-ध्वनि नहीं सुनी? और ऐसा कौन है जिसका इन्होंने स्पर्श नहीं किया? इधर तेरापंथ के मंतव्यों पर प्रहार किए जा रहे थे, उधर कुछ तेरापंथी श्रावक और गण से पृथक् हुए साधु अपवाद फैला रहे थे। उस समय आशा की किरण उस आस्था में से ही फूट रही थी। उसी समय के उद्गार हैं–'गुरुदेव के प्रति मेरे हृदय में जो श्रद्धा है उसका स्वयं मैं भी वर्णन नहीं कर सकता। मैं जानता हूं मेरे मन में जो भी विचार उद्भूत होते हैं, जो-जो कार्य होते हैं, वे मेरी प्रेरणा से होते हैं। किन्तु उससे भी अधिक उनमें कोई अदृश्य प्रेरणा रहती है–ऐसा मेरा विश्वास है। किसी बात को लेकर मेरे मन में निराशा होती है वह मानसिक दौर्बल्य ही है, वरना मुझे यह मानकर ही चलना चाहिए कि जो होता है वह मेरे पक्ष में लाभदायक ही होता है। यद्यपि अकर्मण्यता को मैं प्रश्रय नहीं देता, फिर भी गुरुदेव के प्रति मेरी श्रद्धा है। उसमें रत्ती भर कमी नहीं आती।'[2]

आचार्यश्री प्रारंभ से ही श्रद्धा के वातावरण में रहे इसलिए वह उनका सहज संस्कार था। श्रद्धा का पक्ष बहुत प्रबल था फिर भी उनका पुरुषार्थ-पक्ष निस्तेज नहीं था। कोरी श्रद्धा में अकर्मण्यता की आशंका रहती है तो कोरे पुरुषार्थ में स्खलित होने का संकट रहता है। श्रद्धा और पुरुषार्थ दोनों का सहयोग विरले व्यक्ति में ही मिलता है।

पुरुषार्थ और समय-मर्यादा का द्वंद्व

बहुत व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनमें वीर्य नहीं होता। बहुत ऐसे भी होते हैं जिनमें वीर्य होता है पर वे उसका प्रयोग नहीं करते। बहुत सारे प्रयोग करते हैं पर उनकी दिशा सही नहीं होती। परिणाम कुछ नहीं होता। वीर्य हो, उसका प्रयोग हो और सही दिशा में हो, तभी यथेष्ट की उपलब्धि होती है। आचार्यश्री का पुरुषार्थ साकार था। वह दर्शक को सहज ही खींच लेता था। आचार्यश्री की अभिवन्दना में मैंने लिखा था–

'महापुरुष! विश्वास तुम्हारे जीवन का अन्तर-दर्शन है।
घोर परिश्रम और तुम्हारे जीवन का पहला स्पर्शन है।'

शारीरिक आवश्यक कार्यों के सिवाय शेष समय जनहित के लिए समर्पित करने की तीव्र भावना ने आचार्यश्री को बहुत व्यस्त बना दिया था। बहुत बोलना, बहुत चलना और बहुत करना–इस त्रिवेणी में वे

१. वि.सं. २०१२ ज्येष्ठ शुक्ला ६, मंगलूर (खानदेश)।
२. वि.सं २०११ श्रावण कृष्णा ६ मुंबई।

सदा नहाते थे। कुछ लोग इतने श्रम का कोई उपयोग नहीं मानते थे। उनके कुछ शिष्य भी इस अतिश्रम के प्रति भिन्न दृष्टि रखते थे। आचार्यश्री समय की व्यवस्था का पालन करते थे, पर जहां सामने कार्य अधिक होता था वहां उसे गौण भी कर देते थे। उनका अपना अभिमत यह था–समय का नियमन होना चाहिए पर यंत्रवत् नहीं होना चाहिए। इसमें कुछ कर्तृत्व का भाव था तो कुछ उपेक्षा का भाव भी था। उसका कहीं-कहीं कटु अनुभव भी हो जाता था। आचार्यश्री ने उसे अपनी भाषा में अंकित किया–'आज सिक्कानगर से चर्चगेट में गजानंदजी के मकान में चले गए। वहां आहार कर प्रवचन करने चले। कुछ विलंब हो गया, समय अतिक्रान्त हो गया। पन्द्रह मिनट बाद पहुंचे। कार्यक्रम अव्यवस्थित हो गया। बहुत जल्दी प्रवचन समाप्त करना पड़ा। श्रम और कार्य की तुलना की तो सहसा मेरे मुंह से निकल पड़ा–'खोदा पहाड़ निकली चुहिया।' शाम को फिर पांच बजे सिक्कानगर पहुंचे।'

आचार्यश्री बहुत बार अपना कार्यक्रम निश्चित करते थे, पर कुछ ऐसी विवशताएं भी आ जाती थी, जिनसे वह स्थिर नहीं रह पाता था। प्रवचन में समय अधिक लग जाता। आहार में विलंब हो जाता। आचार्यश्री को भूख नहीं सताती। वे प्रायः ११-१२ बजे से पहले कुछ भी नहीं खाते थे। भूख पर उनकी विशेष विजय थी। पर सब इतने विजेता नहीं होते। छोटी अवस्था के साधु भी थे। भूख को उन पर आक्रमण करते देख आचार्यश्री द्रवित हो जाते और समय का पूरा नियमन करते थे।

कुछ दिन बाद दूसरे विशेष कार्यक्रम उपस्थित होते। कार्य की लगन अपने पूर्ण रूप में आती। फिर समय की व्यवस्था में परिवर्तन हो जाता। इस प्रकार यह द्वंद्व अपनी गति से चलता रहता था।

अन्तर्द्वंद्व

द्वंद्व बाहर में ही नहीं होता, चिंतनशील व्यक्ति के मन में भी द्वंद्व होता है। वह कुछ करना चाहता है। जहां प्रवृत्ति की चाह होती है वहां परिस्थिति बनती है। उसमें कुछ स्पृहणीय होता है और कुछ अस्पृहणीय भी। व्यक्तित्व मृदु होता है वहां अस्पृहणीय भी पलते रहते हैं। आचार्यश्री का व्यक्तित्व केवल मृदु नहीं था, किंतु कालमान की तुलना में कठोर कम था, मृदु अधिक। इसलिए वे बहुत बार अपने अंतर्द्वंद्व को समाहित नहीं कर पाते। मुंबई का एक चित्र ऐसा ही है–'आज सवेरे पेन-फ्रेन्डलीग की तरफ से भारतीय विद्या भवन में एक आयोजन रखा गया। उसमें विश्वशांति की भावना पर विचार-मंथन हुआ। उपस्थिति अच्छी थी। स्थान भी सुंदर था। पर बिजली जल रही थी, पंखे चल रहे थे, फोटोग्राफर फोटो ले रहे थे, इस स्थिति से दिल कैसे ही हो रहा था। क्या किया जाए? सार्वजनिक कार्यक्रमों में इन पर नियंत्रण करना बड़ा कठिन हो रहा है। दिल कहता है कड़ाई के साथ इन पर नियंत्रण कर दूं पर फिर सोचता हूं क्या यह सर्वथा नियंत्रित हो जाएगा? स्थिति को स्थिर नहीं कर पाता हूं, उलझन-सी रहती है।'

जैन मुनि के लिए बिजली और पंखे का उपयोग वर्जित रहा है। आचार्यश्री स्वयं उनका उपयोग नहीं करते थे। प्रवचन काल में गृहस्थ भी साधारणतः उनका उपयोग न करे, यह अभिमत रहा है। उसी के आधार पर यह चिंतन स्फुरित हुआ।

आचार्यश्री बनारस में थे। मध्याह्न की वेला थी। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी आए। भिक्षु जगदीश काश्यप को हमारे नवनिर्मित साहित्य से परिचित कराया जा रहा था। द्विवेदीजी भी मूकभाव से सुन रहे थे। अंत में उन्होंने कहा–'मैं आपको केवल प्रचारक के रूप में ही जानता था। आपके इस निर्माणात्मक

रूप से मैं सर्वथा अनभिज्ञ था। यदि यह परिचय होता तो मैं इससे पूर्व कई बार मिल चुका होता।' यह विचार उन्हीं का ही नहीं था, उन जैसे अनेक व्यक्तियों का रहा। आचार्यश्री प्रचार को अनावश्यक नहीं मानते थे किन्तु कोरे प्रचार में उनकी निष्ठा नहीं थी। आचार की समृद्धि के लिए ही उन्हें प्रचार इष्ट था। उनके मन में उठने वाले प्रश्न इसी सत्य की ओर इंगित करते हैं–

१. जहां बिजली हो, पंखे चलते हों, वहां हमारा प्रवचन होना चाहिए या नहीं?

२. हमारी प्रचार-पद्धति, जो आज चालू है, में परिवर्तन होना चाहिए या नहीं?

३. फोटो के संबंध में हमारी नीति स्पष्ट होनी चाहिए।

४. पोस्टर आदि भी क्या इतने अधिक होने चाहिए?

५. आध्यात्मिक कार्यक्रमों का उद्घाटन अन्य लोगों से करवाना चाहिए या नहीं?

इनकी क्रियान्विति में अवश्य ही कहीं-कहीं मृदुता बाधक बनी। किन्तु यह सचाई है कि आचार्यश्री ने प्रचार के साधनों की शुद्धि को अत्यन्त महत्त्व दिया।

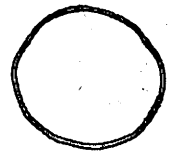

व्यक्तित्व : व्यावहारिक दृष्टिकोण

व्यक्तित्व की सबसे बड़ी कसौटी है व्यवहार। मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक कसौटियां सूक्ष्म और अज्ञेय होती हैं। व्यवहार साधारण जनता द्वारा ज्ञेय होता है। स्थूल दृष्टि से उपजा हुआ व्यवहार स्थूल दृष्टि वाले लोगों के लिए अधिक आदेय होता है। इसलिए स्थूल जगत् में जीने वाला कोई भी व्यक्ति उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। अष्टावक्र का आंतरिक व्यक्तित्व बहुत विराट् था। किन्तु बाहरी जगत् में वे हास्यास्पद बन गए। ऋषिकुमार उनका उपहास किए बिना नहीं रहे। व्यवहार जगत् में सौन्दर्य व्यक्तित्व का पहला प्रतिमान है।

सौन्दर्य

आचार्यश्री भारतीय आत्मा के प्रतीक थे। उनका विश्वास जितना अंतर में था, उतना बाह्य में नहीं था। फिर भी उन्हें बाह्य की विलक्षणता प्राप्त थी। उनका अंतर्मन जितना सौन्दर्यपूर्ण था उतना ही सौन्दर्यपूर्ण था उनका बाह्य। वि. संवत् १९९८ में जयपुर के राजवैद्य नंदकिशोरजी ने आचार्यश्री को पहली बार देखा तो एकटक देखते ही रहे। अविराम दर्शन के बाद उन्होंने कहा–'सब विलक्षण हैं, किन्तु कान तो बहुत ही विलक्षण हैं। भगवान् बुद्ध की स्मृति हो आती है।'

मुंबई में अन्तर्राष्ट्रीय शाकाहारी मंडल के उपाध्यक्ष बुडलैण्ड क्हेलर ने (१ फरवरी, १९५५) आचार्यश्री से भेंट की। वे आचार्यश्री से वार्ता करने में संलग्न थे। श्रीमती क्हेलर अनिमेष दृष्टि से आचार्यश्री के नेत्रों की ओर निहार रही थीं। एक प्रसंग की पूर्ति पर उन्होंने कहा–'आचार्यश्री! मेरा बहुत लोगों से मिलने का काम पड़ा है, पर जो ओज, जो आभा और जो सौन्दर्य मैंने आपके नेत्रों में देखा है, वह मैंने कहीं नहीं देखा।'

२२ फरवरी १९५९। आचार्यश्री शान्ति-निकेतन में थे। वे विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के संग्रहालय व पुस्तकालय का निरीक्षण कर लौट रहे थे। मार्ग में कुमारी एलिजाबेथ बूनर मिली। हमारी वेश-भूषा ने उसका और उसकी राजस्थानी-सी वेश-भूषा ने आचार्यश्री एवं साधु परिवार का ध्यान आकृष्ट किया। वह

आचार्यवर ने पूछा–'किसलिए?' हमने कहा–'पढ़ाने के लिए।' फिर पूछा–'और किसी लिए तो कड़ाई नहीं करता।' हमने कहा–'नहीं।' तब आचार्यवर ने कहा–'पढ़ाने के लिए तो वह करेगा, इसमें तुम्हारी नहीं चलेगी।' हम अवाक् रह गए। आए थे आशा लिए, हाथ लगी निराशा।

आचार्यवर ने कहानी सुनाई–'राजा के पुत्र के सिर पर अध्यापक ने अनाज की पोटली रख दी। पढ़ाई समाप्त हुई। विद्यार्थी की परीक्षा के लिए अध्यापक राजसभा में जा रहा था। बीच में अनाज की दुकान आई। गेहूं खरीदे, उनकी पोटली बांधी और राजकुमार को उसे उठाने को कहा। वह अस्वीकार कैसे करता। पर वह दब गया भार से और लज्जा से। परीक्षा हुई। सब विषयों में उत्तीर्ण हुआ। राजा बहुत प्रसन्न हुआ। अध्यापक से पूछा–'राजकुमार ने विद्यार्जन कैसे किया?' अध्यापक ने कहा–'बहुत अच्छे ढंग से किया, विनयपूर्वक किया।' राजकुमार से पूछा–'गुरुजी ने तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया?' राजकुमार बोला–'बारह वर्ष तक तो अच्छा किया पर आज।' राजा ने चौंक कर पूछा–'आज फिर क्या हुआ?' राजकुमार ने पोटली की बात सुनाई और राजा का चेहरा तमतमा उठा। पूछा तो उत्तर मिला–'वह भी पढ़ाई का एक अंग था। वह पाठ राजकुमार को ही पढ़ाना था। आगे चल कर दंड वही देगा। भार उठाने में कितना कष्ट होता है, इसका भान हो गया है। अब यह किसी से अधिक भार नहीं उठवाएगा।' राजा के पास अब कहने के लिए कुछ नहीं था। आचार्यवर ने कहा–'अध्यापक राजकुमार से भी पोटली उठवा सकता है तब फिर!'

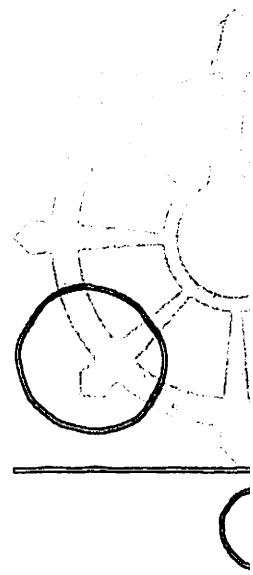

हमारे पास भी वापस कहने को कुछ नहीं था। हम चले आए। मन में और चिंता पैदा हो गई। मुनिश्री को पता चल जाएगा तो वे क्या कहेंगे? पढ़ने को कैसे जाएं? सूर्योदय हुआ। श्लोकवाचन के लिए सकुचाते से गए और बांच कर बिना कुछ उलाहना लिए आ गए। कई दिनों तक मन भय से भरा रहा, पर आपने हमें कभी भयभीत नहीं किया। आपको उस स्थिति का पता लग गया पर हमें यह पता नहीं लगने दिया कि आपको उस स्थिति का पता लग गया है।

अनुशासन एक कला है। उसका शिल्पी यह जानता है कि कब कहा जाए और कब सहा जाए? सर्वत्र कहा ही जाए तो धागा टूट जाता है और सर्वत्र सहा ही जाए तो वह हाथ से छूट जाता है। इसलिए वह मर्यादा की रेखाओं को जानकर चलता है।

साध्वी रायकुमारीजी उत्तरप्रदेश से उदयपुर पहुंची। आचार्यश्री को ज्ञात हुआ कि उन्होंने व्यवस्था का अतिक्रमण किया है। हमारी संघीय व्यवस्था है कि विशेष स्थिति में हस्तचालित (रेहड़ी) वाहन का प्रयोग किया जा सकता है। उन्होंने उसका सामान्य स्थिति में प्रयोग कर लिया और वह भी स्वीकृति के बिना लंबे समय तक। आचार्यश्री ने कहा–'तुम अग्रणी हो और तुमने स्वयं व्यवस्था का अतिक्रमण किया है। यह उचित नहीं किया।' उन्हें उसी समय अग्रणी के अधिकार से मुक्त कर दिया। साध्वी रायकुमारीजी ने अपनी भूल पर गहरा अनुताप किया। आचार्यवर के निर्देश को बड़ी विनम्रता के साथ शिरोधार्य किया। आज्ञा और अनुशासन के प्रति उनकी तीव्र भावना को देखकर दो-चार दिन के बाद उन्हें पुनः अग्रणी बना दिया।

विनम्रता

व्यवहार का तीसरा प्रतिमान है–विनम्रता। साधना का दीर्घकालीन जीवन, परिवार, श्रुत, तप, लाभ और पूजा-सत्कार–ये छह स्थान हित और अहित दोनों के निमित्त बनते हैं। अनात्मवान् व्यक्ति इन्हें प्राप्त कर अहंकारी बन जाता है। अहित की यात्रा शुरू हो जाती है। आत्मवान् व्यक्ति इन्हें प्राप्त कर और अधिक विनम्र हो जाता है। हित उसके चरणचिह्नों के पीछे-पीछे चलता है।

उज्जैन की घटना है। सूर्यनारायण व्यास आचार्यश्री से मिलने आए। वे सुप्रसिद्ध ज्योतिषी और साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्हें परंपरागत धारणा के अनुसार आसन बिछाकर बिठा दिया गया। उन्हें यह बहुत अखरा। कुछ देर अनमने भाव से बताकर चले गए। बाद में पता चला कि उन्हें नीचे बैठना अच्छा नहीं लगा। उनकी प्रतिक्रिया थी–'आचार्यश्री में अहंकार है। वे ऊपर बैठते हैं। विद्वानों को नीचे बिठाते हैं।' आचार्यश्री ने इस प्रतिक्रिया के उत्तर में बताया–'वे ऊपर बैठते तो हमें कोई आपत्ति नहीं थी। यदि ऐसा पूर्व संकेत होता तो कार्यकर्ता वैसी व्यवस्था कर देते। बैठने की बात कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। मैं नहीं चाहता कि एक विद्वान् व्यक्ति कोई गलत धारणा लेकर बैठा रहे।' आचार्यश्री के इस वचन ने उनकी रूक्षता को स्नेह में बदल दिया और वे सदा के लिए आत्मीय व्यक्ति बन गए।

आचार्यश्री की सन्निधि में अनेक बार सर्वधर्म सम्मेलन की आयोजना हुई। उसमें विभिन्न संप्रदायों के आचार्य और संन्यासी, मुनि सम्मिलित हुए। ऊपर-नीचे बैठने की समस्या जब-जब आई तब-तब आचार्यश्री ने बहुत विनम्र भाव से कहा–'किसी का आसन चार अंगुल ऊंचा रहे तो हमें कोई आपत्ति नहीं।' भगवान् महावीर की निर्वाण शताब्दी के अवसर पर सभी जैन संप्रदायों के आचार्यों और मुनियों ने आचार्यश्री को जो प्रधानता दी उसका हेतु केवल उनकी प्रौढ़ता और प्रसिद्धि ही नहीं थी, किन्तु उनकी अपनी विनम्रता भी थी।

विनोद और अंतर्दृष्टि

जिसकी अंतर्दृष्टि जागृत होती है वह व्यक्ति महान् होता है। महानता की कसौटी है अन्तर्दृष्टि। विनोद उसका एक स्फुलिंग है। जितने महान् व्यक्ति हुए हैं उन सबने विनोद के माध्यम से तर्क को समाहित किया है, समस्या को सुलझाया है। आचार्यश्री के कुछ जीवन प्रसंग ऐसे हैं कि उनमें अंतर्दृष्टि और विनोद दोनों की आभा ने निखार पाया–

१. अणुव्रत का अंतरंग अधिवेशन हो रहा था। विशिष्ट अणुव्रती के छठे नियम–'लाख से अधिक पूंजी नहीं रखूंगा' पर बहस चल रही थी। कुछ लोग चाहते थे यह नियम रहे। कुछ चाहते थे यह नहीं रहे। अणुव्रत समिति के अध्यक्ष पारस जैन ने कहा–अणुव्रत भावनामूलक है। फिर इसकी क्या आवश्यकता? क्या एक लाख से अधिक पूंजी वाला विशिष्ट अणुव्रती बन ही नहीं सकता? आचार्यश्री ने मुस्कान के साथ कहा–'तुम अभी इतनी चिंता क्यों करते हो, पहले दो-चार करोड़पतियों को विशिष्ट अणुव्रती बनाने का प्रयत्न करो। फिर मैं देखूंगा वे विशिष्ट अणुव्रती बन सकते हैं या नहीं।'

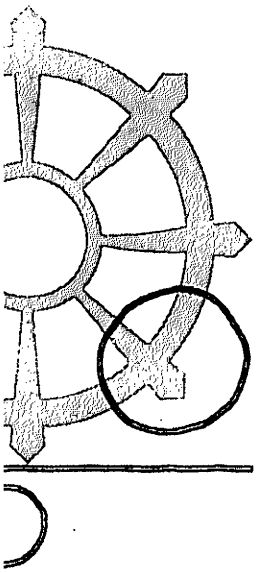

हंसी के साथ उनका तर्क समाप्त हो गया।

२. एक भाई ने पूछा–'आप अणुव्रत के प्रवर्तक कैसे?'

आचार्यश्री–'मैं अणुव्रत का प्रवर्तक नहीं हूं। ये प्राचीन काल से चले आ रहे हैं।'

भाई–'तो आपको प्रवर्तक क्यों कहा जा रहा है?'

आचार्यश्री–'मैं प्रवर्तक हूं इसलिए कहा जा रहा है।'

भाई–'वह कैसे?'

आचार्यश्री–'लोग मुझे अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तक कहते हैं।'

उपस्थित सारे लोग हंसने लगे। बात समाप्त हो गई।

३. युवक सम्मेलन के अंत में आचार्यश्री ने कहा–'मैं चाहता हूं सम्मेलन के बाद लोग खमा-खमा की आवाज न करें। बहुधा मैं ऐसी आवाजें सुनता-सुनता अघा जाता हूं।'

सम्मेलन समाप्त हुआ। चारों ओर से खमा-खमा की आवाजें सुनाई दी।

आचार्यश्री ने कहा–'उपदेश की अपेक्षा संस्कार अधिक प्रगाढ़ होता है।' इस वाणी ने सबके होंठों पर मुस्कान बिखेर दी।'

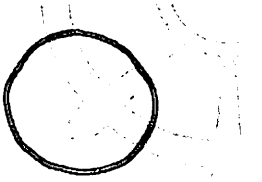

४. सेठ जुगलकिशोर बिड़ला पिलानी गांव के बाहर तक आचार्यश्री को विदा करने आए। वे रास्ते में बातें करते जाते थे। आचार्यश्री बार-बार रुक रहे थे। आठ-दस बार ऐसा हुआ।

बिड़लाजी बोले–'आप रुक-रुक कर चल रहे हैं। क्या आपके पैरों में पीड़ा है?'

आचार्यश्री–'नहीं, पीड़ा नहीं है। यह हमारा नियम है कि हम चलते समय बात नहीं करते।'

बिड़लाजी–'तब तो मैंने आपको कष्ट दिया है। मुझे भी आपसे चलते समय बात नहीं करनी चाहिए।'

आचार्यश्री–'आपने ठीक निष्कर्ष निकाला। चलते समय न बोलना बहुत अच्छा है।'

५. बिड़ला विद्या विहार, पिलानी के महिला विभाग में प्रवचन कर आचार्यश्री बाहर आ रहे थे। एक विद्यार्थी ने आचार्यश्री से पूछा–'अब आज आपका आगे का क्या कार्यक्रम है?'

आचार्यश्री–'सवा चार बजे प्रोफेसरों की सभा में एक प्रवचन आयोजित है।'

विद्यार्थी ने हंसते हुए कहा–'तब तो हम भी उसमें भाग ले सकेंगे।'

आचार्यश्री–'आप कैसे भाग ले सकेंगे?'

विद्यार्थी–'आज प्रातःकालीन प्रवचन में आपने ही तो विद्यार्थियों को वास्तविक प्रोफेसर बताया था। क्यों सही है न? फिर हम उसमें भाग क्यों नहीं ले सकेंगे?'

आचार्यश्री–'तो थोड़ा सुधार कर लें, विद्यार्थी प्रोफेसर हैं और प्रोफेसर विद्यार्थी। फिर आज का प्रवचन विद्यार्थियों की सभा में है, इसलिए तुम वहां कैसे आ सकोगे?'

अब उस विद्यार्थी के सामने कोई तर्क नहीं बचा, केवल मुस्कान ही बची।

६. आचार्यश्री विद्यार्थियों में प्रवचन कर हॉल से बाहर आ रहे थे। कुछ विद्यार्थी आचार्यश्री के हस्ताक्षर (ऑटोग्राफ) लेने आगे बढ़े। पेंसिल और डायरी देते हुए बोले–'आप इसमें हस्ताक्षर कर दीजिए।' आचार्यश्री ने मुस्कराते हुए कहा–'बच्चो! मैंने अभी जो कहा वह तुम्हारे हृदय में रहे। यह सही हस्ताक्षर होगा। डायरी कभी गुम हो सकती है तो हस्ताक्षर भी गुम हो जाएंगे। तुम वह हस्ताक्षर लो जो कभी गुम न हो।' विद्यार्थी खड़े-खड़े देखते रह गए।

७. दिन का तीसरा प्रहर। ग्रंथ का वाचन चल रहा था। आचार्यश्री की दृष्टि सहसा ऊपर बैठे दो कबूतरों पर जा टिकी। इधर-उधर उड़ान भरते उन कबूतरों को देखकर आपने कहा–'इनका भी कोई जीवन है। कैसे बीतता होगा इनका समय? न कोई काम और न कोई प्रयोजन। आपने आगे कहा–बिना प्रयोजन दौड़-धूप करने वाले मनुष्य भी क्या कबूतर नहीं हैं?'

८. एक सात-आठ वर्ष का बच्चा दौड़ा-दौड़ा आया। उसने आचार्यश्री से पूछा–'महाराज! माता-पिता की सेवा में पाप होता है या धर्म?'

आचार्यश्री ने कहा–'धार्मिक सेवा में मोक्ष-धर्म और लौकिक सेवा में लोक-धर्म।'

वह उत्तर दोहराते हुए जाने लगा।

आचार्यश्री ने पूछा–'बताओ। यह प्रश्न किसका है। तुम्हारा या किसी दूसरे का?'

बच्चा बोला–'मुझे अमुक व्यक्ति ने इसका उत्तर लाने के लिए भेजा है।'

आचार्यश्री ने उपस्थित लोगों से कहा–'बड़े लोग छोटे बच्चों के दिल में भी सांप्रदायिकता का विष भर देते हैं। कितनी विचित्र है यह साम्प्रदायिक कट्टरता।'

९. जोधपुर की घटना है। प्रवचन संपन्न होने पर एक भाई आया और बोला–'महाराज! मेरा बच्चा गुम हो गया।' आचार्यश्री ने सहानुभूति के स्वर में कहा–'कब हुआ, कैसे हुआ? कितने वर्ष का था?'

वह व्यक्ति बोला–'महाराज! उसे खोजूं तो मुझे पाप होगा या धर्म?' आचार्यश्री ने उसकी भावना समझ ली और तत्काल कहा–'बच्चा पैदा किया तब मुझे नहीं पूछा–पाप होगा या धर्म? अब पूछ रहे हो खोजने में पाप होगा या धर्म!'

वह जैसे आया था वैसे ही लौट गया। कहने को उसके पास कुछ बचा ही नहीं।

१०. एक भाई ने पूछा–'आप में और स्थानकवासी संप्रदाय में क्या अन्तर (भेद) है?'

आचार्यश्री ने कहा–'भेद की बात पूछते बहुत समय हो गया। आज का युग अभेद चाहता है। आप यह पूछें कि आपमें और स्थानकवासी संप्रदाय में क्या अभेद है?'

११. प्रवचन पूरा होते ही नेहरूजी ने झुककर आचार्यश्री से पूछा–'क्या कार्यक्रम पूरा हो गया? अब हम चलें?'

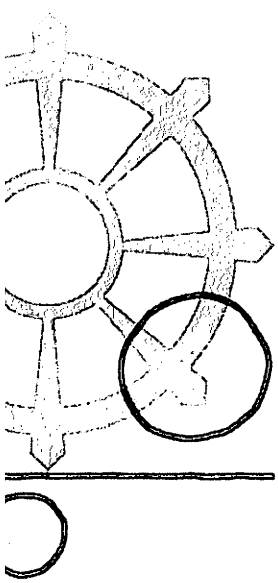

आचार्यश्री–'हां! लगभग पूरा हो गया। केवल अंतिम मंगलाचरण बाकी रहा है।'

सुश्री 'यामिनी तिलकम्' ने अंतिम मंगलाचरण किया। सभा सानंद संपन्न हुई।

प्रधानमंत्री ने कहा–'चलिए।' आचार्यश्री खड़े हुए और चलने लगे, नेहरूजी ठीक साथ-साथ चलते रहे। बाहर नेहरूजी की मोटर तैयार खड़ी थी। आचार्यश्री ने कहा–'आपकी मोटर तो आ गई। हमारे तो पैर ही मोटर हैं।' वे कुछ मुस्कराए और मोटर में बैठकर आगे बढ़ गए।

१२. आचार्यश्री एक छोटे बच्चे को चित्र दिखा रहे थे। पास में ही एक दूसरा बच्चा खड़ा था। उसने झट से पूछा–'यह कौन है?'

आचार्यश्री–'यह तुम्हारा भाई है।'

बच्चा–'नहीं, यह मेरा भाई नहीं है।'

आचार्यश्री–'भाई कैसे नहीं? क्या मनुष्य मनुष्य सारे भाई नहीं हैं?'

बच्चा–'हां तब तो मेरा भाई है।'

१३. दिन का तीसरा प्रहर। कुछ विद्यार्थी-साधु आचार्यश्री के पास पढ़ रहे थे। एक साधु अन्यमनस्क-सा बैठा था। दूसरे भी पूर्ण सजग नहीं थे। कुछ समय के बाद आचार्यश्री ने पूछा–'क्या पाठ चला?' सब मौन। किसी के पास कोई उत्तर नहीं था।

आचार्यश्री ने मीठे उलाहने की भाषा में कहा–'कैसे बैठें और ध्यान किसमें रहे, यह नहीं समझोगे तो पाठ भी ऐसा ही आएगा। श्रुत और श्रुतदाता का बहुमान किया जाए तभी विद्या का विकास संभव हो सकता है।'

१४. टमकोर की घटना है। रात्रि का समय था। दो भाई वहां आए। एक साला और दूसरा बहनोई। उनमें परस्पर मनमुटाव चल रहा था। संतों ने समझाने का प्रयास किया किंतु वह सफल नहीं हो सका। दोनों अपने-अपने अहं पर अड़े हुए थे। प्रातःकाल वे दोनों आचार्यश्री के सामने उपस्थित हुए। आचार्यश्री ने मनमुटाव का कारण पूछा। दोनों ने गोल-मटोल उत्तर दिया। आचार्यश्री बोले–'गुरु के सामने भी मायाचार!!! मन में कुछ और वाणी में कुछ और! यह ठीक नहीं है।'

इन शब्दों ने उन पर जादू का-सा असर किया। उनमें प्रेम का भाव जाग उठा। उनके हाथ जुड़ गए और वे एक-दूसरे से क्षमा मांगने लगे।

आकिञ्चन्य

प्रश्न होता है दुनिया में सबसे बड़ा व्यक्ति कौन? आंकड़ों के आधार पर इसका उत्तर कभी नहीं दिया जा सकता। भावात्मकता के आधार पर इस प्रश्न को उत्तरित किया जा सकता है। दुनिया में सबसे बड़ा व्यक्ति वह है जो अकिंचन है। जिसके पास कुछ भी नहीं और जिसके मन में कुछ पाने की चाह नहीं है।

आचार्यश्री ककडेऊ ग्राम में पधारे। शाम हो गई थी। जैन साधुओं का यह पहला ही आगमन था। गांव के लोग सोच रहे थे कि जैन साधु कैसे आएंगे? क्या खाएंगे। कहां सोएंगे? और इस व्यवस्था की दुविधा में वे आचार्यश्री से पूरे खुल भी नहीं सके। प्रातःकाल विहार के समय वे सारे मिलकर आए और कहने लगे–'महाराज! हमने तो सोचा था इतने साधु आ रहे हैं, न जाने कितना दूध चाहिए? कितना आटा और कितना घी चाहिए? ओढ़ने-बिछाने के लिए पलंग व कंबल भी कितने लेंगे? लेकिन आपने तो कुछ भी नहीं लिया। अब तो हम आपसे यह प्रार्थना करते हैं कि भविष्य में कभी आप इधर आएं तो हमारे गांव को मत भूलिएगा।'

वक्तृत्व

व्यवहार का चौथा प्रतिमान है–वक्तृत्व। मानव समाज को लक्ष्य की ओर आकृष्ट करने के दो प्रमुख साधन हैं–लेखन और वाणी। लेखनी में जहां भावों को स्थायी बनाने का सामर्थ्य है, वहां वाणी में तात्कालिक चमत्कार है। आचार्यश्री ने अपनी वाणी द्वारा धर्म को बहुत पल्लवित किया।

आपका मृदु-मंद स्वर, गंभीर घोष, सुदूर तक पहुंचने वाली आवाज श्रोता को आश्चर्यचकित किए बिना नहीं रहती थी। आप पहले ध्वनि-विस्तारक का सहारा लिए बिना ही व्याख्यान करते थे। फिर भी दस-पन्द्रह हजार व्यक्ति बड़ी सुविधा के साथ उसे सुन सकते थे। यह शक्ति बहुत विरले व्यक्तियों को

ही सुलभ होती है। राजस्थान में आपके व्याख्यान की भाषा राजस्थानी होती थी। हिन्दीभाषी प्रान्तों में आप हिन्दी में बोलते थे। गुजराती लोगों में गुजराती और आवश्यकता होने पर कभी-कभी संस्कृत में भी व्याख्यान होता था। आप देश-काल की मर्यादाओं को अच्छी तरह समझते थे। आपके सार्वजनिक वक्तव्यों के अवसर पर हजारों लोग बड़ी उत्सुकता से आते थे।

आपको वाणी संबंधी जो प्राकृतिक विशेषताएं प्राप्त थी, उनसे मानसिक विशेषताएं कम प्राप्त नहीं थी। आपको हर समय यह खयाल रहता था–'मेरे व्याख्यान से लोगों को कुछ मिले, वे कुछ सीख सकें। मेरे व्याख्यान अगर लोकरंजन के लिए हुए तो उनसे क्या लाभ?'

जनता की भाषा में जनता की बातें कहना आपकी बड़ी विशेषता थी। आपके व्याख्यानों में अधिकतर जनता के जीवन-उत्थान की प्रेरणा रहती थी। आपके उपदेश सुनकर हजारों व्यक्तियों ने दुर्व्यसन छोड़े। तंबाकू, मद्य, मांस, शिकार, दुराचार आदि से दूर हुए। सैकड़ों ऐसे आदमी देखे जो किसी भी शर्त पर तंबाकू छोड़ने को तैयार नहीं थे, उन्होंने आपका उपदेश सुनते-सुनते बीड़ी के बण्डल फेंक दिए, चिलमें फोड़ दी, आजीवन उससे मुक्त हो गए। कानून की अवहेलना कर मद्य पीने वालों ने मद्य छोड़ दिया। और क्या, चोर-बाजारी जैसी मीठी छुरी से खाने वाले भी आपकी वाणी से हिल गए। बाण से न हिलने वालों को भी वाणी हिला देती है; इसकी सचाई में किसे संदेह है?

उस नव-युग की संधिवेला में नवीनता-प्राचीनता का जो संघर्ष चल रहा था उसे सम्हालने तथा बूढ़ों और युवकों को एक ही पथ पर प्रवाहित करने में आपकी वाक्-शक्ति के सहज दर्शन मिलते थे।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

आप व्याख्यान देते-देते श्रोताओं की मनोदशा का अध्ययन करते रहते थे। आचारांग सूत्र में बताया है कि व्याख्याता को परिषद् की स्थिति देखकर ही व्याख्यान करना चाहिए, अन्यथा लाभ के बदले अलाभ होने की संभावना रहती है। श्रोता की तात्कालिक जिज्ञासा का स्वयं समाधान होता रहे, यह वक्तृत्व का विशेष गुण है।

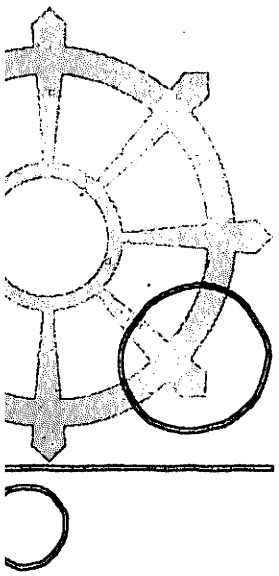

गवर्नमेन्ट कॉलेज, लुधियाना में एक बार आप प्रवचन कर रहे थे। वहां धर्म-प्रवचन का यह पहला अवसर था। बहुत सारे हिन्दू और सिख विद्यार्थी जैन साधुओं की चर्या से अनजान थे। उन्हें साधुओं की वेश-भूषा भी विचित्र-सी लग रही थी। वे प्रवचन की अपेक्षा बाहरी स्थितियों पर अधिक ध्यान किए हुए थे। आपने स्थिति को देखा। उसी वक्त बाहरी स्थिति से दूर भागने वाले विद्यार्थियों को संबोधित करते हुए कहा–'भाइयो! आप घबराइए मत। आपके सामने ये जो साधु बैठे हैं, वे आप जैसे ही आदमी हैं। श्रेष्ठ आदमी हैं। सिर्फ वेश-भूषा को देखकर आप इनसे दूर मत भागिए। ये तपस्वी हैं। इनके जीवन की कठोर साधना है। ये पढ़े-लिखे हैं। इनका सारा समय गंभीर अध्ययन, चिंतन-मनन में बीतता है। आप इनके संपर्क से बहुत कुछ सीख सकते हैं।'

दो क्षण में स्थिति बदल गई। उन्हें आंतरिक जिज्ञासा का समाधान मिल गया। वे इस आशंका से हट कर प्रवचन सुनने में एकाग्र हो गए। आप श्रोताओं की रुचि और स्थिति का बहुत ध्यान रखते थे। आपने स्वयं लिखा–'तात्त्विक विवेचन करने की रुचि मुझमें सदा रहती है। व्याख्यान में भी कोई तात्त्विक विषय आ जाए तो उसके अंदर पैठने में मुझे खूब आनंद आता है। किन्तु बहुधा श्रोताओं की जानकारी की कमी के कारण विषय को जल्दी ही बदल देना पड़ता है।'

आपके व्याख्यान की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि आप किसी पर आक्षेप नहीं करते थे। जो बात कहते, वह सिद्धान्त के रूप में कहते। अपनी बात कहते, अपनी नीति बताते, अपना मार्ग समझाते। दूसरों पर प्रहार नहीं करते। दूसरों के गुणों की चर्चा करने में आपको तनिक भी संकोच नहीं था। जो कोई दूसरों पर व्यक्तिगत या जातिगत आक्षेप करते, उन्हें आप बहुत कमजोर, क्लीव समझते। आप कई बार कहते–'दुकानदार का काम इतना ही है कि वह अपनी दुकान का माल दिखा दे। किन्तु यह दुकानदार ऐसा है, वह वैसा है, यह कहना ठीक नहीं। अगर उसका माल अच्छा है तो दुनिया अपने आप लेगी। अगर अच्छा नहीं है तो वह कितने दिनों तक दूसरों की बुराई पर अपना माल बेचेगा। आखिर अपने में अच्छाई होनी चाहिए। वह हो तो दूसरों पर कीचड़ फेंकने की बात ही न सूझे।'

आप बचपन से ही अध्यापन कार्य में रहे इसलिए आपकी वक्तृता में भी उस शैली की झलक मिलती थी। प्रत्येक विषय का आदि से अंत तक निर्वहन करना, व्युत्पत्ति से फलित तक समझाना आपकी सहज प्रवृत्ति थी। स्यात् किसी प्रौढ़ श्रोता को यह यत्किंचित्-सा लगता किन्तु जन-साधारण के लिए विशेष उपयोगी होता था। जनसाधारण के हृदय तक पहुंचने वालों की वाणी में सरलता और सरसता हो, यह नितान्त वांछनीय है।

आप व्याख्यान के बीच कहीं-कहीं गायन को भी आवश्यक समझते थे। ग्रामीण अथवा अनपढ़ लोगों के बीच आप अधिकतर कथा और चित्रों का सहारा लेते थे। उनके द्वारा गूढ़ से गूढ़ तत्त्व सरल बन जाता है, हृदय में पैठ जाता है। पण्डितों में पांडित्यपूर्ण भाषा तथा ग्रामीणों में ग्राम-भाषा के सहारे कार्य करना सफलता की कुंजी है।

आपकी सार्वजनीन वृत्ति का तब हृदयग्राही साक्षात्कार होता था जब आप गांवों की जनता के बीच पहुंच कर उनकी सीधी-सादी बोली में उन्हें जीवन सुधार की बातें सुनाते थे, सत्य-अहिंसा का उपदेश देते थे। आचार्यश्री प्रवचन के समय अपने विचारों को सूत्ररूप में रखते थे। वे जनता के दिल का स्पर्श कर लेते थे–

'विश्वशांति के लिए अणुबम आवश्यक है। ऐसी घोषणा करने वालों ने यह नहीं सोचा कि यदि वह उनके शत्रु के पास होता तो?'

'दूसरा आपको अपना सिरमौर माने, तभी आप उसके सुख-दुःख की चिंता करें। यह भलाई नहीं, भलाई का चोगा है।'

'मैं किसी एक के लिए नहीं कहता, चाहे समाजवादी या दूसरा कोई भी हो उन्हें समझ लेना चाहिए कि दूसरों का इस शर्त पर समर्थन करना कि वे उनके पैरों तले चिपटे रहें, स्वतंत्रता का समर्थन नहीं है।'

'न्याय और दलबंदी–ये दो विरोधी दिशाएं हैं। एक व्यक्ति एक साथ दो दिशाओं में चलना चाहे, इससे बड़ी भूल और क्या हो सकती है?'

'स्वतंत्र वह है जो न्याय के पीछे चलता है। स्वतंत्र वह है जो अपने स्वार्थ के पीछे नहीं चलता। जिसे अपने स्वार्थ और गुट में ही ईश्वर-दर्शन होता है, वह परतंत्र है।'

'अध्यात्म-प्रधान भारतीयों में अमानवीय बातें अधिक अखरने वाली हैं।'

'वह दिन आने वाला है जब पशुबल से उकताई हुई दुनिया भारतीय जीवन-दर्शन से अहिंसा और शांति की भीख मांगेगी।

'हिंसा और स्वार्थ की नींव पर खड़ा किया गया वाद भले ही आकर्षक लगे, अधिक टिक नहीं सकता।'

'प्रकृति के साथ खिलवाड़ करने वाले इस वैज्ञानिक युग के लिए शर्म की बात है कि वह रोटी की समस्या को नहीं सुलझा सकता। सुख से रोटी खाकर जीवन बिताना, इसमें बुद्धिमान् मनुष्य की सफलता नहीं है। उसका कार्य है आत्म-शक्ति का विकास करना, आत्म-शोधनोन्मुख ज्ञान-विज्ञान की परम्परा को आगे बढ़ाना।'

आचार्यश्री के शब्दों में नास्तिकता की बड़ी युगानुकूल व्याख्या मिलती है–

'आज की दुनिया की दृष्टि धन पर ही टिकी हुई है। धन के लिए ही जीवन है, लोग यों मान बैठे हैं। यह दृष्टि-दोष है, नास्तिकता है। जो वस्तु जैसी नहीं, उसको वैसी मान लेना ज्यों मिथ्यात्व है, त्यों साधन को साध्य मान लेना क्या नास्तिकता नहीं है?

धन जीवन के साधनों में से एक है, साध्य तो है ही नहीं। इस नास्तिकता का परिणाम पहली मंजिल में शोषण, आखिरी मंजिल में युद्ध है।'

आप सामयिक पदार्थाभाव का विश्लेषण करते हुए बड़ा मानवीय दृष्टिकोण सामने रखते थे। यह दूसरी बात है कि भोगवाद के राग-रंग में फंसी दुनिया उसे न समझ पाए अथवा समझ कर भी न अपना सके, किन्तु वस्तुस्थिति उनके साथ रही।

'लोग कहते हैं–जरूरत की चीजें कम हैं। रोटी नहीं मिलती, कपड़ा नहीं मिलता, यह नहीं मिलता, वह नहीं मिलता, आदि-आदि। मेरा खयाल और है। मैं मानता हूं कि जरूरत की चीजें कम नहीं, जरूरतें बहुत बढ़ चलीं, संघर्ष यह है। इसमें से अशांति की चिनगारियां निकलती हैं।'

बाहरी नियंत्रण में आपकी विशेष आस्था नहीं थी। नियम आत्मा में बैठकर जो असर करता है उसका शतांश भी वह बाहर रहकर नहीं कर सकता। इसको बार-बार बड़ी बारीकी के साथ समझाते थे।

'सफलता की मूल कुंजी जनता की भावना है। उसका विकास संयममूलक प्रवृत्तियों के अभ्यास से ही हो सकता है।'

'नैतिक उत्थान व्यक्ति तक ही सीमित रहा तो उसकी गति मंद होगी, इसलिए इस दिशा में सामूहिक प्रयास आवश्यक है। यह प्रश्न हो सकता है, अकसर होता ही है। इसका उत्तर सीधा है। मैं न तो राजनीतिक नेता हूं, न मेरे पास कानून और डंडे का बल है। मेरे पास आत्मानुशासन है। अगर आपको जचे तो आप उसे लें।'

'आप जनतंत्र को सफल बनाना चाहते हैं तो आत्मानुशासन सीखें। मेरी भाषा में स्वतंत्र वही है जो अधिक से अधिक नियमानुवर्ती रहे। औरों के द्वारा नहीं, अपने आप अनुशासन में चलना सीखे। चलाने से पशु भी चलता है, किन्तु मनुष्य पशु नहीं है।'

'आज का संसार राजनीतिमय बन रहा है। जहां कहीं सुनिए, उसी की चर्चा है। मनुष्य की बहिर्मुखी दृष्टि ने उसे सत्ता और अधिकारों का लालची बना दिया। इसलिए वह और सब बातों को भुलाकर मारा-मारा उसी के पीछे फिर रहा है। इसी से चारों ओर अशांति की ज्वाला धधक रही है।'

आप सुख के मार्ग में राजनीति के एकाधिकार को बाधक मानते थे।

'राजनीति लोगों के जरूरत की वस्तु होती होगी, किन्तु सबका हल उसी में ढूंढ़ना भयंकर भूल है। आज की राजनीति सत्ता और अधिकारों को हथियाने की नीति बन रही है। इसीलिए उस पर हिंसा हावी हो रही है। इससे संसार सुखी नहीं होगा। संसार सुखी तब होगा जब ऐसी राजनीति घटेगी और प्रेम, समता और भाईचारा बढ़ेगा।'

'तेरापंथ के प्रथम आचार्य श्री भिक्षुगणी ने धार्मिकों को यह चेतावनी दी कि यदि धर्म हिंसा और परिग्रह का अखाड़ा बना रहा, उसके नाम पर बड़े-बड़े मकान और पूंजी एकत्र की गई, धनिक-निर्धन का भेद चलता रहा तो अवश्य ही उसके सिर पर एक दिन खतरे की घंटी बजेगी।'

भगवान् महावीर की वाणी का प्रतिबिम्ब ले भिक्षु स्वामी से जो किरणें फैलीं, उनका आचार्यश्री ने महान् उज्जीवन किया।

लोग जब कहते कि आज वैज्ञानिक समाज की धर्म पर आस्था नहीं है, तब आप इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते। आपकी धारणा थी–इसमें वैज्ञानिक समाज का दोष नहीं है। यह सब धार्मिकों ने धर्म के नाम पर जो खिलवाड़ किया, उसका परिणाम है। धर्म सबके हित की वस्तु है। उस पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु अहिंसा और सत्य जिसका स्वरूप है, अपरिग्रह जिसकी जड़ है, वह धर्म हिंसा, झूठ और परिग्रह का निकेतन बन जाए, तब उसे लोग कैसे अपनाएं? कैसे उससे सुख-शांति की आशा रखें?

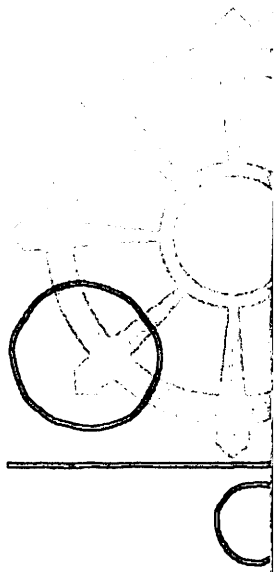

धर्मचक्र का प्रवर्तन

धर्म की विडम्बना को देख कर आपके हृदय में बड़ी भारी वेदना होती थी। मथुरा के टाउन-हॉल में प्रवचन करते हुए आपने कहा–

'मुझे इस बात का खेद है कि लोगों ने धर्म को जाति के रूप में बदल डाला। धार्मिकों के आडम्बर, कलह, शोषण, स्वार्थपरता, संकीर्णता, जाति-अभिमान आदि के बारे में जब मैं सोचता हूं, तब हृदय खिन्न हो जाता है।'

'मैं ऐसे धर्म की साधना के लिए जनता को प्रेरित नहीं करता। मैं आप लोगों से वैसे धर्म को जीवन में उतारने का अनुरोध करूंगा जो इन झंझटों से परे हो, विश्वबंधुत्व का प्रतीक हो।'

आपकी धारणा रही–'धर्म के सच्चे अधिकारी वे हैं जो त्यागी और संयमी हैं। आज बहुलांश में धर्म की बागडोर पूंजीपतियों के हाथ में है इसलिए उस पर से जनसाधारण का विश्वास उठ गया है। धर्म के लिए पूंजी का कोई उपयोग नहीं है।'

आचार्यश्री प्रवचन करते समय विषय के साथ तदात्म हो जाते थे। उनका तादात्म्य जनता को अपनी ओर खींच लेता था। डॉ. राजेन्द्रप्रसाद २१ अक्टूबर, १९४९ को आचार्यश्री से मिले। वे आपकी वाणी से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा–

'उस दिन आपके दर्शन पाकर बहुत अनुगृहीत हुआ। इस देश में ऐसी परम्परा चली आई है कि धर्मोपदेशक धर्म का ज्ञान और आचरण जनता को बहुत करके मौखिक दिया करते हैं। जो विद्याध्ययन कर सकते हैं वे तो ग्रंथों का सहारा ले सकते हैं; पर कोटि-कोटि साधारण जनता उस मौखिक प्रचार से लाभ उठाती है, धर्म-कर्म सीखती है। इसलिए जिस सहज सुलभ रीति से आप गूढ़ तत्त्वों का प्रचार

करते हैं उन्हें सुनकर मैं बहुत प्रभावित हुआ और आशा करता हूं कि इस तरह का शुभ अवसर मुझे फिर मिलेगा।'

आचार्यश्री ने आचार्य भिक्षु के बारे में वक्तव्य दिया। जनता उसके प्रवाह में बह गई। गांधीवादी विचारक श्री हरिभाऊ उपाध्याय उस प्रवचन सभा में उपस्थित थे। वे प्रवचन सुनकर अपने आवास-स्थान पर चले गए। वहां पहुंचते ही उन्होंने अपने ड्राइवर के साथ एक पत्र भेजा। उसमें लिखा–

महामान्य श्री आचार्यजी,

सादर प्रणाम! इधर तीन दिनों से आपके दर्शन और सत्संग का जो अवसर मिला, वह मुझे सदैव याद रहेगा। मुझे बड़ा खेद है कि आज कुछ मित्रों के अनुरोध करने पर भी मैं वहां कुछ बोल न सका। इधर मेरी प्रवृत्ति बोलने की कम होती जा रही है, लिखने की भी। ऐसा लगने लगा है कि मनुष्य को अपने जीवन से ही लोगों को अधिक देना चाहिए जिससे हमें अपने जीवन को मांजते रहने का अवसर मिले।

पूज्य स्वामी भिक्षुजी के चरित्र और आपका आज का तद्विषयक व्याख्यान मुझे बहुत प्रभावकारी मालूम हुआ। ऐसा लगा, मानो उनकी आत्मा आप में बोल रही है। आप अपने क्षेत्र के 'युगपुरुष' हैं। जैन धर्म को मैं मानव धर्म मानता हूं। उसके आप प्रतीक बनेंगे, ऐसा विश्वास है। मैं दिल्ली फिर आऊंगा, तब अवश्य मिलूंगा। आप अपने इस जीवन-कार्य में मुझे अपना सहयोगी समझ सकते हैं। इति।

विनीत,

हरिभाऊ उपाध्याय

संगीत और स्वास्थ्य

आचार्यश्री का स्वास्थ्य जीवन के अंतिम क्षण तक प्रायः बहुत अच्छा था। निरन्तर श्रम, फिर भी शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से श्लाघनीय स्वास्थ्य था। एक युवक को भी उससे स्पर्द्धा हो सकती थी। बहुत लोग जानना चाहते थे कि इसका रहस्य क्या है? रहस्य कुछ भी नहीं था, वह एक खुली पुस्तक थी। इसे हर कोई पढ़ सकता था। आचार्यश्री के स्वास्थ्य का एक प्रमुख हेतु था–संयम तथा विनोदपूर्ण स्वभाव, प्रसन्नता तथा घटना या दुर्घटना को भुला देने की क्षमता। जो व्यक्ति घटना का बोझ सिर पर लिए घूमता है वह स्वस्थ नहीं रह सकता। आचार्यश्री के स्वास्थ्य का एक और हेतु था और वह था संगीत। गाना बहुत अच्छा व्यायाम है। इससे कंठ और फुफ्फुस का बहुत अच्छा व्यायाम हो जाता है। जिसका कंठ-प्रदेश स्वस्थ होता है वह बहुत स्वस्थ रह सकता है। बहुत सारी बीमारियां गले से नीचे उतरती हैं। आचार्यश्री प्रवचन में संगीत का भरपूर प्रयोग करते थे। उससे दीर्घश्वास का प्रयोग अपने आप हो जाता।

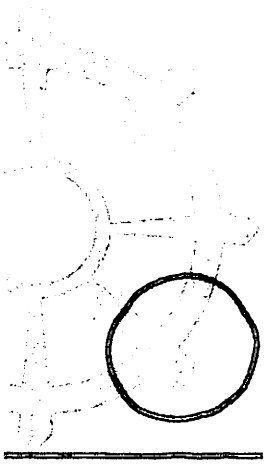

आचार्यश्री को कंठ और स्वर का वरदान मिला था। आप परम्परागत प्राचीन रागिनियों के प्रशस्त गायक थे। तेरापंथ धर्मसंघ में संगीत कला पर ध्यान केन्द्रित रहा है। आचार्य भिक्षु और जयाचार्य ने अपनी रचनाओं में विभिन्न रागिनियों का प्रयोग किया है। पूज्य कालूगणी से आचार्यवर को यह वरदान मिला और आपने उसका विस्तार किया। 'भगवती की जोड़' पांच सौ गीतों का विशाल ग्रंथ है। आचार्यश्री उसके एकमात्र अधिकारी गायक थे। आपने इस कला के द्वारा जनता को भावनात्मक उल्लास दिया तो साथ-साथ अपने स्वास्थ्य को भी शक्तिशाली बनाया।

दिनचर्या

व्यवहार का पांचवां प्रतिमान है–दिनचर्या। व्यक्ति की पहचान उसकी दिनचर्या से होती है। जो समय का मूल्य आंकता है उसी का व्यक्तित्व महान् होता है। आहार, नींद, कुतूहल और विकथा–ये चार तत्त्व व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं।

आचार्यश्री की दिनचर्या के मूल सूत्र थे–

१. जागरूकता–अधिक से अधिक जागृत रहें।

२. सफलता–जो क्षण बीते, वह सफलता छोड़ जाए।

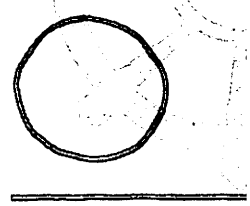

आचार्यश्री की नींद परिमित थी। आप दस-ग्यारह बजे सोते और चार बजे जग जाते। जागरण के बाद चलता था ध्यान, आत्मचिंतन और स्वाध्याय। फिर सामूहिक अर्हत् वंदना और प्रतिक्रमण–आत्मालोचन। फिर सामूहिक अणुव्रत प्रार्थना। प्रातःकालीन टहलना। आसन-प्राणायाम का अभ्यास। नाश्ते में केवल दूध और कभी-कभी केवल मट्ठा। ९ से ११ बजे के बीच प्रातःकालीन प्रवचन। फिर साहित्य का निर्माण या संपादन। बारह और एक बजे के अंतराल में आहार। उसका आधारभूत सूत्र रहा–परिमित खाना, कम वस्तुएं खाना, कम बार खाना और मात्रा में कम खाना। यह बहुत बड़ा आधार बना जागरूकता का और सफलता का।

आहार के पश्चात् हलका-सा विश्राम। २ से ४ बजे तक के समय में अध्यापन, साहित्य सृजन और आने वालों से बातचीत। बहुत वर्षों तक ४ से ५ बजे के बीच में मौन रहे। सायंकालीन आहार के बाद डायरी लेखन, पत्र-पत्रिकाओं का अवलोकन। सूर्यास्त के पश्चात् फिर सामूहिक प्रतिक्रमण और अर्हत् वंदना। प्रवचन और गोष्ठियां। वार्तालाप। जिज्ञासा और समाधान। ग्यारह बजे के आसपास शयन।

मनुष्य का बहुत समय भोजन, नींद, कुतूहल और विकथा में बीतता है। उसे वह अपनी व्यस्तता मानता है। आज हर आदमी अपने आपको व्यस्त अनुभव कर रहा है। आचार्यश्री को कभी हमने व्यस्त नहीं देखा। अप्रमाद में जीने वाला, वर्तमान में जीने वाला आदमी कभी व्यस्त नहीं होता। वह जो भी प्राप्त या आवश्यक कार्य होता है, कर लेता है। अनावश्यक नहीं करता, इसलिए उसके पास समय की कमी नहीं होती। आचार्यश्री एक नेतृत्व वाले विशाल संघ का संचालन करते थे; फिर भी उससे व्यस्त नहीं बनते थे। आचार्यश्री कहा करते थे–'हमारे पूर्वाचार्यों ने बड़ी सुन्दर नियमावली बनाई है, इसलिए मुझे संघ की देख-रेख तथा उसके विकास संबंधी चिंतन के अतिरिक्त व्यवस्था के लिए बहुत कुछ नहीं करना पड़ता।'

आहार के प्रयोग और तपस्या

शक्ति, सात्त्विकता और मानसिक निर्मलता को मत देखो। पहले देखो कि व्यक्ति क्या खाता है? कितना खाता है? कितनी बार खाता है? कितनी वस्तुएं खाता है? आहार पवित्र है और संयत है तो अपार शक्ति का दर्शन होगा, सात्त्विकता निखरती दृष्टिगोचर होगी और मानसिक उज्ज्वलता प्रवहमान सरिता-सी समुज्ज्वल होगी। आहार अपवित्र है और असंयत है तो शक्ति पाचन में खप जाएगी, तामसिकता बढ़ेगी और मन में भूत नाचते रहेंगे। आचार्यश्री में विशाल शक्ति, सात्त्विक वृत्ति और मन की विशदता थी। उसका हेतु था–आहार का संयम, जीभ पर पूरा नियंत्रण, भूख पर विजय। समय-समय पर आहार के विविध प्रयोग भी चलते रहते थे। आचार्यश्री ने लिखा–'इस बार पर्युषण में सिर्फ सात द्रव्य लग रहे हैं। उनमें दूध, चीनी, फुलका, तोरई का साग, पानी तथा दो और कोई। कुछ मन पर काबू जरूर रखना होता है। बाकी बड़ा आनंद

रहता है। १५ दिन में सिर्फ एक दिन कढ़ाई विगय लगी। प्रतिदिन तीन विगय से अधिक चातुर्मास भर में भी शायद न लगी। बड़ा आनंद है।'[1]

'इस बार आषाढ़ शुक्ला ११ से खाद्य-संयम चल रहा है। १३ द्रव्य से उपरान्त प्रायः नहीं लगते। पानी भी इन्हीं में है। उपवास करने में भी इतने द्रव्यों से काम चल जाता है। कठिनाई जरूर पड़ती है, क्योंकि किसी को पता नहीं है, अतः आशंका जरूर हो रही है कि क्या बात है? मेरी इच्छा है कि चल सके तो चातुर्मास भर चलाएं।'[2]

सन् १९४४ में खाद्य-संयम का वार्षिक प्रयोग किया। रामखीचड़ी और पापड़ के प्रति बचपन से ही मन में कुछ आकर्षण था। एक वर्ष के लिए उन्हें छोड़ दिया। संकल्प-शक्ति बढ़ गई। आकर्षण सहजता में बदल गया। भोजन में सात या नौ द्रव्यों से अधिक न खाने का अभ्यास वर्षों तक किया।

बीदासर चातुर्मास में दस प्रत्याख्यान का प्रयोग सामूहिक रूप से चला।

सन् १९५० में आचार्यश्री ने अष्टमी और चतुर्दशी के दिन एकासन का प्रयोग प्रारंभ किया। लंबी-लंबी पदयात्राओं में भी वह अविच्छिन्न रूप से चलता रहा।

सन् १९७५-९६ के चातुर्मासिक प्रवास में आचार्यश्री ने एक-एक मास तक निरंतर एकासन के प्रयोग किए। जयाचार्य निर्वाण शताब्दी सन् १९८१ के अवसर पर प्रतिमास दो उपवास का प्रयोग किया। यात्राकाल में भी उपवास करते थे।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

सन् १९८२ अक्षय तृतीया का दिन। आचार्यश्री ने चीनी, गुड़ और उनसे बनी हुई वस्तुओं को खाना छोड़ दिया। अनेक वर्षों तक यह क्रम अविच्छिन्न चलता रहा।

दूध वर्जन का प्रयोग राणावास चातुर्मास (सन् १९८२) में चार मास तक, बालोतरा चातुर्मास (सन् १९८३) और जोधपुर चातुर्मास (सन् १९८४) में दो मास तक, आमेट चातुर्मास (सन् १९८५) में एक मास तक। आमेट के मासिक प्रयोग में प्रातःकाल आछ (गर्म छाछ के ऊपर का जल) का प्रयोग चला। मध्याह्न और सायंकालीन भोजन में एक-एक लूखी चपाती, केवल उबली हुई सब्जी और थोड़े से चावल।

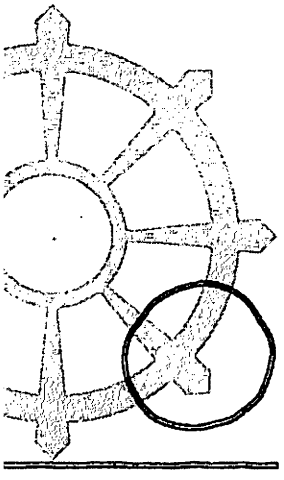

व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण घटक है आहार। आचार्यश्री के आहार के प्रयोग उनके व्यक्तित्व की सही-सही अवधारणा देने में समर्थ थे।

योगासन

आचार्यश्री के दैनिक क्रम में योगासन भी एक प्रवृत्ति थी। समय की खींचातानी में आप प्रायः उसके लिए समय निकाल लेते थे। हलासन, सर्वांगासन, पद्मासन, बद्धपद्मासन—ये आपके प्रिय आसन थे।

अधिक औषधि सेवन को आप बहुत बुरा मानते थे। यथासंभव आप औषध नहीं लेते थे। जुकाम, ज्वर आदि साधारण स्थिति का प्रतिकार प्राकृतिक साधनों से ही करते थे। प्राकृतिक चिकित्सा के प्रति आपका विश्वास था।

१. वि.सं. २०१४, सुजानगढ़।
२. वि.सं. २०१६, कोलकाता।

एकान्तवास

आचार्यश्री के प्रयोगात्मक जीवन की शृंखला का एक प्रयोग था एकान्तवास। जनता से घिरे रहना आपके जीवन की सफलता का प्रमाण था तो सफलता के वरण की आधारशिला थी एकान्तवास। जो व्यक्ति एकान्त का मूल्य नहीं जानता वह जीवन का मूल्य भी नहीं जानता। आचार्यश्री ने एकान्तवास का पहला प्रयोग राजसमंद में किया। पर्वतीय अधित्यका पर स्थित दयालशाह के देहरे में साप्ताहिक प्रवास हुआ। तेरापंथ द्वि-शताब्दी का अवसर था। संघ शिखर को छू सके उस दृष्टि से वह शिखर-प्रवास काफी उपयोगी रहा। वहां संघीय विकास के साथ-साथ व्यक्तित्व विकास और दायित्व विस्तार की दृष्टि से चिंतन चला। निकाय व्यवस्था उसी का परिष्कृत और परिवर्तित रूप था। बीदासर, लाडनूं, जयपुर, सरदारशहर आदि में भी वह प्रयोग दोहराया गया।

हिसार चातुर्मास में मासिक एकान्तवास का प्रयोग चला। यह प्रयोग साधना प्रधान था। सत्ताईस दिन तक आचार्यश्री ने नमस्कार महामंत्र की साधना की। केवल प्रातःकालीन प्रवचन जनता के लिए था। शेष २३ घंटे का समय व्यक्तिगत जप-ध्यान और चिंतन के लिए था। उस अवधि में आचार्यश्री केवल दो समय भोजन करते और उसमें केवल दूध, केला, चावल आदि सफेद रंग के पदार्थ ही लेते। २० दिन तक केवल दूध और केले का प्रयोग किया, चावल नहीं लिए। सत्ताईस दिन पूर्ण होने पर तीन दिन का उपवास किया। उस समय सामूहिक जप का प्रयोग भी चला।

आमेट चातुर्मास (१९८५) में एकान्तवास का नवाह्निक प्रयोग किया गया। उसके साथ जुड़ा हुआ था साधु-साध्वियों का प्रेक्षाध्यान शिविर। प्रवचन के अतिरिक्त गृहस्थों से संपर्क प्रायः वर्जित था और चरण-स्पर्श भी वर्जित था। एक सामूहिक आयंबिल का प्रयोग किया गया। इस अभिक्रम में अनेक साधु-साध्वियों के मन में प्रेक्षाध्यान के प्रति आकर्षण पैदा हुआ।

आचार्यश्री ने अपने वैयक्तिक और संघीय जीवन को परिष्कार दिया। वह परिष्कार संस्कार-निर्माण की उच्च भूमिका में फलित होता रहा।

जैन सामाचारी के अनुसार समूह में किए जाने वाले कार्य को मंडली कहा जाता है। प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, आहार आदि अनेक मण्डलियां होती थीं। संध्या के समय आत्म-निरीक्षण और आत्मशोधन के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है। आचार्य भिक्षु वृद्धावस्था में भी खड़े होकर प्रतिक्रमण किया करते थे। उनसे प्रार्थना की गई कि आप बैठकर प्रतिक्रमण करें। उन्होंने कहा–'मैं खड़े-खड़े प्रतिक्रमण करता हूं तो आने वाले हमारे साधु कम से कम बैठकर तो करेंगे। यदि मैं बैठा-बैठा करूंगा तो हो सकता है आने वाले लेटे-लेटे करें।'

प्रमाद मनुष्य का स्वभाव है। साधु भी उससे सर्वथा मुक्त नहीं होते। आचार्यश्री के शासन-काल के प्रारंभिक वर्षों में कुछ ऐसा चल रहा था और सामूहिक रूप में भी नहीं किया जा रहा था। इस स्थिति की ओर ध्यान आकर्षित हुआ तब आचार्यवर ने विधिवत् और सामूहिक प्रतिक्रमण करने की परम्परा को पुनरुज्जीवित किया। परिवर्तन और पुनरुज्जीवन आचार्यश्री की प्रकृति थी। इसकी सुरभि का संवेदन आज भी किया जा सकता है।

मूल्यांकन

आचार्यश्री ने आचार्यकाल में जो किया उसका यथार्थ मूल्यांकन भी हुआ। मूल्यांकन की प्रचुर सामग्री 'आचार्यश्री तुलसी अभिनंदन ग्रंथ' में उपलब्ध है। मैं उसकी पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं समझता।

डॉ. राधाकृष्णन् ने एक पुस्तक लिखी–'लिविंग विद पर्पज'। उसमें चौदह व्यक्तियों का जीवनवृत्त प्रस्तुत किया गया है। उनमें तेरह व्यक्ति इस दुनिया से अलविदा हो चुके थे, जीवित व्यक्ति केवल आचार्यश्री थे।

युगप्रधान पदाभिषेक के अवसर पर राष्ट्रपति वराह वैंकट गिरि ने ३१ जनवरी, १९७१ को एक पत्र प्रेषित किया–

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि अणुव्रत अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी के अभिनंदन का आयोजन किया जा रहा है तथा इस अवसर पर प्राचीन जैन परम्परा के अनुसार आचार्यश्री को 'युगप्रधानाचार्य' के पद से भी गौरवान्वित किया जाएगा। राष्ट्र में नैतिक नवजागरण में जो श्रेष्ठ प्रयास आचार्यश्री करते आए हैं वे बड़े ही सराहनीय और महत्त्वपूर्ण हैं। देश में आज सांस्कृतिक एवं भावनात्मक समन्वय की बड़ी आवश्यकता है और मैं आशा करता हूं कि आचार्यश्री देश में नैतिक पुनरुत्थान लाने के अपने प्रयासों में निरन्तर सफल होंगे। इस शुभ अवसर पर मैं उनको अपनी हार्दिक शुभकामनाएं देता हूं।

–व. वैं. गिरि

अमृत महोत्सव के अवसर पर समाज के विभिन्न वर्गों ने आचार्यश्री के व्यक्तित्व का फिर मूल्यांकन किया। उसकी संक्षिप्त झांकी यहां प्रस्तुत है–

'मैंने देखा कि विगत आधी शताब्दी में तेरापंथ ने अपने साधु-साध्वियों के माध्यम से काफी सशक्त (स्वस्थ) सुखद भूमिका संरचित की है। संस्कृति, राष्ट्र, सदाचार, चिंतन में गतिशीलता, ध्यान और योग के क्षेत्र में नए क्षितिजों का उद्घाटन, आदि कुछ ऐसी जीवन्त उपलब्धियां हैं जिनके लिए आचार्यश्री तुलसीजी को भुलाया नहीं जा सकेगा। सामाजिक और नैतिक क्रांति का जो बीजारोपण उन्होंने किया है, यदि उसे पूरी अप्रमत्तता के साथ सींचा-पोसा गया तो समाज एवं राष्ट्र का अपूर्व कायाकल्प संभव है। साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र में भी आचार्यश्री तुलसीजी के साधु परिवार ने कुछ नए आयाम उन्मुक्त किए हैं। आगम प्रकाशन तथा कोश-संपादन जैसे दुःसाध्य कार्यों को अपनी दैनंदिन आध्यात्मिक साधना पर अविचल रहकर करना, कराना सचमुच एक ऐतिहासिक उपलब्धि है। मुझे विश्वास है स्वाध्याय और प्रकाशन की यह अनुकरणीय (प्रशस्त) परंपरा तेरापंथ में अविच्छिन्न बनी रहेगी।

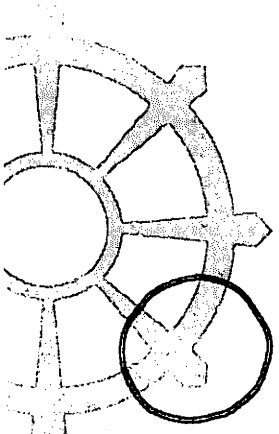

यह गौरव-महिमा का विषय है कि आचार्यश्री तुलसीजी अपने जयवंत आचार्यत्व की अर्द्धशती संपन्न कर रहे हैं। मैंने उन्हें सदैव एक पराक्रमी, साहसी, तेजोमय, उदारचेता, असंकीर्ण साधु मनीषी के रूप में देखा है। वस्तुतः जो परम्पराएं उन्होंने प्रवर्तित की हैं तथा उनके इस प्रवर्तन में जो नव-नूतन संदर्भ प्रकट हुए हैं, वे निखिल मानवता के लिए हितकारी हैं। मैं महत्त्व के इन क्षणों में उनका अभिनंदन करता हूं और साधुवाद देता हूं।'

–एलाचार्य श्री विद्यानंद

'आज देश में सबसे पहली जरूरत शान्ति की है। इस समय देश में हिंसा का घिनौना खेल खेला जा रहा है। ऐसे क्षण में जरूरत है आचार्यश्री तुलसी जैसे महान् संतों की। आज देश की सबसे बड़ी समस्या उसकी एकता और अखण्डता की है। उसे बरकरार तभी रखा जा सकता है जब आचार्यश्री जैसे संत और

उनकी शिष्यमण्डली सब जगह जाकर शांति और अमन के लिए काम करे। आचार्यश्री के प्रयासों से इस कार्य को बल मिलेगा और हम भी पूरा-पूरा सहयोग देंगे।'

–संत लोंगोवाल

आचार्य तुलसी मानवता की सेवा से जुड़े हैं। आपने अणुव्रत के जरिये देश को अनुशासन के धागे में पिरो कर एक नई जागृति पैदा की है। राजस्थान विद्यापीठ द्वारा 'भारत ज्योति' अलंकरण से सम्मानित करना उनके प्रति हमारी श्रद्धा भावना को अभिव्यक्त करना है।

जो काम सरकार नहीं कर सकती उसे हमारे देश के ऋषि-मुनि अच्छी तरह से कर सकते हैं; क्योंकि वे मार्गदर्शक हैं, तपस्वी हैं। मैं चाहता हूं कि सत्य, अहिंसा और विश्वबन्धुत्व का मंत्र दोहराते हुए वे हमें प्रगति पथ पर ले जाएं।'

–ज्ञानी जैलसिंह, राष्ट्रपति

'मानव जन्म विकास के लिए है, विनाश के लिए नहीं।

व्यक्ति और समाज निष्ठा, सादगी और सत्य के अन्वेषण से बढ़ते हैं। आचार और विचार में संयम होना चाहिए और हम सब मनुष्य की एकता के लिए काम करें।

आचार्य तुलसी इन नैतिक मूल्यों के प्रसार के काम में लगे हैं। उनके अमृत-महोत्सव के अवसर पर मैं उनके दीर्घ जीवन की कामना करता हूं।'

नई दिल्ली
९ अप्रैल, १९८५

–राजीव गांधी, प्रधानमंत्री

'यह (आमेट) वह स्थल है जहां आचार्य तुलसी जैसे पवित्र व्यक्तित्व ने चार मास बिताए हैं। इस मंच से बोलते हुए मैं अतिरिक्त आह्लाद की अनुभूति कर रहा हूं। आचार्य तुलसी ने मानवता के लिए अपना संपूर्ण जीवन समर्पित किया है। उन्होंने देश में व्याप्त भ्रष्टाचार और अनैतिकता के विरुद्ध निरन्तर आवाज उठाई है। देश के चारित्रिक स्तर को उन्नत बनाने में वे सदा प्रयत्नशील रहे हैं। मानवीय सेवाओं के पचास वर्ष बीत जाने पर उनका अमृत-महोत्सव मनाना एक सार्थक कदम है। उनके सृजनात्मक एवं रचनात्मक दृष्टिकोण ने संपूर्ण देश को प्रभावित किया है। उसका मूल्यांकन भी 'अमृत कलश संकल्प अभियान' एवं 'जीवन विज्ञान' जैसी रचनात्मक प्रवृत्तियों के माध्यम से हो रहा है। यह एक अनुकरणीय उपक्रम है।'

–अटलबिहारी वाजपेयी, नेता प्रतिपक्ष

'समाज जब छोटे-छोटे झगड़ों में फंसा रहता है तो देश कमजोर होता है। यदि हम इन बेकार के झगड़ों को छोड़कर एक हो जाएं तो देश की ताकत का दुनिया में कोई मुकाबला नहीं कर सकता।

हाल में देश में एक ऐसी शुभ घटना हुई है जिससे देश के सामने उत्पन्न एक बहुत बड़ा खतरा टल गया है। राजीव गांधी व लोंगोवाल के बीच हस्ताक्षरित समझौते में आचार्यश्री तुलसी की बहुत बड़ी भूमिका रही है। प्राचीनकाल में भारत में संतजन जनता के प्रेरणास्रोत रहे हैं। आचार्यश्री ने लोंगोवाल को सद्प्रेरणा देकर बातचीत के लिए तैयार किया। यह महान् कार्य देश को राहत दिलाने वाला सिद्ध हुआ है।'

–शंकरराव चह्वाण, गृहमंत्री, भारत सरकार

आमेट चातुर्मास में जो प्रेम और सौहार्द मिला, उसके लिए मैं कृतज्ञ हूं। संत लोंगोवाल आपसे मिलकर अत्यन्त प्रसन्न और प्रफुलित थे। हमारा समवेत प्रयत्न एक सुखद परिणति में संपन्न हुआ था, पर लंबे समय तक वह परिणति टिक न पाई। एक आततायी की गोली ने संत की हत्या कर दी और तब हमारा वह प्रयत्न कुछ धुंधला गया।

अब मेरे कमजोर कंधों पर बहुत बड़ा दायित्व आ गया है। आप मुझे आशीर्वाद दें कि मैं उसका निर्वहन करने में सफल हो सकूं।

–सुरजीतसिंह बरनाला, मुख्यमंत्री, पंजाब

'व्रतों का महत्त्व तभी है जब वे जीवन में उतारे जाएं। भगवान् महावीर ने जो सिद्धांत प्रतिपादित किया है उसे आचार्य तुलसीजी वर्तमान के संदर्भ में समीचीन रूप से प्रस्तुति दे रहे हैं। आप मानव-मानव के जीवन-व्यवहार में प्रामाणिकता एवं नैतिकता को अवतरित करने का स्तुत्य प्रयास कर रहे हैं।

आचार्यश्री तुलसी आदमी को आदमी बनाने का काम कर रहे हैं। यह महत्त्वपूर्ण है। इनके साहित्य में उपासना-आराधना की बात से अधिक आचरण की बात है। मैं इनके पास समय-समय पर आता रहता हूं। ये साम्प्रदायिकता-मुक्त सोच वाले आचार्य हैं।'

– हरिदेव जोशी, मुख्यमंत्री, राजस्थान

'मुझे प्रसन्नता है कि आज आचार्यश्री के नाम से गंगापुर (मेवाड़) में एक महाविद्यालय बन रहा है। यह एक आदर्श महाविद्यालय होगा। आदर्श और उपयोगी नागरिक तैयार करने के संकल्प को यह परिपूर्ण करेगा। मैं राजस्थान का राज्यपाल बनने के बाद आज पहली बार भीलवाड़ा जिले में आया हूं। आज ऐसे शैक्षणिक और आध्यात्मिक समारोह में सम्मिलित होकर मैं अतिरिक्त प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूं। इस शुभ कार्य के लिए हमें आचार्यश्री का आशीर्वाद मिल रहा है, यह इसके सुनहरे भविष्य का मंगल संकेत है।'

–बसंत दादा पाटिल, राज्यपाल, राजस्थान

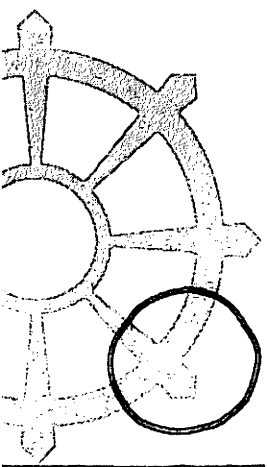

'आज पूरे देश में प्रदूषण बढ़ रहा है। मैंने प्रदूषण-निवारण की दृष्टि से चिपको आंदोलन चलाया है। वृक्ष, पहाड़, प्राकृतिक संपदा के संरक्षण के लिए यह प्रयत्नशील है। आज व्यक्ति प्रदूषण से घिरा हुआ है। शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक प्रदूषण से व्यक्ति का मनोबल, चरित्र बल, नैतिक बल निरंतर गिरता चला जा रहा है। आचार्यश्री तुलसी जन-जन में व्याप्त इस प्रदूषण को मिटाने के लिए कृतसंकल्प हैं। इस दृष्टि से उनके द्वारा चलाया गया अणुव्रत आंदोलन एक महत्त्वपूर्ण कदम है। मैं इसे 'चिपको आंदोलन' से भी अधिक मूल्यवान् मानता हूं। जब तक व्यक्ति का चारित्रिक प्रदूषण नहीं मिटेगा, उसका दृष्टिकोण शुद्ध नहीं होगा तब तक प्राकृतिक प्रदूषण को नहीं मिटाया जा सकेगा। आचार्यश्री के अणुव्रत मिशन से व्यक्ति के भीतर का प्रदूषण मिटेगा और वह बाहरी प्रदूषण को मिटाने के लिए जागरूक बनेगा।'

–सुन्दरलाल बहुगुणा, प्रणेता चिपको आंदोलन

'अब जमाना विज्ञान और अध्यात्म का आया है। आजकल के बहुत सारे वैज्ञानिक अध्यात्म की मूल धारणाओं को सिद्ध करने में लगे हुए हैं। अहिंसा की सार्वभौम शक्ति को वैज्ञानिक लोग भी स्वीकार

करते हैं। जो समाज सबसे अधिक अहिंसक होगा वही सबसे अधिक टिकाऊ होगा। आचार्यजी की इन बातों से मैं प्रभावित हुआ हूं।'

—प्रभाष जोशी, संपादक, जनसत्ता

'तुलसी आचार्य हैं, पर किसी एक सीमित संस्थान के नहीं। तुलसी संत हैं, पर महन्त नहीं। तुलसी तेरापंथ धर्मसंघ के नौवें आचार्य हैं, पर मात्र जैन समुदाय के पथ-प्रदर्शक नहीं। इस युग में यदि किसी मूलतः आध्यात्मिक व्यक्तित्व ने संप्रदाय की सीमारेखाओं से परे समग्र मानवता को अपने अस्तित्व और कर्तृत्व से प्रभावित किया है तो वह केवल आचार्य तुलसी हैं।

यदि आचार्य तुलसी जैसे दो-चार संत इस धरती पर हो जाएं तो निश्चय ही विश्व सर्वविनाश के भयानक अंत से बच सकता है। आत्महीन विज्ञान की अंधी दौड़ से मानवजाति की रक्षा इस अणुयुग में केवल अणुव्रत से हो सकती है, जिसके अनुशास्ता आचार्य तुलसी हैं।'

—नंदकिशोर नौटियाल, संपादक, ब्लिट्ज

'तेरापंथ समाज, जो बेहद पिछड़ा माना जाता था और आज से चालीस वर्ष पूर्व मैं सुनता था कि कोई एक समाज है जिसके बारे में जो कुछ कहा जाता था वह मैं आज नहीं कह सकता। आज वही तेरापंथ समाज जैनों में ही नहीं, समस्त भारत में इस वक्त सबसे अधिक प्रगतिशील, मर्यादित और नैतिक समाज माना जाता है। यह सब आचार्यश्री के द्वारा संभव हुआ है।'

मैं तेरापंथी नहीं हूं। फिर भी बार-बार आचार्यश्री के चरणों में पहुंचता हूं। क्योंकि वे भारतीय संस्कृति के जीवंत आदर्श हैं। भारतीय संस्कृति के केन्द्र में चैतन्य, निर्ग्रन्थता और अकिंचनता है। सत्ता और संपत्ति कभी उसकी धुरी नहीं हो सकते। वर्तमान के मोहासक्त जनजीवन के समक्ष तपोमय और यशोमय जीवन जीने का निदर्शन प्रस्तुत कर रहे हैं आचार्यश्री। इसीलिए मैं चाहता हूं कि भारत और विश्व के मानचित्र में उन्हें प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। यह किसी व्यक्ति की नहीं, आदर्शों की प्रतिष्ठा है।

आचार्य तुलसी से मेरा जितना संपर्क हुआ है, मैंने उन्हें सदा जागृत और तत्पर पाया है। शैथिल्य कहीं नहीं पाता। आसपास का वातावरण उनकी कर्मशीलता से चैतन्य और उन्नत बना दिखता है। स्थिति से हारने वाले वे नहीं हैं। आस्था के बल से उसे चुनौती ही देते रहते हैं। परम्परा से उच्छिन्न नहीं हैं, लेकिन नव्यता के प्रति भी उद्धत हैं। उनके नेतृत्व की क्षमता अभिनंदनीय है। नेतृत्व उस युग का, जिसका प्रत्येक सदस्य निःस्पृह, निःस्वार्थ और स्वार्थमुक्त हो, आसान काम नहीं है। किसी प्रकार का भय और लोभ वहां व्यवस्था में सहारा नहीं दे सकता। अंतर्भूत आत्मतेज ही इस नैतिक नेतृत्व को संभव बनाए रख सकता है। तुलसी में उसी का प्रकाश दिखता है। इस दृष्टि से आचार्य तुलसी सचमुच युगप्रवर्तन का कार्य कर रहे हैं।

—जैनेन्द्र कुमार, सुप्रसिद्ध विचारक

'आचार्य तुलसी किसी को भी घर-बार छोड़ कर साधु बनने के लिए नहीं कहते। उनका लक्ष्य तो यह है कि मनुष्य जो भी कार्य करता है उसे करता रहे; लेकिन पूरी सचाई, ईमानदारी और निष्ठा के साथ। यह एक ऐसा धर्म है जिसे मानव-धर्म की संज्ञा दी जा सकती है। लोकमंगल के महान् उद्देश्य को लेकर वे नैतिकता के मार्ग पर संपूर्ण समाज और राष्ट्र को आगे ले जाना चाहते हैं।

उनके हृदय में बड़ा दर्द है। जब वे किसी अभावग्रस्त अथवा दुःखी व्यक्ति को देखते हैं तो उनकी आत्मा तिलमिला उठती है। वे चाहते हैं कि एक ओर धन का इतना ऊंचा ढेर न हो कि दूसरी ओर अपने आप गहरा गड्ढा हो जाए। वे समाज में सबको समान रूप से विकास की सुविधा प्राप्त कराना चाहते हैं।

आचार्यश्री का मार्ग अहिंसा का मार्ग है, नीति का मार्ग है, मानवता को परिपुष्ट करने का मार्ग है। गांधीजी ने कहा था कि वह रामराज्य की स्थापना करना चाहते हैं। आचार्य तुलसी मानव की सुप्त चेतना को जागृत करके समाज को अहिंसा के उस पथ पर ले जाना चाहते हैं जो सबके कल्याण का पथ है।'

—यशपाल जैन, सुप्रसिद्ध साहित्यकार

'एक समय था जब मैं तेरापंथ का कट्टर आलोचक था पर आचार्यश्री तुलसी के दूरदर्शी चिंतन द्वारा संपादित व्यापक कार्यक्रमों ने मुझे तेरापंथ का पूरा समर्थक और प्रशंसक बना दिया। आचार्यश्री ने तेरापंथ संघ को युगीन मोड़ दिया है। तीर्थंकर के समवसरण में जैसे आर्य-अनार्य सबको जाने का अधिकार है वैसे ही आचार्यश्री ने हर वर्ग और जाति के व्यक्ति को अपने पास आने का अवकाश दिया है। तेरापंथ की सबसे अधिक किसी विशेषता ने मुझे प्रभावित किया है तो वह यही कि अप्रमत्तता, सतत जागरूकता और बेजोड़ अनुशासन। आचार्यश्री ने नारी-विकास में बहुत बड़ा योगदान दिया है। पारमार्थिक शिक्षण संस्था, समणी दीक्षा आदि इसी विकास की निष्पत्तियां हैं।'

—दलसुख भाई मालवणिया, जैन धर्म-दर्शन के प्रखर विद्वान्

'आचार्यश्री तुलसी के नैतिक धार्मिक कार्यक्रमों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे जैन उसे मानते हैं जो प्राणिमात्र की भलाई के लिए जी रहा है, एक निर्व्यसन राष्ट्रीय जीवन को बिता रहा है और अपने चारों ओर भाईचारे की रोशनी जगमगा रहा है। जहां एक ओर उन्होंने जीवन की सुचारु रूप से जीने की कला प्रवर्तित की, वहीं दूसरी ओर उन्होंने जीवन को एक विज्ञान के रूप में भी निरूपित किया। आचार्यश्री सिर्फ शब्द के अंतरंग में गूंजते, छलांग भरते, प्रकट होने के लिए छटपटाते अर्थ तक भी गए। इसलिए उन्होंने धर्म को धर्मान्धता के कर्दम से खींच निकाला और उसे संप्रदायातीत उज्ज्वलताओं के बीच कूदने-फुदकने का अवसर दिया।

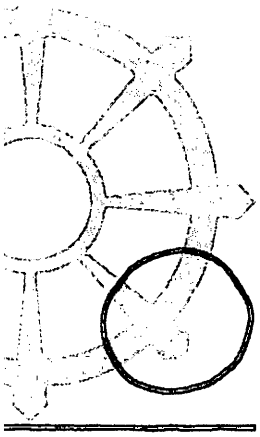

'जीवन-विज्ञान' परंपरित शिक्षा के क्षेत्र में कुछ ऐसे नए आयाम उन्मुक्त करता है जो व्यक्ति को संकीर्णताओं की कैद से मुक्त करते हैं और उसे सत्य की खोज की नई स्फूर्ति प्रदान करते हैं। वास्तव में आचार्यश्री तुलसी ने धर्म और विज्ञान को एक ऐसे अनुबंध पर हस्ताक्षर करने पर विवश किया है जो आगे चलकर युद्ध से युद्ध करने में समर्थ हो सकेगा।

धर्म के बंद दरवाजों, खिड़कियों और उजालदानों को खोलने तथा ताजगी को भीतर आने की अनुमति देने का काम भी आचार्यश्री तुलसी ने किया है। उन्होंने धर्म को किसी एक बाड़े में कैद नहीं होने दिया। वरन् उसे एक स्वाधीन पक्षी की तरह पंख पसारने का हर मौका दिया। नारी को स्वाधीन करने की पहल भी उन्होंने की। तेरापंथ की साध्वियों को परंपरित ढांचे में नवस्वाधीनता प्रदान की। उन्हें पुनः प्रतिष्ठित किया। यह एक ऐसा कार्य था जो अब तक कोई धर्माचार्य नहीं कर सका था। 'समणी' नामक एक स्वतंत्र नए साध्वी-वर्ग की स्थापना कर उन्होंने लोककल्याण के क्षेत्र में नए क्षितिज उन्मुक्त किए। आत्मकल्याण के साथ लोककल्याण को जोड़कर उन्होंने धर्म को नई आभा प्रदान की है।

—नेमीचन्द जैन, साहित्यकार

'राधाकृष्णन्, विवेकानंद, अरविंद, गांधी और विनोबा की परम्परा में, उसके विकास-क्रम में आचार्यश्री तुलसी एक ज्योतिर्मय, सशक्त हस्ताक्षर हैं। इस देश के नैतिक पुनर्जागरण में अपने जीवन का प्रत्येक क्षण, प्रत्येक श्वास अर्पित कर रहे हैं। निस्संग भाव से भारत के सांस्कृतिक नवोत्थान में आचार्य तुलसी जैसी विभूतियां जो कुछ काम कर रही हैं, उससे इस देश का अंधकार आहत हो रहा है।

तेरापंथी समाज का देश की एक सुगठित, अनुशासित, संस्कारसंपन्न और धर्मानुरागी पीढ़ी बनाने के लिए आचार्य तुलसी जिस संकल्प-शक्ति से अविश्रान्त जुटे हुए हैं और उसके लिए जितना तपोधन अपेक्षित है, उससे शत-सहस्र गुना संचित (अर्जित) तपोधन का समाजीकरण कर रहे हैं, वह एक ठोस उपलब्धि है, जिस पर देश आज नहीं तो कल अवश्य आश्चर्य करेगा।'

—रत्नेश कुसुमाकर, साहित्यकार

अणुव्रत का व्यावहारिक सार यह है कि धर्म केवल परलोक को सुधारने के लिए नहीं होना चाहिए। धर्म का उपासना पक्ष गौण और चारित्रिक पक्ष प्रधान होना चाहिए। धर्म का स्थान प्रथम और उपासना का स्थान द्वितीय होना चाहिए। धर्म या चरित्र का प्रश्न राजनीति से परे होना चाहिए। उसमें राजनीति का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

क्या जो राजनीतिक नेता आचार्यश्री के सम्मुख जाते हैं और उनके उपदेशों को श्रद्धा से सुनने लगते हैं, उनके कार्य-व्यवहार पर कोई प्रभाव पड़ता है? यही बात व्यापार-व्यवसाय के प्रतिनिधियों को लेकर पूछी जा सकती है। साक्षात् दर्शक विश्वासपूर्वक कहते हैं कि अवश्य एक मात्रा में। है तो यह मात्रा बहुत ही कम, ऐसा कहने वाले कम नहीं हैं। इससे विचलित हुए बिना श्रेयस्कर का अनुमोदन और प्रतिपादन करते रहना तो एक प्रकार की तपस्या है। श्री तुलसी की इसके लिए आलोचना नहीं, बल्कि सराहना की जानी चाहिए।

जो अच्छा न लगे, और जो स्वीकार्य नहीं हो उसे छोड़ दें तो भी श्री तुलसी ने मानव जाति की एकता, पारमार्थिक सेवा, साम्प्रदायिक सद्भावना, साहित्य रचना एवं प्रकाशन, चरित्र निर्माण तथा राष्ट्र-सेवा के लिए इतना अवदान दिया है कि उनकी कीर्ति को अवश्य अमृत प्राप्त होगा।'

—राजेन्द्रशंकर भट्ट, पत्रकार

'तुम अमृत के रूप, कर दिया
तुमने क्षर को अक्षर।
धन्य हो गया तुम्हें प्रकट कर
यह भव का रत्नाकर।'

—कन्हैयालाल सेठिया, सुप्रसिद्ध कवि

'भारत एक तपोभूमि है। आचार्यप्रवर अपने महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमों के द्वारा उसकी तेजस्विता को दिन-प्रतिदिन वृद्धिंगत कर रहे हैं। शिक्षा का मूल आधार है संयम। अच्छी शिक्षा अच्छे संस्कारों की जननी है। आचार्यश्री द्वारा प्रस्तुत जीवन-विज्ञान इसी अपेक्षा की संपूर्ति करता है।'

जैन आगमों के संपादन एवं विवेचन का जो महत्त्वपूर्ण कार्य आचार्यश्री द्वारा संपादित हो रहा है वह जैन धर्म और दर्शन को व्यापक बनाने में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। यह कार्य अविराम गति से चलता रहे, यह मैं अपेक्षा करता हूं।'

–दौलतसिंह कोठारी, कुलपति, नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली

राजस्थान शिक्षक संघ के अध्यक्ष श्री बिशनसिंह शेखावत ने एक लाख साठ हजार शिक्षकों की ओर से आचार्यवर को अपनी अभिवंदना प्रस्तुत करते हुए कहा–'आचार्य तुलसी ने देश में चरित्र निर्माण की दिशा में जो ठोस कार्य किया है वह अभिनंदनीय है। राजस्थान का शिक्षक समुदाय चरित्र निर्माण के इस महान् यज्ञ में आपके साथ है।'

राजस्थान विश्वविद्यालय छात्रसंघ ने भी इस अवसर पर २० सितम्बर, १९८५ को एक प्रस्ताव पारित किया। वह इस प्रकार है–

'लोकतंत्र में अपने हितों और अधिकारों के लिए सबको संघर्ष करने का अधिकार है। किंतु वह संघर्ष अहिंसक मार्ग से होना चाहिए।' अणुव्रत अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी ने जहां अन्याय का प्रतिकार जरूरी बताया है, वहीं शांति और अहिंसा के मार्ग पर भी विशेष बल दिया है।

हमारा संगठन अहिंसा के मार्ग में आस्था रखता है। आचार्यश्री तुलसी के आचार्य पदारोहण के ५० वर्ष की सम्पन्नता के उपलक्ष में आयोजित अमृत-महोत्सव के अवसर पर हमारा संगठन यह संकल्प प्रकट करता है कि यदि कोई भी समस्या हमारे सामने होगी, तो शांति और अहिंसा के मार्ग से हम उसका समाधान करेंगे, हिंसा और तोड़फोड़ मूलक प्रवृत्तियों से दूर रहेंगे।

हस्ताक्षर–**सुभाष स्वामी**
महासचिव

चन्द्रशेखर खूंटेटा
उपाध्यक्ष

राजस्थान समग्र सेवा संघ के अधिवेशन में पारित प्रस्ताव

संघ शराब की बुराई को समाप्त करने की दिशा में अणुव्रत अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी महाराज के इस रचनात्मक कार्य का अभिनंदन करता है जिसके अंतर्गत आचार्यश्री को शराब न पीने वालों के २५ हजार संकल्प-पत्र भेंट किए जा रहे हैं। इससे हजारों शराब पीने वालों और उनके पीड़ित परिवारजनों को अपने जीवन को सही दिशा में मोड़ने की प्रेरणा मिलेगी। ये प्रयत्न शराबबन्दी आंदोलन को गति देने में प्रेरणा का काम करते रहेंगे।

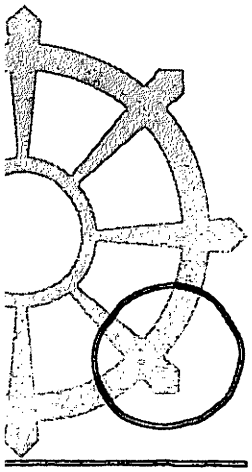

'भारत ज्योति अलंकरण'

आचार्यश्री मात्र बाईस वर्ष की अवस्था में तेरापंथ धर्मसंघ के आचार्य बने। इतनी छोटी अवस्था में आचार्य बनना इतिहास की विरल घटना है। आचार्य बनने के बाद आपने आचार्य-पद को जो गरिमा दी उससे आपका आचार्यत्व व्यापक बन गया। चिन्तनशील लोगों ने कहा–'हम आपको केवल तेरापंथ का आचार्य नहीं मानते, हम आपको धर्म का आचार्य मानते हैं।'

राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर ने संस्थान के स्वर्ण जयंती महोत्सव के अवसर पर आचार्यश्री तुलसी को संस्थान के सर्वोच्च सम्मान 'भारत-ज्योति' से सम्मानित करने का निर्णय लिया। राजस्थान विद्यापीठ

के संस्थापक उपकुलपति श्री जनार्दन राय नागर ने इस निर्णय की सूचना २ अप्रैल, १९८५ को डॉ. देव कोठारी के माध्यम से एक पत्र के साथ प्रेषित की। पत्र के कुछ अंश इस प्रकार हैं–

'नवीन भारत के आध्यात्मिक एवं सामाजिक नवोन्मेष तथा उत्थान के लिए 'अणुव्रत' सुदर्शन ही नहीं, शक्ति, संयम तथा सौन्दर्य प्रदान करनेवाला शिक्षात्मक आन्दोलन और प्रवृत्ति है। महात्मा गांधी तथा महर्षि दयानन्द के पश्चात् आप श्रीमद् ने ही अणुव्रत द्वारा भारत को ही नहीं, विश्व मानव को शांति, संयम तथा आत्मज्योति प्राप्त करने का मंत्र दिया है।

सौभाग्य से आप श्रीमद् का 'अमृत महोत्सव' राजस्थान विद्यापीठ कुल की स्वर्ण जयन्ती के ही वर्ष में पड़ा है। अतः सोना और सुगन्ध स्वरूप इस ऐतिहासिक अवसर पर हम सब आपको 'भारत ज्योति' के सर्वोच्च सम्बोधन से पुकारेंगे।'

१४ फरवरी, १९८६ को उदयपुर में तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने आचार्यवर को भारत ज्योति अलंकरण और अभिनंदन पत्र उपहृत किया। राष्ट्रपति महोदय ने अपने प्रभावशाली वक्तव्य में आचार्यश्री के महान् अवदानों का उन्मुक्त भाव से उल्लेख किया।

आचार्यवर ने प्रस्तुत सम्मान के संदर्भ में कहा–'राजस्थान विद्यापीठ परिवार ने मुझे 'भारत ज्योति' अलंकरण से सम्मानित किया है। पर मैं चाहता हूं कि मैं आत्मज्योति बनूं, जो कि मेरा लक्ष्य है। आज मनुष्य अपनी पहचान खो रहा है। उसे अपनी पहचान देने की जरूरत है।'

राष्ट्रीय एकता परिषद् में मनोनयन

सन् १९९० में भारत सरकार द्वारा तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री वी.पी. सिंह के नेतृत्व में राष्ट्रीय एकता परिषद् का गठन किया गया। उस एक सौ एक सदस्यीय राष्ट्रीय एकता परिषद् में सभी राजनैतिक पार्टियों के नेता, केन्द्रीय मंत्री, मुख्यमंत्री आदि सदस्य मनोनीत हुए। उनमें एक प्रमुख नाम आचार्य तुलसी का था। देश के धर्माचार्यों और संतों में केवल आचार्य तुलसी का मनोनयन पूज्य गुरुदेव के असाम्प्रदायिक व्यक्तित्व और मानव हितकारी कर्तृत्व का गरिमामय मूल्यांकन था। न केवल तेरापंथ समाज और जैन समाज, अपितु मानवीय मूल्यों में आस्था रखने वाले हर व्यक्ति ने इसे अत्यन्त गौरवास्पद घटना के रूप में स्वीकार किया।

११ अप्रैल, १९९० को नवगठित राष्ट्रीय एकता परिषद् की प्रथम मीटिंग में सम्मिलित होने का आमंत्रण मिला। आचार्यवर का उस दिन मारवाड़-संभाग में आनंदपुर (कालू) ग्राम में प्रवास था। आचार्यवर ने अपने विचार संदेश के रूप में संप्रेषित किए। संदेश की भाषा इस प्रकार है–

'राष्ट्रीय एकता परिषद् में अपने चयन को मैं चरित्र का चयन मानता हूं। मेरा मुख्य कार्य है अणुव्रत। अणुव्रत का अर्थ है चरित्र-निर्माण और चरित्र-निर्माण का अर्थ है अणुव्रत। राष्ट्रीय एकता के लिए राष्ट्रीय चरित्र को सर्वाधिक प्रधानता दी जाए, यह मेरा विनम्र अभिमत है। मेरी दृष्टि में राष्ट्रीय एकता की तीन प्रमुख बाधाएं हैं–१. अलगाववादी मनोवृत्ति २. साम्प्रदायिक तनाव ३. जाति (दलित वर्ग के प्रति उच्च वर्ग की मनोवृत्ति)।

इन समस्याओं का समाधान किसी एक शक्ति के पास नहीं है। इसके लिए राजनीति के नेताओं,

धर्मगुरुओं और बौद्धिक वर्ग का समन्वित प्रयास जरूरी है। अलगाववादी प्रवृत्ति से निबटने का मुख्य दायित्व राजनीतिक दलों पर, साम्प्रदायिक और जातीय समस्याओं से निबटने का मुख्य दायित्व धर्मगुरुओं पर हो तथा प्रबुद्ध वर्ग का योग दोनों को प्राप्त हो। मुझे लगता है कि दायित्व का विभाजन अत्यन्त आवश्यक है और यह परिषद् के प्रथम अधिवेशन में होना चाहिए। चिन्तन के पश्चात् क्रियान्विति का दायित्व इस दिशा में आगे बढ़ने का महत्त्वपूर्ण कदम होगा।

मैं पदयात्री हूं, इसलिए इस परिषद् के अधिवेशन में भाग लेने की हार्दिक इच्छा होते हुए भी आ नहीं सकता। फिर भी मैं महसूस कर रहा हूं कि अभी आप लोगों के बीच में हूं। राष्ट्रीय एकता के लिए जो भी चिन्तन और कार्यक्रम बनेगा, मैं उसके साथ हूं और यथासंभव मेरी एवं मेरे धर्मसंघ की शक्ति निरन्तर इस कार्य में लगती रहेगी।'

भारत सरकार ने आचार्यवर के इस संदेश को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हुए आगामी मीटिंगों में भी संदेश प्रदान करने का अनुरोध किया। इस संदर्भ में गृहमंत्रालय के संयुक्त सचिव श्री सनत कौल ने लिखा–

'आपके पत्र दिनांक ७/४/१९९०, जो कि प्रधानमंत्रीजी के नाम से संबोधित है, के संदर्भ में मुझे यह कहने का निर्देश मिला है कि पिछली राष्ट्रीय एकता परिषद् की ११ अप्रैल, १९९० को हुई बैठक में आप द्वारा भेजा गया संदेश परिषद् के सभी सदस्यों को बांटा गया था। यह तरीका यदि परिषद् की भविष्य की बैठकों में भी अपनाया जाए तो लाभकारी रहेगा।'

आचार्यवर सन् १९९१ में पुनर्गठित राष्ट्रीय एकता परिषद् के भी सदस्य मनोनीत हुए। उनके चिन्तन और विचारों में देश के नेतृ वर्ग ने एक नए आलोक का अनुभव किया।

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार

प्राणीमात्र की एकता का लघु संस्करण है मानवीय एकता। मानवीय एकता का लघुतर संस्करण है राष्ट्रीय एकता। राष्ट्रीय एकता का लघुतम संस्करण है सामाजिक एकता। प्राणीमात्र की एकता पर्यावरण की सुरक्षा का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। मानवीय एकता शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का मौलिक सूत्र है। राष्ट्रीय एकता विकास का उपादान सूत्र है। सामाजिक एकता सद्भावना का आधार सूत्र है। आचार्यश्री तुलसी ने इन चारों स्तरों पर काम किया। उनका मत था–व्यापक हित को ध्यान में रखे बिना सीमित हित को भी साधा नहीं जा सकता।

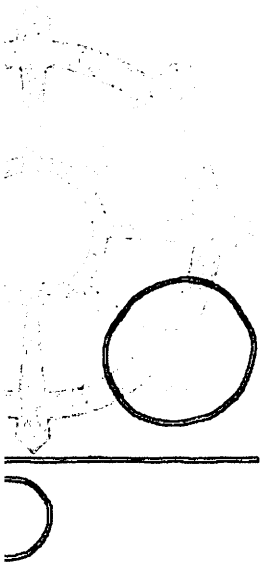

पर्यावरण की समस्या जागतिक समस्या है। इस समस्या के समाधान का रचनात्मक पहलू माना जाता है पर्यावरण प्रदूषण को मिटाने के साधनों का विकास किन्तु इसका नकारात्मक पहलू अधिक मूल्यवान है। अनावश्यक हिंसा, जंगलों की कटाई, पानी का अपव्यय, भूमि का अतिरिक्त दोहन–ये सब चले और प्रदूषण को मिटाने के लिए कुछ विकल्प खोजे जाएं। इन दोनों में संगति नहीं है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर अनावश्यक हिंसा के वर्जन पर बल दिया गया।

मानवीय एकता का बाधक तत्त्व है राष्ट्रवाद अथवा राष्ट्रीय कट्टरता। अपने राष्ट्र की समृद्धि के लिए दूसरे राष्ट्र के हितों को कुचलना–यह कूटनीति का चातुर्यपूर्ण जाल है। इस जाल को फैलाने में अनेक राष्ट्र लगे हुए हैं। अणुव्रत ने राष्ट्रवाद की सीमा को लांघकर मानवीय एकता का संदेश जन-जन तक पहुंचाया।

राष्ट्रीय एकता कोई राजनीति अथवा चुनावी घोषणापत्र नहीं है। भाषा, प्रांत और सम्प्रदाय की भेदधारा में सांस्कृतिक अभेद-स्थापना ही राष्ट्रीय एकता का प्राणतत्त्व है। आचार्यश्री ने आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों का उन्नयन कर राष्ट्रीय एकता की आधार भित्ति को परिपुष्ट किया। वास्तव में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की विस्मृति ही राष्ट्रीय एकता का विखंडन करती है। उसकी स्मृति अथवा चेतना जागृत रहे, तो राष्ट्रीय एकता कभी विखंडित नहीं हो सकती। अनेक सम्प्रदायों के तुमुल-रव में धर्म की आवाज सुनाई नहीं देती। इस दशा में सम्प्रदाय-विहीन या मानवधर्म की आवाज को बुलंद करना सचमुच एक सूझ-बूझपूर्ण और साहसिक कदम था।

हिंसा की प्रबलता होती है, राष्ट्रीय एकता का विखंडन। समाज, राष्ट्र या मानव, उन्हें जोड़ने का एक ही साधन है और वह है अहिंसा। असंतुलित अर्थ-व्यवस्था हिंसा को बढ़ावा देती है। हिंसा और अर्थसंग्रह–दोनों में तादात्म्य संबंध है। हिंसा को परिग्रह की भाषा में और परिग्रह को हिंसा की भाषा में प्रस्तुत किया जा सकता है। परिग्रह और हिंसा की समस्या को केवल दण्डशक्ति से नहीं सुलझाया जा सकता।

आचार्यश्री एकता के लिए सदा प्रयत्नशील रहे। आपने जैन एकता के लिए पंचसूत्री कार्यक्रम का प्रतिपादन किया और उसके लिए अनेक प्रयत्न भी किए। एकता एक लक्ष्य है, संकल्प है। वह कोई आरोपण नहीं है। इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार समिति ने एकता के प्रयत्न का मूल्यांकन किया। अध्यात्म और नैतिकता के क्षेत्र में काम करने वाले लोगों ने अनुभव किया कि इससे नैतिकता को और अधिक बल मिलेगा।

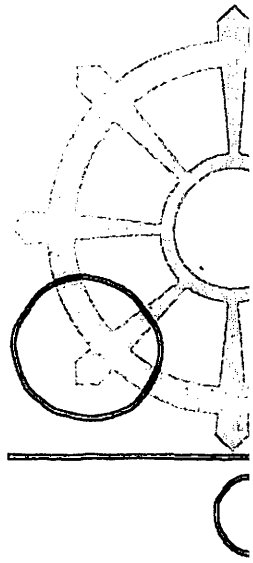

धर्मचक्र का प्रवर्तन

११ अक्टूबर, १९९३ को इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार चयन समिति के सचिव श्री रामेश्वर ठाकुर ने इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार के लिए आचार्यश्री तुलसी के नाम की उद्घोषणा की। ३१ अक्टूबर, १९९३ को तीनमूर्ति भवन दिल्ली में एक भव्य एवं गरिमामय कार्यक्रम में प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिंह राव ने आचार्य तुलसी को अतिशय आदर और श्रद्धा के साथ यह पुरस्कार प्रदान किया। आचार्यवर उस समय राजस्थान में थे इसलिए उनके प्रतिनिधि के रूप में मुनि संगीतकुमारजी ने उसे ग्रहण किया। इस कार्यक्रम में श्रीमती सोनिया गांधी, वित्तमंत्री मनमोहन सिंह सहित अनेक केन्द्रीय मंत्री एवं वरिष्ठ राजनैतिक उपस्थित थे।

आचार्यवर को समर्पित प्रशस्ति पत्र की भाषा के कुछ अंश इस प्रकार हैं–'इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकीकरण पुरस्कार की स्थापना सब प्रकार के धार्मिक आधारों और संकुचित वर्गों से हटकर ऊंचे मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए की गई थी। इन मूल्यों की प्रतिष्ठा युगों तक अशोक और अकबर ने और आधुनिक समय में महात्मा गांधी, पंडित जवाहरलाल नेहरू और श्रीमती इन्दिरा गांधी सरीखे भारत के महान् सपूतों ने की है। इन्दिराजी करुणा, सहिष्णुता और सामंजस्य की महान् भारतीय परम्पराओं की एक सच्ची सन्तति थीं। उन्होंने साम्प्रदायिक सौहार्द बढ़ाते हुए और निर्धनों तथा उपेक्षितों की मदद करते हुए भारत की अखंडता और एकता को सुदृढ़ करने के लिए अत्यधिक योगदान किया था। उन आदर्शों और उनके लिए उनकी प्रतिबद्धता के प्रति श्रद्धा सुमन अर्पित करने के लिए आठ वर्ष पहले एक पुरस्कार का शुभारम्भ किया गया था। प्रतिवर्ष सलाहकार समिति को इन लक्ष्यों के प्रति समर्पित एक व्यक्ति अथवा संस्था को सम्मानित करने का गौरव प्राप्त हुआ है।

समिति ने इस वर्ष अणुव्रत आंदोलन के प्रणेता और महान् मानवतावादी आचार्यश्री तुलसी को सम्मानित करने का निश्चित किया है। आचार्यश्री तुलसी जैन धर्म के तेरापंथ के आचार्य हैं। उनका चिन्तन और दृष्टिकोण साम्प्रदायिक संकीर्णता से सर्वथा मुक्त है। उनके ही शब्दों में उनका परिचय है–'मैं पहले मानव हूं, उसके बाद धार्मिक हूं। तत्पश्चात् जैन हूं, तेरापंथ का आचार्य हूं।' आचार्यश्री तुलसी के इसी असाम्प्रदायिक और व्यापक दृष्टिकोण ने उन्हें मानवतावादी धर्माचार्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने धर्म को रूढ़िवाद और अनावश्यक कर्मकाण्ड से बचाकर अध्यात्म और नैतिकताप्रधान बनाने की अपेक्षा की जो जाति, वर्ग और सम्प्रदाय की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर हो।

राष्ट्र में अहिंसा और राष्ट्रीय एकीकरण के लिए आचार्यश्री तुलसी ने ६ जुलाई, १९८५ को संत लोंगोवाल को बातचीत करने के लिए प्रेरित करके समझौते का मार्ग प्रशस्त किया। राजीव-लोंगोवाल के साथ हुए ऐतिहासिक पंजाब समझौते के मूल में आचार्यश्री तुलसी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।

आचार्यश्री तुलसी ने अनुभव किया कि जनता के नैतिक और चारित्रिक विकास की ओर ध्यान देना सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। इस बुनियाद को मजबूत बनाकर ही राष्ट्र को संतुलित विकास की दिशा में आगे बढ़ाया जा सकता है। देश के विभाजन और आजादी के समय उठे साम्प्रदायिक उन्माद को शान्त करने के लिए उन्होंने १९४९ में 'अणुव्रत आंदोलन' का सूत्रपात किया। राष्ट्रीय एकता स्थापित करने के उद्देश्य से भारतीय ऋषि परम्परा के प्रतीक पुरुष आचार्यश्री तुलसी ने यह सन्देश दिया–'इन्सान पहले इन्सान, फिर हिन्दू या मुसलमान'। परिणामतः एक गरीब की झोंपड़ी से लेकर राष्ट्रपति भवन तक अणुव्रत की आवाज पहुंची और इससे भी आगे अंतरराष्ट्रीय मंचों पर भी इसका स्वर गूंजा। लोगों ने इसको स्वीकार ही नहीं किया बल्कि व्यापक समर्थन और सहयोग भी दिया। दक्षिण भारत की अपनी पदयात्रा के दौरान सन् १९६९ में तमिलनाडु के अन्नामलाई विश्वविद्यालय में हिन्दी विरोधी छात्रों के समक्ष हिन्दी में अपना ओजस्वी भाषण देकर राष्ट्रभाषा हिन्दी के महत्त्व को उजागर ही नहीं किया बल्कि हिन्दी विरोधी आग का शमन भी किया। अणुव्रत के नैतिकतामूलक कार्यक्रम को राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू, पण्डित जवाहरलाल नेहरू, जयप्रकाश नारायण, आचार्य विनोबा भावे, जैनेन्द्र कुमार आदि अनेक चिन्तनशील व्यक्तियों का सहयोग और समर्थन मिला।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

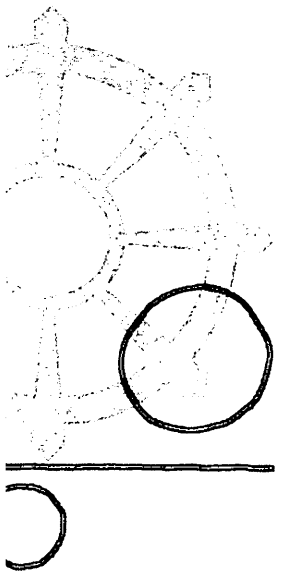

सन् १९५८ में आचार्य तुलसी ने सर्वधर्म सद्भावना और राष्ट्रीय एकीकरण की अभिवृद्धि के लिए पंचसूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया।

आचार्यश्री तुलसी ने अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय की दिशा में एक अभिनव प्रयोग कर चिन्तनशील वर्गों का ध्यान अहिंसा की ओर आकृष्ट किया। उनके नेतृत्व में सन् १९८८ में लाडनूं और सन् १९९१ में राजसमंद में अहिंसा प्रशिक्षण पर अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किये गये तथा राजसमंद-घोषणा को संयुक्त राष्ट्र संघ में मान्यता प्राप्त दस्तावेज के रूप में स्वीकार किया गया। नारी जागरण, संस्कार निर्माण, रूढ़ि उन्मूलन और सामाजिक बुराइयों के बहिष्कार हेतु वे समर्पित रहे हैं।

आचार्यश्री तुलसी ने देश के किसी भी राजनीतिक दल से अप्रतिबद्ध रहते हुए निष्पक्ष और तटस्थ भाव से देश की राजनीति को अपने व्यक्तित्व और कर्तृत्व से प्रभावित किया है। सभी धर्मों, वर्गों और जातियों के लोगों को एक मंच पर लाने और देश में साम्प्रदायिक सौहार्द का वातावरण बनाने तथा राष्ट्रीय

एकीकरण को सुदृढ़ करने में आचार्यश्री तुलसी और उनके सैकड़ों शिष्य-शिष्याओं ने अद्‌भुत सफलता प्राप्त की है।

हमारी मंगलकामना है कि वे जीवन विकास की विभिन्न दिशाओं में और प्रभावी ढंग से कार्य करते हुए दीर्घकाल तक राष्ट्रीय भावनात्मक एकता का मार्ग प्रशस्त करते रहें।'

इस अवसर पर प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिंह राव का भावपूर्ण और हृदयस्पर्शी वक्तव्य हुआ। वक्तव्य के कुछ अंश इस प्रकार हैं–'हमारी संस्कृति हजारों वर्ष पुरानी है। आचार्यश्री तुलसी उस श्रमण परम्परा के प्रतीक पुरुष हैं, जिसने भगवान् बुद्ध एवं भगवान् महावीर जैसी मानवतावादी विभूतियों को जन्म दिया। उन्होंने मानव जाति के कष्टों को दूर करने के लिए अपनी महान् साधना से सत्य का मार्ग दिखाया। आचार्यश्री ने अपने जीवन और कार्यों के द्वारा आदमी-आदमी के बीच बढ़ती दूरियों और वैमनस्य को दूर करने के लिए निरन्तर प्रयास किया। विगत चार दशकों से वे अणुव्रत आंदोलन के द्वारा देश-विदेश में जीवन-मूल्यों की स्थापना करने के लिए कठोर साधना कर रहे हैं। मैं व्यक्तिगत रूप से उनके इस आंदोलन से प्रभावित रहा हूं।

आज हमारे सामने सबसे बड़ा खतरा यह है कि हमारी राष्ट्रीयता की भावना कुंठित हो रही है। सांप्रदायिकता ने अपना सिर उठाकर वर्तमान स्थिति को और भी विकृत कर दिया है। मैं पहले भी कई बार कह चुका हूं कि हमारे संविधान में वर्णित 'धर्म-निरपेक्षता' का अर्थ धर्मविहीनता नहीं है बल्कि सब धर्मों के प्रति समान आदरभाव है, सम्प्रदाय विशेष की निरपेक्षता है।

मैं यह भी कह सकता हूं कि भारतीय श्रमण-परम्परा ने धार्मिक कर्मकांड को गौण मानकर जिस नैतिक जीवन की प्रमुखता पर जोर दिया है, वही हमारे राष्ट्र की संजीवन शक्ति है। आचार्यश्री तुलसी उन्हीं नैतिक मूल्यों के प्रति न केवल समर्पित रहे हैं, अपनी विभिन्न प्रवृत्तियों के द्वारा उसे पोषण भी देते रहे हैं।

आचार्यश्री तुलसी अणुव्रत के द्वारा मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए बराबर प्रेरित करते हैं। उनका कहना है–'अणुव्रत चरित्र निर्माण का आंदोलन है, जीवन शुद्धि का आंदोलन है, संकल्प शक्ति के विकास का आंदोलन है, आत्मदर्शन का आंदोलन है। राष्ट्र की एकता और अखण्डता उसी से सम्पादित हो सकती है।

मैं एक बार पुनः आचार्यश्री तुलसी को सम्मानित करते हुए गौरव का अनुभव करता हूं और उन्हें अपनी मंगलकामना प्रस्तुत करता हूं कि वे इसी तरह भारतीय संस्कृति के प्रतीक पुरुष के रूप में हमें दीर्घकाल तक प्रेरित करते रहें।'

आचार्यवर ने अपने स्वीकृति भाषण में कहा–'ईस्वी सन् १९५० में अणुव्रत आंदोलन का प्रथम अधिवेशन दिल्ली में हुआ। भारतीय तथा विदेशी पत्रों में उसकी प्रमुखता से चर्चा हुई। अध्यात्म की भित्ति पर आधारित नैतिकता, मानवीय एकता, साम्प्रदायिक सद्‌भाव, जातीय सौहार्द आदि मूल्यों का व्यापक प्रसार किया गया। भारत की आजादी के साथ ही मन में एक सहज कल्पना उठी कि स्वतंत्रता के साथ-साथ नैतिकता और आत्मानुशासन का विकास होना चाहिए। उसी कल्पना का फलित है अणुव्रत आंदोलन।

मैंने हिन्दुस्तान के बहुत बड़े भाग की पदयात्रा सैकड़ों साधु-साध्वियों और कार्यकर्ताओं के साथ की। मैंने दक्षिण भारत की यात्रा तब की जब वहां हिन्दी-विरोधी आंदोलन उग्र था। उस वातावरण को

शान्त करने में भी यथासंभव कार्य किया। देशी-विदेशी संचार माध्यमों ने हमारे कार्य का अंकन किया। यह कार्यक्रम गरीब की झोंपड़ी से लेकर बड़े-बड़े शिक्षा संस्थानों, श्रमिकों, व्यापारियों, बुद्धिजीवियों, राज्य-कर्मचारियों, जेलों तथा अन्य अनेक क्षेत्रों में चला। पंजाब की समस्या के संदर्भ में प्रधानमंत्री राजीव गांधी और लोंगोवाल समझौते में भी इस आंदोलन ने पृष्ठभूमि निर्माण का काम किया।

मैं केवल आत्मनिष्ठा और अहिंसा की साधना की दृष्टि से काम कर रहा हूं। न कोई आकांक्षा है और न कोई स्पर्द्धा। मेरे कार्य का कोई मूल्यांकन करता है या नहीं, इसकी भी कोई चिन्ता नहीं। मैंने विरोधों में कभी हीनभावना का अनुभव नहीं किया और प्रशस्तियों में कभी अहंकार को पुष्ट नहीं किया। दोनों स्थितियों में सम रहने की साधना ही मेरी अहिंसा है।

'इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार समिति' ने अणुव्रत के परिपार्श्व में होने वाले बहुमुखी कार्य का अंकन किया और पुरस्कार की घोषणा की। इससे अध्यात्म और नैतिकता के क्षेत्र में काम करने वाले सभी लोगों ने उल्लास का अनुभव किया। मैंने भी उसे नैतिक और आध्यात्मिक कार्य के मूल्यांकन की दृष्टि से स्वीकार किया। आप जानते हैं, मैं अकिंचन हूं, इसलिए पुरस्कार राशि मेरे लिए सहज ही अस्वीकार्य है। उसका उपयोग आप जैसा चाहें, वैसा करेंगे। मैं आपकी भावना को पूर्ण सद्भावना के साथ स्वीकार करता हूं। केवल मैं ही नहीं, अध्यात्म, नैतिकता और अहिंसा के क्षेत्र में काम करने वाले सब इसे स्वीकार कर रहे हैं। इसकी स्वीकृति के साथ मैं अनुभव करता हूं कि मुझ पर अधिक उत्तरदायित्व आ गया है तथा यह भी अनुभव करता हूं कि मानवीय तथा राष्ट्रीय एकता के क्षेत्र में काम करने के लिए मेरा मार्ग और अधिक प्रशस्त हुआ है। आप सबकी सद्भावना के लिए पुनः साधुवाद।'

इस अवसर पर 'आचार्य तुलसी व्याख्यानमाला' के आयोजन के लिए इन्दिरा गांधी मुक्त विश्वविद्यालय को सात लाख रुपए के अनुदान की घोषणा की गई। इन्दिरा गांधी मुक्त विश्वविद्यालय द्वारा अणुव्रत न्यास के सहयोग से प्रतिवर्ष 'आचार्य तुलसी व्याख्यानमाला' का आयोजन उसकी एक निष्पत्ति है।

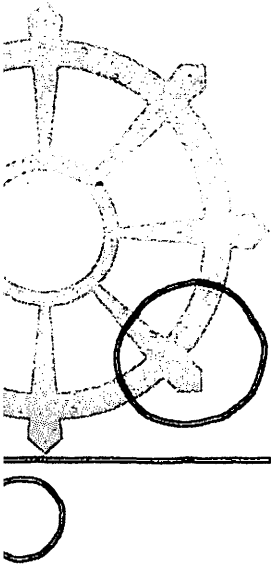

'वाक्पति' सम्मान

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ ने आचार्यवर को श्रमण संस्कृति और मानवजाति के हित में संपादित कार्यों का मूल्यांकन करते हुए संस्थान के सर्वोच्च सम्मान 'वाक्पति' अलंकरण से अलंकृत किया। यह समण संस्कृति और मानवीय मूल्यों का सम्मान था। प्रस्तुत संदर्भ में संस्थान के कुलाधिपति श्री सच्चिदानन्द मूर्ति का पत्र उल्लेखनीय है–

पूज्यश्री आचार्यजी!

प्रणाम।

आधुनिक भारत में जैनधर्म का, प्राकृत भाषा का तथा अहिंसा के सिद्धान्तों का विश्वव्यापी प्रचार और विस्तार जितना आपने, आपके शिष्यों और अनुयायियों ने किया, उतना और किसी व्यक्ति अथवा संस्था ने नहीं किया। आपके व्यक्तित्व, उपदेश और तपस्या ने मुझे काफी प्रभावित किया है।

जबसे मैं आपसे मिला, आपकी पुस्तकों का अध्ययन किया और आपकी उपलब्धियों को जाना, तबसे मेरे हृदय में आपके प्रति अत्यन्त सम्मान जागृत हुआ है। इसलिए तिब्बती संस्थान, सारनाथ के

अध्यक्ष की हैसियत से मैंने आदरणीय निदेशक आचार्य रिनपोछेजी को सुझाव दिया कि संस्थान आपको 'वाक्पति' सम्मानोपाधि समर्पित करे। संस्था के निश्चयानुसार कल दीक्षान्त समारोह में मैंने यह कार्य सम्पन्न किया। आपने इसके लिए अनुमति देकर इस संस्थान के गौरव को बढ़ाया है। इसके लिए हम आपको धन्यवाद देते हैं तथा विशेष रूप से मैं आपका कृतज्ञ भी हूं। आपको यह जानकर हर्ष होगा कि तिब्बती संस्थान की प्रथम सम्मानोपाधि परम पावन दलाईलामा ने और द्वितीय सम्मानोपाधि भारत के वर्तमान प्रधानमंत्री श्री पी.वी. नरसिंह राव ने स्वीकार की है।

आपको और श्री युवाचार्य को नमस्कार!

विनीत,

(ह.) सच्चिदानन्द मूर्ति
के.एस. मूर्ति
अध्यक्ष
दि. ९ अप्रैल, १९९३

पूज्य वाचनाप्रमुखश्री
आचार्य तुलसीजी
जैनविश्वभारती
लाडनूं (राजस्थान)

१४ जून, १९९३ को केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान के कुलपति प्रो. रमाशंकर त्रिपाठी, बौद्ध भिक्षु लामा लोछुन शास्त्री जैन विश्व भारती लाडनूं आए। उन्होंने आचार्यवर के कर कमलों में 'वाक्पति' अलंकरण ससम्मान समर्पित कर गौरव का अनुभव किया। बौद्ध भिक्षु लोछुन शास्त्री ने कहा–आपने अलंकरण स्वीकार कर संस्थान का गौरव बढ़ाया है।

कुलपति प्रो. रमाशंकर त्रिपाठी ने प्रशस्ति पत्र का वाचन कर आचार्यवर को समर्पित किया। प्रशस्ति पत्र की भाषा इस प्रकार है–

'आज हम आचार्यश्री तुलसी की सन्निधि में उपस्थित होकर अपने चित्त में किसी अपूर्व आनन्द की अनुभूति कर रहे हैं। आचार्यश्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथ के नवम आचार्य हैं, प्रमुख पथ-दर्शक हैं, स्वाध्याय और तप की जीवन्त प्रतिमा हैं। आपके जीवन में विद्या और आचार की समन्विति है। आप अपरिग्रह के मूर्तरूप हैं। आपने विश्वव्यापी अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया है। इसके माध्यम से ईर्ष्या, मात्सर्य, विषमता और युद्ध की विभीषिका से जर्जरित मानव जाति में अहिंसा, समता आदि मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठित किया है। आपकी जन्मभूमि है–राजस्थान के अंतर्गत लाडनूं नामक कस्बा। आपके अवतरण से भारतभूमि अलंकृत हुई है। इस समय आप अपने जीवन के ८०वें वसंत में प्रवेश करने वाले हैं।

भगवान् महावीर का अमृतमय शाश्वत संदेश निश्चित रूप से आपदाओं से घिरी मानव जाति के लिए एकान्त कल्याणकारी है–यह सोचकर आपने उस संदेश को अनवरत पांव-पांव चलकर गांव-गांव, नगर-नगर और देश के सुदूर भूभागों में पहुंचाया है। भगवान् महावीर द्वारा निरूपित धर्म को चिरस्थायी बनाने के लिए आपकी जन्म स्थली लाडनूं में आपके मार्ग-दर्शन में एक विशिष्ट एवं विशाल विद्या संस्थान स्थापित हुआ है जो आज जैन धर्म की दृष्टि से विश्व का प्रथम मान्य विश्वविद्यालय बन चुका है। यहां आगम-अनुसन्धान, सम्पादन, समीक्षण, संशोधन आदि विविध प्रवृत्तियों का संचालन सुनियोजित रूप से हो रहा है।

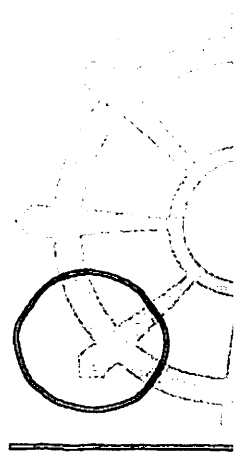

आचार्यप्रवर संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, राजस्थानी आदि विविध भारतीय भाषाओं के पारगामी मर्मज्ञ विद्वान् हैं। आप कवि, लेखक, वक्ता और उपदेष्टा हैं। आपने अब तक अनेक महान् ग्रन्थों की रचना की है। आपने अपनी पदयात्रा से न केवल संपूर्ण राष्ट्र को पवित्र किया है, अपितु उसके द्वारा भारतीय समाज में व्यापक रूप में नैतिक जागरण का अभियान चलाया है।

धर्म आज भी विश्व शांति और समता की प्रतिष्ठा के लिए सशक्त विधायक तत्त्व है। अतः सभी धर्मसम्प्रदाय के अनुयायियों, साधुओं और धर्माचार्यों को संगठित रूप से विश्व शांति और समता की प्रतिष्ठा का प्रयास करना चाहिए–यह आपका सुदृढ़ और सुस्पष्ट अभिमत है। जैन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में सौहार्द, समन्वय और एकसूत्रता को स्थापित करने के लिए महान् प्रयत्न किया है। जैन समाज में व्याप्त विभिन्न रूढ़ियों, कुरीतियों और मान्यताओं के संदर्भ में आपने हितकारी व जनोपयोगी संशोधन और परिवर्तन किए हैं।

तेरापंथ धर्मसंघ के सुदृढ़ संगठन तथा साधु-साध्वियों के अनुशासन और मर्यादित आचरण के विषय में आप द्वारा बरती जा रही जागरूकता का परिणाम सबके सामने है। राष्ट्रीय भावनाओं के जागरण के लिए आपने देश के नेतृत्व वर्ग को समय-समय पर उचित परामर्श दिया है। यह बात देश के प्रबुद्ध जनों से अज्ञात नहीं है। संत विनोबा भावे की प्रेरणा से प्रणीत 'समण सुत्तं' ग्रन्थ में आचार्यश्री का योगदान अविस्मरणीय है।

साधु-साध्वियों के हृदय में जाति, वर्ण, लिंग और सम्प्रदाय से जनित किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होता। वे सर्वदा निःस्वार्थ भाव से लोकहित और लोककल्याण के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। यही भारतीय संतों की परम्परा है। इसी परम्परा के संवाहक हैं–विद्यामूर्ति और तपोमूर्ति आचार्यश्री तुलसी।

सम्मानीय अध्यक्ष महोदय से मेरा निवेदन है कि वे अभ्युदय और निःश्रेयस की संवाहिका विद्या के प्रतिष्ठापक जगत्तीर्थ आचार्यश्री तुलसी को 'वाक्पति' यह मानद उपाधि प्रदान कर इस शिक्षण संस्थान के गौरव की अभिवृद्धि करे।'

आचार्यवर ने अपने हृदयस्पर्शी उद्बोधन में कहा–'बौद्ध और जैन ये दोनों श्रमण संस्कृति की प्रमुख धाराएं हैं। दोनों आज परस्पर मिल रहे हैं, विचारों का आदान-प्रदान कर रहे हैं। हमने दलाई लामा से घंटों बातें की हैं। उनके मन में भी एक ही तड़प है कि मानव जाति का कल्याण हो।

सम्मान के संबंध में आपने कहा–'यह सम्मान हमारा नहीं, अध्यात्म का है, श्रमण संस्कृति का है और मानवीय मूल्यों का है। मैं चाहता हूं कि मानव जाति के कल्याण के लिए मैं और दलाई लामा दोनों कार्य करते रहें।'

हकीम खां सूर सम्मान

सन् १९९५ में भावात्मक एकता की दिशा में किए गए कार्यों का मूल्यांकन करते हुए महाराणा मेवाड़ फाउण्डेशन ने अपने प्रतिष्ठित राष्ट्रीय सम्मान 'हकीम खां सूर सम्मान' से आचार्यवर को सम्मानित किया। यह सम्मान प्रतिवर्ष महाराणा प्रताप के प्रमुख सेनापति हकीम खां सूर की स्मृति में भावात्मक एकता के क्षेत्र में विशेष योगदान देने वाले व्यक्तियों को दिया जाता है। परम्परा के अनुसार यह पुरस्कार उदयपुर राजमहल

में प्रदान किया जाता है। आचार्यश्री तुलसी पदयात्री थे, इसलिए पुरस्कार समर्पित करने के लिए महाराणा अरविन्द सिंह स्वयं जैन विश्व भारती, लाडनूं आए।

२६ जुलाई, १९९५ को जैन विश्व भारती में एक भव्य समारोह में महाराणा अरविन्द सिंह ने 'हकीम खां सूर सम्मान' ससम्मान समर्पित किया। इस अवसर पर अपने भावपूर्ण उद्‌गार व्यक्त करते हुए महाराणा अरविन्द सिंह ने कहा–'अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक, महान् संत आचार्यश्री तुलसी हमारे बीच विराजे हुए हैं। महाराजश्री की यह उपस्थिति इस देश की शताब्दियों से चली आ रही ऋषि-मुनियों की मानवतावादी चिन्तनधारा का एक मूर्तरूप है। महाराणा मेवाड़ फाउण्डेशन के लिए यह गौरव का विषय है कि वह ऐसे व्यक्तित्व के सान्निध्य में उसकी पूजा-अर्चना को लेकर अपनी समग्र श्रद्धा के साथ उपस्थित हुआ है। उदयपुर से लाडनूं काफी दूर है और इस दूरी के कारण फाउण्डेशन के सम्मान-समारोह को इस वर्ष सन्तश्री का निकट से आशीर्वाद प्राप्त होना चाहते हुए भी असम्भव-सा प्रतीत हो रहा था। किन्तु प्रभु श्री एकलिंगनाथजी की कृपा से आज का यह ऐसा सुदिन उदित हुआ कि संतश्री का आशीर्वाद प्राप्त करने स्वयं फाउण्डेशन यहां उपस्थित हो गया। अंत में आप सबको धन्यवाद अर्पित करता हूं और विशेष रूप से परमपूज्य संतश्री तुलसीजी के प्रति आभार व्यक्त करता हूं, जिन्होंने अपने उदार चिन्तन से मेवाड़ के इस छोटे-से सम्मान को स्वीकार कर फाउण्डेशन के गौरव में श्री-वृद्धि की है।'

मैंने अपने संक्षिप्त वक्तव्य में कहा–'पूज्य गुरुदेव ने भावात्मक एकता की दिशा में जो उल्लेखनीय महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं, वे सब राष्ट्र के सामने हैं। आपने अणुव्रत का आविष्कार कर मेरी दृष्टि में सबसे बड़ा आविष्कार किया है। सम्प्रदायातीत वैज्ञानिक धर्म का आविष्कार अभी तक किसी ने नहीं किया। मैं इस दृष्टि से गुरुदेव को महान् वैज्ञानिक मानता हूं।'

पूज्य गुरुदेव ने अपने संबोधन में कहा–'अध्यात्म, नैतिकता और मानवता का कार्य करने वाला कभी सम्मान, अपमान, प्रशंसा, निन्दा की परवाह नहीं करता। वह सबसे ऊपर उठकर काम करता है अन्यथा काम हो नहीं सकता, प्रदर्शन हो सकता है, दिखावा हो सकता है। आज जिन मूल्यों के लिए पुरस्कार दिया जा रहा है, वही राष्ट्रीय एकता और भावात्मक एकता, दोनों संकट में हैं। इसका कारण मनुष्य की अनियंत्रित अर्थलोलुपता है। अर्जन के लिए आज मानव हर उपाय काम में ले सकता है। भले ही सिद्धान्त, नीति, न्याय, कर्तव्य आदि में से किसी की बलि देनी पड़े। ऐसा लगता है कि आज मनुष्य पैसे के लिए ही जी रहा है।

चरित्रहीनता और व्यसन के बढ़ते माहौल में हमने लगभग पैंतालीस वर्ष पूर्व नैतिक मूल्यों की स्थापना के लिए अणुव्रत का काम प्रारम्भ किया। अणुव्रत नाम में भारतीय संस्कृति की सौरभ है। भारतीय संस्कारों में व्रत का महत्त्व रहा है, आज भी है। इसे घर-घर पहुंचाने का प्रयत्न किया, लम्बी-लम्बी यात्राएं की और आज लग रहा है कि हमारा कार्यक्रम बल पकड़ रहा है। मुझे विश्वास है कि यह आंदोलन एक कीर्तिमान स्थापित करेगा और जन-जन को जीने की दिशा प्रदान करेगा।'

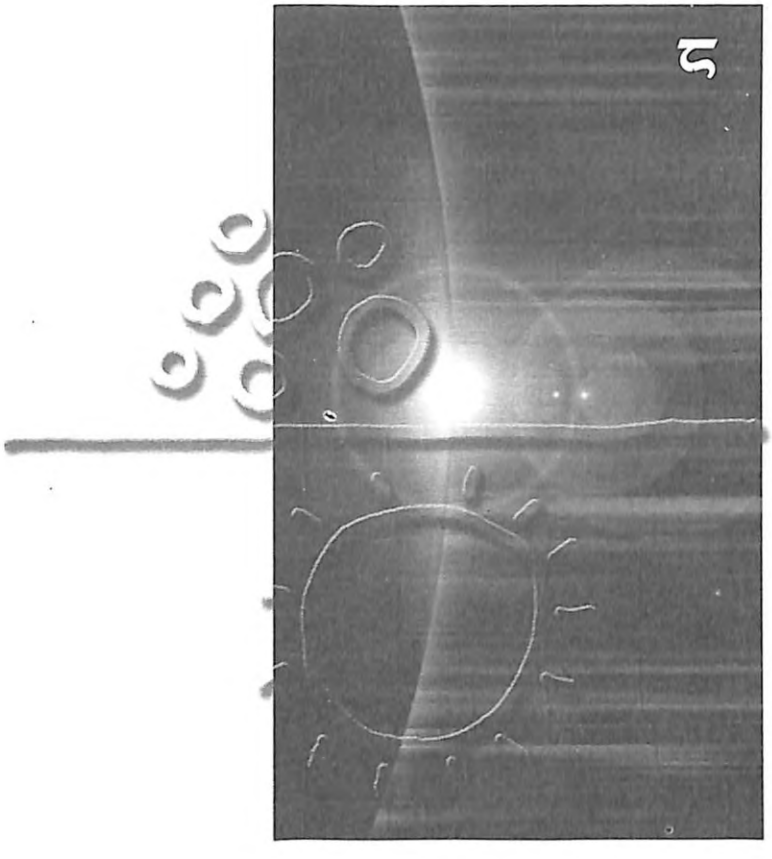

विलक्षण जीवन : विलक्षण कार्य

कुछ व्यक्ति जीवन के पूर्वार्द्ध में उदित होते हैं, उत्तरार्द्ध में अस्तमित हो जाते हैं। कुछ व्यक्ति जीवन के पूर्वार्द्ध में अस्तमित रहते हैं और उत्तरार्द्ध में उदित हो जाते हैं। कुछ व्यक्ति जीवन के पूर्वार्द्ध में भी अस्तमित रहते हैं और उत्तरार्द्ध में भी अस्तमित होते हैं। किन्तु कुछ व्यक्ति जीवन के पूर्वार्द्ध में भी उदित होते हैं और उत्तरार्द्ध में भी उदित होते हैं। गुरुदेव का व्यक्तित्व इसी कोटि का था। मैंने देखा—गुरुदेव का जीवन उत्तरोत्तर उदित होता रहा। उसमें भी अंतिम तीन वर्ष का जीवन विलक्षण से भी विलक्षण रहा। उनकी चेतना उदात्त होती गई और विलक्षणता बढ़ती गई।

विलक्षण जीवन : विलक्षण कार्य

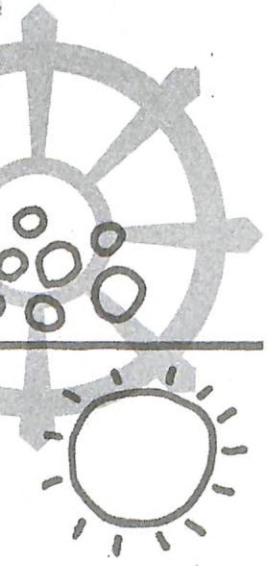

आचार्य पद-विसर्जन की पृष्ठभूमि

गुरुदेव के मनोबल और विकास की कल्पना में एक सामंजस्यपूर्ण संवादिता चल रही थी। हर व्यक्ति ने इसका अनुभव किया। गुरुदेव स्वयं कभी-कभी इसकी व्याख्या करते थे। डायरी (संख्यांक १५) का एक पृष्ठ इस विषय को बहुत स्पष्ट कर रहा है–'मेरा मन बहुत प्रसन्न है। मेरी आत्मा स्वस्थ है। शरीर थोड़ा अस्वस्थ है पर वह मुझ पर हावी नहीं हो सकता। मेरी इच्छाशक्ति, संकल्पशक्ति और पुरुषार्थ प्रबल है। मैं हार नहीं मान सकता। मुझ पर मेरे गुरु का जबर्दस्त साया है। मैं स्वयं उच्च चरित्र में विश्वास करता हूं। अनवरत गतिशीलता में विश्वास करता हूं। मैं स्वयं आत्मानुशासित हूं, अनुशासन-प्रिय हूं। संघ का शास्ता हूं। मेरे सामने विकास का बहुत बड़ा मैदान खुला है। मैं बढ़ता चलूंगा, दृढ़ता से चलूंगा। संसार की कोई शक्ति मुझे मेरी गतिशीलता से नहीं रोक सकती।'

उक्त पंक्तियों में अपना निरीक्षण, अपना विश्लेषण और अपना अंकन हुआ है। यह आचार्य पद-विसर्जन की पृष्ठभूमि है। यदि गहरा आत्मविश्वास, अतुल मनोबल और अमाप्य साहस न हो तो एक नई परम्परा का सूत्रपात करना सहज, सरल नहीं है। इस आत्मनिरीक्षण में पुरुषार्थ के प्रति आस्था, अपने गुरु की छत्रछाया में सुरक्षा, चरित्र का मूल्यांकन, गतिशीलता और अनुशासन का विचित्र योग है। कुछ व्यक्ति गतिशील होने का प्रदर्शन करते हैं पर उनका आत्मानुशासन शून्य होता है। रूढ़िवादी होना अच्छा नहीं है, तो अनुशासनहीन गतिशीलता भी अच्छी नहीं है। संघ का शास्ता हूं, इस वाक्य में दायित्वबोध की अनुभूति है। मुनि के लिए 'श्रमणोऽहं' की अनुभूति अपेक्षित है, वैसे ही एक आचार्य के लिए 'मैं संघ का शास्ता हूं' इसकी अनुभूति आवश्यक है। इस अनुभूति के बिना दायित्व के प्रति न्याय नहीं किया जा सकता।

निश्चिंतता की अभिव्यक्ति

गुरुदेव के मन में विकास की बहुत बड़ी कल्पना थी। अध्यात्म और नैतिक मूल्यों के विकास के लिए बहुत कुछ करने की भावना रहती थी। एक ओर संघ के अनुशासन और व्यवस्था का दायित्व तो दूसरी ओर मानवता के लिए काम करने की मनोवृत्ति, दोनों में सामंजस्य स्थापित करना कठिन काम है, पर कठिन को भी सरल बनाना एक शक्तिशाली व्यक्ति के लिए असंभव नहीं है।

संघीय व्यवस्था की दृष्टि से निश्चिन्त हुए बिना विकास की कल्पना को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। युवाचार्य की नियुक्ति के बाद गुरुदेव संघीय व्यवस्था की दृष्टि से निश्चिन्त हो गए थे। निश्चिन्तता की अभिव्यक्ति समय-समय पर होती रही। डायरी में भी यत्र-तत्र निश्चिन्तता का उल्लेख मिलता है।

आत्मविश्लेषण के अनन्तर गुरुदेव ने लिखा–'मेरे हाथ बहुत मजबूत हैं। मेरा भुजाबल सशक्त है। महाप्रज्ञ-से अंतर्दृष्टिसंपन्न मेरे युवाचार्य हैं। विनीत हैं, जागरूक हैं, स्वस्थ हैं।

महाश्रमणी, संघमहानिदेशिका साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा मेरी तनुछाया है। विनीता है, सक्रिया है और स्वस्था है। महाश्रमण मुदितकुमार मेरा सहज सेवाभावी शिष्य है। मैं भविष्य के लिए निश्चिन्त हूं।'

वे शिष्य भी धन्य होते हैं जो अपने गुरु को निश्चिन्त बना देते हैं। आचार्य के लिए भविष्य का प्रश्न बहुत बड़ा होता है। एक स्वस्थ और शक्तिशाली परम्परा को बनाए रखना, उसके लिए योग्य व्यक्तियों का चयन और नियोजन करना एक श्रमसाध्य और उच्च प्रतिभा एवं सर्वोत्तम विवेक का परिचय है। तेरापंथ के आचार्य इस परिचय की कसौटी पर खरे उतरे हैं। इसीलिए एक नेतृत्व और एक अनुशासन की परम्परा अविच्छिन्न रही है। उसकी अविच्छिन्नता ही सफलता की सूत्रधार बनती है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि एक नेतृत्व के बिना विकास का ऊर्ध्वारोहण नहीं हो सकता। बिखरा हुआ चिंतन, बिखरी हुई कल्पना और बिखरी हुई प्रवृत्तियां–किसी शक्तिशाली वातावरण का निर्माण नहीं कर सकतीं। निर्माण के पीछे वातावरण का प्रयोग प्रधान होता है। वैसा वातावरण अनुशासित जीवनशैली में ही संभव बन सकता है। अनुशासन में रहना और अनुशासन में रखना दोनों कठिन हैं। बहुत कठिन हैं पर इस सचाई को नकारा नहीं जा सकता कि जो अच्छा शिष्य नहीं होता, वह अच्छा गुरु नहीं बन सकता। सहज ही गुरु बनने की जो आकांक्षा जागती है वह गुरु-पद को ही प्रतिष्ठाहीन बना देती है। इसलिए शिष्यत्व की परम्परा को, अनुशासन में रहने की परम्परा को जितना मूल्य दिया जाएगा, गुरु के पद की प्रतिष्ठा उतनी ही महत्त्वपूर्ण बनेगी। आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ की नींव इस सचाई की भूमि पर रखी, यह हमारा सौभाग्य है।

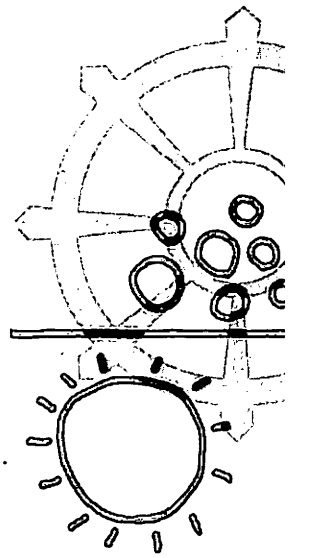

धर्मचक्र का प्रवर्तन

अंतर्मंथन का महीना

प्रतीत होता है सुजानगढ़ मर्यादा-महोत्सव (सन् १९९४) का माघ का महीना अन्तर्मंथन का महीना रहा। इसमें संघीय चिन्तन भी चलता रहा और साथ-साथ स्वास्थ्य की समस्या पर भी विचार होता रहा। माघ कृष्णा अमावस्या के दिन गुरुदेव ने लिखा–

'स्वास्थ्य मेरा उतार-चढ़ाव पर चल रहा है। पता नहीं, क्या होना है? यद् भाव्यम् गुरुशरणम्।'

गुरुदेव का कर्तव्य चिन्तन के नए आयाम खोल रहा था। व्यापक समाज में नई-नई कल्पनाएं, आशाएं और आकांक्षाएं जाग रही थीं। माघ शुक्ला एकम के दिन उन्हीं आकांक्षाओं के मध्य एक अन्तर्द्वन्द्व ने जन्म लिया। गुरुदेव ने स्वयं उसका विश्लेषण किया है–

'स्वामी ओमपूर्ण स्वतंत्र और डॉ. देवसिया के आज प्रातः प्रवचन सभा में प्रभावशाली भाषण हुए, चर्चा हुई। दस्सानी माध्यम बना रहा। मेरे बारे में बहुत बड़ी-बड़ी बातें कही जाती हैं। मुझे संकोच अनुभव होता है। स्वास्थ्य भी अब मेरा वैसा नहीं है। खैर, जैसा होगा, देखा जाएगा।'

गुरुदेव कभी निराश होना जानते ही नहीं थे। उनके आशावादी दृष्टिकोण ने हजारों-हजारों दीपशिखाओं को प्रज्वलित किया। अनुयोगद्वार का यह पद्य बहुत सटीक है–

जह दीवा दीवसयं, पइप्पए सोय दिप्पए दीवो।
दीवसमा आयरिया, दिप्पंति परं च दीवेंति॥

जैसे दीए से सैकड़ों दीप प्रदीप्त होते हैं, फिर भी वह स्वयं दीप्त रहता है, बुझ नहीं जाता। दीप की भांति आचार्य दूसरों को प्रदीप्त करते हैं, फिर भी स्वयं प्रदीप्त रहते हैं।

जटिल कार्य

तेरापंथ धर्मसंघ का एक नेतृत्व, एक अनुशासन और पूरे संघ की यात्रा की व्यवस्था करना, हिन्दुस्तान के बड़े भाग में फैले हुए क्षेत्रों की संभाल एक बड़ा कार्य है। यह सारी व्यवस्था मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर की जाती है। गुरुदेव इन वर्षों में इस व्यवस्था से काफी मुक्त रहते थे। वह कार्य मैं संपादित करता। गुरुदेव ने उस कार्य के बारे में लिखा–

'महाप्रज्ञ चातुर्मासों की नियुक्ति के चिन्तन में लगे हुए हैं। कितना जटिल काम है यह। मैंने चालीस-पचास वर्षों तक अकेले यह काम किया है।'

वैसे इस कार्य में मैं लगभग पन्द्रह-बीस वर्षों से संलग्न था पर पूरा कार्य दो-तीन वर्षों से कर रहा था। मैं चाहता था कि गुरुदेव हमारे कार्य की परीक्षा, निरीक्षण और समीक्षा करते रहें। इस कार्य में उनकी शक्ति और श्रम अधिक न लगे। मुझे लगता है माघ शुक्ला सप्तमी को गुरुदेव जो करना चाहते थे उसकी मानसिक पृष्ठभूमि भीतर ही भीतर बन रही थी। यत्र-तत्र उनके उद्‌गार भी प्रकट होते और तद्नुकूल व्यवहार भी सामने आने लगा।

माघ शुक्ला सप्तमी का प्रातःकाल। मैं गुरुदेव को वंदन करने गया। गुरुदेव के मुखमंडल पर एक नई आभा, नई चमक और नई प्रसन्नता देखी। मुझे लगा–आज कोई विशिष्ट मनोभाव है और कुछ विशिष्ट होने वाला है। उस मनोभाव का चित्रण गुरुदेव ने अपनी डायरी में इस प्रकार किया है–

धर्मचक्र का प्रवर्तन

'आज प्रातः महाप्रज्ञजी का सोलहवां चयन दिवस उल्लासमय वातावरण में सहजभाव से संघ ने मनाया। हमने आलिंगन किया और अपने पट्ट पर एक क्षण के लिए बिठाया। सबमें हर्षातिरेक छा गया।'

आचार्य-पद का विसर्जन

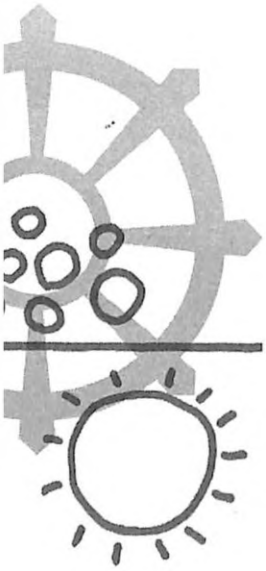

मध्याह्न में गुरुदेव मर्यादा-महोत्सव के लिए स्टेडियम में निर्मित मर्यादा समवसरण में पधारे। प्रारंभिक कार्यक्रम के पश्चात् गुरुदेव ने आकस्मिक रूप से एक घोषणा की। गुरुदेव की भाषा में उसे पढ़ें–

'मैंने कह दिया–एक विशिष्ट कार्य होने वाला है। लोग जाने की जल्दी न करें। कुतूहल, उत्सुकता, कल्पना उत्फुल्ल नेत्रों से लोग करते रहे। तब मैंने अपनी बात कही–वह अपूर्व तो थी ही, अद्‌भुत और विलक्षण भी थी। परिणाम तो भविष्य बतलाएगा, पर वर्तमान में बहुत आश्चर्यजनक लगी।'

आचार्य-पद के विसर्जन और अपनी विद्यमानता में युवाचार्य की आचार्य-पद पर नियुक्ति सचमुच अपूर्व घटना थी। इसलिए सब चिन्तन और कल्पना की उड़ान भर रहे थे। अदृष्ट पूर्व और अश्रुत पूर्व घटना के प्रति सबके नेत्रों से जिज्ञासा मुक्त-वातावरण में संक्रमण कर रही थी।'

एक नई बात नए चिन्तन को जन्म देती है। मर्यादा-महोत्सव के समवसरण में अवस्थित लोग नए चिन्तन के प्रवाह में बहते जा रहे थे। उस समय शेष सारे विषय विलीन हो गए थे। केवल एक ही विषय सामने आ रहा था। कभी-कभी मन निर्विषय (विकल्पशून्य) हो जाता है। उस समय सबका शरीर स्थिर था, वाणी विराम ले रही थी। कुछ क्षणों के लिए मौन का वातावरण बन गया। थोड़ी देर बाद मौन को भाषा में

बदलते हुए गुरुदेव ने एक वक्तव्य पढ़ा। उसका सारांश गुरुदेव ने अपनी लेखनी से लिखा–'मैंने एक छोटा-सा लिखित वक्तव्य पढ़ा। उसमें अपने आचार्य-पद का विसर्जन और संघ का नया रूप सामने आया।'

मैंने कहा–'अब तक किसी ने अपने युवाचार्य को आचार्य रूप में नहीं देखा। मैं देखना चाहता हूं। अतः युवाचार्य महाप्रज्ञ को आचार्य के रूप में नियुक्त करता हूं। मैं पद के बिना स्वतंत्र साधना करूंगा।

महाप्रज्ञ का आलिंगन किया और छाती से लगाया।'

महाप्रज्ञ बोले–'मैं आपका शिष्य हूं। मुझे आपके आदेश का पालन करना होगा पर आपको भी 'गणाधिपति गुरुदेव' का पद स्वीकार करना होगा।' पूरे संघ को समर्थन में खड़ा कर लिया। मैंने टालना चाहा। आखिर समूचे संघ की बात स्वीकार करनी पड़ी। विचित्र माहौल बना। हजारों आंखों में अश्रु बह चले। अनेक प्रतिक्रियाएं हुईं। संघ का उस समय का दृश्य (सीन) दर्शनीय था। सुजानगढ़ का महोत्सव ऐतिहासिक बन गया। बीस हजार से अधिक जनता की उपस्थिति होगी।

महाप्रज्ञ आचार्य बन गए। तुलसी गणाधिपति गुरुदेव बन गए। सर्वथा नया इतिहास बन गया। परिणाम अच्छा ही आएगा। भविष्य बतलाएगा।'

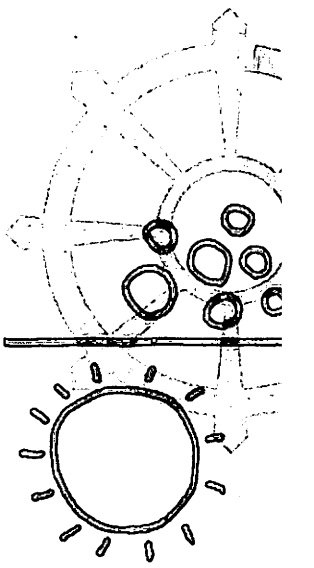

धर्मचक्र का प्रवर्तन

सबसे महान् कार्य

गुरुदेव ने अपने जीवनकाल में अनेक महान् और नए कार्य किए। किन्तु आचार्य पद का विसर्जन सबसे महान् और सबसे नया कार्य था। समणश्रेणी की स्थापना कम नया और कम बड़ा काम नहीं था। फिर भी उस कार्य को आचार्य-पद-विसर्जन की तुला के दूसरे पल्ले में नहीं रखा जा सकता। वह कार्य साहस और दूरदर्शिता का प्रयोग है। यह कार्य अपनी उदात्त चेतना तथा विनम्रता के शिखर को छूने का प्रयोग है। इस कार्य में दूसरों के चिन्तन और परामर्श का योग है, यह मैं नहीं बता सकता। इतना बता सकता हूं कि इस कार्य में एक नई घटना की नियति का योग अवश्य था। चाहे गुरुदेव की नियति कहूं या मेरी अपनी नियति। कुछ भी कहूं, उसकी अपरिहार्यता को टाला नहीं जा सकता था। इसका दूसरा कोण यह है कि एक महान् आचार्य के स्वर्गवास के बाद जो शून्य पैदा होता है उसे भरना सरल काम नहीं है। गुरुदेव इस सचाई को जानते थे। उन्होंने अनेक आख्यानों और व्याख्यानों में पढ़ा था–चक्रवर्ती, वासुदेव और बलदेव के महाप्रयाण के पश्चात् उनका उत्तराधिकार संभालने वालों की क्या स्थिति बनती है? अनुभव के सूत्रों में ही कोई मंत्र पकड़ा होगा कि अनुपस्थिति शून्य न बने। इसी चिंतन का परिणाम हो सकता है आचार्य-पद का विसर्जन और अपनी विद्यमानता में ही नए आचार्य की नियुक्ति।

आचार्य तुलसी के बाद क्या होगा–इस प्रश्न ने बड़े-बड़े चिन्तकों और बड़े-बड़े श्रावकों के मन को आंदोलित कर रखा था। गुरुदेव बहुत बार कहते–मैं निश्चिन्त हूं। विश्वस्त हूं। मुझे पूरा भरोसा है। फिर भी पता नहीं लोग क्यों इतनी चिन्ता करते हैं?

आचार्य-पद-विसर्जन से लेकर स्वतंत्र रूप में मर्यादा-महोत्सव कराने तक की क्रिया, हो सकता है अनबूझे प्रश्नों का उत्तर, उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न।

प्रतिक्रिया का आकलन

गुरुदेव ने आचार्य-पद के विसर्जन के बाद होने वाली प्रतिक्रिया का आकलन किया है उसमें कुछ ज्ञातव्य है और कुछ वक्तव्य। ज्ञातव्य को छोड़कर जो वक्तव्य है उसकी पंक्तियां उद्धृत की जा रही हैं–

'नया परिवर्तन अप्रत्याशित तो था ही, अकल्पित भी था। क्यों हुआ? कैसे हुआ? क्या हुआ? प्रत्युत्तर किसी के पास नहीं था–मैं भी मौन था।....हमारे संघ का अनुशासन बेजोड़ जो रहा। सर्वसम्मत यह एक स्वर से स्वीकृत हुआ। कहीं उठापटक नहीं, आशंका नहीं, हलचल नहीं। पद-प्राप्ति के लिए, सुरक्षा के लिए जी-तोड़ प्रयत्न होता रहता है, अंतिम श्वास तक होता रहता है। पद-त्याग के लिए यह प्रयत्न कैसा है? किसी ने शायद कह दिया होगा–कालूगणी ने इन्हें युवाचार्य इसी के लिए बनाया था क्या कि ये अंत में छोड़कर पद-त्याग कर दें। चिन्तन का एक कोण कोई कह सकता है। पर जो किया गया वह सुचिन्तित था। अच्छा हुआ, बहुत अच्छा हुआ। बड़ी चेष्टाएं हुईं जानने की कि यह परामर्श किनका रहा, पर प्रत्युत्तर कुछ नहीं....।'

इन पंक्तियों का फलित साफ है। कार्य कितना ही सुचिन्तित हो पर वह प्रतिक्रिया से मुक्त नहीं हो सकता। क्रिया करने वाले का अपना दृष्टिकोण होता है और प्रतिक्रिया करने वाले का अपना दृष्टिकोण होता है। चिन्तन की तरतमता, स्वत्व की तरतमता देखने के कोण को बदल देती है। क्या इसका परिहार संभव है?

उदात्तता और विलक्षणता

गुरुदेव का जीवन उत्तरोत्तर विकसित होता रहा, उदितोदित रहा। कुछ व्यक्ति जीवन के पूर्वार्द्ध में उदित होते हैं, उत्तरार्द्ध में अस्तमित हो जाते हैं। कुछ व्यक्ति जीवन के पूर्वार्द्ध में अस्तमित रहते हैं और उत्तरार्द्ध में उदित हो जाते हैं। कुछ व्यक्ति जीवन के पूर्वार्द्ध में भी अस्तमित रहते हैं और उत्तरार्द्ध में भी अस्तमित होते हैं। किन्तु कुछ व्यक्ति जीवन के पूर्वार्द्ध में भी उदित होते हैं और उत्तरार्द्ध में भी उदित होते हैं। गुरुदेव का व्यक्तित्व इसी कोटि का था। मैंने देखा–गुरुदेव का जीवन उत्तरोत्तर उदित होता रहा। उसमें भी अंतिम तीन वर्ष का जीवन विलक्षण से भी विलक्षण रहा। उनकी चेतना उदात्त होती गई और विलक्षणता बढ़ती गई।

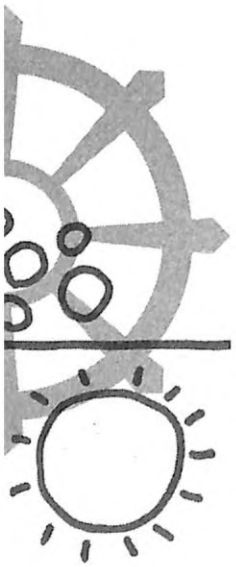

गुरुदेव सुजानगढ़ से जयपुर पधारे। एक दिन जयपुर में साधु-साध्वियों की परिषद् आमंत्रित की। उसमें अकल्पित ढंग से संस्कृत में एक वक्तव्य दिया। उस वक्तव्य ने आपमें छिपे हुए विराट् को मूर्त बना दिया। वक्तव्य अविकल रूप से इस प्रकार है–

'अस्ति आस्था प्रवर्धमाना। वयं जयपुरे समागताः। अनेके लोकाः अनेके परिवाराश्च आयातवन्तः। नाऽहं तान् जानामि। तैः सर्वैरपि श्रद्धा प्रकटीकृता।

अस्माकं संघेन प्रारंभत एव प्रतिष्ठा प्राप्ता। अधुनाऽसौ विशेषतः सर्वेषामाकर्षणकेन्द्रं संजातोस्ति। सर्वेषां मनसि एका धारणा संजाता–एष संघः कार्यं कर्तुं समर्थः। कश्चित् तेरापंथसंघस्य अनुयायी नाऽपि स्यात् तथापि तस्य मनसि एनं प्रति आस्थाभावो विद्यते।

भिक्षुरस्मिन्नेव संघे बभूव। आचार्य भिक्षुं प्रति यादृशी श्रद्धा अस्माकं संघे वर्तते तादृशी कस्मिन्नपि संघे स्वगुरुं प्रति न दृश्यते। स महत् नक्षत्रमासीत्। एतादृशः महापुरुषः सहस्राब्द्यामेव कश्चित् भवति। तस्य प्रज्ञा विलक्षणा आसीत्। स न प्राकृतपाठी आसीत्, न तेन संस्कृतमधीतम्, न च स हिन्दीभाषाविद् तथापि प्रतिभा विलक्षणा आसीत् तथाजातमासीद् अंतर्दृष्टिजागरणं। अद्भुता तस्य कार्यक्षमता। भिक्षोर्नाम अस्ति गंगायाः उद्गम-स्रोतः तस्मिन् वयं सदा निष्णाता भवामः वरमिदम्।

अस्मिन् वर्षे यज्जातं तन्मया कृतं इति नाऽहं मन्ये। ममाभिमतमिदम्–यज्जातं तत्र भिक्षोरेव कदाचिदज्ञातप्रेरणा। तत एव सञ्जातमिदम्। नियत्या कारितमिदम्। मया आकस्मिकरूपेण एकः स्वप्नो दृष्टः। केन कल्पना कृता–एवं भविष्यति। न मया केनापि सह चर्चा कृता। येन सह किञ्चिद् आलोचितं स आत्मीय एव। एतस्मिन् कार्ये संवृत्ते सर्वत्र अतीव अनुकूला प्रतिक्रिया सञ्जाता। अस्माकं विरोधिशिरोमणिभिरपि प्रशंसितमिदम्। कल्ये एव राजस्थानप्रदेशस्य मुख्यसचिवः मीठालाल मेहता समागतः। तेनोक्तम्–भवता आदर्शः पुरस्कृतः।

आचार्यकाले मया यदपि कृतम्–उपालम्भः प्रदत्तः, प्रायश्चित्तं प्रदत्तं तद् उत्तरीकरणार्थम्। तेन केषाञ्चन मनसि ग्लानिरपि सञ्जाता स्यात्। तदर्थमहं क्षमायाचनां करोमि। आचार्यकल्पा युवाचार्या अपि मया कदाचिद् उपालब्धाः परन्तु एतेषां विनयः नम्रतापूर्णव्यवहारश्च सर्वेषां कृते शिक्षणीयः प्रशिक्षणीयश्च।

न मया केवलं उपालम्भ एव प्रदत्तः वर्धापनमपि विहितम्। इदानीमहं पितृस्थानीयः गुरुस्थानीयोस्मि। यूयं सर्वे मम पुत्राः शिष्याश्च। सर्वान् प्रति मम प्रगाढ़ं प्रेम विद्यते। यदा युष्माकं सर्वेषां विनयं आत्मीयभावं च पश्यामि मम चक्षुषी आर्द्रीभवतः।

एषु दिनेषु चौधरी कुम्भाराम आर्यः आयातः। वार्तालापः कृतः। तत्र एषां विनयपूर्णां मुद्रां व्यवहारं च दृष्ट्वा तेन प्रोक्तम्–कियद् अद्वैतम्। नैतादृशं अद्वैतं मया क्वाऽपि दृष्टम्। अद्य किमहं वच्मि। अत्यन्तप्रसन्नमना अस्मि। भारहीनतां अनुभवामि। अहं वाञ्छामि–साधु-संघे कोऽपि प्रमादी न तिष्ठेत्। कदाचित् ध्यानं, कदाचिद् स्वाध्यायं, कदाचिद् स्मृतिं कुर्वाणाः सर्वेऽपि तिष्ठेयुः। सर्वे प्रसन्नाः आनंद-निमग्नास्तिष्ठेयुः इत्युक्त्वा विरमामि।

अन्यच्च–इदानीं अयं महाप्रज्ञः आचार्यः सर्वाधिकारसंपन्नोऽयम्। सर्वे साधवः सर्वा साध्व्यश्च मत्तोप्यधिकं विनयभावं, श्रद्धाभावं, भक्तिभावं, अनुशासनभावं च एनं प्रति रक्षेयुः। नास्मिन् विषये मम पुनः कथनावसरः समागच्छेत्। एषा अस्माकं गौरवमयी परम्परा विद्यते।'

एक आचार्य शास्ता के रूप को गुरु के रूप में किस प्रकार बदलता है, किस प्रकार अध्यात्म की उड़ान भरता है और किस प्रकार विनम्रता के शिखर पर आरोहण करता है, उसका जीवन्त प्रमाण है यह वक्तव्य।

विसर्जन का मूल्यांकन

चेतना की विलक्षणता समय-समय पर अभिव्यक्त होती रही। उसमें कुछ नया है और कुछ पुनरावृत्त। पुनरावृत्ति अनेक प्रसंगों में गुण बन जाती है। आचार्य-पद के विसर्जन का मूल्यांकन व्यापक क्षेत्रों में हो रहा था। कुछ लोग चाहते थे कि इसका और अधिक व्यापक प्रसार हो। पदलोलुपता की मानसिकता में पद का विसर्जन एक अद्भुत घटना है। यह कार्य एक समर्थ आचार्य के द्वारा हुआ है इसलिए और अधिक प्रभावशाली कार्य है। इसी चिन्तन को लेकर स्वामी ओमपूर्ण स्वतंत्र और कुंभारामजी आर्य गुरुदेव के पास आए, अपनी भावना प्रस्तुत की। गुरुदेव की डायरी (२० मार्च, १९९४) में उसका सार-संक्षेप उपलब्ध है–

'स्वामी ओमपूर्ण स्वतंत्र और कुंभाराम आर्य आए और बोले–जो आपने आदर्श उपस्थित किया है, अपूर्व है। इसका प्रसार नहीं हो पाया। अब करना होगा। दस्सानीजी, गुलाबचंद चण्डालिया से मिले।

प्रोग्राम बनाया–एक अभिनन्दन समारोह मानवता के भविष्य का। राज्यपाल के नेतृत्व में एक समिति बने। इसमें राजस्थान की क्रीम आए और सार्वजनिक अभिनन्दन हो। राज्यपाल बलिराम भगत की स्वीकृति ली गई। मुख्यमंत्री की भी स्वीकृति प्राप्त की गई। कार्यक्रम के लिए १० अप्रैल की तारीख निश्चित की गई।'

१० अप्रैल, १९९४ को महावीर विद्यालय में 'अभिनंदन मानवता के भविष्य का'–इस विषय पर एक विशाल परिषद् आयोजित हुई। उसमें मुख्यमंत्री भैरोंसिंह शेखावत, कुंभाराम आर्य जैसे राजनीति के शीर्ष पुरुष विद्यमान थे। ओमपूर्ण स्वतंत्र जैसे सामाजिक कार्यकर्ता, प्रभाष जोशी और राजेन्द्र अवस्थी जैसे समर्थ पत्रकार उपस्थित थे। इस कार्यक्रम को सब लोग आश्चर्य-भरी आंखों से देख रहे थे। गुरुदेव की प्रतिमा जनमानस में इतनी प्रतिष्ठित हो गई थी कि उसे भिन्न रूप में देखना अजीब-सा लग रहा था। उस अभिनंदन समारोह में पूज्य गुरुदेव ने एक मार्मिक वक्तव्य देते हुए कहा–'मैंने मर्यादा-महोत्सव पर अचानक बिना किसी को सूचना दिए, बिना परामर्श किए साठ वर्ष के संघीय दायित्व को युवाचार्य महाप्रज्ञ को सौंप दिया, उनमें संक्रांत कर दिया। आज तक तेरापंथ के पूर्व आचार्यों ने किसी को आचार्य के रूप में नहीं देखा, मैं देखना चाहता हूं। मैंने महाप्रज्ञ को खड़ा किया, दायित्व दिया और कहा–'अब तुम आचार्य हो, मैं सिर्फ तुलसी हूं।' मैंने यह कार्य बहुत सोच-समझकर किया है। अब मैं अपने आपको बहुत हलका महसूस कर रहा हूं। मैंने दो कार्यों के लिए स्वयं को समर्पित किया है– • अध्यात्म साधना करूंगा। • मानवता की सेवा करूंगा।

गुरुदेव के मन में अपने सुकृत कार्य के प्रति असीम उल्लास था। उसकी अभिव्यक्ति उन्होंने अनेक बार की। कोई भी उपयुक्त समय अभिव्यक्ति के बिना नहीं रहा। जयपुर में मैं पांच दिन बनीपार्क में रहकर ग्रीन हाउस पहुंचा। गुरुदेव के दर्शन किए। प्रवचन का कार्यक्रम शुरू हुआ। सामान्य क्रम के अनुसार पहले मैं बोलता, उसके बाद गुरुदेव का प्रवचन होता। आज क्रम बदल गया। गुरुदेव ने कहा–'आज मैं अन्त में कैसे बोलूं? आज मुझे अपने द्वारा प्रतिष्ठित युवाचार्य का आचार्य रूप में स्वागत करना है। कैसा सुन्दर मौका है! वह पिता अपने आपको धन्य मानता है जिसके सामने उसका पुत्र सब कुछ बन जाता है। मैंने भी जो आशाएं कीं, सब दृष्टियों से इन्होंने परिपूर्णता प्राप्त कर मुझे निश्चिन्त बनाया है। सचमुच मेरे लिए सुन्दर शुभंकर क्षण है। किसने कल्पना की थी अपूर्व कार्य की। मेरे जीवन का क्रम कुछ अपूर्व ही रहा है और मैं अनोखा कार्य करता रहा हूं अथवा यह कहूं–अनोखा होता रहा है। पहले कुछ सोचता हूं, कभी नहीं भी सोचता, पर समय पर हो जाता है। लगता है कि मेरी जन्म-कुंडली में सुन्दर सुयोग है।'

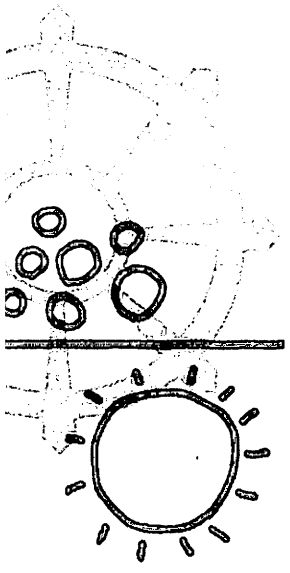

१८ फरवरी १९९४। मर्यादा-महोत्सव का दिन। सुजानगढ़ के विशाल स्टेडियम का प्रांगण। हजारों-हजारों लोगों की उपस्थिति। चातुर्मासों की नियुक्ति के बाद मैंने छोटा-सा आह्वान किया–जो भाई-बहन चातुर्मासों की घोषणा सुनते ही उठ जाएंगे वे एक सुन्दर निधि खो देंगे और एक महत्त्वपूर्ण अवसर को देखने से वंचित हो जाएंगे।....इतना सुनते ही हजारों आंखों में जिज्ञासा के भाव उतर आए। अधरों पर फुसफुसाहट होने लगी, फिर भी सभी चौकन्ने होकर शान्तभाव से बैठ गए। निर्धारित समय पर मैंने कहा–'आज तक किसी आचार्य ने अपनी आंखों से युवाचार्य को आचार्य रूप में नहीं देखा। मैं देखना चाहता हूं।' इतना कह कर मैंने तत्काल निर्देश की भाषा में कहा–'महाप्रज्ञ, खड़े हो जाओ!' तहत्ति शब्द का उच्चारण करते हुए महाप्रज्ञजी मेरे सामने बद्धांजलि खड़े थे। मैंने पुनः कहा–'तेरापंथ का इतिहास साक्षी है कि अस्सी वर्ष की अवस्था तक किसी ने भी आचार्य-पद का दायित्व नहीं संभाला किन्तु मैंने संभाला है। मेरे सामने सक्षम युवाचार्य हैं। मैं इतना भोला तो नहीं हूं कि इनकी क्षमता का उपयोग न करके, सदा स्वयं कार्य करता रहूं।

यह कार्य इतना अप्रत्याशित था कि किसी के कानों में भनक तक नहीं थी। केवल संघ महानिदेशिका महाश्रमणी से परामर्श किया था, किन्तु ये भी समझ नहीं सकीं। क्योंकि कल्पना नहीं थी।'

इस अभूतपूर्व घटना की जो प्रतिक्रिया हुई वह भी अद्भुत है। मैं उस दिन से निश्चिन्त बन गया। मैंने साधु-साध्वियों की सभा आमंत्रित कर कहा–'अब तुम लोगों का दायित्व है कि जैसा मुझे समझते हो, वैसा ही इनको समझो। अपनी श्रद्धा-भक्ति उंडेल दो। अब सारा कार्य ये करेंगे। इन्हें कार्य सिखाना नहीं पड़ेगा। ब्रह्मा को कौन सिखाता है? इनकी अंतर्दृष्टि जागृत है। बंधुओ! ऐसे शिष्य का मिलना भी सौभाग्य की बात है।'

गुरुदेव के इस प्रवचन में आचार्य-पद के विसर्जन का इतिहास है, आचार्य के दायित्व की सफलता की अनुभूति है, **गणतत्तिविप्पमुक्के**–इस आगमसूक्त का जीवन्त दर्शन है और अपूर्व निदर्शन है आत्मविश्वास का।

विकास महोत्सव

जयपुर से प्रस्थान कर हम लोग दिल्ली पहुंचे। राजधानी के नागरिकों ने गुरुदेव के एक नए रूप का स्वागत किया। चातुर्मासिक प्रवास अनेक उपलब्धियों, कार्यक्रमों के साथ बीता। भाद्रपद शुक्ला नवमी के दिन गुरुदेव का पट्टोत्सव मनाया जाता था। तेरापंथ की यह परम्परा रही है कि जिस दिन आचार्य का पदाभिषेक होता है, वह दिन पट्टोत्सव के रूप में मनाया जाता है।

गुरुदेव युगद्रष्टा थे। युगदर्शन की सूक्ष्म दृष्टि ने उन सूक्ष्म सत्यों का साक्षात्कार किया जिनका साक्षात्कार स्थूल दृष्टि नहीं कर सकती। विनम्रता, सहिष्णुता और उदारता का त्रिवेणी संगम सूक्ष्मता को पारदर्शी बना देता है। उस पारदर्शी दृष्टि ने सुदूर भविष्य को देखा और एक दिन अचानक गुरुदेव ने कहा–'इस वर्ष मेरा पट्टोत्सव नहीं मनाया जाएगा। मैं आचार्य-पद का विसर्जन कर चुका हूं, फिर पट्टोत्सव क्यों मनाया जाए?'

इस विनम्र और उदार घोषणा ने विकास-महोत्सव को जन्म दिया। मेरी भावना थी कि पट्टोत्सव पूर्ववत् मनाया जाए किन्तु गुरुदेव का बार-बार उपरोध रहा–'पट्टोत्सव न मनाया जाए।' इस प्रतिवादी विचार से एक संवादिता का जन्म हुआ। मैंने निर्णय किया कि पट्टोत्सव को नया रूप दिया जाए, जिससे गुरुदेव की भावना और हमारी भावना दोनों के मिश्रण से नई प्रजाति बन जाए। वह संवादी प्रणाली है विकास-महोत्सव। जैसे अनुशासन का प्रतीक पर्व है मर्यादा-महोत्सव, वैसे ही विकास का प्रतीक पर्व है विकास-महोत्सव। गुरुदेव की भाषा में विकास-महोत्सव का इतिहास निम्नलिखित है–

'तेरापंथ धर्मसंघ में महोत्सवों की एक सार्थक श्रृंखला रही है। उसमें एक नई कड़ी जुड़ी वि.सं. २०५१ के दिल्ली चातुर्मास्य में। भाद्रपद शुक्ला नवमी का प्रसंग सामने था। उसे लेकर सदा की तरह पट्टोत्सव की तैयारियां होने लगीं। मैंने कहा–'मैं अपना पद-विसर्जन कर चुका हूं। उसके साथ ही पट्टोत्सव की प्रासंगिकता बदल गई है। इसलिए नवमी को पट्टोत्सव का आयोजन नहीं हो सकता। चारों ओर से अनुरोध और आग्रह के बावजूद मैंने उसे अमान्य कर दिया। मेरी दृढ़ता ने उस संदर्भ में कुछ भी सोचने का रास्ता बन्द कर दिया।

अब महाप्रज्ञजी को अपनी महाप्रज्ञा का प्रयोग करना था। उनका स्वभाव ही ऐसा है कि वे झटपट हार नहीं मानते। वे बोले–'हमें आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, पर आप हमारे उत्साह को रोक नहीं सकते। हम

इस दिन को अवश्य मनाएंगे।' मैंने कहा–'आज्ञा भी शिरोधार्य है और दिन को भी मनाना, ये दो विरोधी बातें कैसे हो सकेंगी?' महाप्रज्ञजी बोले–'गुरुदेव! आपने संघ में विकास के अनगिन आयाम खोले हैं। उनको निमित्त बनाकर हम विकास-महोत्सव मनाएंगे और वह तेरापंथ धर्मसंघ में मर्यादा-महोत्सव की तरह व्यापक रूप में मनाया जाएगा।' मैंने इसे भी टालना चाहा, किन्तु महाप्रज्ञजी के तर्क इतने अकाट्य थे कि मुझे मौन स्वीकृति देनी पड़ी। यह है 'विकास-महोत्सव' के उद्भव का संक्षिप्त-सा इतिहास।'

गुरुदेव ने भाद्रपद शुक्ला पंचमी की डायरी में इस विषय में लिखा है–भादवे की नवमी आ रही है। पट्टोत्सव नहीं मनाना है तो फिर क्या किया जाए? चिन्तन चला। महाप्रज्ञजी ने कहा–'मर्यादा-महोत्सव संघ में स्थापित है, प्रतिष्ठित है, वैसे ही इस बार नवमी को 'विकास-महोत्सव' का रूप दिया जाए।'

'गहरा चिन्तन करके निर्णय लिया गया–विकास-महोत्सव। उसकी रूपरेखा तैयार की गई। एक परिपत्र बनाया गया। विकास का अतीत पर साध्वीप्रमुखा बोलीं, वर्तमान पर महेन्द्र मुनि, पृष्ठभूमि पर महाश्रमण मुदितजी बोले, बाद में आचार्य महाप्रज्ञ। उपसंहार हमारे द्वारा हो। ठीक इसी रूप में सब कुछ रखा गया। विकास-महोत्सव का रूप अच्छा बन गया। जनता भरपूर थी। खूब जमा विकास-महोत्सव नाम। सबको प्रसन्नता हुई। नवमी, दशमी, एकादशी–तीनों दिन बराबर क्रम चला। परिपत्र पढ़कर सुना दिया गया। आनन्द ही रहा।'

परिपत्र लिखकर मैं प्रवचन के मध्य गुरुदेव को समर्पित करने के लिए खड़ा हुआ। गुरुदेव भी खड़े हो गए। प्रसन्न मुद्रा में उसे स्वीकार किया। परिपत्र का मूल पाठ इस प्रकार है–

विकास-महोत्सव : आधार पत्र

'धर्मशासन की शक्ति का उन्नयन हो, यह गण के प्रत्येक सदस्य का पवित्र मनोरथ होना चाहिए। शक्ति का उन्नयन विकास की प्रक्रिया के द्वारा संभव है। उत्तरोत्तर विकास नहीं होता तब शक्ति कुंठित हो जाती है, इसलिए विकास की प्रक्रिया निरंतर चलनी चाहिए। आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ का प्रवर्तन (वि.सं. १८१७, ईसवी सन् १७६०) किया। उन्होंने विकास का बीज वपन कर दिया। साहित्य के क्षेत्र में उनका अवदान निश्चित रूप से अविस्मरणीय है।

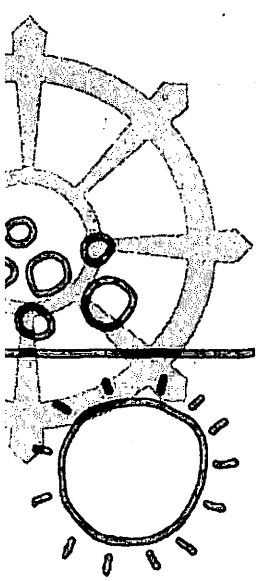

अनुस्मृति है कि हेमराजजी स्वामी की दीक्षा (वि.सं. १८५३, ईसवी सन् १७९६) के पश्चात् संघ का चतुर्मुखी विकास शुरू हुआ। श्रीमज्जयाचार्य विकास के मेरुदण्ड बने। उन्होंने अनुशासन, मर्यादा, व्यवस्था, साहित्य आदि अनेक क्षेत्रों में विकास के कीर्तिमान स्थापित किए। मर्यादा-महोत्सव उनकी दूरदर्शी दृष्टि का परिणाम है।

प्रत्येक आचार्य ने अपने-अपने समय में विकास की कोई न कोई रेखा खींची। तेरापंथ के आधुनिक विकास के मंत्रदाता हैं पूज्य कालूगणी। उन्होंने संस्कृत और प्राकृत विद्या का बीज-वपन कर तेरापंथ धर्मसंघ को मध्यकालीन जैन युग में प्रवेश करवा दिया तथा साथ-साथ आधुनिक युग में प्रवेश का द्वार खोल दिया।

विकास के शलाकापुरुष हैं–आचार्यश्री तुलसी। आचार्यवर ने शिक्षा, साहित्य, शोध, आगम-संपादन, अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन-विज्ञान, अहिंसा-प्रशिक्षण, विहारक्षेत्र विस्तार, समणश्रेणी, विदेशयात्रा आदि विकास के नए-नए आयाम उद्घाटित किए। आचार्यवर की सृजनात्मक प्रतिभा, कल्पनाशक्ति और कर्मजा

मति ने विकास का मार्ग प्रशस्त किया। हमारी विकास की गति निरंतर आगे बढ़े, इसलिए विकास-महोत्सव की परिकल्पना की गई है।

आचार्यश्री तुलसी की अभिवंदना में भाद्रपद शुक्ला नवमी का दिन विकास-महोत्सव के रूप में मनाने का निश्चय किया गया है। भाद्रपद शुक्ला नवमी के दिन आचार्य तुलसी आचार्य-पद पर अभिषिक्त हुए। प्रतिवर्ष यह दिन पट्टोत्सव के रूप में मनाया जाता है। वि. सं. २०५० माघ शुक्ला सप्तमी, मर्यादा-महोत्सव के दिन सुजानगढ़ में आचार्य-पद का दायित्व युवाचार्य महाप्रज्ञ में प्रतिष्ठित कर दिया। अतः अब पट्टोत्सव विकास-महोत्सव के रूप में मनाया जाएगा।

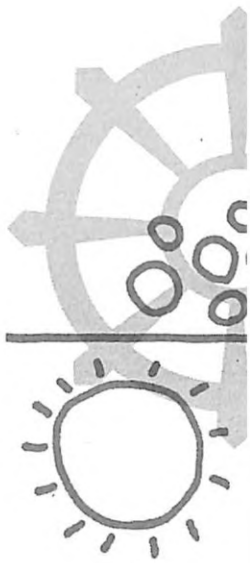

धर्मचक्र का प्रवर्तन

विकास-महोत्सव का आधार

मर्यादा-महोत्सव जैसे हमारी संघीय व्यवस्था के लिए आधार-स्तंभ है, वैसे ही विकास-महोत्सव संघीय विकास के लिए आधार-स्तंभ रहेगा।

तेरापंथ के विकास के मौलिक आधार हैं–• अनुशासन–एक आचार्य का नेतृत्व • अध्यात्म • अप्रमाद।

अनुशासन के बिना विकास की प्रक्रिया को सुनियोजित ढंग से आगे नहीं बढ़ाया जा सकता।

विकास की दिशाएं

आध्यात्मिक दृष्टि से विकास के पांच बिन्दु हैं–• ज्ञान • दर्शन • चारित्र • तप • वीर्य।

संघीय दृष्टि से विकास के चार बिन्दु हैं–• पारस्परिक सौहार्द • श्रावक समाज की सार-संभाल और संवृद्धि • सेवा • विहार।

सार्वजनिक दृष्टि से विकास के पांच बिन्दु हैं–• जन-सम्पर्क • वक्तृत्व • साहित्य • संगीत • कला।

विकास के साधन–• शिक्षा • स्वाध्याय • अणुव्रत • प्रेक्षाध्यान • जीवन-विज्ञान • अहिंसा-प्रशिक्षण • आगम-अनुसंधान।

तेरापंथ धर्मसंघ में जैसे मर्यादा की अक्षुण्ण परम्परा है वैसे विकास की भी अक्षुण्ण परम्परा है। आचार्य का कर्तव्य होगा कि इस परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखे। पूरे संघ का कर्तव्य है कि इस कार्य में संभागी रहे।

विकास के चार आयाम हैं–• आगे बढ़ना • रुकना • पीछे मुड़कर देखना • समीक्षा करना।

विधि और निषेध दोनों विकास के अंग हैं। प्रवर्तन और निवर्तन दोनों का समन्वय करके ही विकास की प्रक्रिया को स्वस्थ रखा जा सकता है। कोरी विधि उच्छृंखलता का रूप ले सकती है, कोरा निषेध रूढ़िवाद का रूप ले सकता है। इसलिए विधि और निषेध दोनों का समन्वित प्रयोग करना चाहिए। कोई भी समाज या संगठन विकास को आगे बढ़ाए बिना उपयोगी नहीं बन सकता, इसलिए विकास-महोत्सव की स्थापना आवश्यक है। इससे धर्मसंघ तेजस्वी बना रहेगा।

अब तक चातुर्मास, शेष काल में साधु-साध्वियों के विहार और अवस्थान की प्रार्थना मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर की जाती रही है। वह समय निर्णय और घोषणा का है। व्यवस्था समीचीन रूप से

की जा सके, इसलिए अपेक्षित हो गया है कि श्रावक-समाज अपनी प्रार्थना विकास-महोत्सव के अवसर पर प्रस्तुत करे, जिससे भविष्य का निर्णय करने में सुविधा हो। केन्द्र के चातुर्मास और मर्यादा-महोत्सव की प्रार्थना भी विकास-महोत्सव से प्रारंभ की जा सकती है। गतवर्ष के विकास का लेखा-जोखा और आगामी वर्ष की योजना तथा विकास-कार्य में साधु-साध्वियों, श्रावक-श्राविकाओं की नियुक्ति की परिकल्पना भी इसी समय की जाए, यह अपेक्षित है।'

नए इतिहास का सृजन

गुरुदेव ने विकास-महोत्सव की परिकल्पना को स्वीकृति प्रदान करते हुए कहा–'हमारे संघ में वर्तमान आचार्य का पट्टोत्सव मनाने की परम्परा है। आपको ज्ञात है कि मैंने अपने युवाचार्य को आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया है। फिर मैं पट्टोत्सव मनाऊं, यह नहीं चाहता। पट्टोत्सव को न मनाना महाप्रज्ञ को अच्छा नहीं लगा। इन्होंने संघ-विकास का इसे प्रतीक बना दिया। महाप्रज्ञ का दिमाग उर्वर है। इन्होंने चिन्तनपूर्वक नए इतिहास के सृजन की परिकल्पना कर ली। संघीय विकास का सिंहावलोकन, वर्तमान विकास की समीक्षा और भविष्य के विकास की संभावनाओं को सामने रखकर एक सार्थक आयोजन की प्रस्तुति की है। महाप्रज्ञजी ने चतुर्विध धर्मसंघ के सामने 'विकास-महोत्सव-परिपत्र' समर्पित किया, इसे मैं स्वीकार करता हूं।'

इस महान् अनुग्रह के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए मैंने कहा–'प्रभो! आपने संघ में नए हस्ताक्षर करने का हमें मौका दिया है। इसे नवीन इतिहास के साथ जोड़ा और योजनाबद्ध कार्य करने का अनुपम अवसर दिया, आपकी यह अनन्त-अनन्त करुणा हमें निरंतर मिलती रहे। इसके साथ-साथ गुरुदेव से मैं आशीर्वाद मांगता हूं कि प्रभो! हमारा संघ सदैव रक्षिता-रोहिणी बनकर आगे बढ़ता रहे।'

विसर्जन अन्य कर्मों का

गुरुदेव आचार्य-पद का विसर्जन करने के साथ-साथ कुछ अन्य क्रमों का भी विसर्जन करते रहे। भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी के दिन आचार्य भिक्षु का चरमोत्सव मनाया जाता है। चरमोत्सव के दिन आचार्य द्वारा एक गीत बनाया जाता है। उसमें भिक्षु स्वामी के प्रति भावसिक्त श्रद्धा समर्पित की जाती है। गुरुदेव ने कहा–'इस बार त्रयोदशी का गीत मैं नहीं बनाऊंगा। वह तुम ही बनाओ।' इस विषय में गुरुदेव ने लिखा है–'भिक्षु चरमोत्सव उत्साहपूर्वक मनाया गया। समय लंबा हुआ। साढ़े बारह बज गए। गीत महाप्रज्ञजी का हुआ। क्योंकि अब तक मेरा होता था। अब आचार्य-पद विसर्जित तो गीत भी विधिवत् विसर्जित। अतएव महाप्रज्ञजी ने गाया। कण्टालिया, बगड़ी चौमासे में भिक्षु भारीमाल नदी के तट पर मिलते और वार्तालाप होता। गीत में यही भाव था।'

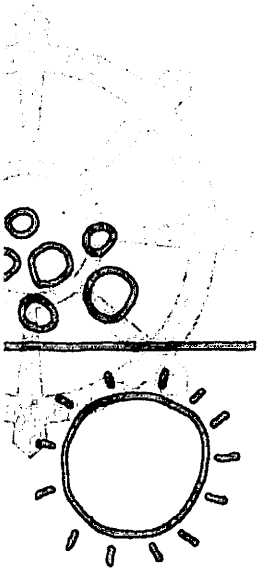

गुरुदेव ने जन्मदिन न मनाने की बात भी कही। उसको भी नया रूप देना आवश्यक था इसलिए उस दिन को 'अणुव्रत-दिवस' के रूप में मनाने की एक बड़ी कल्पना की गई। गुरुदेव की डायरी में उसका सजीव वर्णन है–'आज इक्यासीवां जन्मदिन अणुव्रत-दिवस के रूप में मनाया गया। उपस्थिति दीक्षा-दिन से भी ज्यादा थी। लोकसभा के अध्यक्ष पाटिल, दिल्ली के मुख्यमंत्री खुराना आदि उपस्थित थे। वातावरण अवर्णनीय था। चारों ही तीर्थ बल्कि पांचवां तीर्थ समणश्रेणी भी। सबके सब परम प्रफुलित थे। अणुव्रत सभागार भव्य और दृश्य एक साथ बन रहा था। भाषण एक से एक बढ़-चढ़कर थे। मैं क्या बोलता, बोलने की कोई बात थी ही नहीं। स्वयं अवाक्-सा बनकर देख रहा था। सबका खिलता प्रफुलित हृदय। साढ़े

बारह बज गए तब जाकर मुश्किल से संपन्नता हुई। महाप्रज्ञजी के मस्तिष्क की उपज थी अणुव्रत-दिवस की परिकल्पना। सफल रही। भविष्य में व्यवस्थित और सार्वजनिक बन जाएगी।'

ऐतिहासिक आलेख : अपूर्व निधि

गुरुदेव का आचार्य-पद के विसर्जन के बाद का चिन्तन उत्तरोत्तर विसर्जन की पुष्टि में केन्द्रित हो गया। प्रकृति में एकाग्रता की विलक्षणता थी। जो कार्य करना चाहते, उसमें एकाग्र हो जाते। वह एकाग्रता दीर्घकाल तक बनी रहती। आचार्य-पद का विसर्जन चिन्तनपूर्वक किया गया था। गुरुदेव के अंतर्मन में एक आभास था, एक प्रतीति थी। वे एक कार्य से मुक्त होकर उसकी उत्तरकालीन सफलता देखना चाहते थे। उनकी चाह में मेरी सहज वृत्ति एक बाधा बन रही थी। उस बाधा को दूर करने के लिए समय-समय पर कुछ संकेत दिए गए। एक रात्रि में अचानक वे संकेत मूर्त बनकर मेरे सामने आए। गुरुदेव ने 'मेरे अन्तर्मन के उद्गार'[1] शीर्षक से एक आशीर्वादात्मक लेख मुझे लिखाया। गुरुदेव की डायरी (कार्तिक शुक्ला ७) में प्रस्तुत संदर्भ का हृदयस्पर्शी वर्णन है–

'इन दिनों हम सायं प्रतिक्रमण के बाद अर्हत् वंदना करा कर महाप्रज्ञजी के कक्ष में बैठते हैं। घण्टा भर अंतरंग चिन्तन करते हैं। एक दिन अचानक मैंने कहा–'देखो, मेरा पद-विसर्जन जो है वह वास्तविक है। इसको औपचारिक समझने की भूल कोई न करे। मैंने कहा–लो लिखो, मैं लिखाता हूं। एक पूरा आलेख लिखा दिया। कोई चिन्तन नहीं किया। अचिन्तन में से चिन्तन निकल गया। वह एक ऐतिहासिक आलेख बन गया। महाप्रज्ञ के लिए अपूर्व निधि बन गया। उन्होंने उसे संत-सभा में सुनाया। सबको आश्चर्य और आनंद हुआ। वह रात अध्यात्म साधना केन्द्र के लिए विशिष्ट यादगार बन गई।'

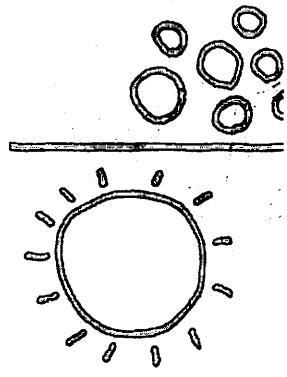

विसर्जन का प्रभाव

गुरुदेव के विसर्जन का जनमानस पर प्रभाव होने लगा। कार्यकर्ताओं ने दिल्ली में चातुर्मासिक प्रवास के समय जो भवन बनाए, उनमें कहीं भी किसी का नामोल्लेख नहीं था। यह विस्मयकारक लगा। गुरुदेव ने दिल्ली के कार्यकर्ताओं की गोष्ठी की। सबने अनाम निर्माण को महत्त्व दिया। गुरुदेव ने उसका मूल्यांकन करते हुए लिखा–'इस बार की यह खास बात है कि विसर्जन के साथ अनासक्ति बढ़ी है। नाम की भूख कम हुई है। करोड़ों का चन्दा, कहीं किसी का नाम नहीं, यह विशिष्टता रही।'

इन प्रसंगों से ज्ञात हो रहा था कि विसर्जन केवल बाहर में ही नहीं, भीतर में भी अंकुरित हो रहा था। चिन्तन और कार्य के अनेक आदर्शों पर उसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। प्रतिबिम्ब के आधार पर बिम्ब तक पहुंचने की क्षमता विकसित करें तो वास्तविकता के बहुत निकट पहुंच सकते हैं।

तेरापंथ विकास परिषद् की कल्पना

गुरुदेव बहुत दिनों से कहते थे–'समाज में संस्थाएं बहुत हो गई हैं, उनकी एकसूत्रता कैसे हो, इस पर चिन्तन करना चाहिए।' तेरापंथ विकास परिषद् की कल्पना का मूल आधार यही बना।

दिल्ली की गोष्ठी में समाज के प्रमुख कार्यकर्ता उपस्थित थे। गुरुदेव की सन्निधि में गोष्ठी चल रही थी। कुछ वर्ष पूर्व नियोजन मंडल का गठन हो चुका था। वह निष्क्रिय-सा हो रहा था। केन्द्रीय संस्थाओं

१. देखें, पृष्ठ ४०२-४०३।

की गतिविधियां बढ़ रही थीं। चिन्तन चला कि उन सबमें सामंजस्य कैसे हो? कार्य की पुनरावृत्तियां न हों, सब संस्थाओं के विकास की योजना बने और उसके लिए कोई नीति-नियामक संघटना बने। काफी गरमागरम बहस और चिन्तन के बाद मैंने तेरापंथ विकास परिषद् की, एकसूत्रता की कल्पना प्रस्तुत की। उसका आशय था–'केन्द्रीय संस्थाएं अपना कार्य स्वतंत्रतापूर्वक करती हैं। उसमें कोई अवरोध पैदा नहीं होना चाहिए। स्वतंत्रता की एक सीमा है। कोई भी स्वतंत्रता निरपेक्ष नहीं हो सकती। स्वतंत्रता की सीमा को समझना जरूरी है। उसका नियमन भी जरूरी है। नियमन के लिए तेरापंथ विकास परिषद् की कल्पना की जानी चाहिए। उसका काम होगा–केन्द्रीय संस्थाओं के कार्यों की समीक्षा करना, विकास के लिए समग्र दृष्टि से चिन्तन करना, संस्थाओं को सुझाव देना, तेरापंथ की मूलभूत नीतियों से हटकर कोई कार्य न हो, इस दिशा में नियामक शक्ति का कार्य करना।' इसे सब संभागियों ने ध्यानपूर्वक सुना और एक समाधान के रूप में स्वीकृति दी। गुरुदेव की यह चिन्ता सहेतुक थी कि केन्द्रीय संस्थाओं की प्रवृत्तियों का विस्तार हो रहा है पर उनका सम्यक् नियोजन नहीं हो रहा है। सम्यक् नियोजन के अभाव में सार्थकता और सफलता में कमी आ रही है। उपस्थित सभी संभागी इस सचाई का अनुभव कर रहे थे। गुरुदेव ने विकास परिषद् की कल्पना पर संतोष प्रकट किया। डायरी का एक पृष्ठ उसकी पुष्टि कर रहा है–

'केन्द्रीय संस्थाओं की त्रि-दिवसीय कार्यशाला चली। योगक्षेम हॉल। कुर्सियों की व्यवस्था। हमारी अंतरंग परिषद् तो थी ही, और भी कुछ साधु-साध्वियां उपस्थित रहे। प्रायः सभी संस्थाओं के अध्यक्ष, मंत्री थे, कुछ के नहीं भी। बैठक नियोजन मंडल के द्वारा आमंत्रित थी। गोष्ठियां हुईं। पहली गोष्ठी विवरणात्मिका थी। फिर चिन्तनात्मिका और निर्णयात्मिका चली। संतोषप्रद ही रही, ऐसा माना जा सकता है। मूल उपलब्धि यह रही कि विकास परिषद् का जो रूप बना है, बन रहा है, उससे सभी संस्थाओं के कार्यक्रम संबद्ध रहेंगे। नियोजन मण्डल का भी नया गठन होगा। वह विकास परिषद् और संस्था के बीच सेतु का काम करेगा। नियोजन मण्डल का एक अच्छा और सुव्यवस्थित कार्यालय होगा, जिसकी पूरी जागरूकता रहेगी। विकास परिषद् की सात इकाइयां होंगी, जिनका दायित्व एक-एक साधु-साध्वियों, समणियों का रहेगा। उनके साथ एक-एक नियोजन मंडल का सदस्य संबद्ध रहेगा। उनकी संख्या बढ़ाई भी जा सकती है। सारी संस्थाएं भी अपने-अपने स्वीकृत कार्यों को अच्छी तरह चलाएंगी। यह सब चिन्तन सर्वसम्मति से हुआ है, जिसकी पुष्टि होनी है। प्रायः लोग संतुष्ट थे। आगामी वैशाख के मध्य सप्ताह में इन्हीं सब लोगों का एक सामूहिक सप्त-दिवसीय प्रेक्षा शिविर लाडनूं में होना तय हुआ है।'

धर्मचक्र का प्रवर्तन

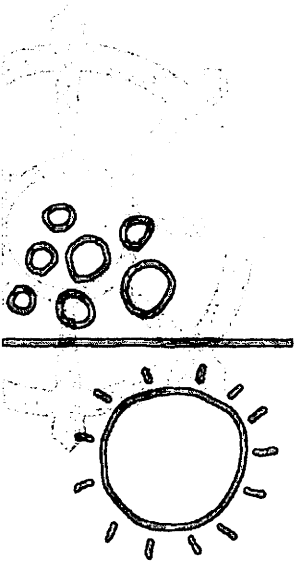

विकास-महोत्सव और तेरापंथ विकास-परिषद्, इन दोनों प्रवृत्तियों से कार्यनियोजन की दिशाएं स्पष्ट हो रही थीं। मुझे इस बात का आनन्दातिरेक था–गुरुदेव का जन्मदिन अणुव्रत-दिवस के रूप में और पट्टोत्सव (आचार्य पदारोहण दिवस) विकास-महोत्सव के रूप में शाश्वत बन गए हैं, तेरापंथ धर्मसंघ के स्थायी आयोजन बन गए हैं। गुरुदेव का तेरापंथ धर्मसंघ के विकास में जो अवदान है उसके प्रति कृतज्ञता का भाव सदा बना रहेगा, यह हमारे संघ की विनम्रता का एक निदर्शन है।

आचार्य पदाभिषेक

आचार्य पदाभिषेक का समय और कार्यप्रणाली निर्धारित हो चुकी थी। उसका प्रचार भी विधिवत् हो गया। एक नया उत्साह, नया वातावरण। इस दृश्य को देखने की उत्सुकता केवल तेरापंथ समाज में ही

नहीं, सर्वत्र थी। फलतः वह कार्य विशाल आयोजन के रूप में समायोजित हुआ। गुरुदेव ने उसका सजीव वर्णन किया है–

'त्रि-दिवसीय विशेष कार्यक्रम। मर्यादा-महोत्सव का विशिष्ट रूप बन गया। ऐतिहासिक, दर्शनीय, स्मरणीय तथा अभूतपूर्व, जिसकी विधिवत् सूचना दी गई। शहर में सैकड़ों जगह होर्डिंग लगाए गए। सचित्र पट्ट लगाए गए। पोस्टर तो अनगिनत लगे होंगे। इतना व्यवस्थित प्रचार, शालीन प्रचार शायद प्रथम बार ही हुआ हो। देशभर में लोगों को आमंत्रण दिया गया। 'दिल्ली चलो' घोष प्रसारित किया गया। कठिनाई सबसे बड़ी स्थान की थी। राजधानी का मामला, महानगर की भीड़भाड़। कैसे वैसी स्थिति में सब कुछ बन पाएगा? पर शासन का भाग, पूर्वाचार्यों की तपस्या, वर्तमान पीढ़ी का श्रम, कुल मिलाकर सब काम अकल्पनीय रूप में संपन्न हुआ।

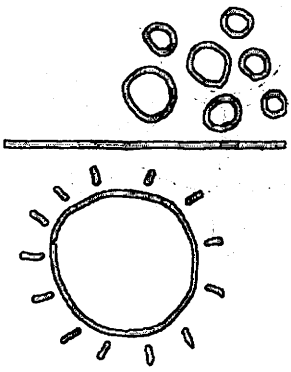

तारीख ५ फरवरी १९९५ का कार्यक्रम ग्यारह बजे था। तारीख ४ फरवरी को बादल छा गए। वर्षा आनी शुरू हो गई। लोग घबराए हुए बोले–'अब क्या करेंगे? वर्षा आ गई तो सब काम गड़बड़ा जाएगा।' हमने कहा–'घबराओ नहीं, प्रकृति का स्वागत करो, सब ठीक होगा।' यह सुनकर बल मिल गया। प्रकृति भी अनुकूल बन गई। बादल साफ हो गए। धूप निकल आई।

ठीक ग्यारह बजे हम शोभा-यात्रा से चले। आगे पारमार्थिक शिक्षण संस्था, फिर समणियां, साध्वियां, युवावाहिनी। दो बाल साधुओं के बीच महाश्रमण मुदित मर्यादा-पत्र हाथ में लिए। पीछे हम दोनों साधुओं के साथ। चलना साधन से पड़ा। जनता की अपार भीड़।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

ठीक पौने ग्यारह बजे कार्यक्रम। समवसरण स्टेज भव्य रूप से निर्मित। सवा घण्टे करीब पूर्व कार्यक्रम चला। ठीक सवा बारह बजे अभिषेक कार्य शुरू हुआ। विशिष्ट व्यक्तियों की उपस्थिति, अत्यन्त आकर्षक जनसमारंभ।'

गुरुदेव ने पदाभिषेक के कार्यक्रम के विवरण में आगे लिखा–'सबसे पहले एक लिखित वक्तव्य पढ़ा।' (डायरी में इस वक्तव्य की सूचना मात्र है) उस ऐतिहासिक वक्तव्य के कुछ अंश उद्धृत किए जा रहे हैं–

'इस अभ्युदय के समय में, मंगल घड़ी में मैं एक मंगल कार्य संपन्न करने जा रहा हूं। आचार्य महाप्रज्ञ को नियुक्ति-पत्र देने से पूर्व मैं अपनी लिपिबद्ध भावना को प्रस्तुत करना चाहता हूं–

मैंने आज से छह दशक पूर्व तेरापंथ धर्मसंघ का दायित्व संभाला। बाईस वर्ष की अवस्था। युवकोचित कल्पनाएं और उत्साह। विकास की अदम्य भावना। इन सबके साथ जैन शासन और तेरापंथ का अनुशासन मुझे नहीं मिलता तो संभव है जो काम करना चाहता था, नहीं कर पाता।

भगवान् महावीर के अनेकांत दर्शन ने मेरे दृष्टिकोण को व्यापक बनाया। मुझे साम्प्रदायिक संकीर्णता से ऊपर उठने का अवसर मिला। उसके आधार पर मैंने एक विचार दिया–धर्म संप्रदाय से ऊपर है। धर्म का स्थान पहला है और संप्रदाय का दूसरा। धर्म मूल है और संप्रदाय है उसका तना या शाखा-प्रशाखा। मैंने दूसरा विचार दिया–जातिवाद अतात्त्विक है। जातियां उपयोगिता की दृष्टि से बनती हैं, पर वे शाश्वत नहीं हैं। इसलिए जातिवाद उतना ही खतरनाक है जितना संप्रदायवाद। इन अवधारणाओं के फलस्वरूप मेरा दृष्टिकोण मानवतावादी बन गया। फलतः मानवता को बांटने वाली रेखाओं से मैं परे हो गया।

भगवान् महावीर की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले आचार्यों में एक हुए हैं–आचार्य भिक्षु। उनसे मुझे अध्यात्म, आचारनिष्ठा और अनुशासन के सूत्र मिले। उनके आधार पर मैंने तेरापंथ की शक्ति को बढ़ाने का प्रयास किया। अध्यात्म की दिशा में चरण आगे बढ़े। उसमें धर्मसंघ का भी पूरा योगदान रहा। मैं अतिशयोक्ति के बिना कह सकता हूं कि अध्यात्म के क्षेत्र में हमारा कार्यक्रम पूरे विश्व में महत्त्वपूर्ण माना जा रहा है। इस काम को और आगे बढ़ाना है, यह मेरा संकल्प है। आचार-निष्ठा के संस्कार ने मुझे राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण की दृष्टि से काम करने के लिए प्रेरित किया। अणुव्रत आंदोलन उसी प्रेरणा की फलश्रुति है। अनुशासन से मुझे जो शक्ति मिली, उससे अपने कार्यक्रमों को विस्तार देने में सफलता मिली है।

मैंने छह दशक तक संघ की सेवा की। उसे यथाशक्ति विकसित एवं पल्लवित किया। उसके साथ-साथ धर्म एवं अध्यात्म को नई भूमिका दी। विशाल जनसमुदाय के साथ संबंध जोड़ा। जैन धर्म को जन धर्म बनाने के लिए प्रयास किया और तेरापंथ को असाम्प्रदायिक संघ की पहचान देने का लक्ष्य बनाया। इस संदर्भ में मैंने चिंतन किया कि अब मुझे अध्यात्म के व्यापक क्षेत्र में काम करना है इसलिए धर्मसंघ का दायित्व अपने उत्तराधिकारी को सौंप देना चाहिए।

चिंतन, निर्णय और क्रियान्विति के बीच कालक्षेप मुझे मान्य नहीं है इसलिए अपने निर्णय के अनुसार मैंने एक वर्ष पहले ही १८ फरवरी, १९९४ को अपना दायित्व युवाचार्य महाप्रज्ञ को सौंप दिया। तब से वे अपना काम संभाल रहे हैं। पर उस समय की घोषणा आकस्मिक थी। उस घोषणा के साथ मैंने संकेत भी दिया था कि इस काम को विधिवत् संपादित करना है। यद्यपि यह काम मैं ५ नवम्बर, १९९४ को करना चाहता था, पर प्राकृतिक कठिनाई के कारण नहीं कर पाया। देश की राजधानी दिल्ली में अब वह क्षण उपस्थित हुआ है। आज मैं अपने संकल्प के परिपाक के चरम बिन्दु पर पहुंचता हूं और यह आशीर्वाद देता हूं कि आचार्य महाप्रज्ञ तेरापंथ धर्मसंघ की मौलिकता को सुरक्षित रखते हुए विकास के नए आयाम उद्घाटित करें, जैन शासन की प्रभावना करें और मानव जाति के लिए कल्याणकारी कार्यक्रम प्रस्तुत करें। तेरापंथ धर्मसंघ, जैन समाज और पूरी मानव जाति आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा निर्दिष्ट पथ पर आगे बढ़ती रहे, यही शुभेच्छा है।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

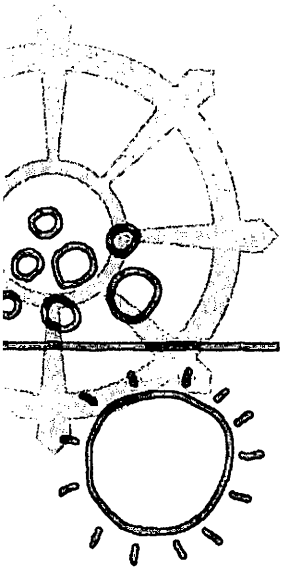

गुरुदेव ने आगे लिखा–'अब आह्वान किया महाप्रज्ञ को। कुछ साधुओं ने वर्धापन कर हमारे सामने उपस्थित किया। मैंने नियुक्ति पत्र पढ़ा और महाप्रज्ञ को समर्पित किया।

आध्यात्मिक तिलक के द्वारा आचार्य-पदाभिषेक

१. दर्शन केन्द्र पर अंगुष्ठ टिकाकर मंत्रोच्चारण–आइच्चेसु अहियं पयासयरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।

२. ज्योति केन्द्र पर अंगुष्ठ टिकाकर मंत्रोच्चारण–चंदेसु निम्मलयरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।

३. शांति केन्द्र पर अंगुष्ठ टिकाकर मंत्रोच्चारण–सागरवर गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।

शक्ति-संप्रेषण का प्रयोग मस्तक पर हाथ टिकाकर–आरोग्ग बोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दितु।

शरण सूत्र–अरहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

खड़े होकर उत्तरीय प्रदान तथा भुजाओं में आवेष्टन।

फिर संकल्पाभिव्यक्ति। तीन संकल्पों का मेरे द्वारा उच्चारण। महाप्रज्ञ द्वारा पुनरुच्चारण–

१. तेरापंथ की परम्परा, मर्यादा, आचार, विचार और सामाचारी की एकता को अक्षुण्ण रखूंगा।

२. तेरापंथ धर्मसंघ के दायित्व का पूर्ण निष्ठा के साथ निर्वाह करूंगा।

३. तेरापंथ के व्यापक दृष्टिकोण एवं कार्यक्रम को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करूंगा।

'आओ बैठें' कहकर दोनों अपने-अपने पट्ट पर आसीन।

वर्तमान युग की समस्याएं

मैंने उस अवसर पर एक वक्तव्य दिया। उसके उत्तरार्द्ध के कुछ अंश इस प्रकार हैं–

'मानव के सामने आज तीन बड़ी समस्याएं हैं– १. रोटी की समस्या २. चरित्र की समस्या ३. मानसिक शान्ति की समस्या।

ये तीन बड़ी समस्याएं हैं आज की। रोटी की समस्या को सुलझाने का दायित्व राजनेताओं पर है। शेष बची दो–चरित्र की समस्या और मानसिक शांति की समस्या। चरित्र की समस्या को सुलझाने से भी अधिक वरीयता देना चाहता हूं मानसिक समस्या को सुलझाने को। मैं अपनी और अपने धर्मसंघ की पूरी शक्ति इस कार्य में नियोजित करना चाहता हूं। (पूज्य गुरुदेव ने टिप्पणी की–यदि यह समस्या सुलझ जाए तो फिर और कोई समस्या रह ही नहीं जाएगी।) गुरुदेव ने ठीक कहा कि प्राथमिकता दी जा रही है गरीबी मिटाने को, जबकि प्राथमिकता देनी चाहिए चरित्र-निर्माण को, मानसिक स्वास्थ्य को, जिनके आधार पर गरीबी पनप रही है और चल रही है। गरीबी चरित्रहीनता की ही तो उपज है!

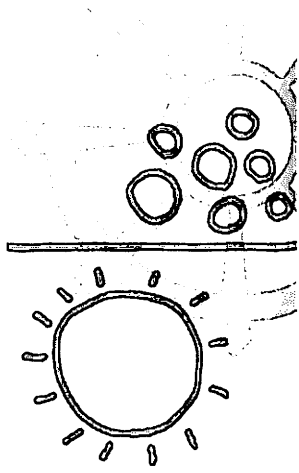

धर्मचक्र का प्रवर्तन

एक और आशीर्वाद मैं पूज्य गुरुदेव से चाहता हूं। उसे चाहे आप मेरी नीति की घोषणा समझें या कुछ और। वह यह कि– १. मानसिक समस्याओं को सुलझाने में २. अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय करने में ३. आध्यात्मिक साम्यवादी समाज-व्यवस्था के द्वारा स्वस्थ समाज की संरचना करने में मैं अपनी शक्ति का नियोजन करूं।

यह आशीर्वाद आप मुझे प्रदान करें।

समाज से कटकर हम चल नहीं सकते। हमारा विश्वास एकान्त में नहीं, अनेकान्त में है। जितनी अच्छी समाज-व्यवस्था, उतना अच्छा चारित्रिक विकास। जितना अच्छा चरित्र, उतनी अच्छी समाज की व्यवस्था। इन दोनों का एक योग है, जिसे कभी अलग नहीं किया जा सकता। यही हमारा मुख्य कार्य रहेगा। हमारा दृष्टिकोण जो व्यापक बना है वह कभी संकुचित नहीं होगा। तेरापंथ धर्मसंघ का असाम्प्रदायिक व्यापक दृष्टिकोण और पूरी मानव जाति के लिए निर्धारित उसका कार्यक्रम जैसा गुरुदेव द्वारा प्रदत्त है, वैसा ही चलेगा। मुझे आशीर्वाद दें कि मैं उसमें कुछ और जोड़ सकूं। उसमें कुछ और निखार ला सकूं।

धर्मसंघ की अपेक्षाएं

हमारे धर्मसंघ में आज कुछ अपेक्षाएं हैं। वे हैं–चित्तसमाधि, सेवा और श्रम, उच्च शिक्षा, स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता और अनेकान्त का जीवन व्यवहार में प्रयोग। हमारी पहली आवश्यकता है चित्तसमाधि। हम अपने संघ में, साधु-साध्वियों की अंतरंग परिषद् में सबसे पहली प्राथमिकता देते हैं चित्तसमाधि को।

जो आचार्य अपने साधु-साध्वियों की चित्तसमाधि को नहीं रख पाता वह सफल आचार्य नहीं कहलाता। प्रयत्न रहा कि प्रत्येक साधु-साध्वी के चित्तसमाधि रहे। दूसरी बात है सेवा और श्रम की। हमारे धर्मसंघ में सेवा को जितना महत्त्व दिया गया है उतना और किसी दूसरी चीज को नहीं। इसके साथ-साथ उच्च शिक्षा को हम महत्त्व देंगे। कोरा भजनानंदी नहीं बनना है। युग के साथ चलने के लिए उच्च शिक्षा की अनिवार्यता है। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता और अनेकान्त को जीवन-व्यवहार में उतारना–ये सूत्र हमारे धर्मसंघ में विकसित होते रहें, इसके लिए मैं आपसे आशीर्वाद चाहता हूं।

रोहिणी का दायित्व निभाऊं

चार प्रकार के व्यक्तित्व होते हैं–उज्झिता, भोगवती, रक्षिता और रोहिणी। परिवार के मुखिया द्वारा पुत्रवधुओं को पांच-पांच चावल देकर कहा गया कि पांच वर्षों के बाद इन्हें लौटाना है। एक पुत्रवधू ने उन्हें गली में फेंक दिया, सोचा–पांच वर्ष बाद नये चावल दे दूंगी। यह उज्झिता की मनोवृत्ति है। एक खा गई, यह सोचकर कि कहां रखूंगी। यह भोगवती है। तीसरी होती है रक्षिता। उसने सुरक्षित एक डिब्बे में रख लिए कि मांगने पर निकालकर दे दूंगी। चौथी है रोहिणी। पांच चावलों से खेती शुरू की और जब वापस मांगा गया तो बोली–'बैलगाड़ी भेजें और उसमें लादकर ले जाएं।' सारे बही-खाते सामने लाकर रख दिए।

'गुरुदेव! मैं उज्झिता में विश्वास नहीं करता, भोगवती में विश्वास नहीं करता, रक्षिता में करता हूं, पर पूरा नहीं। आप मुझे आशीर्वाद दें कि मैं रोहिणी का दायित्व निभाऊं।'

धर्मचक्र का प्रवर्तन

माघ शुक्ला षष्ठी का दिन एक उल्लास का दिन प्रतीत हो रहा था। उस उल्लासमय वातावरण में मैंने अपने भाव प्रकट किए। उसके बाद साधु-साध्वी संघ और श्रावक समाज की ओर से वर्धापन का कार्य शुरू हुआ। गुरुदेव ने उसका अंकन इन पंक्तियों में किया है–'समूचा कार्यक्रम इतना भव्य, शालीन, जिसे अभूतपूर्व या अश्रुत कहा जा सकता है। अनेक दृष्टियों से यह नया कार्यक्रम शासन के लिए, युग के लिए प्रभावकारी रहा, ऐसा कहने में कोई संकोच नहीं। दो-ढाई बजे आज का कार्यक्रम संपन्न हो गया।'

माघ शुक्ला षष्ठी के दिन कुछ और भी करने का चिंतन था, पर अन्य कार्य नहीं किया गया। इसका हेतु यह था–एक प्रमुख के साथ अन्य कार्य संयोजित न हों। वह शेष कार्य माघ शुक्ला सप्तमी के दिन हुआ। कार्य का विवरण गुरुदेव की डायरी में इन शब्दों में आलेखित है–

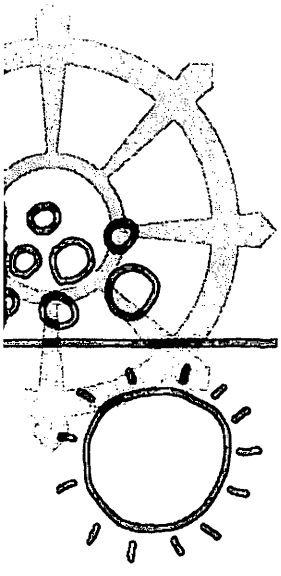

'महाश्रमण मुदित एवं महाश्रमणी कनकप्रभा को लिखित नियुक्ति-पत्र प्रेषित किए गए, जो प्रभावशाली रहे। महाश्रमण, महाश्रमणी को ऐसा महत्त्व सहज ही मिल गया, जो संघ हित में था। चार तीर्थ में बहुत आह्लाद का प्रसंग रहा। महाप्रज्ञ धर्मसंघ के दसवें आचार्य। महाश्रमण का पद केवल आलंकारिक नहीं, पूर्ण कार्यकारी। कुछ औपचारिकता जो बाकी बची, उसे महाप्रज्ञ समय पर करेंगे। महाश्रमणी भी दायित्वपूर्ण कार्य संभालेंगी।'

जैन विश्व भारती में

दिल्ली से प्रस्थान और लाडनूं जैन विश्व भारती पहुंचने का लक्ष्य। मध्य में हरियाणा का स्पर्श हुआ। राजस्थान पहुंचे। राजगढ़ के बाद टमकोर आया। वहां जाने में कठिनाई थी। उस कठिनाई का समाधान हो गया। टमकोर की यात्रा बहुत आनन्दमय रही। गुरुदेव ने उस यात्रा का भावी कल्पनाओं के साथ वर्णन किया है–

'आज टमकोर पहुंचे। यह महाप्रज्ञजी की जन्मस्थली है। महाश्रमणी कनकप्रभा का ननिहाल है। इस रूप में प्रथम आगमन है। टमकोर बदल गया। जनता की इतनी बड़ी उपस्थिति कल्पनातीत है। सरकार ने रास्ते का सहयोग किया। सड़क बना दी। जनता का भला हो गया। टमकोर की जनता का सार्वजनिक उत्साह दर्शनीय था। श्रमाधिक्य से कुछ स्वास्थ्य की समस्या रही। शेषं कुशलम्।

आज टमकोर का दूसरा दिन। गंगाशहर चोखला में आगामी चातुर्मास की प्रार्थना। माहौल बन रहा है। टमकोर को अणुव्रत ग्राम बनाया जाए, वैसी संभावनाएं। जनता में अपूर्व उत्साह। दिन भर व्यस्तता। महाप्रज्ञ में नई चमक आ रही है। प्रसन्नता। भविष्य में प्रयोगात्मक प्रवृत्तियां चलाई जाए, निर्णय बन रहा है। लाडनूं केन्द्र बनेगा, ऐसा लग रहा है।

पिछले दिनों से हम दोनों मिल-बैठ कर सोचते हैं कि अब अणुव्रत विचार को आचार-परिणत करने का कार्य प्रारंभ होना चाहिए। उसका लाडनूं से श्रीजिनेश करेंगे। पर स्वप्न में कितनी शक्ति होती है, उसका उदाहरण टमकोर है। टमकोर अणुव्रत प्रयोग का सघन क्षेत्र बने, यह निर्णय और उद्घोषणा हुई। टमकोर और आसपास के ग्राम का कोई व्यक्ति शिक्षा, चिकित्सा और आजीविका से वंचित नहीं रहेगा। व्यसन-मुक्त और शान्त-सहवास होगा। अणुव्रत ग्राम का रूप लेगा।'

टमकोर से चूरू होकर सुजानगढ़ पहुंचे। वहां से विहार कर चैत्र शुक्ला नवमी को लाडनूं पहुंचे। लाडनूं के नागरिकों ने बड़े उत्साह के साथ स्वागत किया–'आज लाडनूं विश्व भारती में प्रवेश हुआ। लाडनूं नया बन गया। सारा शहर उत्फुल्ल, प्रफुल्ल नजर आ रहा था। पूरे शहर की परिक्रमा कर जैन विश्व भारती में प्रवेश किया। मानसिक प्रसन्नता बढ़ी।'

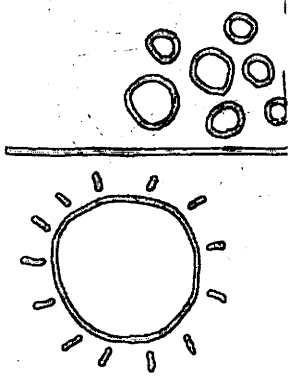

धर्मचक्र का प्रवर्तन

सुजानगढ़ मर्यादा-महोत्सव के पश्चात् यात्रा प्रारंभ हुई और लाडनूं में वह संपन्न हुई। इस कालावधि में अनेक प्रसंग सामने आए। गुरुदेव ने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य संपादित किए। उन सबका लेखा-जोखा प्रस्तुत प्रकरण में नहीं लिखा है। इस प्रकरण में आचार्य-पद-विसर्जन तथा उसके पश्चात् उससे संबद्ध जो प्रसंग हुए, उनका संक्षिप्त विवरण है। यह विवरण उस महान् चेतना की गाथा है जिसने एक नया सृजन किया। स्पर्धाक्रान्त चेतना को नया पथदर्शन किया। त्याग की महिमा का बिना छंद लिखे संगान किया। वह संगान, जिसकी प्रतिध्वनि युग-युग तक मानस की वीणा को झंकृत करती रहेगी।

जीवन का संध्याकाल

जीवन की अंतिम पदयात्रा

सन् १९९६ में हम लाडनूं में थे। उस समय गुरुदेव के कोष्ठबद्धता की समस्या चल रही थी। चिकित्सा द्वारा कभी वह शान्त और फिर कभी तीव्र हो जाती। मैंने एक दिन प्रार्थना की–'गुरुदेव! स्वास्थ्य की कुछ समस्या है और यात्रा में श्रम ज्यादा होगा। क्या इस पर पुनर्विचार किया जाए?'

गुरुदेव–'समस्या तो है, पर गंगाशहर चातुर्मास्य की घोषणा की हुई है, इसलिए जाना आवश्यक है।'

यात्रा से पूर्व ज्योतिषीय दृष्टि से समस्या की मीमांसा करना मेरा एक क्रम रहा है। मैंने सीताराम दाधीच से कहा–'यात्रा का निर्णय हो चुका है। ८३वें वर्ष में स्वास्थ्य की स्थिति कैसी है?' उन्होंने वर्षफल तैयार कर कहा–'इस वर्ष दो-तीन माह स्वास्थ्य की दृष्टि से अच्छे नहीं हैं, कष्टकारक हैं, फिर स्वास्थ्य अच्छा हो जाएगा।' यात्रा का निश्चय हो चुका था, इसलिए उसे सहज ही बदलना सरल कार्य नहीं था। मैंने यात्रा और श्रम की बात को फिर कई बार दोहराया। गुरुदेव ने कहा–'निर्णय हो चुका है, इसलिए यात्रा होनी ही चाहिए।'

धर्मचक्र का प्रवर्तन

चाड़वास मर्यादा-महोत्सव के लिए लाडनूं से हमारा विहार (३१ दिसंबर, १९९६) हो गया। गुरुदेव का प्रवास जैन विश्व भारती, लाडनूं में था। कोष्ठबद्धता की समस्या बीच-बीच में उभरती रहती। गुरुदेव ने एक बार कहा–'यात्रा है और स्वास्थ्य की समस्या भी है।' मुनि मधुकरजी ने बताया–'उस समय यह अनुभव हुआ कि यदि आचार्यवर की वहां उपस्थिति होती तो यात्रा के विषय में पुनर्विचार हो जाता।'

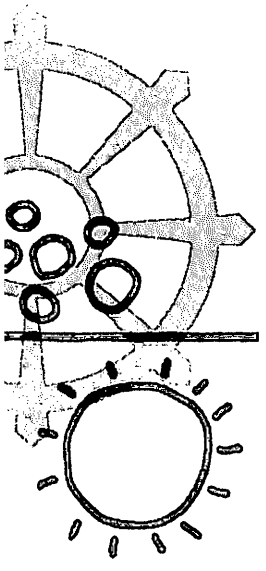

गुरुदेव की यात्रा का प्रारंभ २८ मार्च १९९७ को हुआ। २ मई १९९७ को यात्रा गंगाशहर में संपन्न हुई। इस पैंतीस दिन की यात्रा में श्रम काफी रहा, साथ-साथ प्रसन्नता उससे भी ज्यादा रही। गुरुदेव ने इसका यथावकाश उल्लेख भी किया है। वे लिखते हैं–'बीदासर में प्रतिदिन व्याख्यान दिया। मध्याह्न में भी श्रावक संबोध का संगान किया। सभी ने अच्छा लाभ लिया। श्रम करना पड़ा, पर सार्थकता रही। युवकों में नशे-जुए की प्रवृत्ति चल रही थी। छूट रही है। नशे का भी त्याग किया जा रहा है। काफी उत्साह का वातावरण बन रहा है।'

श्रीडूंगरगढ़ में पूज्य गुरुदेव ने काफी श्रम किया। डायरी का एक पृष्ठ–

'१६ अप्रैल, १९९७। आज श्रीडूंगरगढ़ में प्रवेश और प्रथम प्रवचन। प्रवचन साध्वीप्रमुखा को देना था, पर जनता को देखकर मन बदल गया। मुझे ही देना पड़ा। उत्तरोत्तर प्रवाह बढ़ता ही चला गया। समस्या

झंझटों को समेटने की आई। मन कम था, पर उचित लगा। नवरतनजी पुगलिया से बात की तो संपूर्ण समर्पण कर दिया। तब बात जम गई।.....'

'२२ अप्रैल, १९९७। आज प्रातः प्रवचन में श्रीडूंगरगढ़ में चल रहे वातावरण को अच्छा मोड़ मिल गया। नवरतनजी पुगलिया ने पंचायत भवन में लिखा अपना नाम वापस ले लिया। वातावरण एकदम बदल गया। उधर युवकों का भी अच्छा विनम्र भाषण हुआ, जिससे समूचे गांव का वातावरण धुप गया, उल्लासपूर्ण हो गया। उसी दिन सायं स्नेह-सम्मेलन, सहभोज हो गया। समूचे गांव में जो उल्लास बना उसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।'

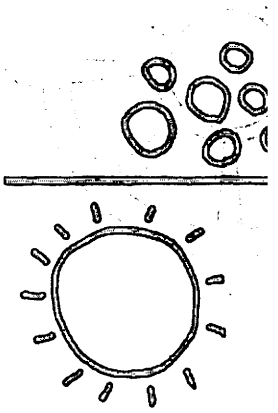

धर्मचक्र का प्रवर्तन

संगम दो ध्रुवों का

चार महीने तक मैंने स्वतंत्र विहार किया। गुरुदेव की सन्निधि से दूर रहा। इन चार महीनों में एक भी दिन ऐसा नहीं बीता होगा जिस दिन गुरुदेव के सान्निध्य की चर्चा न हुई हो। सहज ही सतत-स्मृति का ध्यान सिद्ध हो गया। साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा ने कहा–'एक भी दिन शायद नहीं बीता, जिस दिन गुरुदेव ने आपको याद न किया हो, कोई प्रसंग न चला हो।' मेरे मन में गुरुदेव के दर्शन की उत्कंठा थी। गुरुदेव के मन में मुझे अपना सान्निध्य देने की भावना कम नहीं थी। गुरुदेव ने १ मई, १९९७ की डायरी में लिखा–'कल प्रातः संगम हो रहा है दो ध्रुवों का। चार मास की दूरी सिमटकर बिलकुल मिलन हो रहा है। स्थान निर्णीत हो गया है। जनता उमड़ रही है। क्या देखेंगे? क्या नया होगा? पता नहीं क्यों उत्सुकता भरी है जन-जन के मन में? लो तो वह क्षण आ ही गया।'

२ मई, १९९७ की डायरी का पृष्ठ–'प्रातः ७.३० बजे दो धाराओं का मिलन हुआ। अद्‌भुत या अभूतपूर्व दृश्य था। जनता की अपार भीड़। सभी साधु-संत सानंद थे। साध्वीप्रमुखा भी मिलीं महाप्रज्ञजी से। अब प्रवेश प्रारंभ। सात कि.मी. का रास्ता। चारों तरफ जनता ही जनता। हमारा साधन चल रहा था। महाप्रज्ञजी भी कहीं पदयात्री, कहीं साधनयात्री। समूचे शहर–रांगड़ी, बोथरा गुवाड़, लक्ष्मीनारायण घाटी होते हुए बीकानेर पार कर गंगाशहर पहुंचे। सब ओर जनता की लहर। प्रज्ञा समवसरण, तेरापंथ भवन में पहुंचे। विशाल पंडाल खचाखच भरा था। हजारों लोग बाहर भी थे। स्थानाभाव के कारण कुछ चले भी गए। अच्छा प्रभावकारी रहा प्रोग्राम। भवन रोड पर है। भीतर के स्थान में उत्तर-दक्षिण होता तो काफी अच्छा रहता। खैर! जैसा बना, विशाल बना है, दर्शनीय बना है। सबसे बड़ी बात मध्य में है। तीनों क्षेत्र एक रूप बन गए–बीकानेर, गंगाशहर, भीनासर। दो उदासर, नाल–ऐसे पांच झुम्बक हैं।'

राजस्थान पत्रिका ने मुखपृष्ठ पर 'तेरापंथ के दो संतों का अभिनव संगम' शीर्षक से विस्तृत समाचार प्रकाशित किए। पत्रिका में प्रकाशित समाचार के कुछ अंश इस प्रकार हैं–'तेरापंथ धर्मसंघ के गणाधिपति तुलसी और आचार्य महाप्रज्ञ का शुक्रवार को सुबह यहां म्यूजियम मैदान पर मिलन हुआ। जय के उद्‌घोष के बीच गणाधिपति व आचार्य के संगम की अद्‌भुत घटना रही। अद्‌भुत इस रूप में कि जिन्होंने यह मिलन दृश्य देखा, वे भावविह्वल थे। एक विशाल जुलूस म्यूजियम से निकला जो गंगाशहर पहुंचा तब ऐसा लगा जैसे पूरा शहर स्वागत के लिए रुका हुआ हो। म्यूजियम मैदान के वृद्धजन भ्रमण-पथ पर दोनों संत अलग-अलग दिशाओं से आए तो हजारों कण्ठों ने जयनाद किया। घड़ी ने उस वक्त ७.२८ बजाए थे। नजदीक आने पर गणाधिपति तुलसी ने दसवें आचार्य महाप्रज्ञ को न सिर्फ गले लगाया बल्कि उनके सिर

को गोद में लिए वे कुछ क्षणों तक सहलाते भी रहे। जय के उद्घोष से आसमान गुंजायमान हो रहा था। दोनों संत दो दिन पूर्व ही बीकानेर में प्रवेश कर चुके थे। इस दौरान वे बीछवाल, कृषि उपज मण्डी, उदासर, बीकानेर बॉयज स्कूल, सादुलगंज आदि इलाकों से अलग-अलग आयोजित समारोहों में शिरकत करते रहे। लेकिन दोनों के औपचारिक संगम का समय शुक्रवार सुबह तय था। मिलन के कार्यक्रम को देखने के लिए बीकानेर, गंगाशहर, भीनासर, देशनोक, नोखा, कालू, लूणकरणसर और चूरू जिले में श्रीडूंगरगढ़ व सुजानगढ़, लाडनूं समेत देश के अन्य राज्यों से श्रावक-श्राविकाएं आए थे। आचार्य महाप्रज्ञ ने दिसम्बर, १९९६ के अन्त में लाडनूं से विहार किया था। वे सुजानगढ़, छापर, चाड़वास, बीदासर, श्रीडूंगरगढ़, मोमासर व लूणकरणसर से होकर बीकानेर पहुंचे, जबकि अणुव्रत-अनुशास्ता गणाधिपति श्री तुलसी मार्च के अंत में लाडनूं से रवाना हुए। वे श्रीडूंगरगढ़, नौरंगदेसर व उदासर होते हुए ३५ दिनों का विहार कर बीकानेर पहुंचे।

म्यूजियम मैदान में बने विशेष मंच से गणाधिपति ने कहा कि गुरु और शिष्य का मिलन अन्तरात्मा का मिलन है। इसी तरह राष्ट्र में पक्ष-प्रतिपक्ष की आत्मा मिल जाए तो देश की कई समस्याओं का समाधान हो सकता है। उन्होंने आशा जताई कि राष्ट्र संतों के मिलन से सीख लेगा।

इसके जवाब में आचार्य महाप्रज्ञ ने भाव-विभोर होकर कहा कि गुरुदेव का परोक्ष सान्निध्य उन्हें मिलता रहा। लाडनूं से विहार किया तब से गुरुदेव का धर्मचक्र उनके साथ रहा। गुरुप्रसाद मिलता रहे और शिष्यत्व बढ़ता रहे, यही उनकी कामना है। उन्होंने अपनी भावना को कविता के रूप में पेश किया–

शब्द से सान्निध्य तो मिलता रहा, पर आज शब्दातीत है।
आज मधु-मधु दूध में, नवनीत का संगीत है॥

मिलन केशी और गौतम का

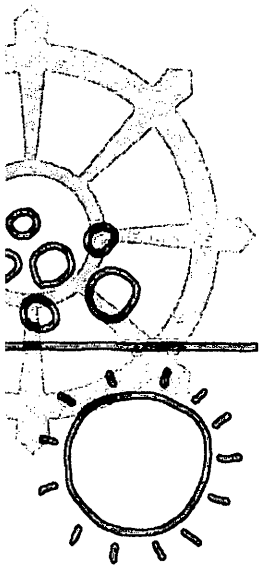

गुरुदेव की आकृति पर जो प्रसन्नता झलक रही थी उसे शब्दों की सीमा में बांधा नहीं जा सकता। उन्हें अपनी कृति पर गौरव की अनुभूति हो रही थी, ऐसा एहसास हो रहा था। वे उस समय बहुत कुछ कहना चाहते थे पर समय की सीमा थी, इसलिए बहुत नहीं कहा जा सका। किन्तु स्वल्प में जो कहा, वह अनल्प था। उसमें उनकी उदात्त चेतना बोल रही थी, उदारता शिखर को छू रही थी। गुरुदेव ने स्मित बिखेरते हुए पूछा–'आज किनका मिलन हो रहा है?' अनेक साधु-साध्वियां एक साथ बोल उठे–'वीर और गौतम का मिलन हो रहा है।'

यह हमारी प्रचलित अवधारणा है। भिक्षु और भारीमाल, जय और मघवा, तुलसी और महाप्रज्ञ–इन सबके लिए यह अवधारणा व्यक्त होती रही है। सदा यही प्रयोग होता था, इसलिए साधु-साध्वियों ने जो कहा वह अनुचित नहीं कहा। पर पता नहीं, उस दिन गुरुदेव किस मानस-मुद्रा में थे। उन्होंने इसे अस्वीकार करते हुए कहा–'वीर-गौतम का नहीं, गौतम और केशी का मिलन हुआ है।'

एक नया चिन्तन और नया प्रयोग सबने सुना और आश्चर्य के साथ सुना। जैसे ही मैंने दर्शन किए, गुरुदेव ने मुझे गले लगा लिया। कुछ क्षण परिचय के बीते। हेम शताब्दी के अवसर पर जिन मुनियों, साध्वियों और समणियों की दीक्षा हुई थी उन्हें गुरुदेव के सामने प्रस्तुत किया। वे अपरिचित पहले भी नहीं थे, किन्तु दीक्षित वेश में उनका संक्षिप्त परिचय दिया। गुरुदेव इतने हर्षोल्लास की मुद्रा में थे कि फिर मुझे

गले लगाया। उस मिलन-मुद्रा को कैमरे वालों ने अपने-अपने कैमरों में कैद कर स्थायित्व दे दिया। उस मुद्रा को देखकर आज भी गुरु-शिष्य की एकात्मकता को साक्षात् किया जा सकता है। बीकानेर के अनेक प्रबुद्ध लोग समय-समय पर मिले। वे मिलन को देखने के लिए उपस्थित थे। उन्होंने कहा–'वर्तमान युग में गुरु-शिष्य की ऐसी एकात्मकता को देखकर धन्य हो गए। हमें एक नया और अभिनव बोधपाठ मिला है।'

सहवास पचास दिवस का

चार मास की स्वतंत्र यात्रा के पश्चात् पचास दिनों तक हम एक साथ रहे। इक्यावनवें दिन गुरुदेव पार्थिव शरीर से मुक्त हो गए। पचास दिनों की अवधि में जो कल्पनाएं प्रस्फुटित हुईं और क्रियान्वित हुईं, उनका अपना मूल्य है। एक-एक क्षण का अपना वैभव है। संघीय स्थितियों पर चर्चा हुई, साधु-साध्वियों की भावी व्यवस्था पर चिन्तन चला, चिन्तन की एक तालिका बन गई। विस्तार से उन पर चिन्तन करणीय था। इस अंतराल में अक्षय तृतीया का कार्यक्रम हुआ। बहुत बड़ा और दर्शनीय कार्यक्रम था। दो सौ से अधिक वर्षीतप के पारणा की संयोजना थी।

गुरुदेव ने अपनी डायरी में लिखा–'अब अक्षय तृतीया सामने आ रही है। बड़ा फंक्शन है। बाफणा स्कूल में रखा है। बाफणा परिवार के तोलारामजी बड़े श्रद्धालु थे। पत्नी भी वैसी ही है। प्रवचन पण्डाल में परिषद् भी दर्शनीय होती है। अक्षय तृतीया का प्रोग्राम बहुत भव्य रहा। जनता की भीड़ दर्शनीय थी।'

विकास परिषद् की अंतरिम परिषद् हुई। इस विषय में गुरुदेव की डायरी की कुछ पंक्तियां उल्लेखनीय हैं–'मूल (तेरापंथ भवन) बिल्डिंग में ही जमे हैं। ११ व १२ मई को दो दिन की विकास परिषद् की मीटिंग थी। काफी लोग आए। हुलासजी, बनेचन्दजी, आदि-आदि। दो दिन गोष्ठियां चलीं। उपस्थिति काफी अच्छी रही। कुछ निर्णय भी अच्छे हुए। दिल्ली कार्यालय ठीक बने, निर्णय हो गया। बन ही गया मानो। और भी कुछ अच्छे निर्णय हुए। हुलासजी गोलछा अब भी यहीं हैं। गुलाबजी चण्डालिया नहीं आ सके, कमी रही। अब कल आ रहे हैं, ऐसा निर्णय है। शायद वे भी रुक जाएं। आज उनके साथ अच्छी चर्चा हुई।'

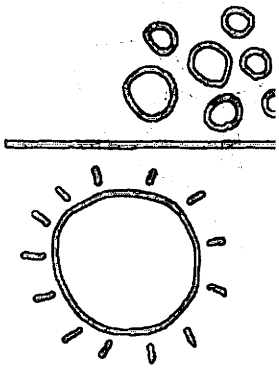

धर्मचक्र का प्रवर्तन

चिन्ता मानवता की

जीवन का अंतिम सप्ताह विचित्र और विलक्षण अनुभूति का सप्ताह रहा। उसकी व्याख्या केवल ज्ञात और अज्ञात के आधार पर नहीं की जा सकती। उसमें घटित होने वाली घटनाएं कुछ चेतन मन से जुड़ी हुई हैं और कुछ अचेतन मन से। ज्ञान सर्वथा निष्क्रिय नहीं हुआ था। प्रतीत हो रहा है कि अज्ञात ज्ञात पर हावी हो रहा था। श्री बलराम जाखड़ के साथ होने वाला वार्तालाप उसका साक्ष्य दे रहा है।

२२ जून, १९९७ को रात्रि में डॉ. जाखड़, लाल बाबा, विधायक भीमसेन चौधरी आदि ने गुरुदेव के दर्शन किए। गुरुदेव ने उनके साथ मुक्त वार्तालाप किया। उसमें ज्ञात और अज्ञात दोनों के संकेत मिल रहे थे। वार्तालाप का पूरा विवरण इस प्रकार है–

डॉ. बलराम जाखड़–आज आपके दर्शन कर बहुत प्रसन्नता हुई।

गुरुदेव–आपसे बहुत पुराना परिचय है।

जाखड़–आपका आशीर्वाद और स्नेह सदा मिलता रहा है।

कार्यकर्ता–आप लोकसभा के अध्यक्ष थे, तब भी गुरुदेव के दर्शन के लिए आए थे। अभी आपको अनेक जटिल स्थितियों का सामना करना पड़ा, फिर भी आप विचलित नहीं हुए।

गुरुदेव–कठिनाई की स्थिति में मनोबल का मजबूत होना जरूरी है।

जाखड़–सबसे बड़ा संबल है आपका आशीर्वाद।

गुरुदेव–प्रामाणिकता का जीवन जीना सबसे बड़ी उपलब्धि है। इस संदर्भ में मैं एक व्यक्ति का उदाहरण देना चाहता हूं। उन्होंने अपने जीवन में कभी चोरी नहीं की। हमने उन्हें 'प्रामाणिक प्रवर' के संबोधन से संबोधित किया। उनके जीवन पर कभी कोई अंगुली नहीं उठी। कोई नहीं कह सकता कि वे अप्रामाणिक हैं। उनका नाम था–सेठ सुमेरमलजी दूगड़। वे सरदारशहर के निवासी थे। उनके मकान में सोना निकला। किसी को पता नहीं था। सेठ सुमेरमलजी को पता चला। उन्होंने कहा–जमीन का धन सरकारी होता है। वह हमारा कैसे हो सकता है? उन्होंने सरकार को उसकी सूचना दे दी। आज कोई सूचना दे सकता है?

जाखड़–नहीं दे सकता।

गुरुदेव–मैंने ऐसा कोई व्यक्ति नहीं देखा। मैं दूसरी घटना बताऊं। उनका एक पुत्र था–भंवरलाल दूगड़। वह सरदारशहर की नाक था। हर गरीब की व्यथा को दूर करता। समाजोपयोगी कार्यों में वह सदा जागरूक रहता। एक बार वह दर्शन करने के लिए आया। उस समय मैं मेवाड़ के राजसमन्द ग्राम में था। एक दिन मैंने कहा–'तुमने समाज के लिए बहुत किया है, गरीबों के लिए बहुत किया है, किन्तु धर्म के लिए क्या किया? जिस जैनधर्म से तुम्हें संस्कार मिले, उसके लिए तुमने क्या किया?' उसने कहा–'गुरुदेव! जैनधर्म के संस्कार आएं, जैनधर्म के संस्कार प्रबल बनें, इस दिशा में आज से ही कार्य शुरू करूंगा। जैन विश्व भारती बनाऊंगा।' उसका चिन्तन था–जैनदर्शन, बौद्धदर्शन और वैदिक दर्शन–इन सबका तुलनात्मक अध्ययन हो। उसके लिए मैं मकान किराए पर लेकर काम शुरू कर दूंगा। उस समय मोहनलालजी सुखाड़िया राजस्थान के मुख्यमंत्री थे। वह जैन विश्व भारती का चिन्तन लेकर जयपुर जा रहा था। अचानक एक्सीडेण्ट हुआ। भंवरलाल का देहावसान हो गया। अब आप सेठ सुमेरमलजी का मनोबल देखिए। उन्होंने कहा–'यदि वह मेरी संपत्ति होता तो नहीं जाता। वह मेरी संपत्ति नहीं था, इसलिए चला गया।' इतना धैर्य और इतना मनोबल। ऐसे विरल व्यक्ति थे वे। उस प्रसंग में मैंने एक श्लोक कहा था–

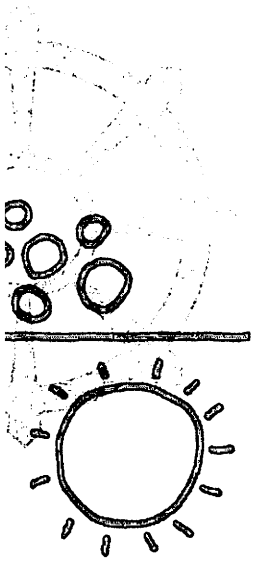

विरमविरमामुष्मान् नूनं दुरध्यवसायतो,
विपदि महतां धैर्यध्वंसं यदीक्षितुमीहसे।
अयि जडविधे! कल्पापाये व्यपेत निजक्रमः,
कुलशिखरिणः क्षुद्रा नैते न वा जलराशयः॥

–हे जड़विधि! तुम विपत्तिकाल में महापुरुषों के धैर्य के ध्वंस को देखने के लिए इस दुरध्यवसाय से विराम लो, विराम लो। अपने क्रम से विमुख होकर न ये कुलशिखरी रहेंगे और न जलराशि–समुद्र।

यह कितना मार्मिक श्लोक है। काल अच्छे-अच्छे आदमियों को ले जाता है। व्यक्ति चला जाता है, किन्तु उसकी प्रामाणिकता और नैतिकता की छाप अमिट रहती है। अणुव्रत नैतिक और प्रामाणिक जीवन जीने का संदेश देता है। यदि सब अणुव्रती बन जाएं तो देश का कायाकल्प हो जाए।

जाखड़–अणुव्रत ने लोकजीवन को बहुत प्रभावित किया है।

गुरुदेव–हमारे निकट के लोग अणुव्रती और नैतिक होते हैं तो हमें प्रसन्नता होती है। इसलिए सब नैतिक बनें, दुर्वृत्तियों को छोड़ें, यह सद्प्रयत्न सदा करते रहते हैं।

जाखड़–आपके ये प्रयत्न ही उज्ज्वल भविष्य के संकेत हैं।

गुरुदेव–हम कहते हैं, आदमी जैन बने या न बने, अच्छा मैन अवश्य बने। आदमी सही रूप में आदमी बनना सीखे। मनुष्य को मनुष्य बनाने से बड़ा कोई कार्य नहीं है।

जाखड़–यह मानवता की बात सबके हृदय को छूती है।

गुरुदेव–मानव को मानव बनाने का और कोई कारखाना नहीं है, फैक्ट्री नहीं है। केवल एक ही कारखाना है, वह है चरित्र, अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान। अणुव्रत मानवीय आचार-संहिता है। मनुष्य कैसा होना चाहिए, इसका एक प्रारूप है। प्रेक्षाध्यान इस प्रारूप के अनुरूप जीवन को ढालने के लिए है। इसके लिए कुछ करने की जरूरत नहीं है। प्रेक्षाध्यान के एक शिविर में बैठ जाओ, ध्यान का प्रयोग करो, परिवर्तन आ जाएगा। तीसरा है जीवन-विज्ञान। केवल बड़ों और बूढ़ों को ही नहीं, बच्चों को भी सुधारें। जीवन-विज्ञान अगली पीढ़ी को सुधारने के लिए है। जैन विश्व भारती में प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान के प्रयोग चल रहे हैं। जब हम जैन विश्व भारती, लाडनूं जाएंगे, आपको वहां याद करेंगे।

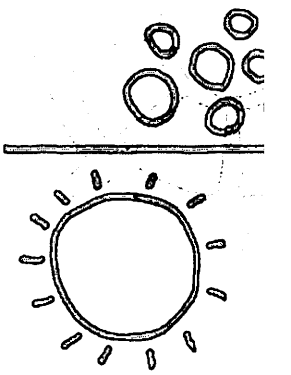

जाखड़–मैं अवश्य आऊंगा।

गुरुदेव–क्या आप महाप्रज्ञजी के पास जा आए? क्या वहां (तेरापंथ-भवन) नहीं जाएंगे?

जाखड़–हम वहां जाकर आए हैं।

गुरुदेव–अच्छा! वहां रोजाना पण्डाल खचाखच भरा रहता है। लोग समाते ही नहीं हैं। एक दिन नहीं, प्रतिदिन। एक समय नहीं, तीनों समय। केवल तेरापंथी ही नहीं, स्थानकवासी, मूर्तिपूजक, दिगम्बर, जैन-अजैन सब लोग आते हैं। हमको इतनी प्रसन्नता होती है कि मानव एकता का कितना बड़ा काम हो रहा है।

जाखड़–बहुत अच्छा काम हो रहा है।

गुरुदेव–आपका आना इसलिए हो कि आप इस कार्य से जुड़ें।

जाखड़–अवश्य।

गुरुदेव–मनुष्य केवल जन्म से नहीं, कर्म से जैन बने।

जाखड़–अच्छा।

गुरुदेव–जैन दो प्रकार के होते हैं–जन्मना जैन और कर्मणा जैन। जैन परिवार में कोई पैदा हो गया, वह जैन हो गया। वस्तुतः वह जैन नहीं होता है। जो कर्म से जैन होता है, वही सही रूप में जैन होता है।

जाखड़–कर्मणा जैन कैसे बनते हैं?

गुरुदेव–व्यसन को त्यागकर, प्रामाणिक जीवन का संकल्प स्वीकार कर। व्यक्ति व्यसनों को त्यागे, अप्रामाणिकता को छोड़े, यही हमारा टैक्स है।

जाखड़–ओ टैक्स तो म्हांने चोखो लागे।

गुरुदेव ने मुस्कराते हुए कहा–लोग कहते हैं कि संतों के पास खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। हम कहते हैं कि संतों के पास से खाली हाथ नहीं लौटना चाहिए। हमें नोट नहीं चाहिए, वोट नहीं चाहिए, प्लाट नहीं चाहिए और इस रात्रि में रोट भी नहीं चाहिए, केवल खोट चाहिए। जीवन में कोई भी खोट हो, उसे छोड़ें। कोई पान पराग या जर्दा खाता है, ड्रिंकिंग करता है, सिगरेट पीता है, वह इन बुरी आदतों को छोड़े। यही हमारा टैक्स है। गुरुदेव ने लाल बाबा की ओर इंगित करते हुए कहा–आपको यह काम करना चाहिए। जो भी व्यक्ति आए, उसे व्यसनमुक्त बनने की प्रेरणा दें।

लाल बाबा–मेरा यही काम है। चौधरीजी से पूछ लीजिए।

जाखड़–लाल बाबा यही काम करते हैं।

इस सप्ताह में गुरुदेव अत्यधिक कृपा, करुणा, स्नेह और वात्सल्य का प्रयोग कर रहे थे। आने वाले हर व्यक्ति को आत्मीयता का अनुभव हो रहा था। एक संत की वाणी में कोई अनूठा आकर्षण होता है और उसके मुख से निकले हुए दो शब्द भी व्यक्ति को प्रसन्नता से सराबोर कर देते हैं। जो भी गया, वह लेकर आया। खाली हाथ कोई भी नहीं लौटा। सुखानुभूति के अनेक कारण हैं। उनमें सबसे बड़ा कारण है विद्युत् चुंबकीय परमाणुओं से आकीर्ण वाणी का व्यवहार। उस व्यवहार की स्मृति जन-जन के मन को आज भी कचोट रही है।

जीवन का अंतिम आहार

२३ जून, १९९७ का प्रातःकाल। लगभग सात बजे गुरुदेव ने पानी के साथ मधु-युक्त नीबू का रस लिया। लगभग सवा आठ बजे छह-सात तोला उकाली ली। दस बजे फिर पानी के साथ मधु और नीबू का रस लिया। यह था अंतिम आहार। दो सप्ताह में आहार का क्रम इस प्रकार रहा–

प्रातःकालीन आहार	मध्याह्न-सायंकालीन आहार	सायं पांच बजे
९-१० जून, दलिया	कभी आधा फुलका, कभी गेहूं का बाट	९-१० जून संतरे का रस।
११ जून केवल दलिया, संतरे का रस	कभी राब, कभी चावल मूंग की दाल, चंवलाई	
१२ जून थोड़ी सेब, फिर कुछ देर बाद उकाली	मेथी, केरिया, लौकी– इनमें से कोई शाक भोजन के बाद (छाछ)	१२-१४ जून कुछ नहीं लिया।
१२-२३ जून उकाली	सायं कभी भोजन नहीं भी किया।	१५-१७ पपीता १८-२० मतीरे का रस

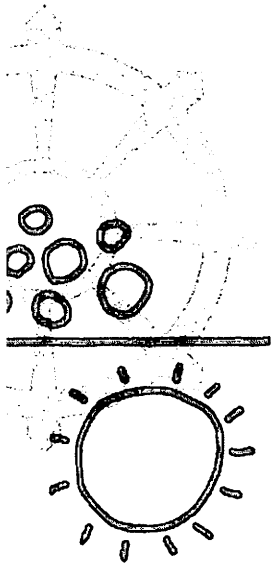

स्वास्थ्य-मीमांसा

पूज्य गुरुदेव ने स्वयं अपने स्वास्थ्य की मीमांसा की। उससे चिकित्सा और स्वास्थ्य दोनों विषय स्पष्ट होते हैं।

गुरुदेव के कोष्ठबद्धता की शिकायत लाडनूं में हो गई थी। उसकी चिकित्सा चली। डॉ. डी. एस. पोकरना ने अनेक बार दर्शन किए। उनका इलाज चला। लाडनूं से प्रस्थान करने के बाद छापर में भी वे आए। गुरुदेव ने अपनी डायरी (६ अप्रैल, १९९७) में लिखा–'डॉक्टर पोकरना छापर में आए। उदर विशेषज्ञ हैं। इधर में कोष्ठबद्धता की कठिनाई बनी हुई है। जांच की। चिकित्सा बताई। प्रारंभ कर दी गई। डॉक्टर अच्छे हैं, अनुभवी हैं और तेरापंथी हैं। अनोप बोथरा ने प्रेरणा की।'

गंगाशहर प्रवास में चिकित्सा का क्रम चला। वह गुरुदेव की डायरी (२२ मई) में संक्षेप में अंकित है–'आज डॉक्टरों को दिखाया गया। डॉ. अजीज एवं डॉ. मरोठी की चिकित्सा चल रही है। यूनानी चिकित्सा भी शुरू की है। लाभ होने से विश्वास जमेगा।'

३० मई, १९९७ की डायरी में गुरुदेव ने स्वास्थ्य की मीमांसा करते हुए लिखा–'लाडनूं से कोष्ठबद्धता की कठिनाई पैदा हुई। इसबगोल ने काम करना बंद कर दिया। अनेक उपाय चिकित्सा के किए पर संतोष नहीं हुआ। डॉ. मरोठी ने बराबर ध्यान दिया, और भी अनेक डॉक्टर आए। आखिर डॉ. मिश्रा यहां के प्रसिद्ध फिजिशियन आए। देखा, जांच की। इलाज शुरू किया। अब तीन दिनों से अच्छा लाभ चल रहा है। ठीक दो समय उत्सर्जन होता है। ऐसा क्रम चलता रहा तो बिलकुल ठीक हो जाएगा। डॉ. मिश्रा हमारी प्रकृति से मेल खाने वाला है। थोड़ी दवा देता है। आत्मविश्वास की भाषा में बोलता है। अच्छा लगता है। बीच में जुकाम, कफ से श्वास की गड़बड़ी हो गई। अब क्रमशः ठीक है। विश्वास बन रहा है कि सब कुछ ठीक हो जाएगा। संतोष है, प्रसन्नता है, कमजोरी जरूर है। सब ठीक हो जाएगा। डॉ. मरोठी दायित्वशील है। पूरा काम कर रहा है।'

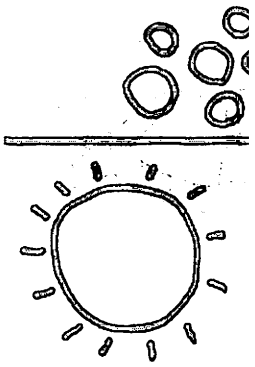

१६ जून, १९९७ की डायरी में गुरुदेव लिखा—

'अनेक प्रयोगों के बावजूद अभी स्वास्थ्य अनुकूल नहीं बना है। फिर चिन्तन आया–प्राकृतिक चिकित्सा का प्रयोग भी देख लिया जाए। वैद्य महावीर प्रसाद जी आए। परामर्श किया। निर्णय लिया–एनीमा सात दिनों तक ली जाए। कुछ दवा भी जैसे अभयारिष्ट, त्रिफला, इसबगोल लिया जाए, देखा जाए, पर स्थान-परिवर्तन हो। सभा-भवन में जन-संकुलता ज्यादा है। अतः एकांतवास किया जाए। मेन रोड पर मूलजी बोथरा का नवनिर्मित स्थान खुला है। मधुकरजी गए। देखा, स्थान ठीक लगा। पिछले रविवार को सायं जेठ की तीज को यहां पहुंचे। आज आठ दिन हो गए। तीन दिन से मिट्टी की पट्टी, गर्म-ठण्डा जल का सेंक और एनीमा चालू है। खाने में दूध, छेना, मिठाई, घी, तेल प्रायः बंद। शहद और नीबू मिला पानी और थोड़ा अन्न, दाल, फ्रूट, शाक लिया जाए। यह क्रम चालू है। आज तारीख १६ जून को मौन-दिवस है। प्रातः कुछ देर चर्चा करने के बाद मौन शुरू किया। आज कुछ ठीक लग रहा है पर दो-चार दिन ठीक रहने पर कुछ विश्वास जमे।'

जीवन का अंतिम प्रवचन

गंगाशहर के प्रवासकाल में गुरुदेव पन्द्रह दिनों तक प्रातःकालीन प्रवचन में प्रायः पधारे। प्रारंभ में मैं ऋषभ-चरित्र के आख्यान पर बोलता। उसके बाद गुरुदेव कुछ ऋषभ-चरित्र के प्रसंग को छूते और कुछ स्वतंत्र व्याख्या करते। स्वास्थ्य की अनुकूलता न होने पर व्याख्यान की समयावधि कम हो जाती। स्वास्थ्य-लाभ के लिए एकांतवास की स्थिति में प्रवचन का क्रम बंद हो गया।

दो सप्ताह पश्चात् आचार्यवर २१ जून को प्रवचन में पधारे। आचार्यवर का प्रवचन बहुत प्रभावशाली रहा। '२२ जून, १९९७ को प्रातःकाल हम गुरुदेव के दर्शन के लिए बोथरा भवन पहुंचे। वंदना और सुख-संवाद के अनंतर गुरुदेव ने कहा–आज हम व्याख्यान के समय आएंगे। मैंने निवेदन किया–प्रवचन में पधारने की निरंतरता बन जाएगी।' हम लोग तेरापंथ भवन में आ गए। गुरुदेव साढ़े नौ बजे प्रवचन-स्थल पर पधारे। मैंने गुरुदेव के समक्ष प्रवचन किया। वह गुरुदेव के सान्निध्य में होने वाला अंतिम प्रवचन है। गुरुदेव ने उसके बाद प्रवचन किया। वह परिषद् में होने वाला गुरुदेव का अंतिम प्रवचन है। गुरुदेव के उस प्रवचन का मूल पाठ यह है–

'वक्ताओ और श्रोताओ! आज महाप्रज्ञजी ने एक नई बात जो सुझाई है, बहुत पते की बात है, आवश्यक बात है। हमारे धर्मसंघ में जो साधु-साध्वियां वृद्ध हो जाते हैं, अपंग हो जाते हैं, असहाय जैसे हो जाते हैं, उनको चिन्ता की जरूरत नहीं। निश्चिन्तता का जीवन उनको मिलता है। उनको एक ही चिन्ता है कि अपनी साधना करें, अपने मन पर काबू रखें, अपनी वाणी को काबू में रखें, अपने आपको संयत रखें, फिर उनकी सेवा का पूरा जिम्मा धर्मसंघ का है। कोई व्यक्ति लाडनूं सेवा केन्द्र को देखता है तो उसे पता चलता है कि सेवा कैसी होनी चाहिए? बात ब्रिटेन की बताई गई। हमारे देश में भी वृद्धों की दुर्दशा प्रारंभ हो गई है। यत्र-तत्र उसका दर्शन किया जा सकता है। बड़ी कठिनाई है। जहां स्वार्थ कुछ भी शेष नहीं रहा, सारा स्वार्थ समाप्त हो गया, वहां उनको संभालना कोई छोटी-बड़ी बात नहीं है। इस संदर्भ में 'निज्जरट्ठिए' पाठ बहुत महत्त्वपूर्ण है। निर्जरा के अर्थी बनकर काम करो। वही सही काम कर सकता है। यह सूक्त बहुत अच्छा लगा। वृद्ध लोगों को यह रास्ता बताना चाहिए कि वे कैसे शांति का जीवन जी सकें, कैसे आनन्द का जीवन जी सकें, कैसे बचे-खुचे जीवन को सार्थक बना सकें?'

मैंने गुरुदेव के प्रवचन के बीच में कहा–'पहले एक बात कहनी थी पर समय हो गया। अब उसे कहना चाहता हूं। वृद्धावस्था में कैसे जीना चाहिए, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है पूज्य गुरुदेव का राजलदेसर का चातुर्मास्य। पूज्य गुरुदेव के 'साइटिका' का थोड़ा असर हो गया।

गुरुदेव–'थोड़ा नहीं, काफी असर हो गया।'

मैं–'डॉ. माथुर आए। उन्होंने कहा, आपको सात दिनों तक एकदम बैड-रेस्ट करना है। यह शब्द सुनने में भी अच्छा नहीं लगा। किन्तु जीने की कला देखिए। गुरुदेव ने कहा–'हम बैड-रेस्ट नहीं, कायोत्सर्ग करेंगे।' सात दिन कायोत्सर्ग किया, एक श्लोक बना लिया–

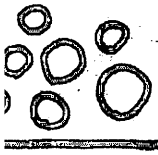

गुरुदेव–**आनंदो मे रोमणि रोमणि,**

मैं–मेरे रोम-रोम में आनन्द है।

गुरुदेव–**प्रसरतु सततं मनःप्रसत्तिः।**

मैं–मन की प्रसन्नता बढ़ती जाए।

गुरुदेव–**स्वस्थःस्वस्थोऽहमिति च मन्ये,**

मैं–मैं मानता हूं, मैं स्वस्थ हूं, स्वस्थ हूं।

गुरुदेव–**कायोत्सर्गे सुखं शयानः।**

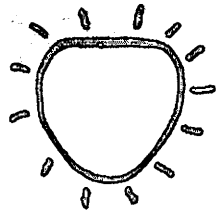

गुरुदेव उस समय सुखासन में विराजे थे। डॉ. मरोठी ने चैक-अप करने के बाद कहा–'गुरुदेव! आज सब एकदम नार्मल है। इतना नार्मल तो इन दिनों पहली बार आया है।'

गुरुदेव–'मैं अब लेट जाता हूं। लेटे-लेटे कैसे आता है, यह भी देख लो।'

गुरुदेव पट्ट पर लेट गए। डॉ. मरोठी ने पुनः पल्स, प्रेशर आदि का निरीक्षण कर कहा–'गुरुदेव! सब कुछ सामान्य है।'

वैद्य महावीरप्रसादजी ने नाड़ी देखी। उन्होंने कहा–'गुरुदेव! सब कुछ ठीक है।'

गुरुदेव–'आज तेरापंथ भवन जा रहे हैं। वहां क्रम कैसे रहेगा?'

वैद्यजी ने आगे के उपचार की जानकारी दी।

डॉ. मरोठी–'मैं विहार के समय पुनः दर्शन करूंगा।'

गुरुदेव–'कोई खास बात नहीं है। समय पर ही दर्शन कर सकते हो।'

गुरुदेव के स्वास्थ्य की संतोषजनक स्थिति से सहज आह्लाद की अनुभूति हुई। मैं तेरापंथ भवन लौट आया। गुरुदेव योगासन और कायोत्सर्ग के ध्रुव योग में लीन हो गए।

लगभग साढ़े सात बजे मुनि सुमेरमल 'सुदर्शन' ने गुरुदेव के दर्शन किए।

गुरुदेव–'आज सवेरे नहीं आए थे?'

मुनि सुमेर–'कुछ आवश्यक काम था।'

गुरुदेव की प्रसन्नमुद्रा को देख मुनि सुमेर ने निवेदन किया–'गुरुदेव! मूलचन्दजी बोथरा के पास आचार्य मघवागणी का कलाकार के हाथों निर्मित चित्र है।'

गुरुदेव–'हां।'

मुनि सुमेर–'क्या गुरुदेव ने उसे देखा है?'

गुरुदेव–'हां।'

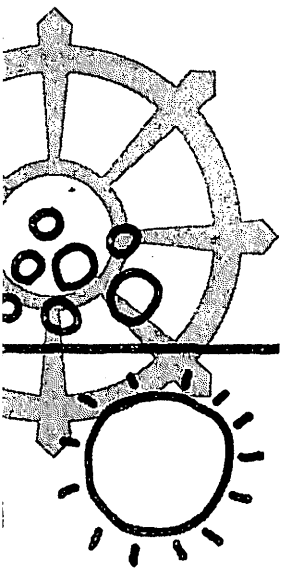

मुनि सुमेर–'गुरुदेव! मुझे वह चित्र बहुत सुन्दर लगा। क्या मघवागणी का वह चित्र स्वीकार किया जा सकता है?'

गुरुदेव–'महाप्रज्ञजी से पूछ लेना।'

इस वार्तालाप से विरत हो गुरुदेव ने कायोत्सर्ग किया।

आठ बजे का समय। अनोप बोथरा गुरुदेव के दर्शन के लिए बोथरा भवन में प्रातः गए। उनके साथ में सात व्यक्ति थे–श्री सोहनलाल बोथरा, श्री जयचन्दलाल कोठारी, श्री दौलतराम कुमावत, श्री सूरजमल बोथरा, श्री विमलचन्द बोथरा, श्री संपतलाल बैद और श्री झंवरलाल झाबक। दर्शन करते ही गुरुदेव ने कहा–'सुबह जल्दी नहीं आए? डॉक्टर और वैद्यजी इंतजार करते रहे। तुम आज डॉक्टर माथुर को भी दर्शन कराने वाले थे?'

अनोप बोथरा ने निवेदन किया–'आज लाडनूं जाना है। इन सबको साथ लेकर आया हूं। डॉ. माथुर को लाडनूं से लौटते ही दर्शन कराऊंगा।' उस समय गुरुदेव पद्मासन में विराज रहे थे। कंबल को सरकाते

हुए गुरुदेव ने कहा–'नजदीक से दर्शन कर लो। दूर क्यों खड़े हो?' उस समय सब पुलकित हो गए। सबने एक-एक कर गुरुदेव के चरणों में अपना शीश रखा और गुरुदेव ने सबको वात्सल्यपूर्ण आशीर्वाद दिया, कहा–'समाज में कार्यकर्ताओं की कमी नहीं है। इसका सबको अनुभव होना चाहिए।'

अनोप बोथरा गुरुदेव के स्वास्थ्य की डायरी देखने के लिए मुनि मधुकरजी के पास गया। उसके हाथ में डायरी देखकर गुरुदेव ने कहा–'क्या ब्लडप्रेशर और नाड़ी देखनी है या डायरी की रिपोर्ट?'

अनोप बोथरा–'सब ठीक है। दो डॉक्टरों की जांच-रिपोर्ट दर्ज है। वह अच्छी है। आप स्वयं अच्छा महसूस कर रहे हैं, इसलिए सब अच्छा है।'

गुरुदेव–'सब अच्छा है तो फिर क्या सोचना है? सुनो मंगलपाठ।'

मंगलपाठ सुनकर वे सब लाडनूं के लिए विदा हो गए।

लगभग साढ़े आठ बजे मुनि मोहनलाल 'आमेट' वंदन करने आए। गुरुदेव ने उनके हाथ में कुछ बादाम दिए। केलवा के विकास का प्रसंग चल पड़ा। मुनि मोहनलालजी ने कहा–'गुरुदेव! एक बार मेवाड़ पधारें और केलवा को सेवा का एक मौका दें।'

गुरुदेव–'तुम्हारा कहना तो ठीक है पर अब....। हमने सिरियारी जाने का भी नहीं कहा है। लोग कैसे कह रहे हैं?'

साध्वीप्रमुखा ने निवेदन किया–'आज तेल मालिश का क्रम नहीं है, इसलिए चोलपट्टा बदलना है।'

गुरुदेव ने चोलपट्टा हाथ में लेकर कहा–'यह ठीक है। बहुत पतला नहीं होना चाहिए। यदि पतले हैं तो उनका अन्यत्र प्रयोग कर लो।'

साध्वीप्रमुखा ने प्रार्थना की–'मालिश चालू रखनी चाहिए। इससे आराम मिलेगा।'

गुरुदेव–'ठीक है। वैद्यजी ने भी यही कहा है।'

साध्वी कल्पलता–'गुरुदेव! बहनें पूछ रही हैं–गुरुदेव का तेरापंथ भवन में पधारना कितने बजे होगा? उनकी इच्छा है कि हम गुरुदेव के साथ रहें।'

गुरुदेव–'नहीं, इसकी जरूरत नहीं है।'

साध्वीप्रमुखा–'हम यहां से गुरुदेव के साथ चलें?'

गुरुदेव–'अभी यहीं रहना है क्या? काम साथ में लाई हो?'

साध्वीप्रमुखा–'लाई तो नहीं, अभी मंगा लेते हैं।'

गुरुदेव–'नहीं, वहीं तेरापंथ भवन में आ जाना। वहां निश्चिंतता से काम होगा।'

साध्वी सुषमाकुमारीजी दर्शन करने आई। साध्वीप्रमुखा ने निवेदन किया–'गुरुदेव! तीन दिन से इनकी तबीयत ठीक नहीं है, इसलिए मंगलपाठ सुनाने की कृपा करें।'

गुरुदेव ने पूरा मंगलपाठ सुनाया। साध्वीप्रमुखा और साध्वी कल्पलता ने भी तन्मयता से मंगलपाठ सुना।

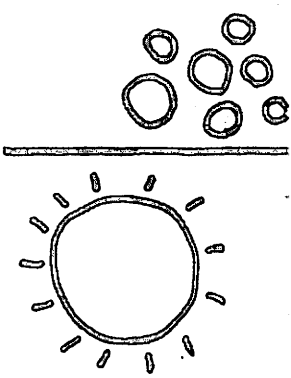

साध्वीप्रमुखा–'साध्वी विवेकश्री का स्वास्थ्य भी इन दिनों ठीक नहीं है। कमजोरी बहुत महसूस हो रही है।'

गुरुदेव–'उसकी ठीक से जांच करा लो।'

इस वार्तालाप के बाद साध्वीप्रमुखा अपने प्रवास-स्थल पर चली गई।

प्रातः ८.५० पर पूज्य गुरुदेव के पूरे बोथरा-परिवार ने एक साथ दर्शन किया।

गुरुदेव–'क्या पूरा परिवार आ गया?'

मूलचंद बोथरा–'तहत् गुरुदेव।'

यश, संयम, विवेक और वंश–चारों शिशु आगे आए। गुरुदेव के चरणों में वंदना की। बालक वंश दो मिनट तक गुरुदेव के चरणों में सिर टिकाए खड़ा रहा। गुरुदेव उसे प्रसन्न-दृष्टि से निहारते रहे, बतलाते रहे। परिजनों ने उसे दूर करने की कोशिश की। गुरुदेव ने कहा–'इसे दर्शन करने दो, रोको मत।'

श्रीमती लूणीदेवी बोथरा ने दर्शन किए। सुरेन्द्र ने कहा–'गुरुदेव! मां दर्शन कर रही है।'

गुरुदेव–'मांजी! स्वास्थ्य नरम रहता है?'

लूणीदेवी–'हां, गुरुदेव! सांस की तकलीफ है?'

गुरुदेव–'रात को नींद तो आती है।'

लूणीदेवी–'हां।'

गुरुदेव की उपासना के लिए लूणीदेवी नीचे बैठने लगीं।

गुरुदेव–मांजी! नीचे क्यों? ऊपर बैठने की मनाही नहीं है।'

लूणीदेवी पुनः नीचे बैठने लगीं। गुरुदेव ने पुनः कहा–'शारीरिक कठिनाई हो तो ऊपर बैठने में आपत्ति क्या है?'

गुरुदेव का आशय समझकर भाई सुरेन्द्र ने मां को कुर्सी पर बिठा दिया।

९.०० बजे। पूज्य गुरुदेव ने अध्ययन करने वाले बाल साधुओं से कहा–'आ जाओ।' मुनि दिनेशकुमार, मुनि कुमारश्रमण, मुनि हिमांशुकुमार, मुनि योगेशकुमार और मुनि आलोककुमार आए। वंदना करके गुरुदेव की सन्निधि में बैठ गए।

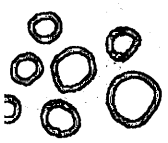

गुरुदेव–'जंबू कहां है?'

गुरुदेव के आह्वान को सुनकर बाल मुनि जंबूकुमार आए, बोले–'गुरुदेव! मैं यहां हूं।'

गुरुदेव–'क्या कर रहे हो?'

बाल मुनि–'आज विहार है। इसलिए विहार की तैयारी कर रहा हूं।'

गुरुदेव–'इतनी जल्दी क्या है?'

बाल मुनि–'तहत् गुरुदेव।'

गुरुदेव–'जाओ, अभी सीखो, अध्ययन करो।'

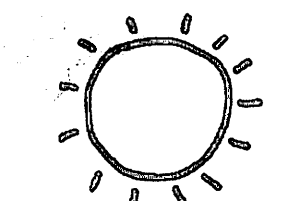

गुरुदेव ने दशवैकालिक सूत्र के इस पद्य की अर्थ सहित वाचना दी–

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया।
हिंसगं नो मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए॥

मृषा शब्द की व्याख्या करते हुए गुरुदेव ने कहा–'मृषा का अर्थ है असत्य। आगम का शब्द है मृषा। मुनि अपने लिए झूठ न बोले, दूसरों के लिए झूठ न बोले, क्रोध के आवेश में झूठ न बोले, भयवश झूठ न बोले और हिंसाकारी झूठ न बोले। मृषा हिंसाकारिणी है। व्यक्ति झूठ बोलता है और हिंसा का प्रसंग बन जाता है। गृहस्थ लोग व्यापार-व्यवसाय में झूठ से प्रायः बच नहीं पाते, किन्तु एक मुनि को झूठ से सदा बचना चाहिए। साधु महाव्रती है और गृहस्थ अणुव्रती। एक गृहस्थ को भी जहां तक हो सके सत्य बोलने का प्रयत्न करना चाहिए। एक साधु के लिए यह पद्य उपयोगी है, सदा आचरणीय है।'

इस व्याख्या के पश्चात् बाल साधुओं ने उक्त पद्य का सस्वर उच्चारण किया। गुरुदेव–'छोटे बच्चों को ऐसे पद्य कंठस्थ हो जाएं तो कितना अच्छा हो।'

९.०८ बजे। गुरुदेव ने पूछा–'मूलचंदजी! पोता कहां है?'

मूलचंदजी बोथरा–'गुरुदेव! आपकी सेवा में ही है।' गुरुदेव का संबोधन सुनकर पौत्र सुबाहु आगे आया, वंदना की।

गुरुदेव–'क्या लोगस्स याद है?'

सुबाहु–'हां, गुरुदेव।'

गुरुदेव–'क्या शुद्ध आता है?'

सुबाहु इस प्रश्न को सुनकर मौन हो गया।

गुरुदेव–'सुनाओ, लोगस्स का पाठ।'

सुबाहु ने खड़े-खड़े लोगस्स के पहले पद्य का उच्चारण किया। गुरुदेव–'अभी काफी सुधार की गुंजाइश है पर निराश नहीं होना है। प्रयत्न करते रहो, सब ठीक हो जाएगा।'

गुरुदेव ने मुनि कुमारश्रमण से कहा–'तुम लोगस्स का पाठ बोलो।' मुनि कुमारश्रमण ने लोगस्स का उच्चारण किया।

गुरुदेव–'एकदम शुद्ध नहीं है। तीन-चार जगह गलतियां हैं। एकदम शुद्ध उच्चारण होना चाहिए। शुद्ध उच्चारण गुरु के बिना आता नहीं है। देखो, लोगस्स का उच्चारण इस प्रकार करना चाहिए।'

गुरुदेव ने स्वयं लोगस्स का सस्वर उच्चारण किया। उच्चारण के समय गुरुदेव भावविभोर हो उठे। पाठ संपन्न कर गुरुदेव ने कहा–'उच्चारण ऐसा शुद्ध होना चाहिए। शुद्ध उच्चारण का बड़ा भारी लाभ होता है।'

संतों ने गुरुदेव के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की।

९.१४ बजे। गुरुदेव ने पूछा–'कितने बजे हैं।'

मूलचंदजी बोथरा–'गुरुदेव! नौ बजकर चौदह मिनट।'

गुरुदेव–'अभी विहार में लगभग एक घण्टा शेष है।'

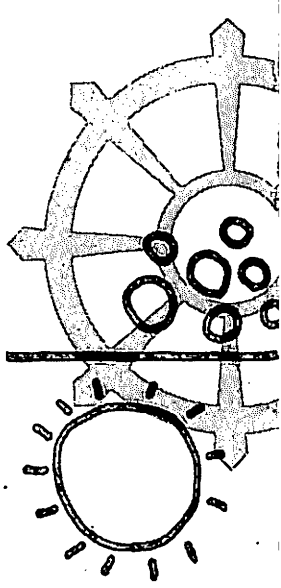

मूलचंदजी बोथरा–'गुरुदेव! यहां सुखसाता रही?'

गुरुदेव–'बहुत सुखसाता रही।'

मूलचंदजी बोथरा–'गुरुदेव! पुनः कृपाकर यहां पधारते रहें।'

गुरुदेव इस निवेदन पर मुस्कराने लगे। गुरुदेव के सामने बोथरा-परिवार के प्रत्येक सदस्य ने त्याग-प्रत्याख्यान किए।

मूलचंदजी बोथरा–'गुरुदेव! चार महीने से चीनी खाने का त्याग है। अब चार महीने तक चीनी और उससे बनी वस्तुएं खाने का त्याग करा दें।'

गुरुदेव–'त्याग है, इस अवस्था में चीनी छोड़ना अच्छा है।'

सुरेन्द्र–'गुरुदेव! महीने में चार दिन पूर्ण मौन रखूंगा।'

गुरुदेव–'ठीक है, तुम मौन में भी हमसे बात कर सकते हो।'

सुरेन्द्र–'गुरुदेव! साधु-साध्वियों से बोलने की छूट है।'

संजय बोथरा ने प्रतिदिन एक घण्टा मौन का प्रत्याख्यान किया। पदम बोथरा ने पांच तिथि हरियाली वर्जन का संकल्प किया। सुबाहु ने वर्ष में दो सौ सामायिक करने का संकल्प किया। अनेक बहनों ने प्रतिदिन सामायिक, पांच तिथि को हरियाली वर्जन आदि का नियम लिया। मूलचंदजी बोथरा ने अपने परिजनों का परिचय दिया। एक शिशु-कन्या 'प्रांजल' का परिचय देते हुए कहा–'गुरुदेव! यह आपकी संसारपक्षीय पड़पोती है।'

धर्मचक्र का प्रवर्तन

गुरुदेव–'क्या प्रदीप खटेड़ की बेटी है?'

मूलचंदजी बोथरा–'हां गुरुदेव! ये मेरे भाई हैं कमलचंदजी बोथरा और यह उनका बड़ा पुत्र है राहुल बोथरा।' कमलचंदजी और राहुल ने गुरुदेव के दर्शन किए।

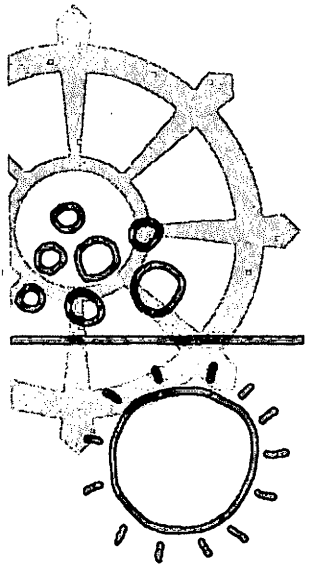

गुरुदेव–'आजकल क्या करते हो? सामायिक, स्वाध्याय आदि करते हो या नहीं?'

कमल बोथरा–'गुरुदेव! प्रायः तीन बजे उठ जाता हूं। प्रतिदिन सामायिक, स्वाध्याय आदि करता हूं।'

गुरुदेव–'क्या श्रावक-संबोध याद है?'

कमल बोथरा–'गुरुदेव! कुछ याद है।'

गुरुदेव–'श्रावक-संबोध पूरा कण्ठस्थ होना चाहिए।'

कमल बोथरा–'गुरुदेव! पूरा कण्ठस्थ करने का भाव है।'

गुरुदेव–'प्रत्येक श्रावक-श्राविका को यह सीखना चाहिए।'

प्रसन्न वातावरण में तीस मिनट तक उपासना कर बोथरा परिवार ने अवर्णनीय आह्लाद का अनुभव किया।

प्रातः ९.४०। पूज्य गुरुदेव ने अणुव्रत पाक्षिक के नवीन अंक का अवलोकन किया। दैनिक राजस्थान पत्रिका के मुखपृष्ठ को देखा, कुछ मुख्य समाचार पढ़े। ९.४५ पर पूज्य गुरुदेव ने मुनि मधुकरजी को बुलाया। वे तत्काल गुरुदेव की उपासना में प्रस्तुत हुए।

गुरुदेव–'मधुकर! मूलचंद बोथरा त्याग-प्रत्याख्यान बहुत रखता है।'

मुनि मधुकर–'तहत् गुरुदेव! आपने परसों (२१ जून) संकेत दिया था, मैंने उसी दिन....'

गुरुदेव–'हां, वह सुनाओ।'

उन्होंने वह तालिका सुनाई। गुरुदेव–'बहुत अच्छे श्रावक हैं, त्यागी-वैरागी हैं।'

मुनि मधुकर–'हां गुरुदेव! प्रारंभ से ही त्याग-वैराग्य की भावना प्रवर्द्धमान रही है।'

उस समय मूलचंदजी बोथरा ने गुरुदेव के दर्शन किए। गुरुदेव ने कहा–'मूलचंदजी श्रद्धालु हैं, गंभीर हैं। पूरा परिवार संस्कारी है। छोटे-छोटे बच्चों में भी अच्छे संस्कार हैं।' गुरुदेव पुनः स्वाध्याय में लीन हो गए।

९.५० पर बाल मुनि सन्मतिकुमारजी ने गुरुदेव के दर्शन किए। उनके हाथ में 'पुदीन हरा' की गोलियां थीं। गुरुदेव ने कहा–'क्या लाए हो?'

मुनि सन्मति–'पुदीन हरा की गोलियां हैं।

गुरुदेव–'कहां से लाए हो?'

मुनि सन्मति–'अमुक दुकान से।'

गुरुदेव–'किसलिए लाए हो?'

मुनि सन्मति–'पेट में दर्द है, इसलिए इसे लेना है।'

गुरुदेव–'दर्द के लिए एक-दो गोली ही बहुत है।'

मुनि सन्मति–'अनेक बार दर्द हो जाता है।'

गुरुदेव–'जब जरूरत होती है, तब कमी थोड़े ही रहती है।'

मुनि सन्मति–'तहत् गुरुदेव!'

गुरुदेव–'बिना मतलब संग्रह नहीं करना चाहिए। आज जितनी लेनी है, रख लो।'

मुनि सन्मति–'तहत् गुरुदेव!'

गुरुदेव–'शेष अभी वापस कर देना।'

गुरुदेव का यह निर्देश असंग्रह का बोधपाठ बन गया।

१० बजे मुनि गिरीशकुमार अंतःकक्ष से बाहर की ओर जा रहे थे। गुरुदेव की दृष्टि उन पर पड़ी। गुरुदेव–'गिरीश!' गुरुदेव के संबोधन से उनके चरण रुक गए। उन्होंने गुरुदेव को वंदना की। गुरुदेव ने कहा–'आजकल क्या करते हो? अखबार ही पढ़ते हो या सीखना भी करते हो?'

मुनि गिरीश–'गुरुदेव! प्रतिदिन तीन सौ गाथाओं की स्वाध्याय करता हूं। प्रायः साहित्य भी पढ़ लेता हूं।'

गुरुदेव–'अखबार अधिक न देखना ही ठीक है। पूरे दिन अखबार देखते रहना अच्छा नहीं है। साहित्य पढ़ो और वह साहित्य पढ़ो जिससे कुछ शिक्षा मिल सके, जो जीवन के काम आ सके। जीवन को संस्कारी और पवित्र बनाने वाला साहित्य पढ़ना चाहिए।'

मुनि गिरीश–'तहत् गुरुदेव!'

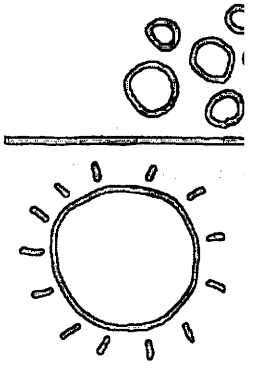

उस समय पूज्य गुरुदेव की सन्निधि में मुनि बालचंदजी थे। गुरुदेव ने कहा–'बालजी! ये बाजोट (पट्ट) हलके हैं। इन्हें वहां (तेरापंथ भवन) के लिए ले लो। वहां काम आएंगे।'

मुनि बालचंद–'इनके वार्निश होना है, ऐसा मूलचंदजी कह रहे थे।'

गुरुदेव–'ठीक है, फिर यहीं रहने दो।'

मुनि बालचंद–'गुरुदेव! दूसरे हलके बाजोट की गवेषणा कर लेंगे।'

गुरुदेव–'नहीं, तुम्हें नहीं लाना है।'

मुनि बालचंद–'गुरुदेव! मैं नहीं.....किन्तु.....?'

गुरुदेव–'तुम्हारा भरोसा नहीं है। तुम अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखो, पहले उसे ठीक करो। तुम्हें इतना वजन नहीं उठाना है।'

मुनि बालचंद–'तहत् गुरुदेव!'

गुरुदेव के इन वचनों में वात्सल्य था। उनके स्वास्थ्य की चिन्ता थी।

१०.१० पर पूज्य गुरुदेव पट्ट से नीचे उतरे। संत विहार की तैयारी करने लगे। गुरुदेव ने पूछा–'कितने बजे हैं?'

संत–'दस बजकर दस मिनट हुए हैं।'

गुरुदेव–'अभी पांच मिनट शेष हैं।'

संत–'हां।'

गुरुदेव के इंगित पर संतों ने कुर्सी पर कंबल बिछा दिया। गुरुदेव विराज गए और मंत्र-जप में लीन हो गए।

१०.१४ पर संतों ने कहा–'विहार का समय हो रहा है। गुरुदेव अभी ध्यान कर रहे हैं।' गुरुदेव ने ध्यान संपन्न किया और पूछा–'क्या सवा दस बज गए?'

संत–'हां।'

गुरुदेव–'विहार की सूचना के लिए शब्द कर दो।'

'गुरुदेव का विहार हो रहा है'–इस ध्वनि को सुन सभी संत अपने-अपने कक्ष से बाहर आ गए।

गुरुदेव–'क्या सभी संत आ गए?'

संत–'तहत् गुरुदेव।'

गुरुदेव ने चारों ओर ध्यान से देखा। ठीक १०.१५ पर गुरुदेव के चरण तेरापंथ भवन की ओर बढ़ चले।

उस क्षण किसने सोचा था–गुरुदेव बोथरा भवन से ही विदा नहीं हो रहे हैं, इस दुनिया से भी अलविदा होने की तैयारी कर रहे हैं।

घटनाएं बता रही हैं गुरुदेव ने जीवन के अंतिम क्षणों को भी जागरूकता से जीया और वे जागरूकता में ही समाधिस्थ हो गए।

तेरापंथ भवन में

गुरुदेव ने लगभग दस बजकर पन्द्रह मिनट पर बोथरा भवन से प्रस्थान किया। प्रातःकालीन प्रवचन संपन्न कर मैंने संतों को निर्देश दिया–'सब अगवानी के लिए जाओ। गुरुदेव पधारने वाले हैं।' संत महावीर वाटिका (लगभग एक फर्लांग) तक गए। गुरुदेव ने प्रसन्नता के स्वर में कहा–'तुमने यहां आने को विहार बना दिया।' बाद में संतों ने बताया–'गुरुदेव अति प्रसन्न थे। ऐसी प्रसन्नता हमने कम बार देखी।' गुरुदेव साधन छोड़ पैदल चलने लगे।

तेरापंथ भवन के बाहरी भाग में मैं गुरुदेव की अगवानी के लिए गया। १०.२५ पर मैंने गुरुदेव का दर्शन किया। मैं पुलकित था, गुरुदेव भी पुलकित थे। मैं वंदना के लिए बैठने लगा। गुरुदेव ने मेरे दोनों हाथ पकड़े, मुझे अपनी बांहों में भर लिया। मेरे हाथ का सहारा लेकर भवन के भीतर आए। १०.३० पर भवन में प्रवेश हुआ। गुरुदेव हॉल में बिछे हुए पट्ट पर विराज गए। मैं कुर्सी पर बैठ गया। गुरुदेव ने कहा–'अभी हजारों लोग उपस्थित हैं।' मैंने कहा–'जनता में दर्शन की बड़ी उत्सुकता है।' पांच मिनट बाद वहां से उठे। गुरुदेव ने कहा–'तुम अपने कक्ष में चले जाओ, मैं थोड़ा विश्राम कर लेता हूं।' गुरुदेव अपने कक्ष में पधार गए। मैं अपने स्थान पर आ गया। गुरुदेव बहुत प्रसन्न थे। मैं भी बहुत प्रसन्न था। पन्द्रह दिन अलग-अलग भवनों में रहे। आज हम एक भवन में हैं।

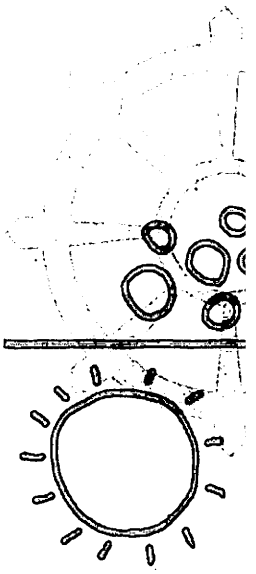

धर्मचक्र का प्रवर्तन

१०.३६ पर गुरुदेव अपने कक्ष की ओर पधारे। कक्ष के बाहर बिछे पट्ट पर विराजना चाहा। मुनि मधुकरजी ने निवेदन किया–'विश्राम के लिए भीतर कक्ष में बिछौना बिछाया हुआ है।' गुरुदेव भीतर पधार लेट गए। पसीना पोंछने का वस्त्र आर्द्र था। मुनि हीरालालजी ने स्वच्छ जल से उसका प्रक्षालन किया। पुनः व्यवस्थित कर गुरुदेव को निवेदित किया। गुरुदेव ने कहा–क्या इसे पाउडर से धोया है?

मुनि हीरालाल–नहीं गुरुदेव! केवल पानी से धोया है।

गुरुदेव ने कहा–ऐसा स्वच्छ लग रहा है जैसे पाउडर से धोया है।

महाश्रमण मुदितकुमार और महाश्रमणीजी तथा कुछ साधु-साध्वियां उपासना में उपस्थित थे। गुरुदेव ने महाश्रमण मुदितकुमार से कहा–'चलना कठिन हो गया है।' इससे पता चलता है कि गुरुदेव पैदल पधारे, उसमें काफी श्रम लगा। हो सकता है कि हृदय पर कुछ दबाव पड़ा हो। कमरे में गर्मी अधिक लगी। कुछ बेचैनी-सी महसूस हुई। गुरुदेव ने तत्काल संतों से कहा–'खिड़कियां खोलो।'

संतों ने प्रार्थना की–'खिड़कियां खुली हैं।'

कुछ समय लेटकर विश्राम किया। गर्मी का अत्यधिक अनुभव होता रहा। गुरुदेव ने कहा–'बाहर इतनी हवा चल रही है, फिर इतनी गर्मी क्यों लग रही है?'

मुनि दिनेशकुमार को बुलाकर १०.४५ में इनहेलर का प्रयोग किया। उसे प्रयोग लेने का समय ग्यारह बजे का था। कुछ लक्षण प्रकट हो रहे थे। पर सबने सोचा–पैदल पधारे हैं इसलिए थकान है, गर्मी ज्यादा लग रही है, पसीना ज्यादा आ रहा है। इनहेलर लेने की अपेक्षा जल्दी हुई है। सबका ध्यान श्रम पर अटका हुआ था। अंतिम क्षण की कल्पना भी कैसे की जा सकती थी?

सज्जनदेवी चोपड़ा, मीरादेवी बैद और कांता बाफणा–ये तीन बहनें आईं। विश्राम में बाधा न आए, यह सोच वापस जाने लगीं। गुरुदेव ने कहा–'ये वापस क्यों जा रही हैं?'

साध्वीप्रमुखाजी ने कहा–'सज्जनदेवी आदि आई थीं। गुरुदेव को विश्राम में देखकर वापस चली गईं।'

गुरुदेव–'वापस क्यों गईं? दर्शन करवा दो।'

दो साध्वियों द्वारा सूचना पाकर वे वापस आईं।

गुरुदेव–'नींद नहीं थी। तुम वापस क्यों गई। बोलो, क्या बात है?'

सज्जनदेवी–कांता आई है। हम अगस्त में महिला मण्डल का तीनदिवसीय कार्यक्रम रखना चाहती हैं–३ अगस्त को प्रबुद्ध जैन महिला सम्मेलन, ४ अगस्त को बीकानेर चोखले की महिलाओं का सम्मेलन, ५ अगस्त को विकलांगों का बड़ा कार्यक्रम। आसोज में महिला मण्डल का वार्षिक अधिवेशन। इस वर्ष अध्यक्ष का चुनाव भी होगा। गुरुदेव ने प्रसन्नता से सारी बात सुनी। आपने साध्वीप्रमुखाजी से कहा–'अच्छा है, ऐसे कार्यक्रम रखने चाहिए।'

प्रसन्नता और स्वास्थ्य की अनुभूति

गुरुदेव ने स्वास्थ्य के लिए निर्धारित कार्यक्रम की जानकारी साध्वीप्रमुखा को दी। आपने कहा–'आज वैद्य महावीरप्रसादजी आए। डॉ. मरोठी भी साथ थे। जांच के बाद उन्होंने कहा–'सब सामान्य है, सब बिल्कुल ठीक है।' आज उत्सर्ग भी स्वतः बिना एनीमा के हुआ। पेट हलका है और 'जी सोरा' है। कोई बेचैनी नहीं है। वैद्यजी ने कहा–'आज से एनीमा हर रोज नहीं लेनी है। पहले दो दिन मिट्टी की पट्टी और फिर एनीमा, फिर दो दिन मिट्टी की पट्टी और फिर एनीमा। यह क्रम रहेगा। उसके बाद जैसा आवश्यक होगा, वैसा करेंगे।' खान-पान के विषय में उनका परामर्श है–तेरह दिनों से दूध और छेना बंद है। अब रुचि हो तो दस बजे के बाद थोड़ा-सा छेना लिया जा सकता है। दूध अभी बंद रहेगा। छाछ या कोई चीज ठण्डी हो तो उसे धूप में नहीं, पानी में गर्म करके लेनी चाहिए।'

भोजन के बाद छाछ ली जाती थी। साध्वी चित्रलेखा छाछ लेकर आई, कहा–'छाछ ठण्डी है।'

गुरुदेव–'कल्पलता लाती है।'

साध्वीप्रमुखा–'आज इनसे ही मंगाई है।'

गुरुदेव–'वह लाया तो करती है।'

साध्वीप्रमुखा–'दूसरी मंगा लेते हैं।'

गुरुदेव–'नहीं, गर्म पानी में रख दो।'

साध्वी चित्रलेखा गर्म पानी लाने गई। गुरुदेव विराज रहे थे। उस समय घड़ी ने ग्यारह बजाए। गुरुदेव ने साध्वीप्रमुखा से कहा–'तुम अपने स्थान पर चली जाओ।'

साध्वीप्रमुखा–'अभी जाने का समय नहीं हुआ है।'

दो-चार मिनट बाद पुनः गुरुदेव ने कहा–'अभी लेखन का काम तो करेंगे नहीं। क्यों धूप चढ़ाती हो? पांव जलेंगे। स्थान पर चली जाओ।'

गुरुदेव का इंगित समझकर साध्वीप्रमुखा ने साध्वियों के साथ अपने स्थान की ओर प्रस्थान कर दिया।

गुरुदेव ने मुनि जंबूकुमार को अध्ययन की प्रेरणा दी। मुनि आलोककुमार को कालुकौमदी के कुछ सूत्र पढ़ाए। गुरुदेव कुछ क्षण के लिए खड़े हुए, बाल मुनि से कहा–'पट्ट ठीक से बिछा हुआ नहीं है। इसे ठीक बिछाओ।' बाल मुनियों ने पट्ट को गुरुदेव के इंगित के अनुसार ठीक किया। गुरुदेव पुनः पट्ट पर विराज गए।

मुनि कुमारश्रमण ने गुरुदेव का इंगित पाकर पदमचन्दजी पटावरी से कहा–'तुम अभी गुरुदेव की उपासना करो।' वे अपने पिताजी के साथ कक्ष के भीतर गए। गुरुदेव ने दो-तीन मिनट उनके पिताजी के बारे में बातचीत की।

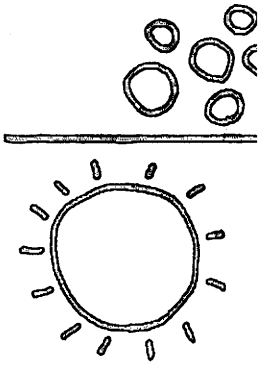

आत्मा का ऊर्ध्वारोहण

११.१० पर गुरुदेव ने मुनि आलोककुमार से कहा–'चश्मा लाओ।' वे तत्काल चश्मा लाए। गुरुदेव के हाथों में उसे थमाया। चश्मा नीचे गिर गया। उसके साथ गुरुदेव की गर्दन नीचे झुक गई। मुनि आलोककुमार ने हाथ के सहारे गुरुदेव की गर्दन को पकड़े रखा। मुनि हिमांशुकुमार तत्काल मुनि मधुकरजी को बुलाकर लाए। मुनि मधुकरजी ने आते ही हृदय पर मालिश चालू कर दी। उन्होंने मुनि हिमांशुकुमार से कहा–'जल्दी जाओ और आचार्यश्री को निवेदन करो।' महाश्रमण भी कक्ष के भीतर आ गए। मुनि मधुकरजी ने गुरुदेव से पूछा–'आपके कहीं दर्द है?' गुरुदेव ने बोलने का प्रयत्न किया पर बोल नहीं पाए। मुनि हिमांशुकुमार ने आकर मुझे कहा–'गुरुदेव के क्या हो गया?' यह शब्द सुनते ही एक झटका-सा लगा और शून्यता का अनुभव हुआ। मैं तत्काल वहां पहुंचा। आधा मिनट भी नहीं लगा होगा। मुनि मधुकरजी ने कहा–'आचार्यवर पधार गए हैं।' पर तब तक बाहर की चेतना विलीन हो चुकी थी। आंखें खुल गईं और उनमें लालिमा छा गई। शरीर निश्चेष्ट और स्तब्ध हो गया। संभवतः ग्यारह बजकर तेरह मिनट पर आत्मा का ऊर्ध्वारोहण हो गया।

सारी स्थिति को देखकर मैंने मुनि मधुकरजी से कहा–'डॉक्टर को सूचना दी गई या नहीं?' उन्होंने कहा–'सूचना दे दी गई है।' नमस्कार महामंत्र आदि का जप शुरू हो गया। दो-तीन मिनट बाद डॉक्टर पहुंचे। उन्होंने चिकित्सा शुरू कर दी। हृदय पर मालिश की। ऑक्सीजन आदि देने का प्रयत्न किया पर कोई सार्थक नहीं हुआ। साध्वीप्रमुखा को सूचना मिली और वे तत्काल वापस पहुंच गईं। प्रायः संत वहां आ गए। धीरे-धीरे प्रायः साध्वियां भी पहुंच गईं। वातावरण विचित्र प्रकार का बन गया। सबके मन प्रश्नों से भर गए। कोई उपाय सूझ नहीं रहा था। अनशन कराने की स्थिति पहले ही शेष हो चुकी थी। सबकी चेतना समाधान पाना चाहती थी पर समाधान दे कौन? उत्तर स्वयं निरुत्तर बन गया। प्रतीक्षा डॉ. श्यामनाथ मिश्रा की थी। वे बीकानेर के ही नहीं, राजस्थान के प्रसिद्ध हृदयरोग विशेषज्ञ हैं। वे आए, उन्होंने पूरी जांच की। जांच के बाद कक्ष से बाहर चले गए। मैंने उन्हें याद किया और पूछा–'कहिए, क्या स्थिति है?' डॉ. मिश्रा ने उदास और व्यथित मुद्रा में कहा–'अब गुरुदेव हमारे बीच नहीं रहे।' यह वाक्य बहुत कर्ण-कटु था पर आखिर यथार्थ को स्वीकार करने के सिवाय और कोई रास्ता नहीं था। डॉ. मिश्रा ने अपनी संक्षिप्त रिपोर्ट लिखकर दी–

This is to Certify that GANADHIPATI TULSI died of Cardiac arrest Following U.T. and V.F. at 11.25 A.M. Today.

BIKANER **Shyamnath Mishra**

23 JUNE, 1997

इस रिपोर्ट के आधार पर स्वर्गवास का समय ११.२५ घोषित किया गया।

डॉ. मिश्रा के निर्णय ने गहरी खामोशी पैदा कर दी। जप रुक गया। कण्ठ अवरुद्ध और आंखें नम हो गईं। सब एक-दूसरे की ओर देख रहे थे, कोई भी कुछ बोलने की स्थिति में नहीं था।

शरीर का विसर्जन

महाप्रयाण की सूचना कुछ ही क्षणों में पूरे शहर में फैल गई। देखते-देखते हजारों लोग इकट्ठे हो गए। सैकड़ों स्थानों पर फोन और फैक्स से सूचना दी गई। एक घण्टा में हिन्दुस्तान का हर कोना इस घटना से अवगत हो गया। जयपुर आकाशवाणी से महाप्रयाण की सूचना का अनेक बार प्रसारण किया गया। दिल्ली आकाशवाणी, स्टार टी.वी., दूरदर्शन आदि संचार माध्यमों से भी उसका प्रसारण हुआ।

लगभग चालीस मिनट का समय बीता। नए वस्त्र ओढ़ाए, पहनाए गए। हमारी संघीय परम्परा के अनुसार मैंने उस शरीर का विसर्जन किया। जिसकी आंखों में वात्सल्य टपकता था, जिसके हाथ आशीर्वाद की मुद्रा में असीम आनन्द देते थे, जिनका कण-कण श्रद्धा से अभिषिक्त था, नियति की कैसी विडम्बना– उसी का विसर्जन किया और वह श्रावक समाज के हाथों में चला गया।

जाणै जाणणहार

धर्मचक्र का प्रवर्तन

गुरुदेव के महाप्रयाण का संवाद सुनकर जनमानस विचलित हो रहा था। पार्श्ववर्ती चतुर्विध धर्मसंघ की स्थिति भी विचित्र हो रही थी। उसका चित्रण करना शायद शब्दों की सीमा में नहीं है। जिन साधु-साध्वियों को गुरुदेव ने दीक्षित किया, शिक्षित किया, जिनका अपने हाथों से पालन किया, जो दीर्घकाल से सान्निध्य का सुख भोग रहे थे, उन्हें लगा–अब वह वरदहस्त कहां चला गया? अचानक कैसे चला गया? सब अपनी अधीरता का समाधान खोज रहे थे पर सुलभ कहां था समाधान? जो निरंतर सेवा में रहते थे, उनकी मनोदशा के बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता। महाश्रमण मुनि मुदितकुमार, मुनि मधुकरजी आदि उस समय क्या सोच रहे थे, इसका उत्तर शायद नहीं दिया जा सकता। साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा दो दशक से साहित्यिक गतिविधियों में संलग्न हैं तथा साध्वी-समाज का प्रशासन संभाले हुए हैं। कितना वात्सल्य और कितना अनुग्रह प्राप्त था! उनकी मनोदशा के बारे में मौन रहना ज्यादा अच्छा है।

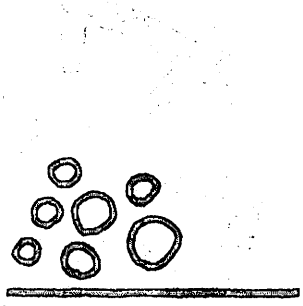

मैं जिस दिन दीक्षित हुआ, उस दिन से लेकर अंतिम दिन तक साथ रहा, सन्निधि में रहा, अनेक रूपों में संबद्ध रहा, आत्मीय बना रहा और अद्वैत बना रहा। अभेद से होने वाली भेदानुभूति के बारे में यह उक्ति सार्थक होगी–**'जाणै जाणणहार, दूजा को जाणै नहीं।'**

मुझ पर जो दायित्व था, उसकी मांग थी कि कहीं अधैर्य, विचलन, प्रकंपन का प्रदर्शन न हो। मैंने इस धर्म को निभाने का यथासंभव प्रयत्न किया। भीतर की बात को बाहर लाकर शब्दों में बांधने का प्रयास करना कितना संगत होगा!

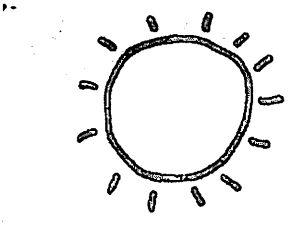

अनुत्तरित प्रश्न

मुनि मधुकरजी ने अंतिम क्षणों में गुरुदेव से पूछा–'क्या कोई दर्द है?' इस प्रश्न के उत्तर में गुरुदेव कुछ कहना चाहते थे, पर एक मिनट में ही जीभ इतनी मोटी हो गई कि कुछ बोलने का अवकाश ही नहीं

रहा। उन क्षणों में शरीर का ऊपरी भाग प्रकंपित हो गया। आंखें एकदम खुल गईं और उनमें लालिमा भर गई। मुंह में झाग आ गए। गुरुदेव का स्वर्गवास सुखासन की मुद्रा में हुआ। वे उत्तराभिमुख विराज रहे थे। दो क्षण बाद गुरुदेव को सुप्त कायोत्सर्ग की मुद्रा में अवस्थित कर दिया।

अंतिम समय गुरुदेव ने क्या सोचा, यह कहा नहीं जा सकता। उन्होंने न कोई संकेत दिया और न कुछ बोल कर बताया। अंतिम समय हम लोग अनशन कराने की स्थिति में नहीं थे। मैं पहुंचा, उस समय बाहर की चेतना लुप्त थी। भीतरी चेतना के आसार भी नजर नहीं आ रहे थे। गुरुदेव ने स्वयं अनशन किया, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। बहुत दिनों से अनशन के विषय में विचार-मंथन चल रहा था। उसके दो साक्ष्य उपलब्ध हैं–

१८ जून, १९९७, कन्हैयालालजी छाजेड़, हनुमानमलजी चिण्डालिया और पूनमचंदजी मालू गुरुदेव की उपासना में बैठे थे। वार्तालाप चल रहा था। उस वार्तालाप के बीच सहसा गुरुदेव ने कहा–'अब मुझे अगला रास्ता तय करना है।'

कन्हैयालालजी ने प्रार्थना की–'गुरुदेव! आप ऐसे कैसे फरमा रहे हैं?'

गुरुदेव ने इस बात को टाल दिया। जो अंतर में मंथन चल रहा था वह उसी की अभिव्यक्ति था।

१६ जून, १९९७ की डायरी में गुरुदेव ने लिखा–'कल रात नींद नहीं आई। उठ-बैठ रही। सब गहरी नींद में थे। मन में आया–ऐसा रहता है, ठीक नहीं होता है तो क्यों नहीं संलेखना का मार्ग अपनाया जाए! क्या करना है इस शरीर का? बहुत काम किया। अब संलेखना–संथारा हो तो अच्छा रहे पर प्रातः फिर परामर्श में यही तय रहा–एक सप्ताह फिर देखा जाए।'

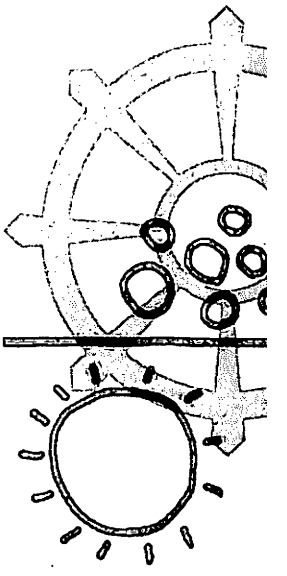

धर्मचक्र का प्रवर्तन

गुरुदेव ने १६ जून की डायरी में संलेखना और संथारा के बारे में लिखा। उस विषय में मुझे कोई संकेत नहीं किया। इसका एक कारण यह है कि गुरुदेव इस प्रकार स्वास्थ्य की जटिल स्थिति मेरे सामने रखना नहीं चाहते थे। सन् १९८२, राणावास चातुर्मासिक प्रवास के समय एक मिथ्या अफवाह ने एक संदेह पैदा कर दिया–'२२ जुलाई, १९८२ को प्रातः नौ बजे तक ही गुरुदेव के दर्शन हो सकेंगे।' उस समय मेरी मनःस्थिति बहुत जटिल हो गई थी। गुरुदेव ने उसे देखा और कहा–'तुम इस प्रकार कैसे विचलित हो गए?' उसके बाद स्वास्थ्य संबंधी जटिलता की बात मुझे नहीं बताते थे। साधारण-सी बात बता दी जाती।

दूसरा कारण यह है कि बोथरा भवन में प्रातःकाल जाता और पांच-दस मिनट वहां ठहरता। स्वास्थ्य के विषय में सामान्य-सी चर्चा होती और पुनः तेरापंथ भवन लौट आता। संभवतः गुरुदेव ने सोचा होगा–तेरापंथ भवन में जाने के बाद इस विषय में महाप्रज्ञ से चर्चा करेंगे। यह विश्वास नहीं था कि आकस्मिक ढंग से हृदय अपना काम करना बंद कर देगा। जो कुछ हुआ, आकस्मिक हुआ, इसलिए इस विषय में चर्चा करने का अवकाश ही नहीं रहा।

वे शब्द : वे क्षण

एक पत्रकार ने पूछा–'गुरुदेव ने आपसे अंतिम बातचीत क्या की?'

मैंने कहा–'अंतिम क्षणों में बातचीत का अवसर ही नहीं मिला।' 'तुम अपने कक्ष में चले जाओ, मैं थोड़ी देर विश्राम कर लेता हूं'–बस, अंतिम बात यही है। अंतिम शब्द यह था–'चश्मा लाओ।' दो क्षणों में घटित घटना में बातचीत की संभावना ही नहीं की जा सकती।

दूरदर्शन और पत्रकारों ने चाहा–'आचार्य तुलसी के महाप्रयाण के विषय में आपका क्या संदेश है?'

उस समय मैंने संक्षिप्त संदेश देते हुए कहा–'आचार्य तुलसी का महाप्रयाण पूरी मानवजाति के लिए आघात है। उन्होंने सम्प्रदाय की सीमा से ऊपर उठकर मानवता के साथ संबंध स्थापित कर लिया था। इस कठिन समय में सब धैर्य रखें और गुरुदेव के महान् अवदानों को ध्यान में रखकर उनके प्रति अपनी श्रद्धा समर्पित करें।'

एक पत्रकार ने पूछा–'आचार्य तुलसी राजनीति में रुचि लेते थे। राजनीतिक लोगों से संपर्क रहता था। क्या आप भी राजनीति में रुचि लेंगे?'

मैंने कहा–'मैं राजनीति को अछूत नहीं मानता। वह समाज के जीवन का महत्त्वपूर्ण पहलू है। राजनीतिक लोगों से धर्म का संपर्क क्यों नहीं होगा? जीवन को समग्रता की दृष्टि से देखने में हमारा विश्वास है। यह विश्वास भी मुझे गुरुदेव से उत्तराधिकार में मिला है।'

महाप्रयाण यात्रा

महाप्रयाण के पश्चात् आचार्यवर की पार्थिव देह को प्रज्ञा समवसरण में मुख्य मंच पर आसीन किया गया। इस महापुरुष की अन्तिम झलक पाने के लिए जन-प्रवाह उमड़ पड़ा। देश के कोने-कोने से लोग पहुंचने लगे। कोलकाता, मुंबई, बेंगलुरू, चेन्नई, गुवाहाटी आदि क्षेत्रों से हजारों लोग चार्टर विमान से आए। श्रावक समाज ने भव्य बैकुंठी का निर्माण किया।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

धवल वस्त्रों से आवेष्टित भव्य बैकुंठी में पूज्य गुरुदेव के दीक्षा पर्याय के इकहत्तर वर्षों के प्रतीक स्वरूप चांदी के इकहत्तर कलश लगाए गए। २४ जून को मध्याह्न में तेरापंथ भवन से प्रारम्भ हुई अंतिम महाप्रयाण यात्रा में एक लाख से अधिक लोगों ने भाग लिया।

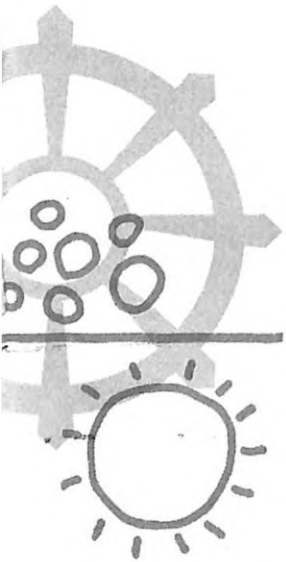

गंगाशहर के मुख्य मार्ग जनाकीर्ण बने हुए थे। चारों ओर जनता का रेला-सा दिखाई दे रहा था। महाप्रयाण यात्रा नगर के प्रमुख मार्गों से गुजरती हुई बाफणा ट्रस्ट द्वारा प्रदत्त भूमि पर पहुंची, जहां आचार्यवर की पार्थिव देह को गगनभेदी जयघोषों के मध्य उनके ज्येष्ठ भ्राता श्री सागरमलजी खटेड़ एवं सुपौत्र सुशील खटेड़ आदि परिवारजनों ने मुखाग्नि दी। इस अवसर पर राजस्थान के मुख्यमंत्री श्री भैरोसिंह शेखावत, दिल्ली के पूर्व मुख्यमंत्री श्री मदनलाल खुराना, राजस्थान विधानसभा के अध्यक्ष श्री शान्तिलाल चपलोत, उपमुख्यमंत्री श्री हरिशंकर भाभड़ा, सिंचाईमंत्री श्री देवीसिंह भाटी, शिक्षामंत्री श्री गुलाबचन्दजी कटारिया, पूर्व नहरमंत्री श्री चन्दनमलजी बैद, पूर्व शिक्षामंत्री डॉ. बुलाकीदास कल्ला तथा अनेकों विधायक एवं प्रतिष्ठित नागरिक भी उपस्थित थे।

२४ जून, १९९७ के प्रतिष्ठित समाचार-पत्रों के मुखपृष्ठ का प्रमुख समाचार था आचार्य तुलसी का महाप्रयाण। समाचार-पत्रों के अनेक पृष्ठ आचार्य तुलसी के कालजयी व्यक्तित्व और कर्तृत्व को समर्पित थे। जनसत्ता, नवभारत, राजस्थान पत्रिका, दैनिक भास्कर, दैनिक नवज्योति आदि प्रायः प्रतिष्ठित पत्रों में संपादकीय एवं अग्रलेख प्रकाशित किए गए। राष्ट्रपति से लेकर सामान्य जनता ने जिन भावप्रवण शब्दों में श्रद्धांजलि दी, उसमें उनके व्यक्तित्व की विराटता का हृदयस्पर्शी अंकन है। धर्मगुरुओं, राजनेताओं, पत्रकारों और साहित्यकारों ने कहा–'मानवीय हितों के लिए समर्पित संत चला गया। ऐसा संत शताब्दियों-सहस्राब्दियों बाद जन्म लेता है।' आध्यात्मिक जगत् में एक महान् रिक्तता का अनुभव किया

गया। अनगिनत व्यक्तियों/विचारकों ने युगद्रष्टा और क्रांतिकारी व्यक्तित्व की स्मृति करते हुए अपनी भावांजलियां समर्पित कीं। उनका संकलन 'श्रद्धोपनिषत्' ग्रंथ में है। कर्नाटक और राजस्थान विधानसभाओं में आचार्य तुलसी के नैतिक एवं चारित्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में किए गए योगदान की स्मृति करते हुए श्रद्धांजलियां दी गई। भारत-सरकार ने एक गरिमामय कार्यक्रम में आचार्यश्री तुलसी की स्मृति में जारी 'डाक टिकट' का लोकार्पण कर इस महापुरुष को अपनी श्रद्धांजलि समर्पित की।

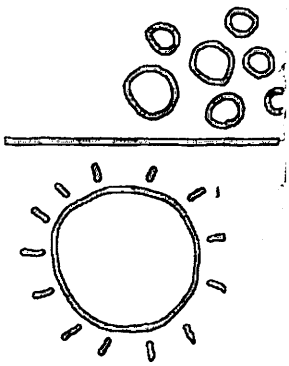

धर्मचक्र का प्रवर्तन

पूर्वाभास और भविष्य के संकेत

'विश्वास करो, पर अति विश्वास मत करो–विश्वसेत् नाति विश्वसेत्। गुरुदेव का ज्योतिष में विश्वास नहीं था, ऐसा मैं नहीं मानता। किन्तु उस पर अतिविश्वास नहीं था। केवल ज्योतिष के आधार पर बैठे रहने में उनका विश्वास नहीं था। वे पुरुषार्थ के प्रति बहुत जागरूक थे। विश्वास होना एक बात है और एकांगी होना बिलकुल दूसरी बात है। देवता द्वारा प्राप्त संकेतों के विषय में भी यही बात लागू होती है। कुछ ज्योतिर्विदों ने कहा था–'आचार्य तुलसी दिव्यपुरुष हैं। इनकी मृत्यु इच्छा मृत्यु होगी। वे जब चाहेंगे–मैं काम कर चुका हूं, मेरा कार्य संपन्न हो चुका है, तब वे मृत्यु का वरण करेंगे।' एक संकेत यह था–'अंतिम समय में कोई व्याधि नहीं होगी। कोई उपद्रव नहीं होगा। स्वाभाविक मृत्यु होगी। हृदय चलते-चलते रुक जाएगा।'

इन दोनों संकेतों में कुछ सचाई है। आचार्य-पद का विसर्जन करने के बाद गुरुदेव ने अनेक प्रसंगों में अनेक बार कहा–'मैं बहुत काम कर चुका हूं। अब जो करना है, वह महाप्रज्ञ करेंगे।' जैन विश्व भारती के भिक्षु-विहार में अनेक प्रसंग आए। अनेक बार संघ की अंतरंग व्यवस्था और बाह्य व्यवस्था के बारे में मैंने कुछ चिंतन गुरुदेव के सामने रखे। गुरुदेव ने हर बार यही कहा–'जैसा तुम चाहो, वैसा करो। अब तुम्हें ही करना है।' इस उत्तर की व्याख्या दो कोणों से की जा सकती है। पहला क़ोण यह है–गुरुदेव अपने कार्य के प्रति निश्चिन्त थे। वे मुझे अपना दायित्व सौंपकर कृतकृत्यता का अनुभव कर रहे थे। दूसरा कोण यह है–वह उत्तर अज्ञात जगत् में होने वाली घटना का एक संकेत है।

आदमी बोलता है, उसे हम पकड़ लेते हैं, किन्तु वह क्यों बोलता है, इसको पकड़ पाना बहुत कठिन है। शब्द स्थूल जगत् के नियमों को वाहन बनाकर आ रहे हैं अथवा सूक्ष्म जगत् के नियमों की सूचना देने आ रहे हैं। इसे सरलता से नहीं समझा जा सकता।

वि.सं. २०५३ का चातुर्मास संपन्न हो रहा था। चाड़वास मर्यादा-महोत्सव के लिए हमें प्रस्थान करना था। विहार की चर्चा चारों ओर सुनाई दे रही थी। उन्हीं दिनों आकस्मिक रूप से एक विकल्प उभरा–क्या मुझे भी कभी गुरुदेव की स्मृति करनी पड़ेगी? यह विकल्प क्यों तरंगित हुआ? इसकी व्याख्या मेरे पास नहीं है। हुआ, इतना स्पष्ट है। उसे मैंने तत्काल मन से निकाल दिया किन्तु उसे भविष्य के संकेत के रूप में नहीं पकड़ा। गुरुदेव से अलग रहना मुझे मान्य नहीं था। प्रयोजनवश यदा-कदा रहना होता तो स्वास्थ्य के विषय में चिन्तन हो जाता किन्तु उक्त विकल्प आकस्मिक ढंग से आया और क्षण भर के लिए मन को झकझोर कर चला गया।

पहले कौन जाएगा?

मेरा स्वास्थ्य कभी-कभी गुरुदेव के लिए चिन्ता अथवा चिन्तन का विषय बन जाता था। गुरुदेव बहुत बार कहते–'तुमसे मेरा स्वास्थ्य अच्छा है।' कभी-कभी एकान्त में पहले कौन जाएगा, इस विषय

पर भी चर्चा चल पड़ती। मेरे विषय में अनेक अफवाहें गुरुदेव तक पहुंचती थीं और वे कभी-कभी गुरुदेव के मन को विचलित भी कर देती थीं। विहार से पहले दो-तीन मास पूर्व इस प्रकार की कई चर्चाएं प्रसंग में आईं। गुरुदेव ने हर बार कहा–'मुझे कोई चिन्ता नहीं है, अब चिन्ता ये करेंगे।' एक बार उसी प्रसंग में शुभकरण दस्सानी ने चिन्तन की मुद्रा में कहा–'गुरुदेव! अगर महाप्रज्ञ आपसे पहले जाते हैं तो इनके लिए अच्छा है। एक पुत्र अपने पिता के हाथों चला जाता है, उसके लिए यह अच्छी बात है। किन्तु यदि आपका पहले प्रस्थान हो, मैं चाहता हूं न हो, पर यदि हो जाए तो आपको किसी विषय में कुछ चिन्तन करना है? कोई व्यवस्था संबंधी निर्देश देना है?' गुरुदेव ने कहा–'ये स्वयं सक्षम हैं। जो करना है, वह अपने आप करेंगे। मैं उसकी चिन्ता क्यों करूं?' गुरुदेव ने जिस लहजे में कहा, जिस मुद्रा में कहा, उसमें भविष्य का संकेत छिपा हुआ था और लग रहा था कि गुरुदेव धर्मसंघ के संचालन के लिए संपूर्ण दायित्व मुझे समर्पित कर रहे हैं।

श्याम परछाईं

एकांतवास से दो दिन पहले मैं गुरुदेव की उपासना में बैठा था। स्वास्थ्य के विषय में बातचीत चल रही थी। उस समय मैंने गुरुदेव की आकृति को ध्यान से देखा। मुझे आभामण्डल की परछाईं में कुछ श्यामलता का आभास हुआ। मुझे गुरुदेव के ज्येष्ठ बंधु चम्पालालजी स्वामी (भाईजी महाराज) की स्मृति हो आई। उनके स्वर्गवास के तीन-चार दिन पहले हम फतेहपुर (राजस्थान) में थे। मैं उनके पास खड़ा था। उस समय उनकी आकृति में मैंने श्याम परछाईं की प्रचुरता देखी। मैंने उनसे कहा–'आज आप ऐसे कैसे लग रहे हैं?' गुरुदेव की आकृति को देखकर मन एक बार आंदोलित हुआ। बातचीत के विस्तार में चिन्तन विलीन हो गया। जिस संकेत की ओर ध्यान गया, वह विस्मृति में चला गया। एक बार इच्छा हुई गुरुदेव से उसकी चर्चा करूं, फिर सोचा अभी नहीं, प्राकृतिक चिकित्सा के बाद इसकी चर्चा करूंगा।

शुभू पटवा की प्रार्थना

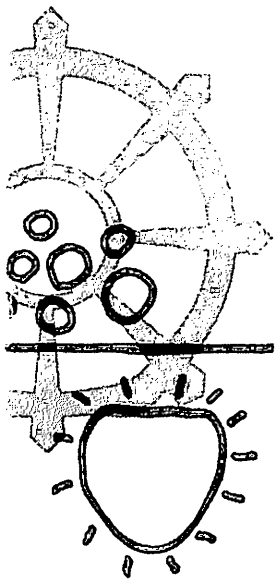

९ जून, १९९७ को शुभू पटवा, डॉ. जेठमल मरोठी और भंवरलाल डागा, तीनों गुरुदेव की सेवा में बैठे थे। गुरुदेव ने उन्हें एक पुस्तक 'लैम्प टु लाइट लैम्प्स' दिखाई। शुभू पटवा ने गुरुदेव के सामने एक प्रस्ताव रखा–जैसे अज्ञेय का इण्टरव्यू लिया और एक पुस्तक अज्ञेय को समर्पित की गई–'अपरोक्ष'। वैसे ही देश के तीन प्रतिष्ठित साहित्यकार आपका इण्टरव्यू लें और उसका संकलन कर हम एक पुस्तक आपको समर्पित करना चाहते हैं। उसमें आपके विचार, दर्शन और कार्यों का समाकलन होगा। गुरुदेव ने तत्काल कहा–'अब हमारा क्या करना है? महाप्रज्ञ का इण्टरव्यू लो।' शुभू पटवा ने गुरुदेव के निर्देश को शिरोधार्य किया।

कल का क्या भरोसा?

२२ जून, १९९७। गुरुदेव मध्याह्न में बाल साधुओं को सिन्दूर-प्रकर के इकहत्तरवें श्लोक का अनुवाद करा रहे थे। श्लोक का पूर्वार्ध पूरा हो गया। गुरुदेव ने कहा–'उत्तरार्ध कल देखेंगे। यह थोड़ा गहरा है, समझने का है।' सायं प्रतिक्रमण के पश्चात् गुरुदेव ने अकस्मात् कहा–'संतो! आओ, उस श्लोक को पूरा करें।'

मुनिजन–'गुरुदेव, आज श्रम अधिक हुआ है। कल कृपा करें।'

गुरुदेव–'कल नहीं, अभी करना है।'

श्लोक का अर्थ प्रारंभ हुआ। अन्य व्यवधान आते गए। पहले कुछ लोग आए, फिर सड़क पर जा रहे बैण्ड-बाजों की आवाज से शोरगुल हो गया।

गुरुदेव ने कहा–पहले अर्हत् वंदना कर लेते हैं। अर्हत् वंदना सम्पन्न हुई। गुरुदेव का डॉ. बलराम जाखड़ के साथ लगभग आधा घंटा वार्तालाप हुआ। मुनिजन अपने-अपने स्थान पर चले गए। गुरुदेव ने कहा–'कहां गए? आओ, श्लोक को पूरा करें।'

मुनिजन–'परिश्रम ज्यादा हो गया है। आज रहने दें। आप विश्राम करें। कल हो जाएगा।'

गुरुदेव–'कल का क्या भरोसा? (कल को कांई भरोसो) आओ, बैठो।' आखिर गुरुदेव ने श्लोक का अर्थ पूरा करा दिया।

कल का क्या भरोसा–सचमुच एक संकेत था।

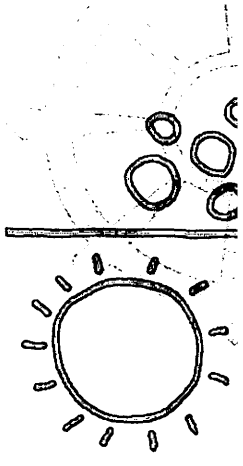

धर्मचक्र का प्रवर्तन

व्यक्त और अव्यक्त संकेत

भविष्य के संकेत के दो रूप हैं–अव्यक्त और व्यक्त। हम व्यक्त के नियमों से परिचित हैं। अज्ञात हैं अव्यक्त के नियम। उनका ज्ञान घटना घटित हो जाने के बाद होता है। उसमें भी अनुमान को मुक्त अवकाश मिल जाता है। तेरापंथ की परम्परा के अनुसार आचार्य युवाचार्य की नियुक्ति के बाद व्यवस्था के लिए निश्चिन्त हो जाते हैं। गुरुदेव ने वि.सं. २०३५ माघ शुक्ला सप्तमी के दिन मुझे युवाचार्य के पद पर नियुक्त कर दिया था। वह दिन उनकी निश्चिन्तता का दिन था। वे बहुत बार कहते–'अब मैं निश्चिन्त हूं। भविष्य की मुझे कोई चिन्ता नहीं है।' किन्तु निश्चिन्तता के क्षणों में भी कभी-कभी चिन्ता का क्षण आ जाता। कुछ स्रोतों से यह स्वर बार-बार गुरुदेव के सामने आता–'महाप्रज्ञ के जीवन की अवधि बहुत नहीं है। इसलिए वे आचार्य नहीं बन पाएंगे।' क्या आचार्य-पद के विसर्जन का एक हेतु यह नहीं है–युवाचार्य युवाचार्य ही न रहे? यह अनुमान कुछ व्यक्तियों का है। मैं इससे सर्वथा असहमत नहीं हूं और इसलिए नहीं हूं कि विषय का चिन्तन नहीं हुआ हो ऐसा नहीं है। सर्वथा सहमत इसलिए नहीं हूं कि आचार्य-पद के विसर्जन का यह एकमात्र कारण नहीं है। दिल्ली (सन् १९९४) प्रवास के समय गुरुदेव ने जो पत्र लिखकर मुझे दिया, उसमें छिपे भविष्य के संकेत मननीय हैं। पत्र का अविकल पाठ यह है–

अंतर्मन के उद्गार

'मैंने जो अपने आचार्य-पद का विसर्जन किया है, वह वास्तविक विसर्जन है। उसको औपचारिक मानने की भूल कोई न करे। स्वयं आचार्य महाप्रज्ञ तो करें ही नहीं। इससे भविष्य के चिन्तन में निश्चिन्तता रहेगी। किसी प्रकार का मानसिक संकोच रहा तो वह चिन्तन सही नहीं होगा। इसीलिए मेरा पुनः-पुनः आवेदन है, प्रवेदन है, निवेदन है कि संघ के शुभ भविष्य का संपूर्ण दायित्व तुम पर है। महाप्रज्ञ! आप पर है।

यह शब्द इसलिए कह रहा हूं–मुझे अनुभव हो रहा है, कभी-कभी (तुम) आशंकित रहते हो। यह मेरे विसर्जन को दुर्बल बनाता है। इसलिए मानसिक संकल्प करो–मैं अपने दायित्व को गंभीरता से लूंगा और उसी रूप में उसके निर्वाह का नितांत प्रयत्न रखूंगा। मैं (तुलसी) स्वयं भारहीन और अपने दायित्व से

निश्चिन्त रहता हुआ अपने आप में संघीय विकास तथा अध्यात्म और अहिंसा को व्यापक बनाने में अपना समुचित श्रम लगाता रहूंगा।

मैं अपने जीवनकाल में महाप्रज्ञ को अपने से भी अधिक यशस्वी आचार्य देखना चाहता हूं। इसमें मेरा परामर्श और मार्गदर्शन जहां भी जरूरी समझोगे, वह निश्चित उपलब्ध रहेगा।

संघ के मौलिक स्वरूप को सुरक्षित रखते हुए उसे नया रूप देना, नए इतिहास का निर्माण करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य लग रहा है। इसमें अपनी अंतर्दृष्टि और जागृत प्रज्ञा का निःसंकोच प्रयोग करना है।

मेरे इस विसर्जन से जो मुझे यश और ख्याति मिली है, उसमें भी अपने उत्तराधिकारी को मैं सहभागी बनाना चाहता हूं।

तुम अधिक स्वस्थ रहो, क्योंकि जीना जानते हो। जीने की कला तुम्हें प्राप्त है। प्राप्त ही नहीं, उसका सतत उपयोग कर रहे हो। इसलिए मैं अपनी ओर से शुभाशंसा करता हूं कि तुम स्वस्थ रहो ताकि हमारा संघ युग-युग तक इस जागृत प्रज्ञा का उपयोग कर धन्यता का अनुभव करे और जैन-जैनेतर पूरे मानव समाज का सही पथदर्शन होता रहे।

वास्तव में यह दुर्लभ क्षमता हमारे संघ को पूर्वाचार्यों की संचित तपस्या से सहज प्राप्त है। इसका जितना अच्छा उपयोग होगा, मानव जाति का उतना ही भला होगा।

जैन धर्म और उसका समर्थ प्रतिनिधि (तेरापंथ) हमें विरासत में मिला है। उसके साथ अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन-विज्ञान जैसे व्यापक कार्यक्रम भी हमारे हाथ में आए हैं। उनका उपयोग अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में प्रारंभ हो गया है। यह मानवता के शुभ भविष्य का सूचक है।

तेरापंथ-प्रबोध के इस सूक्त को हमेशा सामने रखो—शुभ भविष्य है सामने।

यह आलेख आज वि. सं. २०५१, कार्तिक कृष्णा ३, ईसवी सन् १९९४, दिनांक २२ अक्टूबर, शनिवार रात्रि के ८.३० बजे अध्यात्म साधना केन्द्र के एक प्रकोष्ठ, जिसमें महाप्रज्ञ बैठते हैं, मैंने लिखाया है। शुभं भवतु।'

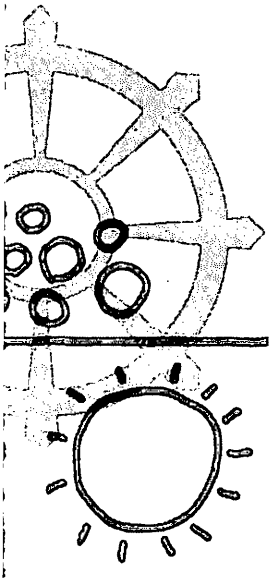

यह पत्र मेरे लिए सब कुछ है। इसमें आशीर्वाद है, दायित्व-बोध है, प्रेरणा है, प्रोत्साहन है और शुभ भविष्य की सारी गाथाएं उत्कीर्ण हैं। अंतिम क्षणों में जो कहना था, वह गुरुदेव ने तीन वर्ष पहले ही कह दिया। अशेष पुरुष ने शेष कुछ छोड़ा ही नहीं।

ऐतिहासिक विहंगावलोकन

१. जन्म	:	२० अक्टूबर १९१४, लाडनूं (राज.)
२. दीक्षा	:	५ दिसम्बर १९२५, लाडनूं (राज.)
३. युवाचार्य	:	२१ अगस्त, १९३६, गंगापुर (राज.)
४. आचार्य	:	२७ अगस्त, १९३६, गंगापुर (राज.)
५. युगप्रधान आचार्य	:	४ फरवरी, १९७१, बीदासर (राज.)
६. पाठ्यक्रम	:	१९४८, छापर (राज.)

७. अणुव्रत आंदोलन	:	२ मार्च, १९४९, सरदारशहर (राज.)
८. साम्प्रदायिक सद्भावना के प्रयत्न	:	१९५४, मुंबई
९. आगम संपादन	:	१९५५, उज्जैन (मध्यप्रदेश)
१०. नया मोड़	:	१९६०, राजसमंद (राज.)
११. धर्मक्रांति	:	१९७४, नई दिल्ली
१२. प्रेक्षाध्यान	:	१९७५, जयपुर (राज.)
१३. जीवन-विज्ञान	:	१९७८, लाडनूं (राज.)
१४. समण-दीक्षा	:	१९८०, लाडनूं (राज.)
१५. भारत ज्योति अलंकरण	:	१४ फरवरी, १९८६, उदयपुर (राज.)
१६. राष्ट्रीय एकता परिषद में मनोनयन	:	१९९०, दिल्ली
१७. वाक्पति अलंकरण	:	१४ जून, १९९३, लाडनूं (राज.)
१८. इंदिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार	:	३१ अक्टूबर, १९९३, नई दिल्ली
१९. हकीम खां सूर सम्मान	:	२९ जुलाई, १९९५, लाडनूं (राज.)
२०. आचार्यपद विसर्जन	:	१८ फरवरी, १९९४, सुजानगढ़ (राज.)
२१. महाप्रयाण	:	२३ जून, १९९७, गंगाशहर (राज.)

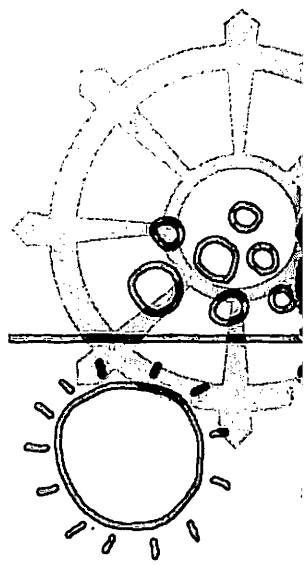

धर्मचक्र का प्रवर्तन

क्षमा करें गुरुदेव!

हर व्यक्ति और हर वस्तु का अपना-अपना मूल्य होता है। मिट्टी का भी मूल्य है और हीरे का भी मूल्य है। मिट्टी का काम हीरा नहीं कर सकता और हीरे का काम मिट्टी नहीं कर सकती। यह मूल्य का तारतम्य ही सृष्टि का नानात्व है। किस व्यक्ति में कितनी क्षमता है और कौन व्यक्ति कितनी क्षमता का उपयोग करता है—इस आधार पर व्यक्ति का मूल्यांकन होता है। एक तथ्य यह है कि दूर खड़ा व्यक्ति जितना मूल्यांकन कर सकता है, उतना निकट रहने वाला नहीं कर सकता। प्यासे आदमी के लिए पानी का जितना मूल्य है, उतना बुझी हुई प्यास वाले के लिए नहीं है।

• गुरुदेव! हम आपकी सन्निधि में रहकर आकण्ठ तृप्त थे इसलिए हमें जितना मूल्य आंकना चाहिए, उतना शायद नहीं आंक सके। हम अति सामीप्य का अनुभव कर रहे थे, इसलिए सही-सही मूल्य नहीं आंक सके। अभाव कष्ट भी देता है, साथ-साथ मूल्यांकन का अवसर भी देता है। स्वर्गवास के बाद मूल्यांकन के जो स्वर उभरे, जिस गाथा का संगान हुआ, जो लिखा गया, जो अभिव्यक्ति प्रगट हुई, उसने प्रमाणित कर दिया—सन्निधि में रहने वाले मूल्य आंकते थे, पर उतना ही मान लेने के कारण सन्निधि में रहने वाले मूल्यांकन की क्षमता का अभीष्ट प्रदर्शन या निदर्शन नहीं कर पाए।

• गुरुदेव! कितनी अद्भुत थी कल्पना की शक्ति। कितना अद्भुत था सपना लेने का अनायास आयास। इस कल्पना-शक्ति ने तेरापंथ को गगनचुंबी ऊंचाइयां दीं और मानवजाति को पैर टिकाने के लिए धरती। जो व्यक्ति कल्पना करना नहीं जानता, वह प्रगति के शिखर पर आरोहण नहीं कर सकता। यह सचाई है और बहुत बड़ी सचाई है।

• गुरुदेव! आज हमारे सामने विकास के जितने आयाम हैं, उन सबकी पृष्ठभूमि में आपकी कल्पना ही है। निर्विकल्प समाधि में ध्यान हो सकता है पर किसी वस्तु का निर्माण नहीं हो सकता। कल्पना-चित्त ही निर्माण-चित्त तक पहुंचकर अनाकार को आकार देता है।

• गुरुदेव! कितनी अपूर्व थी आपकी स्मरण-शक्ति। आप अपने दायित्व के प्रति सतत जागरूक रहे। उसकी क्षणभर के लिए भी विस्मृति नहीं की। उसका साक्ष्य दे रही हैं अनेक घटनाएं। आपने अपने पूर्वजों को कभी नहीं भुलाया। भिक्षु स्वामी आपके लिए हृदयहार थे तो कालूगणी आपके लिए कण्ठमणि थे। सभी पूर्वजों को पूर्ण श्रद्धा से शिरोधार्य किया। उनकी वाणी को सदा सामने रखा। व्याख्यान सुनने वाले को सहज ही यह अवबोध हो जाता कि स्मृति का भण्डार कितना विशाल है।

• गुरुदेव! कितनी अपूर्व थी आपकी ग्रहण शक्ति। विकास का मूल आधार स्मृति नहीं, उसका आधार है ग्रहण शक्ति और धारणा की शक्ति। कोई नई बात कहता, गुरुदेव उसे ग्रहण करते, अपने धारणा के प्रकोष्ठ में स्थापित कर देते, इसलिए आप नित नए रहे, कभी पुराने नहीं हुए। जनता को बासी रोटी कभी नहीं परोसी। बहुत लोग अपनी समस्या प्रस्तुत करते हैं—हमारी स्मृति कमजोर है। उनकी शिकायत यथार्थ नहीं है। वे इस सचाई पर ध्यान नहीं देते—ग्रहण और धारणा-शक्ति का विकास किए बिना स्मृति का विकास कभी नहीं हो सकता। गुरुदेव ने ग्रहण, धारणा और स्मृति में सामंजस्य स्थापित कर एक ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण किया, जो दूसरों के लिए सदा आश्चर्य बनता रहा।

• गुरुदेव! कितनी अपूर्व थी आपकी चिन्तनशक्ति। कितनी अपूर्व थी दूरदर्शिता। तेरापंथ धर्मसंघ के बारे में सोचा, जैनधर्म के बारे में सोचा, मानवजाति और मानवता के बारे में सोचा। चिन्तन का क्रम निरन्तर चलता रहा। गुरुदेव ने आने वाले चिन्तकों के समक्ष अनेक बार कहा—हम दोनों समस्या और समाधान के बारे में चिन्तन करते रहते हैं। शायद ही कोई दिन खाली जाता होगा। चिन्तन एक कला है। हमारी दुनिया में बहुत थोड़े लोग हैं, जो चिन्तन करना जानते हैं। जिस चिन्तन का यथार्थ और व्यवहार की दूरी से सम्बन्ध नहीं होता, वह मात्र दिमागी कसरत बन जाता है। गुरुदेव ने इस सूत्र का सैकड़ों-सैकड़ों बार प्रयोग किया। चिन्तन, निर्णय और क्रियान्विति में दूरी नहीं रही। यदि दूरी होती है तो रस काल पी जाता है—कालः पिबति तद्रसम्।

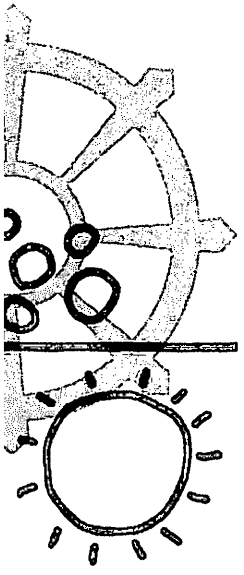

• गुरुदेव! आप शक्ति-सम्पन्न, मेधा-सम्पन्न, पुरुषार्थ-सम्पन्न और भावना-सम्पन्न थे। आपने मानव-जाति को इतना अवदान दिया, जितना अपने जीवनकाल में बहुत ही कम लोग दे पाते हैं। हमने आपका मूल्यांकन किया और बार-बार इस सत्य को दोहराया कि ऐसा आचार्य शताब्दियों-शताब्दियों में कोई पैदा होता है। गुणगान किया, स्तवना गीत गाए, सब कुछ किया। उस समय इस अनुभूति में रहे कि आप हमारे हैं और हम आपके हैं। इस अनुभूति ने हमारे चरणों को आगे नहीं बढ़ने दिया। आज हमें लग रहा है—जिस भूमि पर जैसा मूल्यांकन करना चाहिए, वैसा हमने नहीं किया। क्षमा करें गुरुदेव!

• गुरुदेव! केरल की यात्रा में आपने विसर्जन का महान् सूत्र दिया। यात्रा के पश्चात् इस सूत्र को प्राणवान् बनाने का प्रयत्न किया। कितना अच्छा होता, विसर्जन के इस सूत्र को जनता समझ पाती। समय-समय पर समझाने का प्रयत्न भी हुआ फिर भी पूरी बात समझ में नहीं उतरी। पचासवीं मंजिल पर खड़ा व्यक्ति दूर की जिस वस्तु को देखता है, उसे पहली मंजिल के आस-पास खड़ा व्यक्ति कैसे देख पाएगा? इस भूमिका-भेद को सामने रखा। उस पर स्वीकार और अस्वीकार की परछाईं नहीं पड़ी। समाज और राष्ट्र

की बदलती हुई परिस्थितियों में आज का आदमी सोचता होगा—यदि हम विसर्जन की बात को हृदयंगम कर पाते तो हिंसा, आतंक और अपहरण की समस्या का जन्म नहीं होता।

• गुरुदेव! श्रद्धालु लोग भी विसर्जन का मर्म नहीं समझ पाए। उनकी मति लक्ष्य की दिशा को छोड़कर अन्य दिशा में पहुंच गई। उन्होंने कहा—'यह जैन विश्व भारती को अर्थ दिलाने का प्रयास है।' राष्ट्रीय समस्या के समाधान की कल्पना को संकुचित चिन्तन की पेटी में बन्द कर दिया। फिर भी आपने उन लोगों पर कभी आक्रोश नहीं किया। इस अमाप्य करुणा की धारा में अभिष्णात होकर क्या वे लोग आज क्षमाप्रार्थी नहीं हैं?

• दूरदृष्टि, विशाल दृष्टि और व्यापक दृष्टि का तात्पर्य वे लोग कैसे जान सकते हैं, जो निकट की बात को देखते हैं, संकीर्ण और सीमित दृष्टि से देखते हैं। दृष्टि के अन्तर ने आपको दुर्बोध बनाया, इसीलिए आपके परिपार्श्व में रहने वाले लोग भी आपको नहीं जान सके, आप तक नहीं पहुंच सके। आपने सुजानगढ़ मर्यादा-महोत्सव (१८ फरवरी, १९९४) के अवसर पर अचानक आचार्यपद का विसर्जन किया। बहुत लोग आश्चर्यचकित थे। कुछ निकट रहने वाले लोगों का मन प्रश्नों से भर गया। ऐसा क्यों किया है? जयाचार्य शासन-संचालन के कार्य से मुक्त रहकर सारा कार्य अपने युवाचार्य मघवा से कराते थे। आचार्यवर भी युवाचार्य महाप्रज्ञ से सारा कार्य करा सकते हैं और स्वयं अन्य कार्यों में अपने समय का नियोजन कर सकते हैं, फिर आचार्यपद का विसर्जन क्यों? आचार्यपद का विसर्जन करने के बाद क्या सम्मान और प्रतिष्ठा में अन्तर नहीं आएगा? क्या आचार्य महाप्रज्ञ गुरुदेव के पास रहकर स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर पाएंगे? आदि-आदि प्रश्न उभरे—कुछ व्यक्त, कुछ अव्यक्त। कुछ वाणी के विषय बने और कुछ अन्तर्मन को आन्दोलित करते रहे।

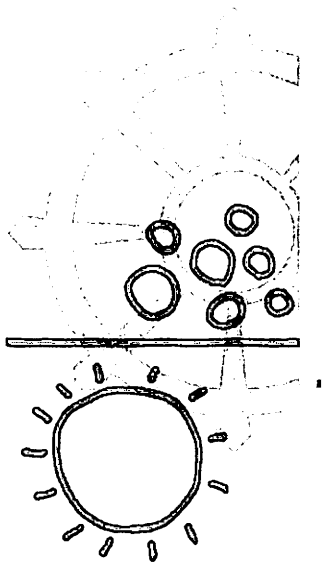

धर्मचक्र का प्रवर्तन

गुरुदेव ने आचार्यपद के विसर्जन के समय एक वक्तव्य दिया—'यों तो मैं बार-बार कहता रहता हूं कि तुम अपना काम संभालो, संघ-व्यवस्था अपने हाथ में लो, पर वह काम पूरा नहीं बना। इसलिए अब मैं आचार्यपद का भार तुम्हें सौंप रहा हूं, हस्तान्तरित कर रहा हूं। भिक्षु स्वामी और भारमलजी स्वामी साथ-साथ रहे। जयाचार्य ने मघवा को काम सौंपा और स्वयं निवृत्त हो गए। तुम्हें युवाचार्य बनाए पन्द्रह वर्ष हो गए, पर पूरा कार्य मैं ही कर रहा हूं। तुम कार्यक्षम होते हुए भी दूसरे कामों में लगे हुए हो। इसलिए अब मैं पूरा दायित्व तुम्हें सौंप रहा हूं। मैं इस दायित्व को सौंप कर अपनी साधना और मानव जाति के व्यापक कार्यक्रम में लगूं, ऐसी मेरी भावना है।

तेरापंथ के भाग्यविधाता आचार्य भिक्षु और भिक्षु शासन की परम्परा के अनुसार आचार्य अपने उत्तराधिकारी के रूप में युचाचार्य की नियुक्ति करते हैं और मैंने भी की है। पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने अपने युवाचार्य को आचार्य के रूप में नहीं देखा। मैं इसे देखना चाहता हूं। अतः मैं निर्देश देता हूं कि युवाचार्य महाप्रज्ञ आचार्यपद का दायित्व संभालें।'

इस वक्तव्य का मर्म भी कुछ लोग नहीं पकड़ पाए, ऐसा लग रहा था। चिन्तनपूर्वक किये गए कार्य को जल्दबाजी के रूप में किये गए कार्य का रूप भी दिया गया। उस समय उभरी हुई शंकाएं और आशंकाएं बता रही थीं कि किसी महापुरुष के कार्य का मूल्य आंकना कितना कठिन काम है। उपर्युक्त वक्तव्य में विसर्जन के दो हेतु उल्लेखनीय हैं—

मैं अपनी साधना में लगूं।

मैं मानव जाति के व्यापक कार्यक्रम में लगूं।'

इनके अतिरिक्त गुरुदेव ने जिन नौ अन्य हेतुओं का निर्देश दिया, वे भी विसर्जन के उद्देश्य को बहुत स्पष्ट करने वाले हैं—

१. मैंने सोचा—तेरापंथ का कोई आचार्य इतने लम्बे समय (अट्ठावन वर्ष) तक शासन-सत्ता पर नहीं रहा। मैं सबसे अधिक रहा। अब मुझे इससे निवृत्त होकर प्रायोगिक जीवन का अभ्यास करना चाहिए।

२. जयाचार्य (तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य) ने शासन सत्ता से निवृत्त रहने का प्रयोग किया था। उसमें और वर्तमान व्यवस्था में इतना अन्तर है कि जयाचार्य ने अपने युवाचार्य मघवा को एक प्रकार से आचार्य ही बना दिया। संघ की सारणा-वारणा, आलोयणा देना आदि कार्य वे ही करते। उससे कुछ नया करने की बात मेरे मन में आई। **'अकडं करिस्सामि'**—जो किसी ने नहीं किया, वह करूं, यह मेरी मनोवृत्ति है। इस ऋषि मनोवृत्ति का उल्लेख अश्वघोष ने इन शब्दों में किया है—

राज्ञां ऋषीणां चरितानि-तानि कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः।

इस मनोवृत्ति ने मुझे प्रेरित किया—मैं अपने युवाचार्य को आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित करूं। तेरापंथ के भाग्यविधाता आचार्य भिक्षु और भिक्षुशासन की परम्परा के अनुसार आचार्य अपने उत्तराधिकारी के रूप में युवाचार्य की नियुक्ति करते हैं और मैंने भी की है। पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने अपने युवाचार्य को आचार्य के रूप में नहीं देखा। मैं इसे देखना चाहता हूं—इस चाह को मैंने आकार दे दिया।

धर्मचक्र का प्रवर्तन

३. मैंने सोचा—अस्सी वर्ष की अवस्था हो गई है, स्वास्थ्य भी अनुकूल नहीं है। विश्राम की अपेक्षा है। शासनसत्ता और अधिकार के बने रहने पर श्रम की अनिवार्यता होती है। श्रम कम करना है तो क्यों नहीं इस पद को युवाचार्य में प्रतिष्ठित कर दिया जाए।

४. मैंने सोचा—एक शिष्य आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित होकर अपने गुरु के प्रति कितना विनम्र हो सकता है, उसका निदर्शन अकृतज्ञ मनोवृत्ति वाले युग के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए। 'अणंतनाणोवगओ वि संतो'—इस आगमवाणी की सत्यता को प्रमाणित करना चाहिए।

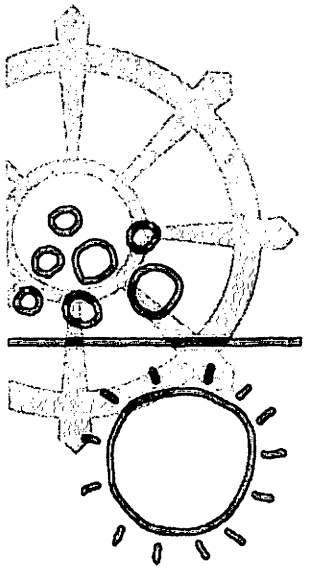

५. मैंने सोचा—मेरे इस कार्य में युग को यह मार्गदर्शन मिल सकता है—एक समय सीमा के बाद पद, सत्ता, अधिकार आदि को किसी दूसरे में प्रतिष्ठित कर स्वयं को हलका जीवन जीना चाहिए।

६. एक कल्पना ने जन्म लिया—मैंने धर्म को निर्विशेषण बना दिया। अणुव्रत धर्म है, किन्तु जैन, बौद्ध, वैदिक आदि किसी विशेषण से जुड़ा हुआ नहीं है। निर्विशेषण धर्म का प्रवर्तक स्वयं निर्विशेषण क्यों नहीं बने? 'तुलसी' यह नाम जनता के मन में घुल गया है। अब इसे किसी विशेषण की पीठ पर बिठाने की जरूरत नहीं है।

७. मैंने सोचा—पद के बिना भी काम किया जा सकता है—इस धारणा का उज्जीवन होना चाहिए जिससे पद के पीछे दौड़ने की मनोवृत्ति में अन्तर आए।

८. सत्ता और अधिकार पर रहा व्यक्ति मुक्त बात नहीं कह सकता। सत्ता से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति निःसंकोच अपनी बात जनता के सामने प्रस्तुत कर सकता है।

९. आज जैन सम्प्रदायों में आचार्यों की बाढ़ आ रही है। कहीं शिष्य कम और आचार्य अधिक न हो जाएं? इस समस्या का समाधान है—पद की अपेक्षा साधना का आकर्षण अधिक बढ़े।

इतना स्पष्ट दृष्टिकोण होने पर भी लोग विसर्जन के उद्देश्य को हृदयंगम नहीं कर पाए। यह आपके कर्तृत्व के प्रति एक धूमिल संदेह है। गुरुदेव! इस संदिग्ध मनोवृत्ति को आप अवश्य क्षमा करेंगे।

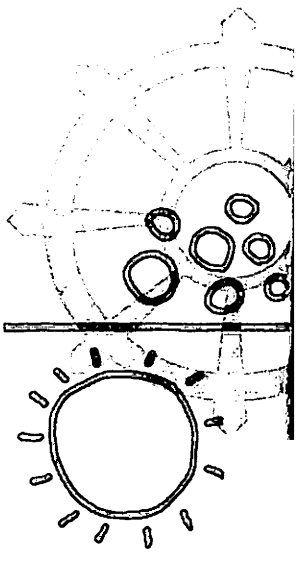

धर्मचक्र का प्रवर्तन

आचार्य तुलसी जन्म शताब्दी

हम शीर्ष को देखते हैं, पैरों को नहीं देखते। शिखर को देखते हैं, तलहटी को नहीं देखते। फूल-पत्तों को देखते हैं, जड़ को नहीं देखते। समस्या का मूल कारण है कि हम समग्र को देखना नहीं जानते। कोई व्यक्ति महान् बन गया, उसकी महानता को देखने का प्रयत्न करते हैं किन्तु जिस छोटे से बीज से बरगद बना, उस बीज को हम कहां देखते हैं। बरगद को देखने वाले बहुत हैं पर उसके लघुकाय बीज को देखने वाले बहुत कम। मुझे प्रसन्नता है कि मैंने बरगद की अपेक्षा उसके लघु बीज को देखने का प्रयत्न अधिक किया है।

ईस्वी सन् २०१३-२०१४ आचार्य तुलसी का जन्म शताब्दी वर्ष है। यह वर्ष उस महापुरुष के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व का समग्रता से मूल्यांकन का वर्ष है। आचार्य तुलसी की जीवन यात्रा नैतिकता से शुरू हुई और मंजिल-दर-मंजिल अध्यात्म की चोटी तक पहुंच गई। उनकी चेतना सत्य शोध के लिए समर्पित थी इसीलिए नए-पुराने का द्वंद्व उनके पैरों को नहीं बांध सका। सत्य शोध की अभीप्सा ने उनसे वे कार्य करवाए, जिन्हें साधारण लोग संभव नहीं मान रहे थे। उनकी दृष्टि जितनी गगनचुंबी थी उससे कहीं अधिक अतल के तल को देखने वाली थी। आकाशदर्शी को जो असंभव लगता है, वह तलस्पर्शी के लिए सहज सरल हो जाता है।

आचार्य तुलसी ने अपनी 'अध्यात्म-कुंडली' का निर्माण स्वयं किया था। उसने जन्म कुंडली के ग्रहों को बलवान बनाया। नैतिकता का मंगल और अध्यात्म के बृहस्पति इतने शक्तिशाली बन गए कि उनका प्रभाव क्षेत्र धरती को प्रकाश देने लगा। वे आकाशीय उड़ान से असाधारण नहीं बने किन्तु धरती को प्रकाश देने वाले साधारण मानव बने। उन्होंने मानवता का मूल्य बढ़ाया, हर मानव में आत्मा का दर्शन किया, हर प्राणी में आत्मा को देखा। इस आत्म-तुला ने उन्हें अध्यात्म का शिरोमणि बना दिया। उस महान् आत्मा का परोक्ष हमें सत्य का प्रत्यक्ष कराता रहेगा।

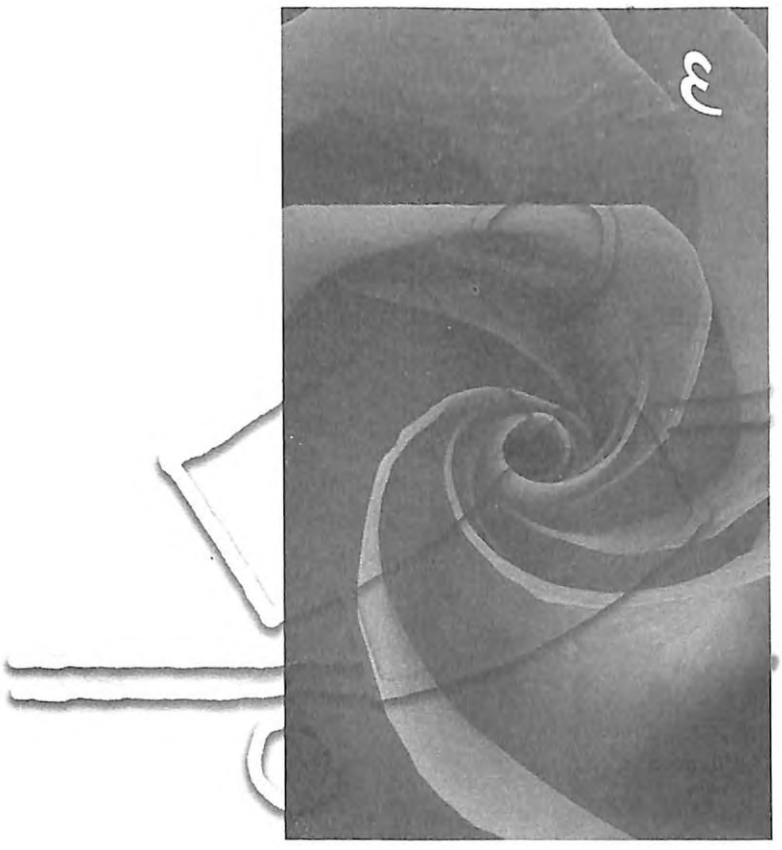

परिशिष्ट

परिशिष्ट

१. नामानुक्रम
२. ग्रामानुक्रम
३. चातुर्मास
४. मर्यादा महोत्सव
५. प्रमुख साहित्यिक कृतियां

परिशिष्ट-१ : नामानुक्रम

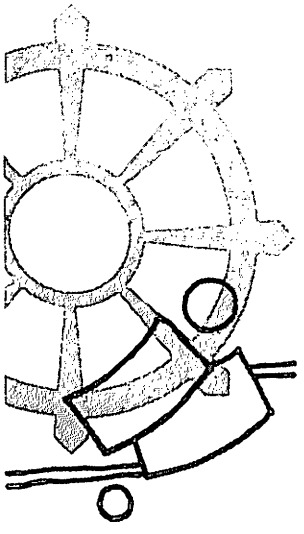

अ

अकलंक (आचार्य) १७०
अक्षयकुमार जैन २२, १८६
अचलसिंह १६६
अजीज (डॉ.) ३८४
अज्ञेय ४०१
अटलबिहारी वाजपेयी ३६, २३७, ३४२
अड़के १२०
अनंतशयनम् अय्यंगार ४०, ११८, १५६
अनोप बोथरा ३८४,३८६-३८८
अन्नादुरै (मुख्यमंत्री) ११७
अब्राह्म मास्लोव ३१६
अभयदेवसूरि २५६
अमरचंद बैद २२५
अमरमुनि (उपाध्याय) ६४, १६६, १६७, २३७, २३६, २४३
अमृत बहन शाह २२६
अरविंद महर्षि ३४६
अरविंद सिंह (महाराणा) ३५६
अलगूराय शास्त्री १५६
अश्वघोष ४०७
अष्टावक्र ३२६

आ

आचार्य कृपलानी ५२, ५३
आत्माराम ३८
आदित्येन्द्र (विधायक) ३६
आदिनारायण १०८
आनंद कौशल्यायन ७६, ७७, २३७
आरिफ बेग ३६
आलोक कुमार (मुनि) ३८६, ३६६
आशारामजी (आचार्य) ३०४

इ

इंदिरा गांधी (प्रधानमंत्री) २२४, २४७, २७३, ३००, ३१६
इंद्रचंद गटागट २२७
इंद्रप्रकाश ८०

ई

ईश्वरभाई पटेल २६४
ईसरचंद चौपड़ा १४५
ईसा मसीह ५६

ऋ

ऋषिकुमार ३२६

ए

ए.के. गोपालन ४१, ४२
एच. विलियम्स (फादर) ४६, ५०, ३०६
एन. सी. चटर्जी ३३
एफ. डब्ल्यू टामस १६०
ए. मासामोद २६
ए. रंगास्वामी ७८
एल. ओ. जोशी ३८
एलविरा २६
एलिजाबेथ बूनर ३२६
एल्सडोर्फ २६६
एस. आर. दास ८८
एस. आर. मेहता १८४
एस. एन. सेन ८१
एस. के. जैन २६४
एस. के. बनर्जी २३३
एस. के. मित्रा २६८
एस. के. सक्सेना ७६
एस. जी. पाटिल ८१
एम. बी. एस. राजा ८०

ओ

ओमपूर्ण स्वतंत्र ३६०, ३६४, ३६५

क

कणाद ११५
कनक (मुनि) २०१-२०४
कनकप्रभा (साध्वीप्रमुखा) १८२, १८३, १८६, १८७, २७६, २७६, ३६०, ३६६, ३६७, ३७५-३७८, ३८८, ३८६, ३६४-४६७
कन्हैयालाल छाजेड़ ३६८
कन्हैयालाल मिश्र २८६
कन्हैयालाल मुनि (गण-मुक्त) २२६
कन्हैयालाल सेठिया ३४६
कबीर १०७
कमलचंद बोथरा ३६१
कमलनयन बजाज २४४
कमलूजी (साध्वी) १८२
करपात्रीजी (स्वामी) २२६
कर्णसिंह (सांसद) ३६
कर्पूरचंद कुलिश २४७,२५०
कल्पलता (साध्वी) ३८८, ३६५

कस्तूर भाई २७२
कस्तूराजी (साध्वी) १८१
कांता बाफना ३९४, ३९५
काका कालेलकर ६३, १६५, १८९, २११, २२३
काण्ट १५९
कानकंवरजी (साध्वी) १८१
कानकंवरजी (साध्वीप्रमुखा) १८२
कारलाइल १३२
कालिदास (कवि) १४८
कालिदास नाग १६९
कालीप्रसाद खेतान ८८
कालूगणी १८, ६१, ९६, ९९, १०२, १२७- १३९, १४१, १४३-१४८, १५०, १५३, १७६, १८२, १८६-१८८, १९२, २१९, २५५, २५६, २७५, २९३, ३०८, ३२०, ३२१, ३२३, ३२४, ३२७, ३२८, ३३७, ३६३, ३६७, ४०५
किशनलाल (मुनि) २६४, २६६
किशोरलाल मश्रुवाला २५,१६५
कुंदनमलजी सेठिया २१४
कुंभाराम आर्य ३६४, ३६५
कुमारश्रमण (मुनि) ३८९, ३९०, ३९६
कृष्णचंद्र अग्रवाल ८९
कृष्णचंद्र पंत २४७
कृष्णदास जाजू १६९
कृष्णराज मेहता १७९, २७१
के. एस. हेगड़े (लोकसभा अध्यक्ष) ३९
के. जी. रामाराव ६०, ६१
केशरीचंद बोथरा १४५
केशी कुमारश्रमण ३७९
कैलाशनाथ वांचू १६८
कैलाशचंद्र शास्त्री २७५
क्राइष्ट २९,१५६

ख

खेमचंदजी सेठिया १०२, १०५, २३०, २३१

ग

गंगासिंहजी (महाराजा) १३९, १४३, १४५
गजानन्दजी ३२५
गणेशप्रसाद वर्णी ९४
गणेशमलजी (मुनि) २४१
गणेशीलालजी (आचार्य) १४५, १७२
गिरीश (मुनि) ३९२
गुलजारीलाल नंदा ५५, ७८
गुलाब (मुनि) १०१, १४८
गुलाबचंद कटारिया ३९९
गुलाबचंद चिण्डालिया ३८०
गेरीलाल ७०
गोपाल कृष्ण भनोत ३७
गोपालसिंह शेखावत ७२
गोपीनाथ 'अमन' ३८
गोलवलकर ७५
गौतम गणधर ३७९
गौरीशंकर १४१
ग्रीन (नीतिशास्त्री) ३१५
ग्लाजनप ६१,६२

घ

घनश्यामदास (पंडित) १४६, १४७
घासीरामजी (मुनि) ३१७

च

चंदनमल कठोतिया ९६, १४१
चंदनमल बैद २४८-२५०, ३९९
चंदनमुनि (संघमुक्त) २२१,२२२
चंद्रसिंह खूंटेटा ३४७
चंपक मुनि (सेवाभावी) १०१, १२७-१३०, १३२, १४२, १४४, १९१, २२८, २४०, २५६, ३१५, ३२७, ४०१
चंपाजी (साध्वी) २१४
चंपालाल बांठिया १५०
चंपालाल (मुनि, लाडनूं) १०१
चंपालाल (मुनि, सरदारशहर) १५१
चांदमलजी बोहरा २२७
चार्वाक २४८
चित्रलेखा (साध्वी) ३९५
चिनुभाई नायक ३६५
चौथमलजी (मुनि) १३१, १४२, १४७

छ

छगनलाल शास्त्री ३७,१५६
छोगांजी (साध्वी) १३५, १४३

ज

जंबू स्वामी ७६
जंबूकुमार (मुनि) ३८९, ३९६
जंवरीमल (मुनि) १४०
जगजीवन राम २२४
जगदीश काश्यप (भिक्षु) ५१, ३२५
जनकविजय (मुनि) २७३
जनार्दनराय नागर ३४८
जमनालाल बजाज ३२
जयचंदलाल दफ्तरी ३८, १५६
जयप्रकाश नारायण ३४, ४३, ७४, ९९, १५७, १६९, १७५, १७६, १९६, २०६, २४४- २४७, ३०५, ३५१
जयसिंह मुणोत १८८
जयसुखलाल हाथी ३८
जयाचार्य १३४, १३६, १४३, १४६, १५२, १७६, १७८, १७९, १८५, १८६, २२०, २५६, २७२, २७५, ३३७, ३३९, ३६७, ३७९, ४०६, ४०७
जवाहरलाल जैन १९८
जवाहरलाल नेहरू (प्रधानमंत्री) २२, २३, ३३, ५५, ६१, ७४, ९८,

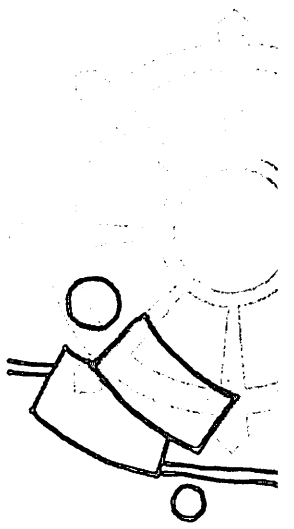

धर्मचक्र का प्रवर्तन

१५५, १७०, २९०, ३३१, ३५०, ३५१
जाकिर हुसैन (राज्यपाल) ८५
जायसी १०७
जिनेन्द्रवर्णी २७३, २७४
जी. एम. पेरिन २९
जी. टी. कृष्णमूर्ति ११७
जुगलकिशोर बिडला ३३०
जी. सी. जैन २२६
जी. सुब्रमण्यम १०९
जे. आर. बर्टन ५९, ६०
जे. पी. मित्तल ८७
जे. बी. कृपलानी ४१,४२
जे. एस विलियम्स (फादर) ३०
जेठमल मरोठी (डॉक्टर) ३८४, ३८६, ३८७, ३९५, ४०१
जेठाभाई २६४
जेसराज सेखानी २६७
जैनेन्द्रकुमार ३२, ३८, ५२, ५३, ७८, ७९, ९८, १५९, १६७, २११, २२१, २४१, ३१५, ३४४, ३५१
जैलसिंह (राष्ट्रपति) ६६, ७२, २७८, ३४२, ३४८
ज्योतिसेन गुप्ता ८०
ज्ञानेश्वर २०१

झ

झंवरलाल झाबक ३८७
झमकूजी (साध्वीप्रमुखा) १८१, १८२
झानश्री ६२, ६३
झूमरमल खटेड़ १२३, १२४

ट

टी. वी. ए. राजगोपालन ८०
टी. सी. जैन २२६

ड

डंकन इमरिक २९
डब्ल्यू डी. वेल्स ५९
डब्ल्यू नोरमन ब्राउन ५१, ५२, ६३, ६४
डब्ल्यू सी. मोर ३१४
डानेल्ड कैप कैनेडियन ५८, ५९
डार्विन १५४
डालचंद (आचार्य) १३६, १४३, १४६, १८६, २५६
डालचंद बरड़िया ९२
डालमचंद सेठिया १५३
डीन रस्क २९०
डी. एस. पोकरना ३८४
डी. पी. यादव २७३
डूंगरमल (मुनि) ३१७

त

तान युन शान ५२, १५९
ताराचंद आर. डी. माजरा २८
तुलजाराम फतनाणी २२५
तुलसीदास (गोस्वामी) १०७, २२२
तोलाराम बाफणा ३८०
त्रिपाठी जिलाधीश २२३, २२४, २३१, २३२
त्रिवेदी ३०५

द

दमाराम ६९
दयानंद भार्गव २६५
दयानंद महर्षि २४८, ३४८
दलसुख मालवणिया (पंडित) १८९, १९१, २६९, ३४५
दलाईलामा (धर्मगुरु) ६१, ९४, ३५४, ३५५
दस्तूरी कैखुसरू ५०
दामोदर पोती ११८
दिनेशकुमार (मुनि) ३८९, ३९४
दीदार सिंह २२५
दुलहराज (मुनि) २६१, २६४
दुलीचंद (मुनि) १४०
देव कोठारी ३४८
देवराज सुराना २२६
देवर्धिगणि क्षमाश्रमण २५२
देवसिया (डॉ.) ३६०
देवीलाल सामर ३८
देवीसिंह भाटी ३९९
देवेन्द्र कर्णावट ३८, १५६, २०८
देवेन्द्र प्रसाद ७९
दौलतराम कुमावत ३८७
दौलतराम छाजेड़ ९५
दौलतसिंह कोठारी ३४७

ध

धनंजय मुनि २६४
धनजी सेठिया ३०९
धनराज (मुनि गणमुक्त) १५१, २१४, २१७
धनिकलाल मंडल ३९
धर्मचंद (मुनि) १५१
धर्मवीर भारती २३७
धर्मसागर (आचार्य) २७३
धर्मानंदजी २६४
धर्मेश्वर ६२
धीरजलाल टी. शाह १५१

न

नंदकिशोर (राजवैद्य) ३२६
नंदकिशोर नौटियाल ३४४
नंदलाल ब्राह्मण १२५
नंबूदरीपाद (मुख्यमंत्री) ११३
नगराज मुनि (संघ-मुक्त) २२१, २३९
नगीन भाई २६४
नडिजडियन् १०९
नथमल (मुनि, बागोर) २१३, २१४, २१६, २१७, २१८, २१९
नय्यर ८०
नवरतन पुगलिया ३७८
नवलकिशोर मिश्र ८४
नवलबिहारी मिश्र ८४

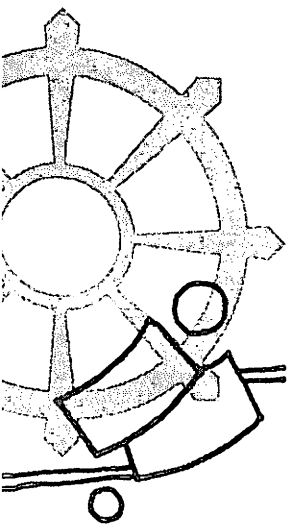

नानकदेव (गुरु) १५६
नेमीचंद कोठारी १२५
नेमीचंद जैन ३४५
नेमीचंद श्रीश्रीमाल २२४, २२५
न्यायमूर्ति सेन २४०

प

पंचाक्षरी ११८
पंचेन लामा ६१
पट्टाभिरामन १०८
पट्टाभिसीतारमैया ७७
पदम बोथरा ३६१
पदमचंद पटावरी ३६६
पन्नालाल सरावगी ६०
परमानंदभाई कापड़िया १६३, १६४
पारस जैन ३२६
पार्श्वनाथ (तीर्थंकर) ६३
पी. के. तारे २३६, २४०
पी. डब्ल्यू स्पेंश ५६
पी. वी. नरसिम्हाराव (प्रधानमंत्री) ३५०, ३५२, ३५४
पुण्यविजय (मुनि) २६१
पूनमचंद मालू ३६८
पूरणचंद्र बडोला २७७
पुरुषोत्तमदास टंडन ५४, ६८
प्रदीप खटेड़ ३६१
प्रफुल्लचंद्र सेन ४३,१६३
प्रभव (आचार्य) १३०
प्रभाष जोशी ३४४, ३६५
प्रभु ईसा १०६
प्रभुदयाल डाबड़ीवाल ३८, ६०, १४१, २४४, २४७
प्रभु यीशू ५८
प्रांजल खटेड़ ३६१
प्रेमसिंह (विधायक) ३६

फ

फखरुद्दीन अली अहमद (राष्ट्रपति) २७६
फूलकुमारी (साध्वी, गणमुक्त) २२२

ब

बक्सटर ५०
बनेचंद मालू ३८०
बैरकतुल्ला खां २४७-२५०
बलराम जाखड़ ३८०-३८३, ४०२
बलिराम भगत ३६५
बसंत (मुनि) १०१
बसंत दादा पाटिल ३४३
बसव ११८, १२०
बांकेबिहारी भटनागर ३२२
बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ६८
बालचंद (मुनि) ३६३
बालचंद सुराणा १६८
बी. के. मेनन ८८
बी.डी.जत्ती (उपराष्ट्रपति) २७७
बुडलैण्ड क्हेलर ३२६
बुद्ध (भगवान्) २७, २८, ३४, ६१, ६७, ६४, १०६, १७१, ३२६, ३५२
बुद्धमल्ल (मुनि) १४०, १४६, १८१, १८८, २१६, २७६, ३२७
बुलाकीदास कल्ला ३६६
बृजलाल नेहरू ७६
बृजेश्वर प्रसाद ७७
बेकनवान ब्लम्वर्ग ५०
ब्रजमोहन व्यास २३६
ब्राहमन ५०
ब्रिगेटा वेलवाने २६६, २६७

भ

भंवरलाल डागा ४०१
भंवरलाल दूगड़ ६६, २१६, २१७, २१६, ३८१
भगवतीशरण वर्मा ८३
भगवानदीन २८७
भद्रबाहु (आचार्य) ११७
भानीनाथ २४०
भारीमाल (आचार्य) १३६, १८६, ३६६, ३७६, ४०६
भिक्षु (आचार्य) ७६, ७७, १२५, १३४, १३६, १४६, १५२-१५४, १५६, १५७, १५६, १६१, १६२, १७४, १७६, १७७, १७६, १८०, १८६, १८७, २१०-२१२, २२४, २५३, २७१-२७५, २७६, ३०६, ३०८, ३१७, ३३६, ३३७, ३४०, ३६०, ३६३, ३६४, ३६७, ३६६, ३७३, ३७६, ४०५-४०७
भीमराजजी (मुनि) १४२
भीमसेन चौधरी ३८०
भूपेन्द्र १०५
भैरोसिंह शेखावत (मुख्यमंत्री) ३६५, ३६६

म

मंजुला (साध्वी, गणमुक्त) २२१
मगनलालजी (मंत्रीमुनि) ७६, ६१, ६६, ६७, १२७, १२८, १३१, १३२, १३६, १४१-१४४, १८१, १८२, २१५-२२०, २५६, ३२३, ३२७
मघराज (आचार्य) १३६, १४६, १८६, २५५, २७७, ३७६, ३८७, ४०६, ४०७
मदनचंद गोठी २६१
मदनलाल खुराना ३६६, ३६६
मदालसा बहिन ३८
मधुकर खेर २२५
मधुकर (मुनि) ३७७, ३८४, ३८८, ३६१, ३६२, ३६४, ३६६, ३६७
मनमोहन सिंह ३५०
मनोहर (मुनि) १०१
मलयदेव ७७
महात्मा गांधी २७, ३४, ३५, ३८, ५२-५४, ७०, १०६, १५४, १५५, १५६, १६०, १६७, १६१, २२३, ३४५, ३४६, ३४८, ३५०

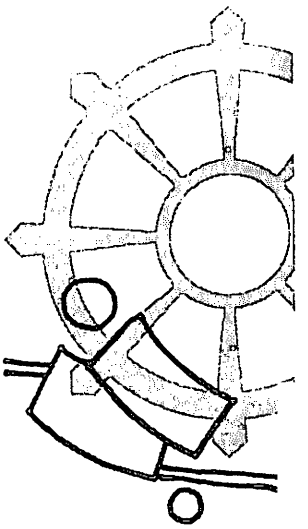

धर्मचक्र का प्रवर्तन

महाप्रज्ञ (मुनि नथमल, आचार्य) ३९, ९८, ११५, १३२, १४०, १४८-१५०, १५२-१५४, १६३, १८१, १८३-१८९, १९१, २१४, २२८, २६२, २७२, २७३, २७६, ३२७, ३६०-३६३, ३६४-३७०, ३७३-३७९, ३८२, ३८५-३८७, ३९४, ३९६-४०३, ४०६
महावीर प्रसाद (वैद्य) ३८४, ३८७, ३९५
महावीर (भगवान) २७, २८, ३४, ३९, ५२, ५८, ६७, ७०, ७६, ७८, ८६, ८८, १०२, १०६, ११५, १३१, १५२, १८६, २२३, २५३, २५८, २६०, २६७, २७२-२७५, २७९, ३००, ३०९, ३२९, ३३६, ३५२, ३५४, ३७२, ३७३, ३७९, ३९४
महिमा २६८
महीधर २४८
महेन्द्र कर्णावट २७७
महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ४०
महेन्द्र मुनि (गणमुक्त) २२१
महेन्द्र मुनि (मुंबई) १५१, २६४, ३६७
महेन्द्र सिंह ३६
मांगीलाल छाजेड़ २२८
मार्क्स ४६, ४७, २८९
मा. पो. सी. ग्रामणी १०९, १११, ११२
माणकलाल (आचार्य) १३६, १३७, १५५, १८५, १८६, २५६
माथुर (डॉ.) ३८५, ३८७
मिश्रीमल कटारिया २२८
मिश्रीमल सुराणा ६८
मिश्रीलाल (वैद्य) ९९
मीठालाल मेहता ३६४
मीनाक्षी राव १०९
मीरां १०७
मीरादेवी बैद ३९४
मुदितकुमार (आचार्य महाश्रमण) २७९, ३६०, ३६७, ३७२, ३७५, ३९४, ३९६, ३९७
मु. वरदराजन १०९
मूलचंदजी बोथरा ३८४, ३८७, ३८९-३९२
मूलचंद सेठिया १५६
मैस्लो ३१३
मोतीलाल धारीवाल २३१,२३६
मोरारजी देसाई १०७, २००, २०१, २१०, २९८
मोहन सिंह (डॉक्टर) १५६
मोहनलाल की बहू १२५
मोहनलाल कठोतिया १५६, १८८, २६४
मोहनलालजी खटेड़ १२४, १२६-१२८
मोहनलाल 'आमेट' (मुनि) ३८८
मोहनलाल बांठिया २२७
मोहनलाल सुखाड़िया (मुख्यमंत्री) ३६, ३७, २२४, २४७, २७६, ३८१
मोण्डी ३०,३१
मोहर सिंह ३०

य

यश ३८९
यशपाल (कामरेड) ८३, २७६
यशपाल जैन ३८, ३४५
यशवंतभाई शुक्ल २६४
यशवंतराय चव्हाण १८८, १८९
यामिनी तिलकम् ३३१
यू. एन. ढेबर ४१, ४२
योगेश (मुनि) ३८९

र

रंगलाल (मुनि, गणमुक्त) २१३-२१८
रघुनंदनजी (पंडित) १३१, १४२, १४४, १४६, १४७, १४९, १५०
रज्जाक २२५
रतिलाल भाई ३१८
रत्नचन्द्र मुनि २५९
रत्नप्रभसूरी १४४
रत्नेश कुसुमाकर ३४६
रमाशंकर त्रिपाठी ३५४
रविशंकर महाराज ३८,६४
रवीन्द्रनाथ टैगोर ३२६
राकेश (मुनि) ४३,१४८,२२८
राजकरण (मुनि) १५१
राजगोपालाचारी २८, ३१, ११०, १११
राजरूप खटेड़ १२३
राजाराम शास्त्री ३६
राजीमती (साध्वी) १८१
राजीव गांधी (प्रधानमंत्री) ३०१, ३४२, ३५१, ३५३
राजेन्द्र अवस्थी ३६५
राजेन्द्रप्रसाद (राष्ट्रपति) २२, २४, २९, ३३, ६१, ७४, ७६, १६०, १६९, ३३६, ३५१
राजेन्द्रशंकर भट्ट ३४६
राजेन्द्र सूरि २५९
राणमल जीरावला २६८
राधाकृष्णन् (राष्ट्रपति) ५५, ९८, २७६, २९५, २९६, ३१८, ३१९, ३४१, ३४६
राधाविनोदपाल २६७
राम (भगवान) २२९, २३३, २३५, २४१-२४९
रामकृष्ण डालमिया ७९
रामकृष्ण परमहंस १२९
रामचंद्र कासलीवाल १९२
रामजीसिंह २६५
राममनोहर लोहिया ३३, ५५, १०२
रामलिंगम (प्रोफेसर) १०८

रामलिंगम (संत) १०६, ११८
रामानुजाचार्य २४५
रामेश्वर ठाकुर ३५०
रामेश्वरी नेहरू ७६
रायकुमारी (साध्वी) ३२८
रायचंद (आचार्य) १३६, १७६, १८६
राहुल बोथरा ३६१
रिनपोंछे (आचार्य) ३५४
रूपचंद मुनि (गणमुक्त) १०१, २१३-२१८
रेमण्ड एफ पीपर १५५,२५४
रोथ (जर्मन विद्वान्) २६०

ल

लक्ष्मीनारायण (महंत) २२६
लक्ष्मीरमण ३६
ललताप्रसाद सोनकर ३५
लाडांजी (साध्वीप्रमुखा) १२७, १२८, १८१, १८२
लामा लोछुन शास्त्री ३५४
लाल बाबा ३८०, ३८३
लालीबाई ३०४
लुई रेन्यू १५८
लूणीदेवी बोथरा ३८६
लोंगोवाल (संत) २६६-३०१, ३४२, ३५१, ३५३

व

वंश ३८६
वदनाजी (मातुश्री, साध्वी) १२३-१२५, १४४, २०६, २१०, २५६
वन महाराज ३०३
वादीदेवसूरी १४४
वामदेवन ११३
वाल्टर शुब्रिंग ६४
विक्रम सारा भाई २४४
विजयवल्लभ सूरी ३०५
विजयशंकर ५०
विधानचंद्र राय ५५
विद्यानंद (आचार्य) २७२, ३४१
विद्याधर शास्त्री २५४
विनोबा भावे २६, ३४, ७३, ६६, १०६, ११६, १५६, २२३, २६४, २७३, २७४, ३०३, ३४६, ३५१
विभावना २६८
विमलचंद बोथरा ३८७
विमला बहन ३०३
विवेक ३८६
विवेकश्री (साध्वी) ३८६
विवेकानंद (स्वामी) १५४, २६४, ३०७, ३४६
विशनसिंह शेखावत ३४७
विश्वनाथन ११७
वी. पी. सिंह (प्रधानमंत्री) ३४८
वी. पी. सिन्हा १५७
वीरेन्द्र पाटिल १२०
वी. वी. गिरि (राष्ट्रपति) १६१, ३४१
वुडलैण्ड क्हेलर ५७
वेरन (डॉ.) ३०६
वैलोजिया (फादर) ५५, ५६
वैष्णवदास (महंत) २२६

श

शंकर (आचार्य) ६७, २०१, २४५
शंकरराव चव्हाण ३४२
शंकरलाल मेहता २६४
शंकराचार्य (कामकोटि पीठ) २४७
शंकराचार्य (शृंगेरी पीठ) २४७
शंकराचार्य (पुरी) २४१, २४३, २४४, २४८, २४६
शंकराचार्य (शारदापीठ) १४४
शकुन्तला देवी ८१
शय्यंभव (आचार्य) १३०
शांतिप्रसाद जैन ३८,२७२
शांतिलाल चपलोत ३६६
शारदाचरण तिवारी २२५, २२६
शिव १७१
शिवनारायण ३५
शिवनारायण रावरी २२६
शिवराज पाटिल ३६६
शिवशंकर आप्टे २४७
शिवाजी भावे ४६, ५१
शुभकरण दसाणी ७६, १००, १४६, १५०, १५६, १८८, २२५, २२८, ३६०, ४०१
शुभकरण सुराणा (मोतीपुर) २६६
शुभू पटवा ४०१
शोभाचंद सुराना ६०
श्याम महाराज २३८
श्यामचरण शुक्ल (मुख्यमंत्री) २२४, २२७, २२८, २३२, २३४
श्यामनाथ मिश्रा (डॉ.) ३८४, ३६६, ३६७
श्रीचंद (मुनि) ८७, १५१
श्रीचंद रामपुरिया १६३, १६४, २५८-२६१, २६६
श्रीप्रकाशजी २७
श्री प्रकाशवीर शास्त्री २४२
श्रीमती बुडलैण्ड क्हेलर ३२६
श्रीमन्नारायण ३८, २२४
श्रेयांसकुमार (मुनि) २४१

स

संगीतकुमार (मुनि) ३५०
संघमित्रा (साध्वी) १८१
संजय बोथरा ३६१
संपतलाल बैद ३८७
संपूर्णानंद ८२
संबुद्धानंदजी (स्वामी) ५०,३०६
संयम ३८६
सक्तूमल ३५
सच्चिदानंद मूर्ति ३५३, ३५४
सज्जनदेवी चोपड़ा ३६४, ३६५
सडोल्फ स्टीनर ५१
सतानंद गिरि ६४

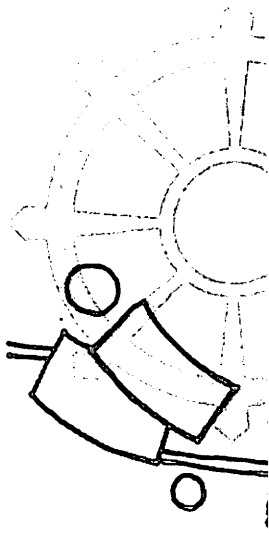

धर्मचक्र का प्रवर्तन

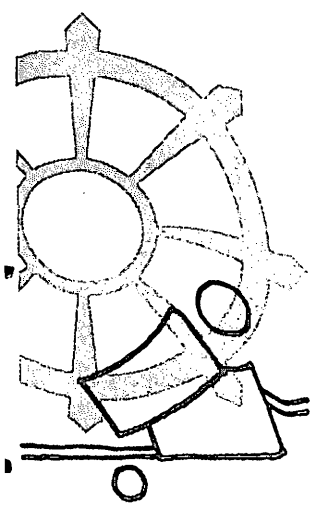

सत्यदेव विद्यालंकार ३८, ७०, ८०
सनत कौल ३४९
सन्मति (मुनि) ३९२
समंतभद्र (आचार्य) १७०
समुद्रविजयसूरि (आचार्य) २७३
सरिता २६८
सरोज २६८
सरोजिनी नायडू १५५
सविता २६८
सागरमल खटेड़ १२६, ३९९
सा. गणेशन १०९, ११८
सातकौड़ी मुखर्जी ४९, १५९
सातकोपान ८०
सिकंदर बख्त ३९, ३१९
सिद्धसेन (आचार्य) १४७, १७०
सी. सुब्रमण्यम ३९
सीता महासती २२२, २२९, २३३-२३५, २३७, २३९, २४१-२४९
सीताराम दाधीच ३७७
सुकरात २२०
सुकुमार सेन ४१, ४२
सुखलाल (पंडित) ४९, १६१, २६२
सुखलाल (मुनि) १०१
सुखलाल (घोरतपस्वी मुनि) ९१, ९७-९९
सुगनचंद आंचलिया ३८, ९२, ९५, १५६, ३२३
सुगनचंद (विधायक) ३५
सुचेता कृपलानी ५३
सुजानसिंह ढड्ढा १७२
सुबाहु बोथरा ३९०,३९१
सुभाष स्वामी ३४७
सुमेरमल दूगड़ २१६, २१८, ३८१
सुमेरमल 'सुदर्शन' (मुनि) ३८७
सुरजीतसिंह बरनाला ३४३
सुरेन्द्र बोथरा ३८९, ३९१
सुरेन्द्र विक्रमसिंह २३३
सुशीलकुमार मुनि (स्थानक-वासी) २३९, २७२
सुशील खटेड़ ३९९
सुनीतिकुमार चटर्जी ८७
सुन्दरलाल बहुगुणा ३४३
सुषमाकुमारी (साध्वी) ३८८
सूरदास १०७
सूरजमल बोथरा ३८७
सूर्यनारायण व्यास १४०, ३२९
सूर्यकांत १५८
सोनिया गांधी ३५०
सोभागमल श्रीमाल १९८
सोमानंद ९४
सोरावर भाई ३०५
सोहनलाल बोथरा ३८७
सोहनलाल (मुनि) २१७, २१८

ह

हंस कोइस्टर ५१
हंसराज (मुनि) १०१
हकीम खां सूर ३५५, ३५६
हजारीप्रसाद द्विवेदी ५१, ३२५
हणुतमल सुराणा ३८, १५६
हनुमानमल चिण्डालिया ३९८
हमीरमल (मुनि) १०१
हमीरमल कोठारी १२७
हरगोविन्ददास भाई २५९
हरिदेव जोशी (मुख्यमंत्री) ३४३
हरिप्रेम बघेल २२५
हरिभद्र (आचार्य) १४७, १७०, ३०९
हरिभाऊ उपाध्याय ३३७
हरिशंकर भाभड़ा ३९९
हर्मन जेकोबी ६१, ६४
हर्षकुमारी (साध्वी) ८४
हिमांशुकुमार (मुनि) ३८९,३९६
हीरालाल (मुनि) १०१, २६१, ३९४
हीरालाल जैन १२५
हीरालाल शास्त्री (मुख्यमंत्री) १९७
हुकुमसिंह १४६
हुगो वेलवाने २९६
हुलासचंद गोलछा ३८०
हृदयराम शर्मा ७९
हेमचंद्र (आचार्य) १९, १३८, १४६, १४८, १५०, १५२, २०१
हेमचंद्र (यति) ३०४
हेमराज (मुनि) १४२
हेमराज मुनि (भिक्षु युग) ३६७, ३७९
होशियार सिंह ७९
ह्यूह्यान ९४

परिशिष्ट-२ : ग्रामानुक्रम

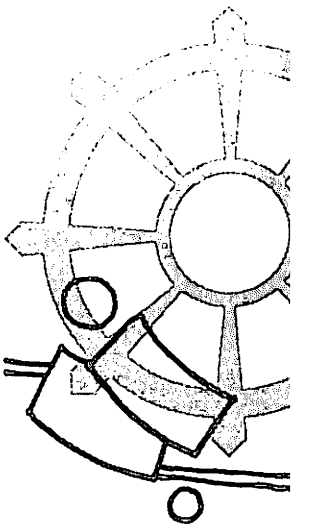

धर्मचक्र का प्रवर्तन

अ

अजन्ता १००, १०१
अजमेर १७३, २६६
अमलनेर ३२१
अमृतसर ३००
अमेरिका २६, ५०, ५१, ७८, ८०, २६०, ३२०
अलवर ७६
असम १७६
अहमदाबाद ३८, ६४, १५५, २६१, २६६, २७०

आ

आंध्रप्रदेश ६८, १२०, १७६
आगरा ७६, ८२, १६६, २६८
आडसर १४६
आनंदपुर (कालू) ३४८
आबू ७४
आमेट १७५, १७६, २७८, ३३६, ३४०, ३४३
आरकाट १४६

इ

इंदौर २५८, २५६

ई

ईड़वा ७२
ईसरी ६४

उ

उज्जैन १७३, २१२, २५६, २६०, २६२, ३०८, ३२६
उड़ीसा ३५, ६८, २२६, २३१, २३३
उत्तरप्रदेश ६८, ८१, ८२, १७६, ३२८
उत्तरांचल ६५
उदयपुर १५०, २६३, २६६, २७८, ३२८, ३४७, ३५५, ३५६
उदासर ३०७, ३७८, ३७६

ए

एलोरा ६८, ६६, १७१

औ

औरंगाबाद ६८, ६४, २५८, २६०

क

कंटालिया ३६६
ककडेऊ ३३२
कच्छ १०२-१०५
कन्याकुमारी १०७, ११३, ११६, ११७
करौलबाग ३१८
कर्नाटक १७६, २४७, २६६, ४००
काणाना ७१
कात्यायनी ७२
कानपुर ८१, ८४, ८५
कानोड़ २६७
कालू ३७६
काशीपुर २०५, २०६
कुत्तालम् १०७
कुमारढबी १७५
कुम्हारी २३३
कुसहा ६४
केरल ६८, ११३-११५, ४०५
केलवा २७१, ३८८
कोचीन ११४
कोडरमा ६१, ६२
कोलकाता १६, ३४, ४३, ५२, ५५, ६८, ८१, ८४, ८६-६०, ६३, ६५, १७३, १७५, २०४-२०६, २२७, २७०, २७१, ३०८, ३१६, ३३६, ३६६

ख

खानदेश ६८, १७६, २०५, ३२३

ग

गंगापुर १०२, १३७, १४०, १८१, २१२, २१३, २७७, ३४३
गंगाशहर १७४, १८१-१८३, २७१, २७६, ३०४, ३७६-३७६, ३८४, ३६६
गया ६४
गांधीधाम १०४
गुजरात ६८, ६६, १०५, १०६, २३३, २६६
गुजरी १०१
गुवाहाटी ३६६
गोआ २६०
गोपुरी ३४

च

चाड़वास ३७७, ३७६, ४००
चिकमंगलूर ११६
चिदम्बरम ११७, ११६
चीन २६६
चूड़ा १७६, ३१७
चूरू ७०, ७१, ६६, १४७, १५४, २४१-२४६, ३७६, ३७६
चेन्नई ३०, १०७, ३६६

छ

छापर १८, १५३, १७६, २०८, २७५, ३७६, ३८४

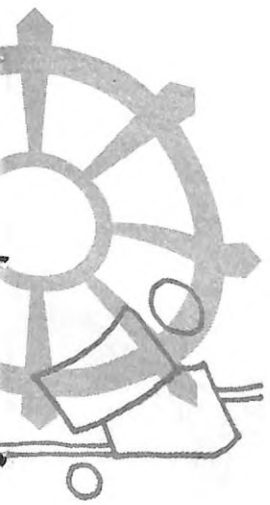

ज

जबलपुर २३६, २४३, २४७
जयपुर १६, २३, २६, ४६, ६८, ७४-७६, ८१, ८२, १४७, १५१, १५५, १५७, १५६-१६१, १६७, १६६, २०८, २१२, २६३, ३१६, ३२६, ३४०, ३६३, ३६५, ३६६, ३८१
जर्मनी १५१, १५६
जलगांव ५८
जापान २६६
जे. के. नगर ६५
जोखाबाद ७४
जोधपुर १६८-१७१, २५३, ३०७, ३१७, ३३१, ३३६

झ

झरिया ६१, ६२
झुंझुनूं १५४

ट

टमकोर ३३२, ३७५, ३७६
टॉडगढ़ २७०

ड

डांगर ३०७
डाबड़ी ६८, १७५
डालमिया नगर ६५
डालीगंज ८३
डीडवाना १८८

त

तंजौर ११७
तमिलनाडु ६८, १०७, १०६, १११-११३, ११७-११६, १७६, २४८, २६६, ३५१
त्रिचनापल्लै ११७
त्रिपुरा १७६
त्रिवेन्द्रम् ११४, ११६, ११८

द

दामाराम की ढाणी ६६
दिल्ली १७, २३, ३८-४०, ४१, ४४, ५३, ५४, ६१, ६३, ६८, ७०, ७५-८१, ६७, १५६, १६२, १८८, १८६, १६७, २११, २६६, २७०, २७२-२७६, २८५, २८६, ३१८, ३२२, ३२७, ३५०, ३५२, ३६६, ३७०-३७३, ३७५, ३८०, ३६७, ४०२
दुर्ग २३१, २३२
देवघर ७४
देवास २५६
देशनोक ३७६

ध

धनबाद ६१
धूलिया ५१, २५८, २५६

न

नत्थूसर ३०४
नथवाड़ा ७२
नागालैण्ड १७६
नानऊ कोठी ६६, ६७
नारायण गांव २५७
नार्वे ३०
नाल ३०४, ३७८
नालन्दा ७४
निमियाघाट ६३
नेनई पुंदमली ५५
नेपाल १७६
नोखा मंडी ३२१, ३७६
नौरंगदेसर ३७६
न्यूयार्क २३, १५५, २५४

प

पंजाब ६८, ६६, ८३, १७६, १८४, २००, २६६-३०१
पटना ८५
प्रयाग ७४
प्रयागराज ८५
पांडिचेरी २६०
पाकिस्तान १६, १०४
पालिताणा ७४
पिलानी ३३०
पीपल १००
पुनरासर ३०३
पूना ७४, १५३, २५७, २८४, ३०६

फ

फतेहपुर ५२, ५६, १४७, ४०१
फागणे २५६
फिनलैण्ड २६६
फ्रांस ३०

ब

बंगाल ३५, ६८, १२६, १२७, १७६, १६३, २०५
बगड़ी ३६६
बड़ौदा ७४
बनारस ५१, ५२, ७४, ३२५
बर्मा ३०४
बाड़मेर ६६
बालीगंज २०५, २०६
बालोतरा २७२, ३३६, ३४०
बाव १७६, ३१७
बिहार ३५, ६८, ८५, १७६, २८४
बीकानेर १६, ७०, ७५, १३४, १३६, १४३, १४६, १४७, १५०, २११, २६६, २७०, ३०३, ३७८, ३७६, ३८०, ३६५, ३६६
बीदासर १०५, १४३, १४६, १५१, १५५, १६०, १७७, १७६, १६१, २१४-२१६, २७०, २७१, २७६, ३०८, ३३६, ३७७, ३७६
बेल्जियम ३२०
बैंगलुरु १००, १८६, २२८, २२६, ३०६, ३२३, ३६६
बौद्ध गया ७४, ६४, १७१
ब्रिटेन ३०
ब्यावर १४३, १७१, १७६, ३१७

भ

भरतपुर ७६
भिवानी १६५, ३१८
भीनासर १४८, २६८, ३०५, ३७८, ३७६
भीलवाड़ा २१४, २१८, ३४३

भूटान १७६
भोमायमोरा १०३

म

मंगलूर ३२४
मंचर २५७
मंदसौर १०१
मक्का ३०
मथुरा ७६
मदुरै ११७
मधुबनी ९३, ९४
मध्य भारत १३४
मध्यप्रदेश ६८, १७६, २००, २१३, २२४, २२६, २२७, २३३-२३६, २४२, २५८, २६६
महाराष्ट्र ६८, ८३, १०५, १०६, १७६, २१३, २३३, २५७, २५८, ३०७
महु २५८
मायावरम् १०७
मारवाड़ १३४, १५९, ३४८
मालवा १७६, २०५
माल्यावास ७२
मुंबई १९, २४, ३०, ४९, ५१, ५७, ५९, ६३, ९९, १०१, १०२, १५१, १५३, १६३, १७०, १७६, २००, २१०, २१३, ३०३-३०६, ३२०, ३२५, ३२६, ३९९
मेघालय १७६
मेवाड़ १३४, २०५, २५५, २७७, ३५५, ३५६, ३८१, ३८८
मैसूर ३५, ११८, १२०, २९५
मोतीबाग २३५
मोमासर २६८, ३७९

य

यूनेस्को २६, ५७
यू.पी. ३५, ३०९

र

रणकपुर ७४, १७३
रतनगढ़ ५२, ५३, १४७, २०८, २४०, २४१
राजगढ़ ९८, १४७, १८२, ३७५
राजगृह ७४, ८६, ९३, २६०
राजनगर २७१
राजलदेसर १४९, १५०, १५८, १७५, १७९, १८४, १८६, १८८, २०२, २१६, २७१, ३८५
राजसमंद ४५, ६८, १८०, २७०, २७८, ३४०, ३५१, ३८१
राजस्थान १७, ३५, ४६, ५३, ६८, ६९, ८२, ८४, १०२, १०३, १०५, १०६, १७५, १७६, २००, २१३, २२६, २३३, २६६, ३४३, ३५४, ३९६, ४००
राणावास ३३९, ३९८
रायपुर २२२-२३८, २४०, २४२, २४५, २४७, २७५
रावलिया ६९, ७०

ल

लंका ३०४
लंदन १५४
लखनऊ २५, ८३, ८४, २७६
लाडनूं १७, ८४, १२७, १२९, १६९, १७५, १७९, १८१, २१४, २६३, २६७-२७१, २७७, ३०२, ३४०, ३५१, ३५४, ३५६, ३७१, ३७५-३७७, ३७९, ३८४, ३८५, ३८७, ३८८
लुधियाना ३३३
लूणकरणसर ३७९

व

वनीपार्क ३६५
वाराणसी ४०
वृंदावन ३०३
वेला १०३

श

शत्रुंजय गिरनार ५२
शांति निकेतन ३२६
शिमोगा ११८, ११९
श्रवणबेलगोला ११७
श्रीडूंगरगढ़ १४८, १७९, २१५, २७१, ३७७-३७९

स

संगमनेर २५८
संडाइल ९४, ९५
संथाल ६९
सम्मेदशिखर ७४, ९१, ९३
सरदारशहर २१, ३८, ७८, ९०, ९१, ९८, १४९, १५१, २१५, २६०, २७०, २७७, ३०९, ३२३, ३४०, ३८१
सारनाथ ७४, ३५३
सिंध २८
सिकंदराबाद ७४
सिक्किम १७६
सिरड़ी १०१
सिरसा १५१
सिराजगंज १२७
सिरियारी ३८८
सीतापुर ८३, ८४, ३२१
सुजानगढ़ २१४, २१५, ३०२, ३३९, ३६०, ३६२, ३६३, ३६५, ३६८, ३७६, ३७९, ४०६
सैंथिया ८७
सोजत ९९
सौराष्ट्र १०४, १७६, ३१७, ३१८
स्विट्जरलैण्ड ५१
स्वीडन ३०

ह

हरियाणा ६८, १७६, ३१८
हांसी ९८
हाथरस ८२
हिन्दुस्तान २०, २१, ३२०, ३५२, ३९७
हिमाचल प्रदेश १७६
हिसार ७४, ९८, १८१, १८९, ३४०
हेस्टिंग्स २०५, २०६
हैदराबाद १८१

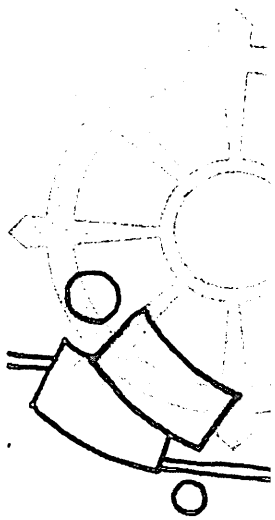

धर्मचक्र का प्रवर्तन

परिशिष्ट-३ : चातुर्मास

वि. संवत् १९९४	बीकानेर
वि. संवत् १९९५	सरदारशहर
वि. संवत् १९९६	बीदासर
वि. संवत् १९९७	लाडनूं
वि. संवत् १९९८	राजलदेसर
वि. संवत् १९९९	चूरू
वि. संवत् २०००	गंगाशहर
वि. संवत् २००१	सुजानगढ़
वि. संवत् २००२	श्रीडूंगरगढ़
वि. संवत् २००३	राजगढ़
वि. संवत् २००४	रतनगढ़
वि. संवत् २००५	छापर
वि. संवत् २००६	जयपुर
वि. संवत् २००७	हांसी
वि. संवत् २००८	दिल्ली
वि. संवत् २००९	सरदारशहर
वि. संवत् २०१०	जोधपुर
वि. संवत् २०११	मुंबई
वि. संवत् २०१२	उज्जैन
वि. संवत् २०१३	सरदारशहर
वि. संवत् २०१४	सुजानगढ़
वि. संवत् २०१५	कानपुर
वि. संवत् २०१६	कलकत्ता
वि. संवत् २०१७	राजसमंद
वि. संवत् २०१८	बीदासर
वि. संवत् २०१९	उदयपुर
वि. संवत् २०२०	लाडनूं
वि. संवत् २०२१	बीकानेर
वि. संवत् २०२२	दिल्ली
वि. संवत् २०२३	बीदासर
वि. संवत् २०२४	अहमदाबाद
वि. संवत् २०२५	मद्रास
वि. संवत् २०२६	बैंगलोर
वि. संवत् २०२७	रायपुर
वि. संवत् २०२८	लाडनूं
वि. संवत् २०२९	चूरू
वि. संवत् २०३०	हिसार
वि. संवत् २०३१	नई दिल्ली
वि. संवत् २०३२	जयपुर
वि. संवत् २०३३	सरदारशहर
वि. संवत् २०३४	लाडनूं
वि. संवत् २०३५	गंगाशहर
वि. संवत् २०३६	लुधियाना
वि. संवत् २०३७	लाडनूं
वि. संवत् २०३८	नई दिल्ली
वि. संवत् २०३९	राणावास
वि. संवत् २०४०	बालोतरा
वि. संवत् २०४१	जोधपुर
वि. संवत् २०४२	आमेट
वि. संवत् २०४३	लाडनूं
वि. संवत् २०४४	नई दिल्ली
वि. संवत् २०४५	श्रीडूंगरगढ़
वि. संवत् २०४६	लाडनूं
वि. संवत् २०४७	पाली
वि. संवत् २०४८	लाडनूं
वि. संवत् २०४९	लाडनूं
वि. संवत् २०५०	राजलदेसर
वि. संवत् २०५१	दिल्ली
वि. संवत् २०५२	लाडनूं
वि. संवत् २०५३	लाडनूं

धर्मचक्र का प्रवर्तन

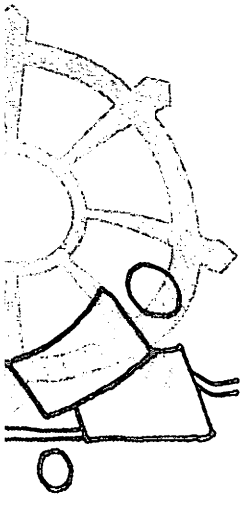

परिशिष्ट-४ : मर्यादा महोत्सव

वि. संवत् १९९३	ब्यावर
वि. संवत् १९९४	गंगाशहर
वि. संवत् १९९५	रतनगढ़
वि. संवत् १९९६	सरदारशहर
वि. संवत् १९९७	लाडनूं
वि. संवत् १९९८	सरदारशहर
वि. संवत् १९९९	श्रीडूंगरगढ़
वि. संवत् २०००	गंगाशहर
वि. संवत् २००१	सुजानगढ़
वि. संवत् २००२	सरदारशहर
वि. संवत् २००३	चूरू
वि. संवत् २००४	बीदासर
वि. संवत् २००५	राजलदेसर
वि. संवत् २००६	जयपुर
वि. संवत् २००७	भिवानी
वि. संवत् २००८	सरदारशहर
वि. संवत् २००९	सरदारशहर
वि. संवत् २०१०	राणावास
वि. संवत् २०११	मुंबई
वि. संवत् २०१२	भीलवाड़ा
वि. संवत् २०१३	सरदारशहर
वि. संवत् २०१४	लाडनूं
वि. संवत् २०१५	सैंथिया
वि. संवत् २०१६	हांसी
वि. संवत् २०१७	आमेट
वि. संवत् २०१८	भीनासर
वि. संवत् २०१९	राजनगर
वि. संवत् २०२०	लाडनूं
वि. संवत् २०२१	बालोतरा
वि. संवत् २०२२	हिसार
वि. संवत् २०२३	बीदासर
वि. संवत् २०२४	मुंबई
वि. संवत् २०२५	चिदम्बरम्
वि. संवत् २०२६	हैदराबाद
वि. संवत् २०२७	बीदासर
वि. संवत् २०२८	गंगाशहर
वि. संवत् २०२९	मोमासर
वि. संवत् २०३०	दिल्ली
वि. संवत् २०३१	श्रीडूंगरगढ़
वि. संवत् २०३२	लाडनूं
वि. संवत् २०३३	पड़िहारा
वि. संवत् २०३४	सुजानगढ़
वि. संवत् २०३५	राजलदेसर
वि. संवत् २०३६	संगरूर
वि. संवत् २०३७	सरदारशहर
वि. संवत् २०३८	गंगाशहर
वि. संवत् २०३९	नाथद्वारा
वि. संवत् २०४०	बीदासर
वि. संवत् २०४१	जसोल
वि. संवत् २०४२	उदयपुर
वि. संवत् २०४३	रतनगढ़
वि. संवत् २०४४	नई दिल्ली
वि. संवत् २०४५	छापर
वि. संवत् २०४६	लाडनूं
वि. संवत् २०४७	बगड़ी
वि. संवत् २०४८	लाडनूं
वि. संवत् २०४९	बीदासर
वि. संवत् २०५०	सुजानगढ़
वि. संवत् २०५१	दिल्ली
वि. संवत् २०५२	लाडनूं
वि. संवत् २०५३	लाडनूं

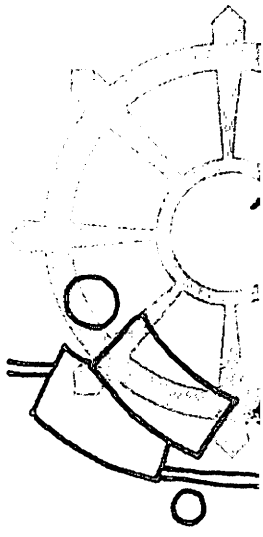

धर्मचक्र का प्रवर्तन

परिशिष्ट-५ : प्रमुख साहित्यिक कृतियां

धर्मचक्र का प्रवर्तन

पद्य-साहित्य

- कालूयशोविलास
- डालिम चरित्र
- माणक महिमा
- मां वदना
- चन्दन की चुटकी भली
- नन्दन निकुंज
- सोमरस
- शासन संगीत
- भरत मुक्ति
- पानी में मीन पियासी
- अग्नि परीक्षा
- अणुव्रत गीत
- अर्हत् वंदना
- श्रावक प्रतिक्रमण
- मगन चरित्र
- सेवाभावी
- सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति
- मैं तिरुं म्हारी नाव तिरै
- शासन-सुषमा
- आत्मा के आसपास
- संबोध
  - आचार बोध
  - व्यवहार बोध
  - संस्कार बोध
- श्रावक संबोध
- तेरापंथ प्रबोध

गद्य साहित्य

- अणुव्रत के आलोक में
- अणुव्रत : गति-प्रगति
- अनैतिकता की धूप : अणुव्रत की छतरी
- विचार वीथी
- क्या धर्म बुद्धिगम्य है?
- मेरा धर्म : केन्द्र और परिधि
- धर्म : एक कसौटी, एक रेखा
- नई पीढ़ी : नए संकेत
- दायित्व का दर्पण : आस्था का प्रतिबिम्ब
- उद्‌बोधन
- खोए सो पाए
- मुक्ति पथ
- समाधान की ओर
- महावीर ने कहा
- ज्योति से ज्योति जले
- अशान्त विश्व को शान्ति का संदेश
- शान्ति के पथ पर (पहली मंजिल)
- शान्ति के पथ पर (दूसरी मंजिल)
- प्रेक्षा : अनुप्रेक्षा
- बूंद भी लहर भी
- बीती ताहि बिसारि दे
- अतीत का विसर्जन : अनागत का स्वागत
- अमृत-संदेश
- सन्मति का मति-तंत्र
- सार्थकता संवाद की
- संवाद प्रबुद्धजनों के साथ
- समस्या का सागर : अहिंसा की नौका
- जीवन की सार्थक दिशाएं
- नया समाज : नया दर्शन
- मुखड़ा क्या देखें दरपण में
- वैशाखियां विश्वास की

- सफर आधी शताब्दी का
- जो सुख में सुमिरण करै
- कुहासे में उगता सूरज
- दीये से दीया जले
- चेतना का आकाश : अध्यात्म का सूर्य
- दोनों हाथ : एक साथ
- लघुता से प्रभुता मिले
- मनहंसा मोती चुगे
- शिक्षा को बनाएं विकास और आनंद की दीक्षा
- गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का
- जब जागे तभी सवेरा
- राजपथ की खोज
- समता की आंख : चरित्र की पांख
- बिन पानी सब सून
- अर्हत् उवाच
- आचार्य भिक्षु का पुनर्जन्म
- जैन तत्त्व प्रवेश (प्रथम)
- जैन तत्त्व प्रवेश (द्वितीय)
- कालू तत्त्व शतक
- जैन तत्त्व विद्या
- व्रत दीक्षा

संस्कृत साहित्य

- जैन सिद्धान्त दीपिका
- भिक्षु न्याय कर्णिका
- मनोनुशासनम्
- पंचसूत्रम्
- शिक्षा षण्णवति कर्तव्यषट्त्रिंशिका च

जीवन-वृत्त : आत्मकथा

- भगवान् महावीर
- प्रज्ञापुरुष जयाचार्य
- महामनस्वी आचार्यश्री कालूगणी
- मेरा जीवन : मेरा दर्शन (खंड १-२३)
  (आत्मकथा)
- आचार्य तुलसी के पत्र (खंड १-३)
- आचार्य तुलसी के संदेश (खंड १-३)

प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला

- बूंद बूंद से घट भरे
- अन्तर के पट खोल
- जागो! निद्रा त्यागो!!
- आगे की सुधि लेइ
- मंजिल की ओर
- मन की गांठें खोल
- पानी आने से पहले
- काल करे सो आज कर
- माला तो मन की भली
- जोत जले अब ज्ञान की
- संयम ही जीवन है
- अवसर के महंगे मोती
- नया सवेरा आए
- भोर भई
- सूरज ढल न जाए
- संभल सयाने!
- घर का रास्ता
- महके अब मानव मन
- मानवता मुस्काए
- ज्योति जले : मुक्ति मिले
- सुधेर व्यक्ति, समाज व्यक्ति से
- धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई
- धम्मो सरणमुत्तमं
- धम्मं सरणं पवज्जामि
- उट्ठिए णो पमायए
- ताव धम्मं समायरे
- ढाई अक्षर धर्म का
- धर्म की जय हो जय
- धर्म की लौ जलाएं हम
- रे धार्मिको! विचारो

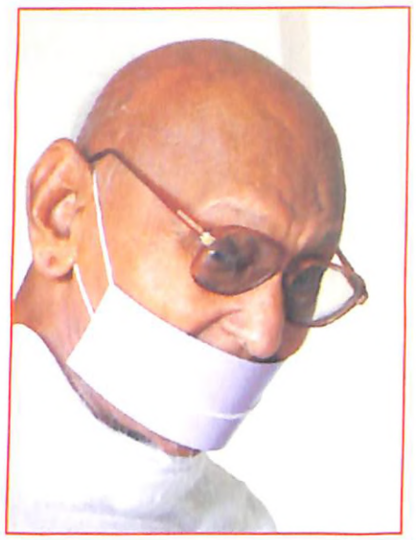

'आत्मा मेरा ईश्वर है। त्याग मेरी प्रार्थना है, मैत्री मेरी भक्ति है। संयम मेरी शक्ति है। अहिंसा मेरा धर्म है'—इन शब्दों में अपने भावात्मक व्यक्तित्व का परिचय देने वाले अध्यात्मयोगी आचार्यश्री महाप्रज्ञ (सन् 1920-सन् 2010) आत्म-मंगल एवं लोक-मंगल के लिए समर्पित संत थे। अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक, आचार्यश्री तुलसी के उत्तराधिकारी और तेरापंथ के दशम अधिशास्ता आचार्यश्री महाप्रज्ञ महान् दार्शनिक एवं मौलिक चिन्तक थे। उनके द्वारा सृजित तीन सौ से अधिक जीवन-स्पर्शी ग्रंथ उनकी ऋतम्भरा प्रज्ञा तथा मानवीय, जागतिक समस्याओं के सूक्ष्म विश्लेषण एवं समाधायक प्रतिभा के जीवन्त प्रमाण हैं। उनके द्वारा अनूदित और शोधपूर्ण संपादित जैन आगम प्राच्यविद्या की अनमोल निधि हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने जीवन के नौवें दशक में सप्तवर्षीय अहिंसा यात्रा कर अहिंसक चेतना के जागरण और नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा का महान् अभिक्रम किया। उन्होंने जहां युगीन समस्याओं के समाधान के लिए स्वस्थ व्यक्ति, स्वस्थ समाज और स्वस्थ अर्थ-व्यवस्था का सूत्र प्रस्तुत किया, वहीं दूसरी ओर अपने आध्यात्मिक चिन्तन एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से बौद्धिक और वैज्ञानिक जगत् को प्रभावित किया। उनके द्वारा दी गई शांति मिसाइल के निर्माण की अभिप्रेरणा आज भी डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम का जीवन मिशन बनी हुई है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ द्वारा प्रवर्तित प्रेक्षाध्यान पद्धति जहां मानसिक तनाव और अवसादग्रस्त मनुष्यों के लिए शांतिपूर्ण और स्वस्थ जीवन का वरदान है, वहां जीवन-विज्ञान शिक्षा के क्षेत्र में भावात्मक विकास का अभिनव अनुदान है। आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण, 'अहिंसा प्रशिक्षण' तथा सापेक्ष अर्थशास्त्र की संकल्पना उनके उर्वर मस्तिष्क से उपजे हुए अवदान हैं। व्यष्टि और समष्टि को त्राण और प्राण देने में समर्थ इन अवदानों में उनकी अलौकिक अतीन्द्रिय चेतना का साक्षात्कार होता है।

9 788171 950355